प० मोहनवल्लभ पत ग्रथ-माला—द्वितीय पुष्प

भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका

सपादक

डॉ० भोलानाथ तिवारी

डॉ० माणिकलाल चतुर्वेदी

डॉ० भगतसिह

प० मोहनवल्लभ पत स्मारक समिति के निमित्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली

प्रकाशक
पं० मोहन वल्लभ पंत स्मारक समिति के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९७२ ई०।

मूल्य बत्तीस रुपए

मुद्रक
अमर प्रिंटिंग प्रेस,
८/२५ विजय नगर,
दिल्ली-९।

स्वर्गीय आचार्य मोहनवल्लभ पंत

डाक्टर प्रेमशंकर (हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय) ने १० अक्तूबर को डरते डरते मुझसे बताया कि आचार्य मोहनवल्लभ पंत के विषय में मैंने कुछ समाचार सुना है। मैंने कहा, वे अस्वस्थ हैं और आतुरालय में भरती हैं। उनका ४ अक्तूबर का पत्र मेरे पास है। उन्होंने बताया कि 'नार्दर्न इंडियन पत्रिका' में तो कुछ दूसरा ही समाचार छपा है। मैंने कहा कि सो क्या? उन्होंने कहा कि वे अब नहीं रहे। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने पत्रिका मँगवायी और उसमें समाचार पढ़कर सिर पीट लिया। अभी तो वे कुछ समय पूर्व आये थे, थोड़ी खांसी थी तभी कोई संभावना नहीं थी। हा हन्त! यह क्या हो गया! उनके केश श्याम थे, उनमें युवकों की स्फूर्ति थी। उन्होंने कभी जीवन से नैराश्य व्यक्त नहीं किया। मृत्यु ऐसे के निकट भी इतने शीघ्र आ सकती है यह प्रकृति का नियति का, दुर्भेद्य रहस्य है।

सम्प्रति वे लखनऊ विश्वविद्यालय के अन्तर्गत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नियोजित शोध में संलग्न थे। इसी से महानगर में अपने बड़े पुत्र एक्जीक्यूटिव इंजीनियर श्री नरेन्द्र पंत के पास रहते थे। द्वितीय पुत्र श्री उपेन्द्र पन्त विक्रम विश्वविद्यालय के अन्तर्गत माधव विश्वविद्यालय उज्जैन, में हिन्दी के प्राध्यापक हैं। छोटे भाई प्रो० गोविन्दवल्लभ पंत हैं जो काशी विश्वविद्यालय के इंजीनियरिंग कालेज में गणित के प्राध्यापक थे अब रांची में मेसरा नामक स्थान में बिरला इंस्टीट्यूट आफ टेक्नॉलाजी में प्रोफेसर हैं। पत्नी से महावियोग पहले ही हो चुका है। इनके एक छोटे भाई जीवन पंत दिवंगत हो चुके हैं। दूसरे छोटे भाई नन्दन पंत हैं।

पन्त जी का जन्म सन १९०८ में हुआ था। देहावसान के समय उनकी आयु ६२ वर्ष की थी। अध्ययन काशी में किया था। यहीं में अध्यापन कार्य भी आरम्भ किया हिन्दू स्कूल में अध्यापक हुए। अन्त में वल्लभ विद्यापीठ (गुजरात) में विश्वविद्यालयीय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष और प्रोफेसर थे जहाँ से वे कार्यनिवृत्त हुए थे। लाला भगवानदीन जी के शिष्यों में वे प्रमुख थे। सतीर्थ्यता के नाते उनसे मेरा साथ बहुत समय तक और घनिष्ठ रहा।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में लाला भगवानदीन जी की हिन्दी साहित्य के अध्यापक के रूप में कैसी ख्याति थी इसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए उस समय कोई (डा०) श्यामसुन्दर (दास) का नाम नहीं लेता था और (आचार्य) रामचन्द्र (शुक्ल) को भी नहीं भजता था। केवल भगवान (दीन) का नाम जपने ही सब आते थे। काशी के ही नहीं, बाहर के भी वे छात्र जो हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना चाहते थे लालाजी के सम्पर्क में आने और उनके चरणों में बैठने का अवसर ढूँढा करते थे। ऐसे ही अध्ययनेप्सु छात्र श्री

मोहनवल्लभ पंत थे, जो अलमोड़े के मालौंज स्थान से हिन्दी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए काशी पधारे थे और लालाजी के सम्पर्क में रहने लगे थे। उस समय लालाजी का 'हिन्दी-साहित्य विद्यालय' एक छात्रालय में सायंकाल लगा करता था। वहीं सतीर्थ्य के रूप में पंत जी से साथ हुआ। लालाजी के सम्पर्क में अधिकाधिक रहने के विचार से वे शहर में ही एक स्थान पर डेरा चाहते थे। नीलकंठ मोहल्ले के एक शिवमंदिर में मेरा अध्ययनकक्ष था। उसे मैंने वासयोग्य बनवा कर पंतजी के हवाले कर दिया, जिसमें वे लगभग १५ वर्षों तक रहे। इस प्रकार पंतजी से मेरा नैकट्य अन्य मित्रों की अपेक्षा अधिक हो गया। लालाजी हिन्दी साहित्य की अधिकाधिक वांछित सामग्री एकत्र कर देना चाहते थे। उस युग में प्राचीन ग्रंथों की टीकाओं और उनकी आलोचनाओं की माँग अधिक थी। इसे वे अकेले सम्पन्न नहीं कर पा रहे थे। इसलिए उन्होंने अपने शिष्यों का सहारा लिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला जी की सहायता जिन शिष्यों ने की उसमें पंत जी अग्रगण्य थे। रामचरितमानस की टीका का कार्य उन्होंने मुझे सौंपा और कवितावली की टीका का कार्य पंतजी को। सं० १९८५ में कवितावली की टीका पूर्ण हो गयी। अब उसे प्रकाशित करने का प्रश्न सामने आया। उस समय क्रांतिकारी आंदोलन में मेरे सहकर्मी और सतीर्थ्य श्री बजरंगबली गुप्त थे। उनके साझे में साहित्य सेवक कार्यालय की स्थापना की गयी और कवितावली की उक्त टीका हम दोनों के साझे से इस प्रकाशन संस्थान से प्रकाशित हुई। उस युग के गुरु शिष्य कितने निश्छल और स्पष्टवादी होते थे इसका नमूना लाला जी का कवितावली का वक्तव्य है — अन्त में मैं अपने प्रिय शिष्य मोहनवल्लभ पंत का भक्तिपूर्ण आभार प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करता हूँ जिसने इस टीका के लिखने में मेरे लेखक का काम करके सहायता पहुँचाई है। मैं उसे पद्य देता था और वह देता था कि इस मेरी शैली में ही टीका रूप में लिख लाओ। वह लिख लाता और मैं उसे देखकर शुद्ध कर देता था। वही कापी प्रेस में भेजी गयी और उसी के अनुसार यह प्रति छपी है। है शिष्यों के प्रति यह स्पष्टवादिता आज के साहित्यकारों में? है गुरु के प्रति ऐसी भक्ति किसी में जैसी पंतजी में थी। लाला जी की कवितावली की टीका इतनी चली कि उसकी १५-२० सहस्र प्रतियाँ छप चुकी हैं। पाठ्यप्रदेश का हिन्दी साहित्य का जिज्ञासु ऐसा निकला कि लालाजी की शैली का लक्ष्य बन गया। आज प्राचीन हिन्दी-कविता हिन्दी अध्यापकों प्राध्यापकों के लिए जंजाल हो रही है। नई काव्यधारा के तो मनमाने अर्थ भी करते हैं होते ही रहते हैं पर पुरानी कविता में तो सुसंगत और परम्परा समर्थित अर्थ होना चाहिए। हिन्दी के प्राध्यापकों के पास यह परम्परा कहाँ है? लालाजी के सम्पर्क के कारण यह परम्परा पंतजी को प्राप्त थी। इसलिए प्राचीन काव्य के मर्मज्ञ और विश्लेषण में वे हिन्दी के अन्य प्राध्यापकों से ऊपर थे। उनके इस कार्य से प्रभावित होकर लाला जी ने दोहावली की टीका का कार्य भी उन्हें दिया। उसकी भूमिका मैंने लिखी। लाला जी दोहावली की भूमिका के अन्त में लिखते हैं — हम अपने प्रिय शिष्य मोहनवल्लभ पंत तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भक्तिपूर्ण

आभार सप्रेम स्वीकार करते हैं, जिन्होंने इस टीका के लिखने में हमारे लेखक का काम किया है।'

लाला जी प्राचीन प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं के संग्रह भी प्रकाशित कराना चाहते थे। 'केशवपंचरत्न' तथा 'तुलसीपंचरत्न' प्रकाशित हो चुके थे। अब सूर-पंचरत्न का काम कराना था। लाला जी ने यह काम पंत जी को सौंपा। गुरु के निर्देशानुसार उन्होंने संग्रह प्रस्तुत किया। मुझे भूमिका लिखने का काम दिया गया। भूमिका-लेखन में श्री पंत जी ने भी साथ दिया। कुछ अंश उन्होंने लिखे और कुछ मैंने। लाला जी ने उनके काम से संतुष्ट होकर ग्रंथ के संपादकों में अपने नाम के साथ उनका नाम भी रखा और वक्तव्य में लिखा 'इस संग्रह-कार्य में हमें दो शिष्यों—मोहनवल्लभ पंत और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—से बहुत अधिक सहायता मिली है। इन दोनों शिष्यों को हमारे दोनों हाथ या दोनों नेत्र ही समझना चाहिए। अतः हम गुरु के नाते आशिष देते हैं कि कृष्ण भगवान इन पर ऐसी कृपा करें कि संसार में उत्तम साहित्य सेवा करते हुए अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करें।'

हिन्दी के किसी गुरु ने अपने किसी शिष्य का ऐसा प्रमाणपत्र न दिया होगा। ऋषिकल्प लाला जी का कहा मृषा कैसे होता! पंत जी ने हिन्दी में अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की।

यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि सूरसागर से चयन करके जितने भी संग्रह अब तक प्रकाशित हुए हैं, उनमें महत्त्वपूर्ण सरस पदों के चुनाव की दृष्टि से सूरपंचरत्न आज भी श्रेष्ठ है।

सं० १९८२ में अन्योक्तिकल्पद्रुम (गोस्वामी दीनदयाल गिरि कृत) सटीक प्रकाशित हुआ। इसमें टीकाकारों के नाम हैं—

लाला भगवान दीन (दीन)

पं० मोहनवल्लभ पंत (विशारद)

विशारद पं० मोहनवल्लभ पंत ने जो काम उस समय सम्पन्न किया था उसे पी-एच० डी० और डी० लिट्० भी आज करने में बगलें झांकते हैं। हिन्दी की पुरानी पद्धति की परम्परा संस्कृत परम्परा के समानान्तर विकसित हो रही थी। उसमें पद पदार्थ का महत्त्व पहले था आलोचना और शोध का तदनंतर। पंत जी जैसे पारम्परिक विद्वान् के दिवंगत होने से यह परम्परा समाप्तप्राय हो गयी।

सन १९३० में लाला जी का देहावसान हो गया। उस परम्परा को जीवित रखने का संकल्प लाला जी के पांच शिष्यों ने लिया—सर्वश्री मोहनवल्लभ पंत, रमाकांत चौबे, श्री देवाचार्य, बजरंगबली गुप्त और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र। लाला जी ने वीरकवि भूषण के नाम से प्रचलित शिवाबावनी का संपादन कर उसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, से प्रकाशित कराया था। उनकी इच्छा थी कि भूषण की पूरी ग्रंथावली का सम्पादन मेरी (लाला जी की) पद्धति से हो। केशवदास की कविप्रिया की टीका वे कर चुके थे और रसिकप्रिया की टीका कराना चाहते थे।

वे यह भी चाहते थे कि ऐडमिशन (प्रवेशिका) और इंटर परीक्षा के लिए कोई ऐसी पुस्तक लिखी जाय जिसमें रस, अलंकार, गुण, दोष, छंद सभी का विचार हो। उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उक्त पांचों व्यक्तियों ने भूषण ग्रंथावली का कार्य करना आरम्भ किया। रसिकप्रिया की टीका में पंत जी और मैं लगा। रस अलंकारादि का ग्रंथ मेरे और पंत जी के सहयोग से 'काव्यांग-कौमुदी' के नाम से सम्पादित हुआ। मुख्यतः काव्यांग कौमुदी के पहले और दूसरे भागों में उनके सहयोग का उपयोग किया गया है।

पंत जी ने काशी में रहते बी० ए०, बी० टी०, एम० ए० की परीक्षाओं में विनतापूर्वक उत्तीर्णता प्राप्त की। यहां के हिंदू स्कूल में वे अध्यापक हो गये। फिर बाहर चले गये और बाहर ही बाहर रहे। वे राजस्थान में रहे और अंत में वल्लभ विद्यापीठ में प्रोफेसर और हिंदी विभागाध्यक्ष हुए। इस बीच उन्होंने कम लिखा। पर जो लिखा वह उनके वैदुष्य का उज्ज्वल आदर्श है। उनकी रस की विवेचना बड़ी ही मार्मिक है। उनके जैसा सुनेता प० रामचंद्र शुक्ल का ही मैंने देखा था। मोती की भांति अक्षर होते थे। छापे से भी कहीं अधिक सफाई उनके लेख में रहती थी। भाषा हृदय पर छा जाने वाली होती थी। गीत जन्माष्टमी पर अभी वे पिछले दिनों काशी पधारे थे। उनका भाषण हृदयस्पर्शकारी था। अभी कुछ ही दिन पूर्व कलकत्ते में बाणभट्ट पर उनका घंटों लगातार विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ था। लोग मंत्रमुग्ध हो सुनते रह गये थे। कौन जानता था कि यह अमल गिरा सुनने को फिर न मिलेगी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के रूप में वे बिहारी सतसई पर कार्य कर रहे थे जो अधूरा ही रह गया।

पंत जी सिद्धान्तवादी थे, व्यवहारवादी नहीं। हिन्दी के अधिकतर साहित्यिकों में सिद्धान्तवाद के प्रति आस्था नहीं है। महासरस्वती के क्षेत्र में महादुर्गा या महाकाली का पतंग करते करते रहते हैं। भीतर और बाहर से एक तो कम ही दिखाई देते हैं। पंत जी मिस्री के डले की भांति सर्वत्र एक से थे। इसी से सिद्धांत का परित्याग करने वालों से उनकी कभी नहीं पटी। वे परम आचारनिष्ठ व्यक्ति थे। आहार व्यवहार सब में। सनातनी विचारधारा मानती है कि संसार जो संसरण करता रहता है उसमें उसे विनाश से बचाने वाले ऐसे ही सज्जन महाजन होते हैं। प्राचीन हिन्दी साहित्य परम्परा की एक ऐसी कड़ी टूट गयी है जिसके समकक्ष दूसरी कड़ी मिलेगी, कहा नहीं जा सकता। व्यवहारवादिता ज्यों ज्यों बढ़ती जा रही है सिद्धान्तवादियों की कमी होती जा रही है। भगवान् भी उन्हें मत्र्यलोक में नहीं रखना चाहते थे। अमरलोक में उन्हें ले लेना चाहते थे। अन्यथा बात बात में और सार निःसार करते सहसा पांच ही यों न उठ जाते। श्री हरिः शरणम्।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

भूमिका

अनेक अन्य परपराओ की भाति ही, भारत मे, भाषा के क्षेत्र मे भी चिंतन मनन और विश्लेषण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है। पश्चिम के भाषाशास्त्रियो ने इस बात को एक स्वर से स्वीकारा है कि भारत के बाहर की यूनानी आदि संस्कृतिया भाषा चिंतन और भाषा विश्लेषण के क्षेत्र मे अभी प्राय कचहरा से आगे भी नही बढ पाई थी, कि भारत विश्व को पाणिनि जैसा भाषा शास्त्री दे चुका था। ये पाणिनि व ही थे जिनके व्याकरण के बारे मे आधुनिक भाषा विज्ञान के पिता कहलाने वाले ब्लूमफील्ड कहते हैं This Grammar is one of the garatest monuments of human intelligence

वस्तुत भारत में प्राप्त प्राचीनतम वाङ्मय—वैदिक वाङ्मय—अनेक अन्य दृष्टियो से सम्पन्नता के साथ साथ भाषा चिंतन की दृष्टि से भी कम सम्पन्न नहीं है। इस सम्पन्नता का इससे बडा प्रमाण क्या हो सकता है कि अकेले ऋग्वेद मे डेढ सौ से अधिक ऋषियो के नाम भाषा चिंतक के रूप मे मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय मे भाषा के प्राय सभी पक्षो पर चिंतन की परपरा के आरंभिक सूत्र न्यूनाधिक रूप मे मिलने लगते हैं। ध्वनि के क्षेत्र मे चिंतन संहिताओ मे तो विशेष नही है किंतु ब्राह्मणो (जैसे ऐतरेय) तथा आरण्यको (जैसे ऐतरेय) मे उसका अपेक्षाकृत विस्तृत रूप मिलता है। भारतीय ध्वनिशास्त्रियो मे प्रथम महत्त्वपूर्ण नाम औपमन्यव का है। ऋक्प्रातिशाख्यकार शौनक, शुक्लयजुर्वेदप्रातिशाख्यकार कात्यायन (ये वार्तिककार से भिन्न हैं), प्राचीन शिक्षाकारो तथा प्रातिशाख्यकारो, पतंजलि परवर्ती शिक्षाकारो तथा प्रातिशाख्यकारों मे होते ध्वनि अध्ययन की यह परपरा आगे बढी है। व्याकरण की परपरा कदाचित् और भी प्राचीन होगी। इसकी विकास यात्रा के मुख्य स्तम्भ हैं शाकल्य शाकटायन, गार्ग्य पाणिनि, व्याडि वार्तिककार कात्यायन, पतजलि काशिकाकार वामन तथा जयादित्य, न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि पदमंजरीकार हरदत्त मिश्र तथा सिद्धान्त-कौमुदी प्रणेता भट्टोजि दीक्षित। इस प्रसग मे यह भी उल्लेख्य है कि जिस प्रकार आज भाषा विश्लेषण के विभिन्न स्कूल हैं ठीक उसी प्रकार प्राचीन भारत मे भी व्याकरण के कई सम्प्रदाय थे, जिनमे मुख्य ऐन्द्र, चान्द्र, जैनेन्द्र शाकटायन, हेमचद्र, कातन्त्र, सारस्वत, बोपदेव आदि हैं। इतने सम्प्रदायो का विकास भी हमारी व्याकरण-परपरा की आढ्यता का ही परिचायक है। इन पाणिनीतर सम्प्रदायो के वैयाकरणो मे हेमचद्र ही सर्वोपरि है। अर्थ भाषा की आत्मा है। हमारे यहाँ इस दिशा मे चिंतन का प्रारम्भिक रूप व्युत्पत्ति चिंतन मे मिलता है। अकेले ऋग्वेद मे लगभग पौने सात सौ शब्दो की व्युत्पत्तियो के संकेत मिलते हैं। इनमे ३० से अधिक

ऋषियो के नाम व्युत्पत्ति चिंतक के रूप म आए हैं जिनमे उचथ्य गृत्समद दीर्घतमस मुख्य हैं। आगे निरुक्तशास्त्री शाकटायन, निघटु शास्त्री शाकपूणि तथा निघटु और निरुक्तकार यास्क मे होते अर्थ चिंतन की यह परपरा प्राचीन भारतीय साहित्य म मुख्यत सात दिशाओ म पनपी (१) बृहद्देवताकार शौनक व्याडि, कात्यायन पतजलि काशिकाकार कौंडभट्ट नागेश आदि वयाकरणो मे (२) कोशकारो म, (३) नैयायिको (मुख्यत नव्य न्याय) म (४) मीमासको म (५) बौद्ध दर्शन मे, जैन दर्शन म तथा (७) काव्य शास्त्रियो मे। भाषा दर्शन की दिशा म भी विश्व का प्राचीनतम चिंतन ऋग्वेद सहिता मे ही मिलता है। इस दृष्टि से हमारे आदि आचार्य शौनहोत्र, सध्रि उचथ्य तथा गृत्समद आदि हैं। यह परपरा औदुम्बरायण, व्याडि वार्तिककार कात्यायन पतजलि, भर्तृहरि कौंडभट्ट तथा नागेश भट्ट म आगे बढी है।

पालि तथा प्राकृत म भाषा चिंतन म कोई उल्लेख्य प्रगति नही हुई।

दक्षिण भारत म भाषा विश्लेषण की समृद्ध परपरा रही है और उसका सबसे अमूल्य रत्न तमिल व्याकरण तोलकाप्पियम् है। इस दक्षिणी परम्परा पर उत्तरी चिंतन और पद्धति का प्रभाव तो है किंतु उसकी अपनी मौलिकताएँ भी हैं।

आधुनिक काल मे यूरोप और अमेरिका से सपर्क के बाद भारत म इस क्षेत्र मे ठोस काय का प्रारम्भ हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाओ पर प्रारम्भिक कार्य अग्रेजी मे हुए किंतु इधर विभिन्न भाषाओ—मुख्यत हिंदी, बगाली मराठी गुजराती आदि—म भी कुछ अच्छे काय हुए हैं। हमारा यह नया चिंतन और काय अपनी परम्परा तथा पश्चिमी प्रभाव दोनो को लेकर आगे बढ रहा है और लगता है कि पाणिनि की भूमि पर पुन इस दिशा मे समुचित प्रगति हो सकेगी।

प्रस्तुत सग्रह भारतीय भाषाविज्ञान की भूमिका' अत्यत सक्षेप म यथाशक्ति वदिक काल से अब तक के भारतीय चिंतन और काय को एक स्थान पर रखने का एक प्रारम्भिक प्रयास है। अनेक मित्र वायदा करके भी लेख नही भेज पाए अन्यथा यह सग्रह कदाचित् भारतीय भाषा चिंतन का अधिक सफल प्रतिनिधित्व कर पाता।

वदिक वाङमय म भाषा चिंतन पर अभी तक काय प्राय नही के बराबर हुआ है अत उसे यथासम्भव अपेक्षाकृत अधिक पृष्ठ देना आवश्यक समझा गया। मेरे ही अनुरोध पर मेरे मित्र श्री शिवनारायण शास्त्री न लगभग एक वर्ष के अथक परिश्रम क उपरात यह अश लिखकर भारतीय भाषा चिंतन के एक प्रकार स अधकाल को प्रकाश म लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। शास्त्री जी का यह काय—जसा कि स्वाभाविक है—व्यक्तिपरक (subjective) अधिक है, क्योकि एक तो भाषा चिंतन वदिक ऋषियो का प्रतिपाद्य नही है अत सभी निष्कर्ष लेखक के अपने ऊहा के परिणाम हैं साथ ही यह इस दिशा म पहला प्रयास भी है फिर भी यह अश अच्छा बन पडा है। इस सग्रह की योजना जब स मन म उठी थी, इस काल पर लेख इसम सम्मिलित करने की मेरे मन म उत्कट इच्छा थी। शास्त्री जी न मेरे अनुरोध की रक्षा अनुजवत् की, जिसके लिए मैं हृदय स उनका कृतज्ञ हूँ। इसम कोई सदेह नही कि

वैदिक वाङ्मय म भाषा चिंतन पर अभी और काम करने की पर्याप्त अपेक्षा और गुंजाइश है किन्तु मुझे सतोष है कि शास्त्री जी का यह काय भावी कार्यों के लिए निश्चय ही बहुत प्रौढ नींव साबित होगा। यो इस दिशा म काय करने की शास्त्री जी की भी एक विस्तत योजना है।

आचाय विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० भरतसिंह उपाध्याय डा० कैलाशचद्र भाटिया डा० सत्यकाम वर्मा डा० राजेन्द्र शुक्ल डा० शातिस्वरूप गुप्त, डा० अवनीन्द्रकुमार श्री रमनकुमार लौ, डा० वी० कृष्णस्वामी अय्यगार, डा० न० वी० राजगोपालन, डा० कपिलदेव द्विवेदी, श्री जियालाल कम्बोज, डा० महेन्द्र, डा० कृष्णकुमार गोस्वामी डा० चमन लाल अग्रवाल, डा० एस० नारायण अय्यर श्री त्रिलोकीनाथ गूज श्री सुधांशु चतुर्वेदी तथा डा० शशिप्रभा के सक्रिय सहयोग के बिना इस यज्ञ की पूर्ति असभव थी। सपादकगण इन सभी के प्रति हृदय से आभारी हैं। विभिन्न कारणो स कुछ लोगो के लेख इस ग्रथ मे सम्मिलित नहीं किए जा सके ह। हम उनके प्रति क्षमाप्रार्थी हैं।

डा० माणिकलाल गोविन्द चतुर्वेदी (मालार्रविन्दम्), डा० भगतसिंह तथा इन पक्तियो का लेखक—ये तीनो ही इस यत्न मे प्रारम्भ स अत तक साथ रहे हैं और कदाचित् सभी सभी के प्रति आभारी हैं। फिर भी डा० चतुर्वेदी तथा डा० सिंह के प्रति हर प्रकार का सहयोग दन के लिए मैं अपना विशेष आभार व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता।

हिन्दी जगत् के ज्ञान मान विद्वान् श्री प मोहनवल्लभ पत की स्मृति म 'पडित मोहनवल्लभ पत ग्रथ माला' प्रकाशित करन की बृहद् योजना मोहन वल्लभ पत स्मारक समिति ने बनाई ह। आशा है भविष्य म भी इस माला के अतगत इस प्रकार के आवश्यक ग्रथो का प्रकाशन होता रहेगा।

भोलानाथ तिवारी

ई ४/२३ माडल टाउन दिल्ली ९
पहली मई १९७२

विषय सूची

से कर्म वाच्य में निष्पन्न है[1]। यह बोली जाने के कारण 'भाषा' का पर्याय है। अतः 'वाक्' शब्द है। 'गिर्' स्तुति करना' अर्थ वाली √गृ (पाणिनि √गॄ) से करण में और 'बोलना' अर्थ में कर्म वाच्य में निष्पन्न है[2] एवं 'वच्' का पर्याय है। 'अघ्न्या' शब्द 'न + √हन्' के योग से अर्हार्थीय 'यत्' प्रत्यय में निष्पन्न है और इस का अर्थ है अहन्तव्या, अर्थात् अनश्वर। कतिपय बार[3] प्रयुक्त 'अक्षर' शब्द इसी आशय को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करता है। 'अघ्न्या' शब्द वैदिक भाषा में गाय के लिये भी प्रसिद्ध रहा है[4]। वाक् की कल्पना अर्थ रूपी दूध को देने वाली गाय के रूप में की गई है[5]। अतः 'अघ्न्या' शब्द 'वाक्' के सन्दर्भ में एक ओर जहाँ 'वाक्' की नित्यता को प्रकट करता है वहीं दूसरी ओर यह इस रूपक कल्पना के माध्यम से वाक् के महत्त्व के बारे में ऋषियों की दृष्टि को भी प्रस्तुत करता है। 'गो' शब्द 'वाक्' के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। न केवल 'गो' ही, अपितु इसका पर्याय 'धेनु' शब्द भी वाक् के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है। 'धेनु' से मिलता जुलता 'धेना' शब्द तो 'वाक्' के लिये रूढ़ ही हो गया था[6]। 'सूनृता' शब्द वाक् के सत्य हित और प्रिय रूप को दृष्टि में रख कर प्रयुक्त हुआ है। 'वाणी' शब्द भाष्यकारों के अनुसार स्तुति के अतिरिक्त 'छन्दो' अथवा 'छन्दोबद्ध वाक्' के लिये भी प्रयुक्त हुआ है पर यह वाक् का सामान्यार्थक पर्याय नहीं है। स्यात् यह शब्द 'सम्भजन' अर्थ वाली √वन् से 'सम्भजनीय' अर्थात् 'अपनाने योग्य (प्रिय वाक्)' अर्थ में निष्पन्न है। छन्दोबद्ध वाक् हृदय हारिणी होती ही है।

---

१ द्र. ऋ. ९।९५।५ इष्यन्वाचमुपवक्तेव होतुः। तुलना करें ऋ. १।४०।६ तमिद् वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्, इमां च वाचं प्रतिहर्यथा नरो ...। निरुक्त २।२३ वाक् कस्मात्? वचेः। निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ २४३ भी देखें।

२ करण में द्र. ऋ. १।९।९ गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्। और वही ४।१०।४, ५।८।४, ५।३।१६ ६।१५।७ ४४।१३ ८।४६।३, ५४।१ ९।२९।२। कर्म में द्र. ऋ. ५।२७।३ ४३।१० ९।४०।५। निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ १२० भी देखें।

३ द्र. ऋ. ७।१५।९ उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभिः। उपाक्षरा सहस्रिणी। इस पर सायण भाष्य अक्षरा=क्षय रहिता स्तुति-रूपाऽस्मदीया वाक्। वेङ्कट माधव ने भी 'अक्षरा' का अनुवाद 'वाक्' किया है। ऋ. ७।३६।७ मा न परि ख्यदक्षरा चरन्ती। सायण भाष्य अक्षरा=व्याप्ता, चरन्ती वाग् देवता च।

४ द्र. ऋ. १।१६४।२७ ४० निघण्टु २।११।१ निरुक्त ११।४३।

५ द्र. ऋ. ८।१००।११ सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु। ऋ. १।१६४।२६ २८ और निरुक्त ११।४२ तथा ४३ वागेषा माध्यमिका।

६ द्र. निघण्टु १।११।३६।

२ ऋषियों की दृष्टि में भाषा का महत्त्व ऋग्वेद संहिता के ऋषि जीवन में भाषा के महत्त्व से सुपरिचित हैं। उन्होंने अपने मन्त्रों में भाषा के व्यावहारिक और दार्शनिक महत्त्व का वर्णन यत्र-तत्र किया है। गृत्समद ऋषि इन्द्र से श्रेष्ठ धनों की कामना करते समय वाणी के माधुर्य (स्वाद्मन्) की कामना को नहीं भुला पाये हैं[1]। यह वाक् का स्वाद बोलने और सुनने वाले को आनन्द की अनुभूति के रूप में ही हो सकता है। बृहस्पति आङ्गिरस ऋषि का कथन है कि जैसे बुद्धिमान् लोग सत्तू को छालनी में छान कर काम में लाते हैं, वैसे ही वे लोग वाक को मन में छान कर सम्यक् विचार से उसे निर्दोष कर के बोलते हैं वे पहले तोलते हैं, फिर बोलते हैं। ऐसी वाणी बोलने वाले के सब लोग मित्र होते हैं, तथा ऐसी वाणी पर जीवन में सफलता निहित है[2]। अगस्त्य मैत्रा वरुणि ऋषि वाक् को ही रमणीय द्रव्यों वाली (रत्निनी) मानते हैं[3]। ऋग्वेद संहिता के श्रेष्ठतम दार्शनिक ऋषि ममता पुत्र दीर्घ-तमस औचथ्य के अनुसार वाणी (सरस्वती) मनुष्य रूपी बच्चे के लिये माँ के समान है। उसका स्तन अर्थात् शब्द सुख की खान (मयो भू) है। उस से मनुष्य सब प्रकार के अभीष्ट (वार्याणि) पदार्थों की पुष्टि पाता है। वह (शब्द) उसे श्रेष्ठ पदार्थ देता है, उसे धन सम्पत्ति प्राप्त कराता (वसु विद्) है। वास्तव में वह मनुष्य को क्या नहीं देता? वह श्रेष्ठ दाता (या श्रेष्ठ धन वाला, 'सु दत्र') है[4]। श्यावाश्व आत्रेय वाक् को देवी मानते हैं और स्वयं को वाणी के साथ ही जागरित मानते हैं। यह वाक् मनुष्यों को मति और श्रेष्ठ वस्तु प्रदान करती है[5]। पदार्थों (नाम धेय दधाना) का जो गुप्त श्रेष्ठ और परि पूर्ण भाव होता है, बृहस्पति आङ्गिरस उसे वाक् से प्रकट होता मानते हैं[6]। दीर्घ तमस का कथन है कि वाणी

---

१ इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सु भगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां, स्वाद्मानं वाचः, सु दिनत्वमह्नाम् ॥२।२१।६॥

२ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥१०।७१।२॥
तुलना करें मनः पूतां वदेद्वाचं वस्त्र-पूतं पिबेज्जलम्।
दृष्टि पूतं क्षिपेत्पादं, शास्त्र-पूतं समाचरेत् ॥

३ वाचं वाचं जरितू रत्निनीं कृतमुभा शंस नासत्याऽवतं मम। १।१८२।४॥

४ यस्ते स्तनः शशयो, यो मयो भूर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्न धा, वसु विद्, यः सु दत्रः, सरस्वति, तमिह धातवे कः ॥१।१६४।४९॥
सायण स्तनः = स्तनवच्छिद्रेषु स्थानीयानां प्राणिनामाप्यायनकारी लौकिक वैदिक सु शब्द रूपः स्तनः।

५ अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाऽहमश्विनोः।
व्यावर्देव्या मतिं, वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ ८।९।१६ ॥

६ बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नाम धेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं, यद रिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाऽऽविः ॥१०।७१।१॥

जगत् के व्यवस्थित सञ्चालन का पहला फल है[1]। प्रस्कण्व काण्व का कथन है कि वाक् व्यवस्थित और मर्यादित जीवन का मार्ग है[2]। वसिष्ठ मैत्रावरुणि का कथन है कि वाणी अनश्वर (अक्षरा) और हजारों फल देने वाली (सहस्रिणी) है[3]। दीर्घतमस् का कथन है कि वाक् समस्त पदार्थों को जानती है उसके द्वारा जगत् की समस्त वस्तुओं का वर्णन हो सकता है, पर वाणी की इयत्ता को कोई नहीं जानता[4]। उनके और सप्रि व रूप के मत में वाणी का प्रतिपाद्य अक्षर तत्त्व (आत्मा) है, तथा वाक् का उद्गम भी ब्रह्म ही है[5]। सप्रि ऋषि का कहना है कि वाणी का विषय उतना ही व्यापक है जितना व्यापक ब्रह्म-तत्त्व है[6], अर्थात् वाणी ब्रह्म के समान विभु है[7]। अवत्सार काश्यप ऋषि ने मघ-भजन रूपी वाक् के तीन विशेषण दिये हैं (क) इरावती, (ख) चित्रा और (ग) त्विषीमती[8]। वस्तुतः ये तीनों विशेषण मानवीय भाषा पर भी लागू होते हैं वाक् अभीष्ट की सिद्धि कर के भोग प्रदान करने के कारण 'इरावती' है। विविध शैलियों, उतार चढाव आदि के कारण चित्रा अथवा अपनाने योग्य(चायनीया)[9] है। त्विषीमती[10]

---

१ यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१।१६४।३७॥

२ हरि सृजान पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम ।
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र वाचे ॥ ९।९५।२ ॥

३ उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभि ।
उपाक्षरा सहस्रिणी ॥ ७।१५।९ ॥

४ मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविद वाचमविश्वमिन्वाम ॥१।१६४।१०॥
वङ्कट माधव विश्वस्य वेदयित्रीं, सर्वैरवाज्ञायमान परिमाणा वाचम ।

५ पृच्छामि वाच परम व्योम (१।१६४।३४)। ब्रह्माय वाच परम व्योम (३५) ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु (३९)। सप्रि वरुण त (सुपर्ण) धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त (१०।११४।७)॥

६ यावद् ब्रह्म वि ष्ठित तावती वाक् (१०।११४।८)॥

७ सम्भवत इसी मन्तव्य का पल्लवन आगे चल कर वैयाकरण दार्शनिकों ने शब्दब्रह्म वाद के रूप में किया है, जिसका प्रतिपादन वाक्यपदीय में और तन्त्र ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया गया है।

८ वाच सु मित्रा वरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम॥५।६३।६॥

९. यह अर्थ यास्क आदि की दृष्टि से किया है। ऋग्वेद संहिता में 'चित्र' शब्द √चित् अथवा √कित् से व्युत्पन्न के रूप में अभिप्रेत है तथा इस का अर्थ भी केतु के समान 'प्रज्ञापक' है। द्र अगले अध्याय में ४० चित्र < √चित्। शब्द का विवरण देखें।

१० तुलना करें ऋ १०।९८।३ अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते अनमीवामिषिराम्।

(प्रशस्त दीप्ति वाली) अर्थ प्रकाशन करने के कारण है।

३ वाक् के गुण अगस्त्य मैत्रा वरुणि के अनुसार वाक् का गुण रमणीयता (प्रियता) और सोद्देश्यता (सार्थकता) है[१]। अर्चनानस आत्रेय भी सोद्देश्य (इरावती), रमणीय (चित्रा) और ओजस्वी (त्विषीमती) वाणी को श्रेष्ठ समझते प्रतीत होते हैं[२]। अवत्सार काश्यप यथार्थ कथन को ही वाणी का गुण समझते लगते हैं[३]। कुत्स आङ्गिरस ऋषि अश्विनों से कमठता से युक्त (अप्नस्वती) और मन का अनुसरण करने वाली (मनीषा) वाक् की कामना करते हैं[४]। अर्थात् उनके मत में वाणी में ये दो गुण होने चाहियें। कुरुसुति काण्व ऋषि मौलिक (नव सक्ति) और यथार्थ परक (ऋत स्पृश) वाणी को श्रेष्ठ मानते हैं[५]। उनका आशय कदाचित् यह है कि वाणी में वक्ता की सूझ बूझ और कल्पना शक्ति की छाप तो हो ही पर यह इतनी उत्प्रेक्षा या अयुक्तिमय न हो कि यथार्थ से विलग जाये। गृत्समद (अपर-नाम आङ्गिरस शौन होत्र) वाणी का सब से बडा गुण माधुर्य मानते हैं यह तथ्य इस बात से विदित होता है कि इन्द्र से श्रेष्ठ द्रविणों की प्रार्थना करते हुए वे वाक के माधुर्य (स्वाद्मन्) की कामना करते हैं[६]। विश्व मनस वैयश्व ने वाक् को घी और मधु (शहद) से भी स्वादु बताया है[७]। 'घी से स्वादु' कहने से शायद वाक् में पोषकता अभिप्रेत है तथा 'मधु से स्वादु' कहने से माधुर्य (मिठास) अर्थात् प्रियता अभिप्रेत है। इन दोनों पदार्थों से तुलना का समन्वित तात्पर्य वाक् की हितता और प्रियता है। दीर्घ-तमस औचथ्य सो शब्द (उचित शब्द का प्रयोग शुक्र वर्णा)[८], रमणीय उद्देश्य में युक्तता (रत्न धा वसु विद्)[९] को तो चाहते ही हैं इन गुणों के अतिरिक्त वाक् में व्यञ्जकता और सामर्थ्य (विश्व विद्) के साथ साथ गाम्भीर्य (अ विश्वमिन्वा) भी होना चाहिये[१]। देवापि आर्ष्टि षेण ऋषि वाणी में सोद्देश्यता (इषिरा), ओजस्विता और स्पष्टता (द्युमती) और निर्दोषता (अनमीवा) गुणों की कामना करते हैं[११]। नेम भार्गव[१२] ऋषि वाक को धेनु (दुधार

---

१ द्र पृष्ठ ३ टि ३। २ द्र पृष्ठ ४, टि ८।

३ द्र ५।४४।६ याहगेव दहृशे, ताहगुच्यते।

४ अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृत नो दस्रा वृषणा, मनीषाम।।१।११२।२४।।

५ वाचमष्टा पदीमहं नव स्रक्तिमृत स्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्व ममे।। ८।७६।१२।। ६ द्र पृष्ठ ३, टि १।

७ घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ।।८।२४।२०।।

घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ।।८।२४।२०।।

८ इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्र वर्णामुदु नो यंसते धियम् ।।१।१४३।७।।

९ द्र पृष्ठ ३, टि ४। १० द्र पृष्ठ ४ टि ४। ११ द्र पृष्ठ ४, टि १०।

१२ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ।। ८।१००।११ ।।

गाय) के समान मानते हैं। हित कर दूध प्रचुर मात्रा में देना धेनु की विशेषता है। वाणी भी हित कर अर्थ का दोहन (प्रकटन) प्रचुर मात्रा में कर, यही उनका आशय लगता है। अतः इस रूपक से वे हितता और अर्थ बहुलता को वाणी का गुण मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने वाक् के लिये 'मन्द्रा' (प्रसादक अर्थात् प्रिय), देवी (अर्थ प्रकाशक) और राष्ट्री मन्द्रा (अधिकार से प्रभाव से युक्त और प्रिय) विशेषणों का प्रयोग किया है[१]। इससे प्रतीत होता है कि वे प्रिय, प्रभावशाली (रोब दाब और असर वाली) होते हुए भी प्रिय, एवम् अर्थ प्रकाशन में समर्थ वाक् को श्रेष्ठ वाक् समझते हैं। उसमें सार्थकता के साथ साथ ओज भी होना चाहिए[२]। पतङ्ग प्राजापत्य का अभिप्राय है कि वाक् को सुस्पष्ट (द्योतमाना) मन से छनी हुई (मनीषा) और सत्य होना चाहिये[३]। प्रस्कण्व काण्व सचाई का वर्णन करने वाली (ऋतस्य पथ्या) वाक् को ही श्रेष्ठ समझते हैं[४]। बृहस्पति आङ्गिरस का मत है कि वाणी को मन से छान कर बोलना चाहिये[५]। इसके अतिरिक्त वे वाक् को पति के प्रेम में पगी ऋतुस्नाता युवती के समान समझते हैं जो अपने प्रिय को अपना सब स्व सौंपने को आतुर है[६]। इस से कदाचित् उनका आशय यही है कि वाक् भी अपना सब स्व (अर्थ) अपने प्रिय अर्थात् श्रोता को झटिति सौंपने को आतुर होती है। अर्थात् वाक् को इतना स्पष्ट (उशती) और सुन्दर शब्दों से युक्त (सुवासा) होना चाहिए कि श्रोता उससे वक्ता के आशय को झटिति भली भांति समझ ले। लुश धानाक व क को सत्य का प्रवक्ता मानते हैं[७], अर्थात् सत्य वाक् का एक विशिष्ट गुण है। वसिष्ठ मैत्रावरुणि अनेकार्थक (सहस्रिणी)[८], स्पष्ट (ज्योतिरग्रा) और आनन्ददायक (मधु दोघमूधो दुह्रे)[९] वाक् की कामना करते हैं। अर्थात् वाक् में शब्द और अर्थ—दोनों—स्पष्ट एवं मधुर होने चाहियें। वामदेव गौतम[१०] के मत में वाक् की शक्तियाँ तथा अर्थ नाना विध (शत व्रजा) होने चाहियें ही, उसे इतना गम्भीर और प्रभाव-पूर्ण भी होना चाहिये कि विरोधी लोग

---

१ यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ॥ ८।१००।१०॥ तथा पिछली टि देखें। २ द्र पृष्ठ ४ टि १०।

३ पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः ।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥१०।१७७।२॥

४ द्र पृष्ठ ४, टि २। ५ द्र पृष्ठ ३ टि २।

६ उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ १०।७१।४॥

७ पिपर्तु मा तदृतस्य प्रवाचनं, देवानां यन्मनुष्या अमन्महि ॥ १०।३५।८॥

८ द्र पृष्ठ २, टि ३।

९ तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद् दुह्रे मधु दोघमूधः ।७।१०१।१॥

१० एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा, रिपुणा नावचक्षे ॥ ४।५८।५ ॥

उसकी उपेक्षा न कर सकें। भली भाँति सोच समझ कर बोलने पर भी उसे सरिता के समान (प्रवाह मय) होना चाहिये[1]। विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि बुद्धिमान् (धीरा) तथा कर्मठ (अपस) लोग वाणी को भली भाँति विचार (मनीषा) से छान लेते हैं (पुनन्ति)[2]। सध्रि के रूप श्रोता की बुद्धि में पैठ जाना ही वाक् की सर्वातिशायी विशेषता मानते हैं[3]। सुपर्ण काण्व के मत में माधुर्य ही वाक का प्रमुख गुण है[4]।

निष्कर्ष उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाणी के निम्नोक्त १५ गुण ऋषियों को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं १ प्रियता, २ माधुर्य, ३ हितता, ४ सादृश्यता, ५ ओजस्विता, ६ सुविचारिता, ७ अर्थ प्रचुरता, ८ सत्यता, ९ मौलिकता, १० गाम्भीर्य ११ स्पष्टता, १२ प्रभाव शालिता, १३ प्रवाह मयता, १४ सौशब्द्य और १५ निर्दोषता।

४ वाक के दोष ऋग्वेद संहिता में कतिपय स्थानों में इन्द्र के शत्रुओं को मृध्र वाच' कहा गया है[5]। यहाँ 'मृध्र' शब्द ब्राह्मण-काल के 'म्लेच्छ' शब्द[6] जैसा है। अत यह शब्द 'भ्रष्ट उच्चारण' अर्थ का वाचक है[7], इन्द्र के शत्रुओं का उच्चारण संस्कृत भाषी आर्यों की दृष्टि में भ्रष्ट, अत एव हेय था। फलत उन्होंने अपने शत्रुओं को 'मृध्र' और 'मृध्र वाच्' नाम दे दिया। इससे यह ध्वनित होता है कि आर्यों की स्पष्ट स्वर वर्ण पदा भाषा का ठीक उच्चारण न कर पाना अनार्यों का एक भाषिक दोष था। अत वसिष्ठ मैत्रा वरुणि के मत में अस्पष्ट उच्चारण वाक् का एक दोष है। अनार्यों की भाषा आर्यों की समझ से बाहर होने के कारण उनके लिये बाझ (वध्रि) है[8]। अत उपर्युक्त ऋषि की दृष्टि में 'अर्थ राहित्य' भाषा का दूसरा दोष है। बृहस्पति आङ्गिरस ने इस दोष को और स्पष्ट रूप से अ

---

१ सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना ॥४।५८।६॥

२ पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देव या विप्र उदियर्ति वाचम् ॥४।८।५॥

३ को धिष्ण्या प्रति वाच पपाद ?१०।११४।९। तथा निरुक्त ८।३ धिष्ण्यो =धिषणा भव । धिषणा धिषेदधात्यर्थे । धी सादिनीतिवा । धी सानिनीति वा ।

४ सत्य तदिन्द्रा वरुणा, कृशस्य वां मध्व ऊर्मि दुहते सप्त वाणी ॥८।५९।३॥

५ द्र आगे '६ भाषाओं के भेद।' प्रकरण, तथा पृष्ठ ६, टि ७।

६ द्र शतपथ ब्राह्मण ३।२।१।२३ तेऽसुरा आत्त वचसो 'हे लवो, हेऽलव' इति वदन्त परा बभूवु। २४ तत्रैतामपि वाचमूदुरुप जिज्ञास्याम। स म्लेच्छ। तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्, असुर्या हैषा वाक।

७ द्र महा भाष्य, पस्पशा, (झज्जर संस्करण, पृष्ठ ११) तेऽसुरा '— 'हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्त परा बभूवु। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै=नाप-भाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदप शब्द ।

८ द्र अमित्रानर घ्नन्मानुषे वध्रि वाच ॥ ८।१८।१ ॥

धेनु अफला, अपुष्पा वाग' शब्दों से व्यक्त किया है[1]। अर्थात् अर्थ रहित वाणी सूखी गाय के समान है। वह वाणी तो नाम मात्र को है। वह फूल से रहित (सतर के समान व्यर्थ) है।

५ वाक दवी देन है नेम भार्गव ऋषि का कथन है कि देवात्मा ने चेतना वान् और इन्द्रिय सम्पन्न सभी प्रकार के दुपाये, चुपाये तिर्यक और सरीसृप पशुओं[2] को वाक प्रदान की है[3], परन्तु इसका सर्वाधिक लाभ उठाया है मात्र शक्ति से युक्त पशुओं (अर्थात् मनुष्यों ने)[4]। सर्वाधिक मनन शील पशु मनुष्य है[5]। अत वाणी मनुष्य की प्रमुख विशेषता है। अग्नि रूप के मन में वाणी को ईश्वर ने शरीर में (एक इन्द्रिय के द्वारा) स्थापित किया है[6]। चेतनात्मा की देन यह वाक काम धेनु है वह हम भोग (इष) और बल (ऊर्ज्) प्रदान कर के आनन्दित करती है[7]। कुत्स आङ्गिरस का कथन है कि इन्द्र ने ही स्तोता को पहले पहल वाणी प्रदान की[8]। वाम देव गौतम का यह मत प्रतीत होता है कि मनुष्यों को वाणी ईश्वर (वेन) से उनकी स्वाभाविक शक्ति के रूप में प्राप्त हुई है। मनुष्य उसका परिष्कार करते हैं[9]।

६ वाक नित्य है उच्चरित ध्वनि के रूप में वाक जहाँ अनित्य है वहाँ व्यापक होने के कारण यह नित्य भी मानी जाती है[10]। ऋग्वेद संहिता में भी यही आशय वर्णित है वहाँ उच्चारण के द्वारा वाक के निर्माण की चर्चा की गई है[11]। इसके साथ ही वे उच्चरित ध्वनि से भिन्न वाक् की सत्ता भी मानते हैं जिसके लिये वाक की अनश्वरता के बोधक 'अक्षरा' और 'अघ्न्या' शब्दों का प्रयोग

---

१ अ धेन्वा चरति माययष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम ॥ १०।७१।५ ॥

२ तवेमे पञ्च पशवो वि भक्ता गावो अश्वा पुरुषा अजावय ॥
तुभ्यमारण्या पशवो मृगा वने हिता हंसा, सुपर्णा शकुना वयांसि ।
तव यक्ष पशुपते अप्स्वन्तस, तुभ्य क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥

अथर्व संहिता ११।२।६, २४। द्र निरुक्त मीमांसा पृष्ठ ९७। ८।१००।११॥

३ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपा पशवो वदन्ति ॥ ८।१००।११॥

४ विश्व जीव चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायो ॥१।९२।९॥

५ द्र पृष्ठ ६ टि ७। ६ को धिष्ण्या प्रति वाच पपाद ? १०।११४।९॥

प्रकरणानुसार उत्तर होगा सुपर्ण अर्थात् ब्रह्म। ७ द्र पृष्ठ ५, टि १२।
१।१०१।५ ॥

८ यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत ॥

९ त्रिधा हित पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन ।
इन्द्र एक सूर्य एक जजान वेनादेक स्वधया निष्टतक्षु ॥ ४।५८।४ ॥

१० द्र निरुक्त १।२ इन्द्रिय नित्य वचनमौदुम्बरायण । व्याप्ति मत्त्वात्तु शब्दस्य। निरुक्त मीमांसा पृष्ठ १०९ ११३। उच्चारण के पर्याय। ११ उच्चारण की प्रक्रिया।

११ द्र अनुच्छेद १०

तो उस युग म होता ही था[1], कि रूप आङ्गिरस ऋषि ने जिसे स्पष्ट रूप से 'नित्य' कहा भी है[2]।

७ भाषा के दो रूप—मौखिक और लिखित जागतिक व्यवहार म पदार्थ का बोध नाम और रूप से होता है[3]। पदार्थ बोध के लिये आश्रित भाषा के भी दो रूप हैं (क) जिस का ग्रहण दृष्टि स होना है अर्थात् लिखित भाषा। (ख) जिस का ग्रहण कान के द्वारा होता है अर्थात् मुख से उच्चरित और कान से श्रुत भाषा। वृहस्पति आङ्गिरस न वाक को समझने की दृष्टि से मनुष्या के तीन विभाग किये हैं (क) अ पढ गँवार, अगूठा-टेक, जिसे काला अक्षर और भैस बराबर हैं, (ख) जो सुन कर भी वाणी को समझ नही पाता, अर्थात् जिसे भाषा सस्कृत ग्रहण के अभाव मे आती ही नही है। (ग) जो वाक के दोना रूपा का जान-कार है[4]।

८ भाषाओ के भेद ऋचाओ के दर्शन के समय भाषाओ के कतिपय भेदोप भेदा की कल्पना विविध आधारो पर हो चुकी लगती है। अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक ने प्रयोक्ताओ के आधार पर वाक के (क) देवा द्वारा सवित और (ख) मनुष्यो द्वारा सेवित भेदा की चर्चा की है[5]। उच्चारण के आधार पर वाक् और मृध्र वाक की चर्चा कुछ मन्त्रा मे आयी है। 'वाक' आर्यों की अपनी भाषा है, एव मृध्र वाक पणियो और असुरा की भाषा। 'मृध्र' शब्द का अथ बहुत स्पष्ट नही है। यास्क ने इसका अथ मृदु' किया है[7]। परन्तु यह अथ शत्रुओ की भाषा के विशेषण[8] के रूप मे ठीक नही घटता प्रतीत होना। भाष्य कारा ने[9] ठीक

---

१ द्र अनुच्छेद '१ भाषा क पर्याय।' पृष्ठ १, और पृष्ठ २, टि ३।

२ तस्म नूनमभि द्यवे वाचा विरूप, नित्यया वृष्णे चोदस्व सु ष्टुतिम्॥ ८।७५।६॥

३ या नामभिस्तो वक्षि विश्वाना रूपेभिर्जात वेदो, हुवान ॥५।४३।१०॥

४ द्र पृष्ठ ६, टि ६। 'सहस्र मे ददतो अष्ट कण्य।' (१०।६२।७) के 'अष्ट कण्य' का अथ कुछ विद्वाना ने आठ का अङ्क जिनके कान पर लिखा है (ऐसी गाय)' किया है।

५ अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि ॥ १०।१२५।५॥

६ द्र १।१७४।२ दनो विश इन्द्र मृध्र वाच। ५।२९।१० नि दुर्योण आ वृणङ मृध्र वाच। ५।३२।८ नि दुर्योण आ वणङ मृध्र वाचम। ७।१८।१३ जेष्म पूरु विदथे मृध्र वाचम। ७।६।३ न्यक्रतून्, ग्रथिनो, मृध्र वाच, पणी रश्रद्धा अ वधा, अ यनान्।

७ द्र निरुक्त ६।३१ दनो विश इन्द्र मृध्र वाच (ऋ १।१७४।२)= दान मनसो नो मनुष्यानिन्द्र मृदु वाच कुरु। ८ द्र टि ६।

९ द्र सायण मुद्गल हिसित। वेङ्कट माधव ७।६।३ परुष हिंसक।

ही इसका अर्थ हिंसित या पदच किया है । 'मृध का प्रयोग विशेष्य के रूप
मे भी आर्यों के शत्रुओं के लिये हुआ है[1] । यह प्रयोग ऐसा ही प्रतीत होता है,
जैसे कि 'भ्रष्ट उच्चारण' के लिये प्रयुक्त म्लेच्छ शब्द भ्रष्ट उच्चारण करने
वाले लोगो' के लिये रूढ हो गया है[2] । अत 'मृध वाच्' का अर्थ 'अस्पष्ट स्वरो
तथा वर्णों वाली भाषा और मृध वाच् (बहुव्रीहि) का अर्थ 'इस प्रकार की
अस्पष्ट उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोग होना चाहिये । इन अस्पष्ट
उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोगो को 'वि-वाच् (बहुव्रीहि), अर्थात् आर्यों
की भाषा से भिन्न प्रकार की बोली बोलने वाले लोग' भी कहा गया है[3] । अत
लगता है कि आर्य लोग अपनी स्पष्ट स्वरो और वर्णों वाली भाषा की दृष्टि से
अस्पष्ट ध्वनियो वाली पणियो की भाषा को मृध्रा वाक' एवम् ऐसी बोली बोलने
वाले पणि आदि अपने शत्रुओ को 'मृध वाक और सङ्क्षेप म लाक्षणिक रूप स
'मृध्र कहा करते होगे ।

लगता है कि आर्यों मे भी भाषा के भेदोपभेद थे । सु होत्र भारद्वाज[4] और
शुन होत्र[5] का कथन है कि वि वाच् (विभिन्न बोलियाँ बोलने वाली) प्रजाए
इन्द्र को बुलाती हैं । गृत्समद का यह कथन यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र को
युद्ध मे एक-दूसरे के विरुद्ध डटी दोनो सेनाएँ अलग अलग बुलाती है[6] । इसे दृष्टि म
रखते हुए वि-वाच् का अर्थ विविध प्रकार से बुलाने वाली (प्रजायें)' भी हो सकना
है । किन्तु अथर्व संहिता (शौनक शाखा) म अथर्वा ऋषि ने वि वाचस जनम्' का
प्रयोग भिन्न भिन्न भाषायें बोलने वाले लोग अर्थ मे किया है कि पृथिवी भिन्न
भिन्न भाषाओ वाले तथा भिन्न भिन्न धर्मों वाले लोगो को अनेक प्रकार से धारण
करती है[7] । अत ऋग्वेदीय 'वि वाच का अर्थ भी भिन्न भिन्न बोली बोलने वाले
करना असङ्गत एवम् असम्भव नहीं है ।
वाणी की निष्फलता को दृष्टि म रख कर भी वसिष्ठ मत्रा-वरुणि ने वध्रि

---

१ हन्-मृध्राण्यप द्विषो दहन्, रक्षासि विश्व हा । ८।४३।२६ ॥
पुराऽग्ने दुरितेभ्य, पुरा मृध्रेभ्य कवे । प्र ण आयुर्वसो तिर ॥५४।३०॥
२ द्र पृष्ठ ७ टि ६ ७ । ३ यो वाचा वि वाचो, मृध्र वाच पुरू सहस्राऽ
शिवा जघान (१०।२३।५) । बिभेद वल, नुनुदे वि वाच (३।३४।१०) । वेङ्कट
माधव ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है वाचश्चाप्याकृता वि नुनुदे=व्या
चकार । आगे '१३ भाषा का व्याकरण । प्रकरण देखें ।
४ अवोचन्त चर्षणयो वि वाच (६।३१।१) ।
५ त्वां ही द्रावसे वि वाचो हव ते चर्षणय शूर सातौ । ६।३३।२ ॥
६ य क्रन्दसी स यती वि ह्वयेते परेऽवर उभया अ मित्रा ।
समान चिद्रथमा-तस्थिवांसा नाना हवेते, स जनास, इन्द्र ॥२।१२।८॥
ऋ ६।३३।२ भी देखें ।
७ जन बिभ्रती बहु धा वि वाचस, नाना धर्माण पृथिवी ।१२।१।४५ ।

वाच्' शब्द का प्रयोग किया है[1]। 'वध्रि' का प्रयोग 'बल (बधिया)' अर्थ में 'वृषन् (बिजार, साँड) के विपरीत हुआ है[2]। अतः 'वध्रि वाक' का अर्थ होगा 'वह वाणी जिसका कोई अर्थ नही होता, अथवा असर नहीं होता'। 'वध्रि वाक् (बहुव्रीहि) का अर्थ होगा निष्फल निरर्थक बोली बोलने वाले (लोग)'।

९ वाक की संख्या। ऋग्वेद संहिता मे वाक की संख्या तीन और वाणियों की संख्या सात कतिपय मन्त्रों में बताई है। वृष्टि की इच्छा वाले वसिष्ठ मैत्रावरुणि (अथवा कुमार आग्नेय[3]) का अपने ऋषि मन को[4] कहना है कि तू ज्योति जिनमे पहले आती है, तथा जो मधु का दोहन करने वाले ऊधस को दुहती हैं (=मधु दुहती है), ऐसी तीन वाचों को बोल[5]। इसी प्रकार त्रित आप्त्य[6], उचथ्य आङ्गिरस[7] और पराशर शाक्त्य[8] ने भी तीन वाचों की चर्चा की है। भाष्यकारों (वेङ्कट माधव और सायण) के अनुसार तीन वाच से ऋचा यजुष और साम अभिप्रेत हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते है कि यह संख्या अभिव्यक्ति शैली के आधार पर वाक् के गद्य, पद्य और गेय भेदों को प्रकट करती है एवं काव्य शास्त्र का विषय है, भाषा शास्त्र का नहीं।

इसी प्रकार विश्वामित्र गाथिन ने कहा है कि सात वाणियां एक गर्भ को धारण करती हैं[9]। वेङ्कट माधव और सायण ने यहां वाणी का अर्थ 'नदी' किया है। सम्भवतः बहने की आवाज करने के कारण 'वाणी' शब्द 'नदी' अर्थ में उसी प्रकार रूढ मान लिया गया है जिस प्रकार 'सरिता' अर्थ में स्वयं 'नदी'[10]

---

१ सुवास इन्द्र सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रि वाचः। ७।१८।९॥

२ वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥१।३२।७।
सिन्धुन क्षोदं शिमीवाँ ऋघायतो वृषेव वध्रीँरभि वष्ट्योजसा ॥२।२५।३॥

३ द्र कात्यायन की ऋक्सर्वानुक्रमणी एते कुमार आग्नेयोऽपश्यद्, वसिष्ठ एव वा।

४ द्र सायण भाष्य ७।१०१।१ ऋषिरात्मानं स्तुतौ प्रेरयति।

५ द्र पृष्ठ ६, टि ९। ६ तिस्रो वाच उदीरते। ९।३३।४॥

७ प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः। ९।५०।२॥

८ तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।९।९७।३४॥
तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी 'अस्य प्रेषा' (ऋ ९।९७)ऽष्टा पञ्चाशत्। आद्यं तृचं वसिष्ठोऽपश्यत्। उत्तरा नव 'पृथग् वसिष्ठा इन्द्रप्रमतिर् वसुक्र इति। चतुर्दश पराशर।

९ द्र ३।१।६ एक गर्भ दधिरे सप्त वाणी। ७।१ आ मातरा विविशु सप्त वाणी।

१० अथर्व-संहिता ३।१३।१ यदद सम्प्रयतीरहावनदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ, ता वो नामानि सिन्धव ॥ द्र निरुक्त २।२४, निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ २१५ १६ और निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २८०, भी देखें।

और 'नद'[1] शब्द रूढ हो गये हैं। सुपर्ण काण्व ने अवश्य भाषा के प्रसङ्ग में ही 'वाणी' की सात संख्या बताई है[2]। उपर्युक्त दोनों भाष्य कारों ने इस खिलिक सूक्त पर भाष्य नहीं किया है। अत यहाँ 'सात वाणियों' का आशय उनके मत में क्या है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु द्वित आप्त्य के इसी प्रसङ्ग के 'ऋषियों की सात वाणियां सोम की स्तुति करती हैं।[3] कथन पर दोनों आचार्यों ने 'सात वाणियाँ' का अर्थ सात छन्द' किया है[4]। अत खिल मन्त्र पर भी यदि वे लोग भाष्य करते तो 'सात वाणियाँ=सात छन्द' अर्थ ही करते।

निष्कर्ष इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं (क) 'सात वाणी' कथन भाषाओं की संख्या का बोधक नहीं है। (ख) अभिव्यक्ति-शाली के आधार पर वाक् के पद्य बद्ध और गद्य बद्ध भेद ऋषियों को प्रतीत थे। पिछले प्रघट्ट के इस निष्कर्ष का मिलाने से यह स्पष्ट है कि वाङमय के (१) पद्य (२) गद्य, (ग) गेय भेद उस समय प्रतिष्ठित हो चुके थे।

१० उच्चारण के पर्याय लौकिक संस्कृत में प्रचलित 'उच्चारण' शब्द 'उद्+√चर्+इ(णिच्)+यन' से निष्पन्न है। इस का अर्थ है ऊपर को चलाना। शिक्षा-शास्त्र के अनुसार यह 'ऊपर को चलाना' प्रक्रिया या है

वक्ता जब कुछ कहना चाहता है तब आत्मा बुद्धि में कथ्य को रख लेता है, फिर बोलने की इच्छा होती है। इस से शरीर में विद्यमान अग्नि पर आघात होता है। यह आघात शरीर में विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। वायु छाती की ओर बढ़ता है फिर कण्ठ में आता है। वहाँ से ऊपर को ले का हुआ वायु मूर्धा में आता है। वहाँ से ऊपर को फन जाता है। १ स्वर २ काल (मात्रा), ३ स्थान ४ आभ्यन्तर प्रयत्न तथा ५ बाह्य प्रयत्न के कारण यह वायु तत्तद् वर्णों को उत्पन्न करता है[5]।

उपर्युक्त विवरण के आधार भूत श्लोकों में क्रिया के लिये 'प्रेरयति', वरन्

---

१ रपद्‌गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मन । १०।११।२॥

२ द्र पृष्ठ ७ टि ४। ३ अभि वाणीऋषीणां सप्त नूषत ॥९।१०३।३॥

४ अमरेण मिमन सप्त वाणी। (१।१६४।२४) और इस पर भाष्य भी 'छन्द' ही किया गया है। इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है। यहाँ भी 'वाणी' का अर्थ

५ आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
कण्ठे ... नीयच्य ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभाग पञ्चधा स्मृत ॥
स्वरत कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत। पाणिनीय शिक्षा ६ १०॥

और 'उदीरण' शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद संहिता में 'उद्+चर' का प्रयोग 'वाक' के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। हाँ इस अर्थ वाली कुछ अन्य क्रियाओं का प्रयोग कई बार 'उच्चारण' के सन्दर्भ में ही हुआ है। उस का ब्यौरा या है

'उच्चारण' के लिये ऋग्वेद संहिता में वाक को कर्म बना कर ('वाचम्' के प्रयोग के साथ) 'इर्यति' का प्रयोग सर्वाधिक (पाँच) बार[1] तथा, 'उद्' उपसर्ग के साथ (उदियर्ति वाचम्) दो बार[2] हुआ है। गत्समद[3] प्रस्कण्व काण्व[4] अग्नि युत (अथवा अग्नि यूप) स्यौर[5] ने वाक् को प्रेरित करने की उपमा नदी 'सिन्धु' में नाव का ढकेलने से दी है[6]। उद्+√ईर्[7] और √कृ[8] का प्रयोग भी इस (उच्चारण) अर्थ में दो दो बार हुआ है। बना सँवार कर (सम्भवत कविता के रूप में) प्रस्तुत करने के लिये √तक्ष् का प्रयोग भी इसी प्रसङ्ग में सम्भवत हुआ है[9]। √वद् का प्रयोग भी असकृद् हुआ है[10]।

निष्कर्ष। इन सब प्रयोगों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ध्वनि का उत्पादन प्रयत्न से होता है ऋषियों की यही धारणा थी।

---

१ कनिक्रदज्जनुष प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्। २।४२।१ ॥
उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाच जनयं यजध्य। ४।२१।८ ॥
एष प्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाच बृहदाशुषाण। ५।३६।४ ॥
हरि सृजान पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र वाचे ॥ ९।९५।२ ॥
प्रेन्द्राग्निभ्यां सु वचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कै ॥१०।११६।९ ॥

२ स्युमना वाच उदियर्ति वह्नि। १।११३।१७ ॥ द्र पृष्ठ ७, टि २।

३ द्र टि १ में २।४२।१। ४ द्र टि १ में ९।९५।२।

५ द्र टि १ में १०।११६।९।

६ इस उपमा से इन लोगों का यही आशय प्रतीत होता है कि (क) जैसे नदी को अधिक-तम सरलता से नाव से पार किया जा सकता है, वैसे ही अपने अभिप्राय को भी वाक के द्वारा ही सरल तम ढग से प्रकट किया जा सकता है। (ख) जैसे पार पहुँचने में विवेक (क्या पार) का कौशल सुतराम् अपेक्षित होता है, उसके अभाव में नाव मझ धार में ही रह जायेगी वैसे ही अपने आशय को सम्यक् प्रकट कर के काम निकालने में भी वक्ता के वाक्चातुर्य की नितान्त अपेक्षा है। (ग) नाव खेने का कौशल जैसे प्रयत्न से आता है वैसे ही वाक्चातुर्य भी प्रयत्न से साध्य है।

७ द्र पृष्ठ ११, टि ६ ७ में पुन ९।८३।४ तथा ५०।२।

८ द्र पृष्ठ ५ टि ४ तथा ७।१०३।८ ब्राह्मणास सोमिनो वाचमक्रत।

९ इमां ते वाच वसूयन्त आयवो रथ न धीर स्वपा अतक्षिषु ।१।१३०।६॥

१० द्र ७।१०।१, ५ ६, ११।

और 'नद'[1] शब्द रूढ हो गए हैं। सुपर्ण काण्व ने अवश्य भाषा के प्रसङ्ग में ही 'वाणी' की सात सङ्ख्या बताई है[2]। उपर्युक्त दोनो भाष्य कारो ने इस खिल सूक्त पर भाष्य नहीं किया है। अतः यहाँ 'सात वाणियों' का आशय उनके मत में क्या है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु द्वित ग्राप्त्य के इसी प्रसङ्ग के 'ऋषियों की सात वाणियाँ सोम की स्तुति करती हैं।'[3] कथन पर दोनो आचार्यों ने 'सात वाणियां' का अर्थ सात छन्द' किया है[4]। अतः खिल मन्त्र पर भी यदि वे लोग भाष्य करते, तो सात वाणियाँ=सात छन्द' अर्थ ही करते।

निष्कर्ष इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं (क) 'सात वाणी कथन भाषाओं की सङ्ख्या का बाधक नहीं है। (ख) अभिव्यक्ति-शली के आधार पर वाक् के पद्य बद्ध और गद्य बद्ध भेद ऋषियो को प्रतीत थे। पिछले प्र घट्ट के इस निष्कर्ष का मिलाने से यह स्पष्ट है कि वाङ्मय के (१) पद्य, (२) गद्य, (ग) गेय भेद उस समय प्रति ष्ठित हो चुके थे।

१० उच्चारण के पर्याय लौकिक सस्कृत म प्रचलित 'उच्चारण' शब्द उद्+√चर+इ(णिच)+घन' से निष्पन्न है। इस का अर्थ है ऊपर को चलाना। शिक्षा शास्त्र के अनुसार यह ऊपर को चलाना' प्रक्रिया यो है

वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि से कथ्य को रख लेता है फिर बोलने की इच्छा होती है। इस से शरीर में विद्यमान अग्नि पर आघात होता है। यह आघात शरीर म विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। वायु छाती की ओर बढता है, फिर कण्ठ मे आता है। वहा स ऊपर को फेका हुआ वायु मूर्धा म आता है। वहाँ से ऊपर को फल जाता है। १ स्वर २ काल (मात्रा), ३ स्थान ४ आभ्यन्तर प्रयत्न तथा ५ बाह्य प्रयत्न के कारण यह वायु तत्तद् वर्णों को उत्पन्न करता है[5]।

उपर्युक्त विवरण के आधार भूत श्लोको म क्रिया के लिये प्रेरयति', चरन्

---

१ रपद् ग पर्वोरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मन। १०।११।२॥

२ द्र पृष्ठ ७, टि ४। ३ अभि वाणीऋ षीणा सप्त नूषत ॥६।१०३।३॥

४ अक्षरेण मिमते सप्त वाणी। (१।१६४।२४) और इस पर भाष्य भी इस प्रसङ्ग मे द्रष्टव्य है। यहा भी 'वाणी का अर्थ 'छन्द ही किया गया है।

५ आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्र जनयति स्वरम्।
कण्ठे शीर्षण्य ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत।
वर्णाञ्जनयते, तेषां वि भाग पञ्च धा स्मृत॥
स्वरत, कालत स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानत। पाणिनीय शिक्षा६ १०॥

और 'उगीए' शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद-संहिता में 'वद्'— चर का प्रयोग 'वाक्' के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। हाँ इस अर्थ वाली कुछ अन्य क्रियाओं का प्रयोग कई बार 'उच्चारण' के सन्दर्भ में ही हुआ है। इन का प्रयोग या है

'उच्चारण' के लिये ऋग्वेद-संहिता में वाक् को कम बना कर ('वचन' के प्रयोग के साथ) 'इर्यति' का प्रयोग सर्वाधिक (पाँच) बार[1] तथा 'उद्' उपसर्ग के साथ (उदियर्ति वाचम्) दो बार[2] हुआ है कुलनद[3] प्रक्रन्द[4], मनि-मुन (अथवा मनि यूप') स्यौर[5] न वाक् को प्रेरित करने की उपमा नाव नि(...) में नाव को ढकलने से दी है[6]। 'उद्+√ईर्'[7] और √कृ[8] का प्रयोग भी इस (उच्चारण) अर्थ में दोनों बार हुआ है। बना-सँवार कर (सम्भवत कविता के रूप म) प्रस्तुत करने के लिये √तक् का प्रयोग भी इसी प्रसङ्ग में सम्भवत हुआ है[9]। √वद् का प्रयोग भी असकृत् हुआ है[10]।

निष्कर्ष। इन सब प्रयोगों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ध्वनि का उत्पादन प्रयत्न से होता है, ऋषियों की यही धारणा थी।

---

१ कनिक्रदज्जनुष प्र ब्रुवाण इर्यति वाचमरितेव नावम। २।४२।१ ॥
उप यो नमो नमसि स्तभायन्नियर्ति वाच जनयन्यजध्य। ४।२१।५ ॥
एष प्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाच बृहदाशुषाण। ५।३६।४ ॥
हरि सृजान पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र वाचे ॥ ९।९५।२ ॥
प्रेन्द्राग्निभ्यां सु वचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरय नावमर्कै ।१०।११६।९ ॥
२ स्यूमना वाच उदियर्ति वह्नि। १।११३।१७ ॥ द्र पृष्ठ ७, टि २।
३ द्र टि १ मे २।४२।१। ४ द्र टि १ म ९।९५।२।
५ द्र टि १ म १०।११६।९।

६ इस उपमा से इन लोगों का यही आशय प्रतीत होता है कि (क) जस नदी को अधिक-तम सरलता से नाव से पार किया जा सकता है, वैसे ही अपने अभिप्राय को भी वाक् के द्वारा ही सरल तम ढंग से प्रकट किया जा सकता है। (ख) जस पार पहुँचने म विवये (कर्ण धार) का कौशल मुख्यतम् अपेक्षित होता है, उसके अभाव म नाव मझ धार म ही रह जायेगी वैसे ही अपने आशय को सम्यक् प्रकट कर के काम निकालने म भी वक्ता के वाक्चातुर्य की नितान्त अपेक्षा है। (ग) नाव चलाने का कौशल जस प्रयत्न म आता है वैसे ही वाक्चातुर्य भी प्रयत्न स साध्य है।
७ द्र पृष्ठ ११, टि ६ ७ म धृत ६।३३।४ तथा ५।०१२।
८ द्र पृष्ठ ५ टि ४ तथा ७।१०३।८ ब्राह्मणास सोमिनो वाचमक्रत।
९ इमां ते वाच वसूयन्त आयवो रथ न धीर स्वपा अतक्षिषु ।१।१३०।६।
१० द्र ७।१०३ ५, ६, ११।

११ उच्चारण की प्रक्रिया देवापि आर्ष्टिषेण के अनुसार वाक् का अधिष्ठान 'आस्य'[1] है। अर्थात् वाक् 'आस्य' में उद्भूत होती है। यहाँ 'आस्य' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। निरुक्त में इसकी व्याख्या √अस (फेंकना) से और आ+√स्यन्द् से की गई है[2]। पतञ्जलि ने √अस् से आस्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि वक्ता 'आस्य' से वर्णों का प्रक्षेपण करता है, अतः यह आस्य है[3]। अर्थात् पतञ्जलि उच्चारण में विशेष उपयोगी होने से मुख गह्वर का यह नाम पड़ा है', यह मानते हैं। यास्क की दूसरी व्याख्या में लार के द्वारा अन्न को गीला करने की विशेष सामर्थ्य तो स्पष्ट ही है, पर √अस से उन्हें क्या तात्पर्य अभिप्रेत है यह स्पष्ट नहीं है। दुर्गाचार्य ने इसके दो आशय बताए हैं खाते समय इसमें अन्न डालने के कारण अथवा वर्णों को बाहर फेंकने के कारण यह 'आस्य' कहलाता है[4]। ऋग्वेद-संहिता में 'आस्य' का प्रयोग कोई बाईस बार आया है। इनमें से छह बार इसका प्रयोग बोलने के सन्दर्भ में हुआ है[5]। शेष सोलह में यह 'भक्षण' के सन्दर्भ में आया है[6]। ऐसी स्थिति में आस्य की दोनों व्याख्यायें ऋग्वेदानुकूल हैं और भाषा के प्रसङ्ग में पतञ्जलि की व्याख्या उचित और गोङ् प्रतीत होती है। अतः 'आस्य' से यहाँ मुख का वह गह्वर प्रतीत होता है जहाँ आकर वायु वर्णों को अभिव्यक्त कर के बाहर की ओर सम्प्रेषित कर देता है। अतः आस्य वाक् का अधिष्ठान है।

नेम भार्गव का कथन है कि वाक् अज्ञात अर्थों का अभिधान करती है[7]। गोतम राहूगण के कथन से विदित होता है कि वे वाक् का सम्बन्ध मन से मानते हैं[8]। अर्थात् मनन या विचार के बिना वाक् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः वाक् सब से पहले मन में सङ्कल्प के रूप में आती है। इस आशय की पुष्टि अन्य ऋषियों के कथनों से भी होती है वामदेव गौतम का कथन है कि वाणी हृदय

---

१ दधामि ते द्युमतीं वाचमासन् ॥ १ ।६८।२ ॥

२ द्र० १।६ आस्यमस्यते। आस्यन्दत एतदन्नमिति वा। निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ११५, ११७।

३ द्र० महाभाष्य १।१।६, पृष्ठ १६६ अस्यत्यनेन वर्णानित्यास्यम्। अन्नमेतदास्यन्दत इति वाऽऽस्यम्।

४ आस्यमस्यते क्षेपार्थस्य—क्षिप्यते ह्येतदस्मिन् मुखेनान्नम्। क्षिपति वा वर्णान्।

५ द्र० १।१६६।११ ५।१८।४ १०।५३।११, ६४।२, ९८।२ ३।

६ द्र० १।७५।१, ८४।१६, ३४।१० (४।४५।३) ३।२६।७ ४।४०।४, ५।६।६, ६।७।१ ८।१२।१३ ३९।३, ६६।३, ९।६९।२, ९९।३ १०।७३।३ ७९।६ ८७।२।

७ वाग्वदन्त्यविचेतनानि। ८।१००।१०॥

८ विश्वस्य वाचमविदन्मनायोः ।१।६२।६॥

रूपी समुद्र से उद्भूत होती है। वह नदी के समान प्रवाहशील होती है तथा हृदय के भीतर रहती हुई मन से छन कर बाहर आती है[1]। कुत्स आङ्गिरस के मत में वाक मनीषा (मन से, मन की ओर, गति-शील है=मन का कहा करने वाली) है[2]। दाश-कर्ण काण्व का कहना है कि मैं अश्विवयों की स्तुति के साथ जगा हूँ हे देवि वाक, तूने मेरी मति का प्रकट किया है[3]। अर्थात् ये ऋषि यह मानते हैं कि वाणी मन को ही खोलती है=पहले मन में सङ्कल्प होता है, फिर वाक् उसे प्रकट करती है। एक अन्य ऋषि का कथन है कि वाक हृदय (गर्भ) में स्थित है। शब्द उसका बछड़ा है और वह मुख में स्थित है। गर्भ-स्थ वाक् का करण मन है, और मुख-स्थ वाक का करण जिह्वा है[4]। बृहस्पति आङ्गिरस ने तो स्पष्ट रूप से उच्चारण की प्रक्रिया बताते हुए कहा कि बुद्धिमान् लोग मन से वाक् को छान कर बोलते हैं[5]। अर्थात् वाक पहले मन में आती है और फिर शब्द के रूप में व्यक्त होती है। इसी प्रकार पतङ्ग प्राजापत्य ऋषि का कथन है कि वाक का आत्मा (पतङ्ग) पहले मन में धारण करता है। मन वाक् को अपने अधीन रखने के कारण गन्धर्व (गो=वाक को धारण करने वाला) है। मन का सङ्कल्प ही उच्चारण के द्वारा द्योतित होता है और कवि लोग उस की अभिव्यक्ति से उस की रक्षा करते हैं[6]। वाक के उच्चरित होने से पूर्व के इस रूप के बारे में दीर्घतमस औचथ्य का यह कथन है कि वाक की तीन अवस्थाएँ उच्चारण से पूर्व होती हैं। ये अवस्थाएँ गुप्त हैं। इन्हें मनीषी लोग ही समझ सकते हैं। उच्चारण तो वाक की चौथी अवस्था है[7]। विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि धीर कवि अपने कथ्य

---

१ द्र पृष्ठ ६ टि १० पृष्ठ ७, टि १ एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य ।४।५८।६।।

२ द्र पृष्ठ ५ टि ४। ३ द्र पृष्ठ ३ टि ५।

४ गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया । १०।५३।११।।

५ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।१०।७१।२।।

६ पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति, तां गन्धर्वो अवदद्गर्भे अन्तः ।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ।।१०।१७७।२।।

७ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।१।१६४।४५।।

सायण ने इसकी व्याख्या कई दृष्टियों से की है। उनमें से निम्नलिखित दृष्टि से की व्याख्या ही मन्त्र को सर्वाधिक लगा पाती है

अपरे मातृका प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति परा पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति चत्वारीति। एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात्सैव हृदय-गामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता, मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीयमानत्वान्मध्यमाया। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादि व्यापारेण

का मन से भली भाँति विचार करके उत्पादन (सृजन) करते हैं[1]। अन्यत्र मन्त्र-वर्णन का कथन है कि उच्चारण से पहले वाक् द्वारा पूरित न मन्त्र अर्थात् भावना में कम जाती है[2]। अन्यत्र कहा जाता है कि वाक् की लहर बहती है और उसकी उपमा नदी की लहर से दी है कि मानव स्तुतिकार (वाम गिर) की लहर का नदी (सिन्धु) के समान प्रक्षिप्त करता है[3]।

वाक् का यह सारा व्यापार अर्थाभिव्यक्ति के लिए होता है। मुख्यतः आङ्गिरस ऋषि ने वाणी के द्वारा प्रकट हुए भावों का मधुर लहर बताया है[4]। नम भावना से उत्पन्न (दक्ष) और बल (ऊर्ज) बताया है[5]। वामदेव गौतम ने मन से वाणी गाय और अर्थ उसका वत्स प्रतीत होता है। वाणी से भाव व्यक्त किया जाता है। इस वाक् के पद (अर्थ) का निर्माण मनुष्य में ईश्वर द्वारा निहित स्वाभाविक शक्ति (स्वधा) से ही होता है[6]। बृहस्पति आङ्गिरस के अनुसार अर्थ वाक् का फल और पुष्प है। यह लिंग (अर्थ समझने में समर्थ) लोगों के लिए ही वाणी दुधारू गाय है और अन्य-पद सात-पुष्कर भट्टाचार्यों के लिए शून्य गाय है[7]।

१२ वाक् के घटक तत्त्व दीर्घतमस् औचथ्य ने वाक् की रचना 'अक्षर' से बताई है[8]। इन्हीं के कथन से विदित होता है कि अक्षर शब्द न + √क्षर से बना है तथा इसका अर्थ है क्षरित न होने वाला अर्थात् अक्षय[9]।

चक्षुति, तदा चत्वारीत्युच्यत। एवं 'चत्वारि वाक् पदानि परिमितानि। मनीषिणो'=मनसः स्वामिनः, स्वाधीनमनस्का। 'ब्राह्मणाः =शब्दब्रह्मणः नाऽर ब्रह्मणोऽधि-गन्तारो योगिनः। परादि चत्वारि पदानि विदुः =जानन्ति। तेषु मध्ये त्रीणि परादीनि गुहा निहितानि हृदयान्तर्वर्तित्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरा सञ्ज्ञकं मनुष्या सर्वे वदन्ति।

१ युवा सुवासाः परिवीत आगात्, स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥ ३।८।४ ॥
पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देवया विप्र उदियर्ति वाचम् ॥ ५ ॥

२ स्यन्ददश्वो नयमानो रुवद् गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक् ॥ १।१७३।३ ॥

३ प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिर सोम पवमानो मनीषा । ९।९६।७ ॥

४ द्र पृष्ठ ७, टि ४। ५ द्र पृष्ठ ५ टि १२।

६ द्र पृष्ठ ८ टि ६ तथा वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्या उप ब्रह्मा शृणव वच्छस्यमानम्। ४।५८।२॥ ७ द्र पृष्ठ ८, टि १।

८ गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम, त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदा, ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ १।१६४।२४॥

९ द्र १।१६४।४२ ततः क्षरत्यक्षरं तत्।

दीर्घ-तमस् के अनुसार 'अक्षर' शब्द मूलत सृष्टि के मूल उत्स का वाचक है, जो परवर्ती दार्शनिकों के 'ब्रह्म' के निकट का कोई तत्त्व है[1]। सम्भवत वाणी के प्रसङ्ग म अक्षर' का अर्थ 'वर्ण' हो, क्योंकि वाक् का मूल वर्ण ध्वनि ही है। दीर्घ-तमस का उपयुक्त कथन 'सात वाणियों' के विषय मे है। सात वाणियो का अर्थ, जैसा कि हम पीछे (पृष्ठ १२ मे) देख चुके हैं, छन्द है। वैदिक छन्द स्वर, या व्यञ्जनारूढ स्वरों की सङ्ख्या पर निर्भर करते हैं, यह तथ्य विदित ही है। अत प्रकृत मे 'अक्षर' शब्द स्वर, या व्यञ्जनारूढ स्वर, अर्थात् अङ्गरेजी के 'सिलेबल', का पर्याय ही प्रतीत होता है। यह शब्द वाणी के पर्याय के रूप मे भी प्रयुक्त हुआ है, यह हम (पृष्ठ २ मे) देख चुके हैं। यदि यहाँ उसे भी दृष्टि मे रखें, तो इस कथन का निष्कर्ष यह निकलता है कि वाणी अर्थात् वाक्, का घटक अक्षर (वर्ण) तत्त्व है जिसके कारण वाक् स्वय भी अक्षरा मानी गई है। यह अक्षर ध्वनि के रूप म है क्योंकि वाक् ध्वनि ही है। अत दीर्घ तमस् के अनुसार अक्षर अक्षय ध्वनि है। वाक् के रूप मे उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति, अर्थात् वाक् का न होने से होना, नहीं होता।

'अक्षर' शब्द वर्ण' अर्थ मे है इस कथन की पुष्टि दीर्घ तमस के एक अन्य कथन से भी होती है अग्नि की प्रशसा म इनका कहना है कि अग्नि हमारी 'शुक्र वर्णा' (=शुक्र=अच्छे, दीप्तिमान् वर्णों वाली) स्तुति को प्रेरित करता है[2]। यहाँ 'शुक्र वर्णा' मे 'वर्ण' से 'अक्षर' को लेने मे कोई बाधा नजर नहीं आती। स्तुति वाक ही तो है। वर्णों की शुक्रता से चमत्कार युक्तता=नाद और अर्थ के सौंदर्य से युक्त होना अभिप्रेत हो सकता है। विश्वामित्र गाथिन ने भी इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है कि इन्द्र ने स्तोता की स्तुतियो को चेतना दी इन्हें शुक्र वर्ण प्रदान किया[3]। नोधस् गौतम ने वर्णों की इस प्रोज्ज्वलता को वस्त्र बुनने के एक सुन्दर रूपक से अन्य प्रकार से कहा है कि इन्द्र के वृत्र वध के शौर्य-पूर्ण कार्य को देख कर उससे प्रभावित देव पत्नियो ने इन्द्र की प्रशसा-रूपी वस्त्र को बुना[4]। यहा भी 'इन्द्र ने स्तोताओं को अपने शौर्य युक्त चरित से इतना उत्साहित किया कि उनकी वाणी अत्यन्त उज्ज्वल वर्णों मे प्रवाहित हो उठी।' यही

---

१ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदु ।
यस्तन्न वेद, किमृचा करिष्यति ? य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१।१६४।३९॥

२ इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्र-वर्णामुदु नो यसते धियम् ॥१।१४३।७॥

३ अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेम वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥ ३।३४।५ ॥

४ अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देव-पत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवु । १।६१।८ ॥
तुलना करें अभिज्ञान शकुन्तलम् ७।५

'विच्छित्ति शेष सुर सुन्दरीणां वर्णैरमी कल्प लतांशुकेषु ।
सञ्चिन्त्य गीति क्षममर्थ बन्धं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति ॥

कहना अभिप्रेत लगता है[1]। पर 'वर्ण' और 'अक्षर' शब्द भाषा की ध्वनि की इकाइयों के वाचक ही प्रतीत होते हैं।

अक्षरों से वाक् बनती है यह कहा जा चुका है। विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि नामों के द्वारा वाणी को सेवनीय बनाया गया[2]। इस कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि 'अक्षर' और 'भाषा' इन दो छोरों के बीच में 'नाम' है। अर्थात् अक्षरों से 'नाम' बनते हैं, और उन से भाषा। इस प्रकार भाषा की सेवनीयता (सवम्य) 'नामों के द्वारा होती है। यहाँ 'नाम' शब्द 'पद-सामान्य-सञ्ज्ञापक' के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों में से अन्यतम के लिए नहीं। इस अर्थ में 'नाम' का प्रयोग ऋग्वेद संहिता में वृहदुक्थ वाम-देव्य[3] और बृहस्पति आङ्गिरस[4] के द्वारा किया अवश्य गया है। 'पद-सामान्य' अर्थ में 'नाम' का प्रयोग शत-पथ ब्राह्मण में भी किया गया है[5]। एक अन्य ऋषि का भी कथन है कि हे कवियो, अमरता के लिए वाणियों के द्वारा प्रयास करो। तुम गुह्य पदों का बनाओ। तुम्हारे इस प्रकार करने से देवता अमर हो जाते हैं[6]। अर्थात् कवि लोग गहरे अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग वाली वाणी के द्वारा अपने वर्ण्य को अमरता प्रदान कर देते हैं। यहाँ का 'पदा' शब्द विश्वामित्र गाथिन के 'नाम' का सम-स्थानिक ही प्रतीत होता है।

विश्वामित्र के उपयुक्त कथन का एक आशय और भी हो सकता है कि नामों से, अर्थात् शब्द मय सञ्ज्ञाएँ रख कर, वाणी का आश्रय व्यवहार में सुभीते के लिए किया गया।

निरुक्त ऋग्वेद-संहिता के अनुसार वर्णों अर्थात् अक्षरों, से पद बनते हैं

---

१ महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सु कृता पुरूणि। ३।३४।६।
  वृणेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्य सत्पतिश्चर्षणि प्रा।
  विवस्वत सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभि कवयो गृणन्ति ॥७॥
तुलना करें राम, तुम्हारा वृत्त स्वय ही काव्य है।
  कोई कवि बन जाये सहज सम्भाव्य है ॥ साकेत ॥

२ तदिन्वस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्य गो। ३।३८।७॥

३ चत्वारि ते असुर्याणि नामा दाभ्यानि महिषस्य सन्ति। १०।५४।४॥

४ बृहस्पते, प्रथम वाचो अग्र यत्प्रैरत नाम धेय दधाना। १०।७१।१॥

५ त्रय वा इद—नाम, रूप, कर्म। तेषां नाम्नां 'वाग्' इत्येतदेषामुक्थम् अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभि समम्। एतदेषां ब्रह्म, एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति (१४।४।४।१)।

६ सतो नून कवय, स शिशीत, वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
  विद्वास पदा गुह्यानि कर्तन, येन देवासो अमृतत्वमानशु ॥१०।५३।१०॥
निरुक्त के पाँच अध्याय (४।१६) भी देखें।

और उनसे वाक् बनती है।

१३ भाषा का व्याकरण कुछ मन्त्रों से विदित होता है कि ऋचाओं के प्रणयन तक भाषा के व्याकरण का कार्य काफी आगे बढ़ चुका था। अर्थात् उस समय ऋषियों को शिष्ट मान कर उनकी भाषा के व्याकरण का प्रयास किया जा चुका था। बृहस्पति आङ्गिरस का कथन है कि वाक् के मार्ग को बुद्धिमान् लोगों ने खोजा और उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया। उसे ले कर उन्होंने उस का बहुत तरह से विश्लेषण किया। सातों स्तोता[1] उसी (व्याकृत वाक्) का प्रयोग अपनी स्तुतियों में करते हैं[2]। इसी प्रकार वाक् आम्भृणि ऋषिका का भी कथन है कि मैं (वाक्) शासन करने वाली, धन प्राप्त कराने वाली, यज्ञ के विधि विधानों को पहली समझने वाली हूँ। बहुत समय तक स्वयं टिकने वाली और बहुत लोगों को बसाने वाली मुझ (वाक्) को देवों ने विविध प्रकार से व्याकृत कर दिया[3]। वेङ्कट माधव के अनुसार तो विश्वामित्र गाथिन का भी कहना है कि इन्द्र ने अव्याकृत वाक् का व्याकरण कर दिया[4]। दीर्घ-तमस् औचथ्य के एक मन्त्र[5] की शाब्दिक आचार्यों की दृष्टि से व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि शब्दात्मक वाक् व्यापन करती है। घट आदि वस्तुओं का अभिधान करने वाली वह एक पद वाली है[6]। अथवा व्याकृत न होने से एक ही अखण्ड अधिष्ठान वाली, अथवा एक ही रूप वाली, है। सुबन्त और तिङन्त के भेद से दो प्रकार के पदों वाली है। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के भेद से चार पदों वाली है। सम्बोधन समेत आठ विभक्तियों के भेद से वह आठ पदों वाली है और अव्यय

---

१ अर्थात् होतृ, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसिन्, नेष्टृ, पोतृ, आग्नीध्र और अच्छावाक नामक ऋत्विज। द्र० ऐतरेय ब्राह्मण २८।१, सायण भाष्य, पृष्ठ ७०३।

२ यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्, तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा, तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥१०।७१।३॥
द्र० सायण अनन्तरं तां वाचमाभृत्य=आहृत्य पुरुत्रा=बहुषु देशेषु व्यदधुः=व्यकार्षुः, सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः।

३ अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां, चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥१०।१२५।३॥

४ नुनुदे वि वाचः। (३।३४।१०) पर भाष्य वाचश्चाव्याकृता वि नुनुदे =व्याचकार।

५ गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी, द्विपदी, सा चतुष्पदी।
अष्टापदी, नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥१।१६४।४१॥

६ वैयाकरण इन्द्र के अनुसार अर्थ की अभिधायक ध्वनि पद कहलाती है अर्थः पदमैन्द्राणाम् (निरुक्त १।२ पर दुर्ग)। इस दृष्टि से पद एक ही है। नाम आख्यात आदि भेद तो उस अर्थ के अवान्तर भेदों के आधार पर किये अवान्तर भेद हैं। द्र० 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १०४ ।, १२७ १३२।

पदो के साथ पूर्वोक्त आठ विभक्तियों को मिला कर वह नौ पदों वाली है। अथवा नाभि समेत उर, कण्ठ आदि[1] नौ स्थानों में होती हुई, बाद में अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हो जाती है। हृदय के छिद्र अर्थात् मूलाधार में अनेक आकारों से व्याप्त अर्थात् अनेक प्रकार की ध्वनियों वाली है[2]। सायण की यह व्याख्या निराधार नहीं प्रतीत होती। कुरुसुति काण्व ऋषि ने आठ पदों वाली और सायण के अनुसार नौ गाँठो (या लड़ियां) वाली (नव सक्ति) एवम् ऋत का स्पर्श करने वाली (यथार्थ वर्णन करने वाली) अपनी वाक् को इन्द्र से थोड़ा कम बताया है[3]। अर्थात् इतनी समर्थ वाक् भी इन्द्र का वर्णन पूरी तरह से नहीं कर सकती। इस मन्त्र के 'अष्टा पदी और नव सक्ति' की वेङ्कट माधव और सायण की व्याख्या आदेय नहीं प्रतीत होती। अष्टा पदी से 'आठ विभक्तियों वाली वाक् और नव सक्ति' से पूर्वोक्त[4] मौलिक' अथवा नौ स्थानों में सृष्ट, या सम्बद्ध' वाक् अर्थ लेना उचित होगा। वसिष्ठ मैत्रा वरुणि का कहना है कि मुझे वरुण ने बताया है कि अनश्वर वाक् (अघ्न्या) तीन गुने सात (=इक्कीस) नामों को धारण करती है। अध्ययन में लीन अपने भक्त वासी को सिखाते हुए विद्वान्, मेधावी (वरुण) ने पद (गन्तव्य) के रहस्यों को बताया[5]। वेंकट माधव ने यहाँ इक्कीस नामों से पृथिवी के निघण्टु पठित इक्कीस पर्याय अर्थ ले कर अघ्न्या से पृथिवी का वर्णन माना है[6]। परन्तु यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं

---

१ अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर कण्ठ, शिरस तथा।
जिह्वा मूल च, दन्ताश्च, नासिकोष्ठौ च, तालु च ॥ पा शिक्षा १३ ॥

२ द्र सायण भाष्य १।१६४।४१　　केचिदेवमाहुर—गौरीर्=गरण शीला शब्द-ब्रह्मात्मिका वाग मिमाय=माति। प्रसिद्धार्थे धातु। प्रति ष्ठितानि घटादि द्रव्याणि तक्षती=तत्तद्वाचकत्वेन निष्पादयन्ती एक पदी=अ-व्याकृतत्वेनैक प्रति ष्ठाना, एक रूपा वाऽऽत्मना। द्वि पदी=सुप्तिङ् भेदेन पाद द्वय वती। चतुष्पदी =नामाख्यातोपसर्ग निपात भेदेन। अष्टा पदी=आमन्त्रित सहिताष्ट(विभक्ति) भेदेनाष्ट पदी। नव पदी बभूवुषो साव्ययत्वतरव्यभिनव पदी अथवा स नाभिकेषुर कण्ठादिषु नवसु पदेषु भवन्ती पश्चाद बहुविधाभिव्यक्तिमुपेयुषी परमे व्योम न्युत्कृष्ट हृदयाकाशे मूलाधारे सहस्राक्षराऽनेकाकारेण व्याप्ताऽनेक प्रकारा भवन्तीत्यर्थ।

३ वाचमष्टा पदीमह नव स्रक्तिमृत स्पृशम। इन्द्रात्परि तन्व ममे ॥८।७६।१२॥

४ द्र '३ वाक् के गुण।', पृष्ठ ५, टि ५।

५ उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रि सप्त नामाऽघ्न्या बिभर्ति।
विद्वा पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥ ७।८७।४ ॥

६ द्र भाष्य त्रि सप्त=एक विंशति नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवी माह, तस्याहि यास्क पठितान्येक विंशतिर्नामानि (द्र निघण्टु १।१)। सायण ने इस व्याख्या की चर्चा भाष्य कार का नाम दिये बिना उद्धत की है अपर आह—गौ = पृथिवी, तस्याश्च गौर्ग्मा, इमे ति पठितान्येक विंशति नामानीति।

प्रतीत होता पर कालीन निघण्टु मे सङ्कलित नाम सङ्ख्या की चर्चा उस से प्राचीन ही नही अपितु संहिता' के संधान से भी प्राचीन ऋचा मे मानना असङ्गत है। अत यहाँ 'तीन गुने सात नामा से 'तीन वचनो वाली सात विभक्तियो से युक्त नाम पद' समझना कदाचिद् उचित है[1]।

वाम देव गौतम के एक मन्त्र[2] की व्याकरण सम्मत[3] व्याख्या मे आचार्य पतञ्जलि का कथन है कि शब्द रूपी महान् देव के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार सींग हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल इसके पाद हैं। नित्य और कार्य के भेद से दो प्रकार के शब्द इस के दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ इस के सात हाथ हैं। उरस कण्ठ और सिर इन तीन स्थानो मे बँधा होने से यह तीन तरह से बँधा हुआ है। (अर्थ की) वर्षा के कारण यह वृषभ है। यह मरण धर्मा मनुष्यो मे प्रविष्ट है[4]।

१४ नाम करण क्रिया के आधार पर बृहदुक्थ वाम देव्य ने इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है कि तुझ महान् के बल को प्रकट करने वाले (असुर्याणि) तथा न दबने वाले चार नाम हैं। तुम उन सब (नामो) को भली भाति जानते हो, जिन से हे प्रशस्त धन वाले, तुम ने कार्य किये हैं[5]। इस कथन से विदित होता है कि इन नामो का तथा इन से प्रकट होने वाले कार्यों का गहरा सम्बन्ध है। अर्थात् तत्तत् कार्य करने के कारण इन्द्र के अमुक अमुक चार नाम[6] पडे हैं। इससे सिद्ध होता

---

१ द्र निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १८४।

२ चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥ ४।५८।३ ॥

३ यास्क ने निरुक्त १३।९ में इस मन्त्र की अधियज्ञ व्याख्या की है चार सींग=चार वेद, तीन पाद=तीन सवन, दो सिर=दक्षिणोत्तरायण सात हाथ=सात छन्द, तीन प्रकार से बंधा=मन्त्र, ब्राह्मण और कर्म की विधियों (कल्पों) से। वृषभ=इच्छाओं की पूर्ति करने वाला साँड यज्ञ, प्रात, माध्यन्दिन और सायन्तन सवना मे ऋग यजु और साम के रूप में शब्दायित (ऋत्विजा द्वारा) होना है।

४ द्र महाभाष्य, पृष्ठ १७ चत्वारि शृङ्गाणि=चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च। त्रयो अस्य पादास=त्रय काला भूत भविष्यद्वर्त माना। द्वे शीर्षे=द्वौ शब्दात्मानौ नित्य, कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य=सप्त विभक्तय। त्रिधा बद्धस=त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे, शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति=शब्द करोति। कुत एतत्? रौति शब्द कर्मा। 'महो देवो मर्त्यां आ विवेशे ति महान् देव शब्द। मर्त्या=मरण धर्माणो मनुष्यास, ताना विवेश।

५ चत्वारि ते असुर्याणि नामाऽदाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमङ्ग, तानि विश्वानि वित्से येभि कर्माणि मघवन् चकर्थ ॥ १०।५४।४॥

६ छह मन्त्रो वाले इस सूक्त म इन्द्र के १ रक्षक, २ दासो का हन्ता,

है कि वृहद्दुव्य के मत म द्रव्य का कोई नाम पडने का आधार उस द्रव्य की कोई विशिष्ट क्रिया होती है।

खिल रहित ऋग्वेद सहिता मे लगभग पौने सात सौ पदों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करन वाले बारह सौ चालीस जो प्रयाग हैं[१], उनसे भी यही पुष्ट होता है कि ऋषि नाम करण पदाथ की क्रिया के आधार पर होता है[२], यह मानते थे।

१५ भाषा शिक्षण का तरीका वसिष्ठ मन्त्रा-वरुणि ने वर्षा के मौसम मे एक के पीछे एक टर्राते हुए मेढकों का वणन करते हुए कहा है कि वर्षा के बाद चित रगा (पृश्नि) मेढक पीले रग के दूसरे मेंढक से अपनी आवाज उसी प्रकार मिला रहा है, जैसे वाक सीखता हुआ कोई छात्र (शिक्षमाण) वाक के जानकार की (शाक्त स्य) वाक को दुहराता है[३]। प्राचीन काल मे शिक्षा मौखिक दी जाती थी, यह तथ्य सु विदित है। आज भी वेदाध्ययन मे वेद पाठी लोग इसी पद्धति को काम मे लाते हैं। सङ्केत ग्रहण की प्रक्रिया मे उत्तम वृद्ध और बालक (अधम वृद्ध) में भाषा को सिखान एव सीखने म अनुकरण ही काम करता है। अत वसिष्ठ के उपयुक्त कथन क आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाक को सीखने का तरीका दूसरे को बोलत

३ धनवान् और ४ दानी स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसमे 'मघवन्' शब्द तीन बार और इन्द्र शब्द चार बार आया है। इन्द्र के दातृत्व का वणन पहले, चौथे (√मह से निष्पन्न 'महिष शब्द स) और पांचवे मन्त्र में किया गया है। बल के कार्यो का वणन १ २ मन्त्रो म, ऐश्वय का १ ३ ५ ६, अर्थात् छह मे से पाच, मन्त्रो में किया गया है। इससे सङ्केत मिलता है कि ऋषि को इन्द्र के इन चार कार्यों के आधार पर पडे कोई चार नाम अभिप्रेत है। मघवन्' और 'इन्द्र का प्रयोग तो ऋषि ने यहाँ किया ही है। इन्द्र का सब से बडा पराक्रम काय वृत्र वध है। अत 'वृत्र हन्' तीसरा नाम हो सकता है। चौथा नाम चतुथ मन्त्र म पडा महिष हो सकता है। इन्द्र के लिये सु-बहुश प्रयुक्त वृषभ शब्द भी इसी आशय को पुष्ट करता है। अत इन्द्र के चार नामो से १ इन्द्र २ मघवा ३ वृत्र हन् और ४ महिष अथवा वृषभ ये चार शब्द अभिप्रेत हो सकते हैं।

१ इनकी चर्चा हम इस अध्याय के प्रारम्भ म ही कर चुके हैं तथा इनम से कुछ पर विस्तरेण विचार अगले अध्याय मे करगे। खिल के ऐसे प्रयोगों को मिला कर यह सङ्ख्या क्रमश सात सौ पद और बारह सौ सत्तर प्रयोग है।

२ नैरुक्तो का नामाख्यातजानि।' सिद्धान्त इसी परम्परा पर आधारित है। द्र निरुक्त मीमासा, पृष्ठ २०७।

३ यदीमेनां उशतो अभ्य वर्षीत् तृष्यावत प्रावृष्यागतायाम।
अख्खली कृत्या पितर न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ॥ ७।१०३।३॥
अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्यनोरपां प्र सर्गे यदमंदिषाताम।
मण्डूको यदभि वृष्ट कनिष्कन्पृश्नि सम्पृङ्क्ते हरितेन वाचम् ॥ ४॥
यदेषामन्यो अन्यस्य वाच शाक्तस्येव वदति शिक्षमाण ॥ ५॥

देख कर उसका अनु करण करके स्वय भी वैसे बोलना ही है।

उपसंहार इस प्रकार हम ने देखा कि विश्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रणेता भाषा चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त जागरूक हैं। उनकी जागरूकता यो तो उनके अपने समय में इस विषय से सम्बद्ध ऊहापोहो, वाद विवादो, तथा ग्रन्थों में ही अभिव्यक्त होती होगी, परन्तु कुछ झाँकी उनके स्तुति साहित्य में भी दृष्टि गोचर होती है। ये लोग भाषा चिन्तन के दार्शनिक पक्ष के कई पहलुओ पर महत्त्व पूर्ण दिशा देने मे प्रथम हैं। उनमे से कुछ पहलुओ को स्पष्ट करने का प्रयास प्रकृत अध्याय में किया गया है।

अपने अध्येताओं से हम एक निवेदन और कर दें ऋग्वेद संहिता अपनी प्राचीनता के कारण भाव और भाषा दोनो दृष्टियो से आज के अध्येता के लिये एक कठिन ग्रन्थ है। उस पर भी प्रकृत अध्ययन के लिए उस की व्यञ्जना को पकडना अत्यन्त आवश्यक है, अभिधा तो बहुत पीछे छूट जाती है। व्यञ्जना स्वय का समर्पण स हृदय को ही करती है तथा स हृदय भी निर्भ्रान्त रूप से व्यञ्जना को सर्वता भावेन आत्म-सात् करने का दावा नही कर सकता। प्रकृत अध्ययन भी इस साहित्य की व्यञ्जना को पकडने मे निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं कर रहा है। अत विद्वान् अध्येता इस से सह मत या असह मत होने मे अपने विवेक और ज्ञान का सहारा अधिक मात्रा में लें। इस दिशा म यह एक विनम्र प्रयास है और मैं आशा करता हूँ कि स हृदय विद्वान् इस दिशा को और अधिक प्रकाशित करेंगे।

ऋग्वेद-संहिता में व्युत्पत्ति-चिन्तन

ऋग्वेद संहिता के ऋषियों का व्युत्पत्ति सम्बन्धी चिन्तन बहुत विकसित स्थिति में था। ऋषि लोग अपनी भाषा का व्याकरण पर्याप्त विशद रूप से कर चुके थे। वर्ण, पद पदार्थ, और वाक्य का विश्लेषण उस समय तक वैज्ञानिक रीति से हो चुका प्रतीत होता है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि मे यद्यपि हम उस काल के किसी व्याकरण ग्रन्थ को प्रस्तुत नही कर सकते, तथापि ऋग्वेद-संहिता के भाषिक प्रयोगों की व्याख्या व्युत्पत्ति चिन्तन की दृष्टि से करने पर कुछ तथ्य उभरते हैं जो इस बात के परिचायक हैं कि उस समय भाषा की आधार भूत इकाई 'पद' का वैयुत्पत्तिक विश्लेषण 'प्रकृति' और प्रत्यय के रूप में ही नही, अपितु समास और 'तद्धित' के रूप मे भी प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, समासार्थ और तद्धितार्थ के विवेचन के साथ अवश्य किया जा चुका होगा। हाँ उस विश्लेषण को लिपि बद्ध किया गया था, कि नही, इस विषय मे आज हमारे पास पक्ष या वि पक्ष, मे कोई जानकारी नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की भाषा शब्द सम्पत्ति और अर्थ सम्पत्ति की दृष्टि से अधिक विस्तृत होते हुए भी पूर्णत व्याकरण लक्षणोपपन्न है। वे तमाम बारीकियाँ इसमें अपनाई गई दृष्टि गोचर होती हैं, जो किसी भी व्याकृत भाषा मे हो सकती हैं यह वैदिक भाषा के पाश्चात्य वैयाकरणों के व्याकरणों से स्पष्ट है। हाँ, पाणिनीय व्याकरण के 'छन्दसि बहुलम्' और 'बहुलं छन्दसि' आदि दर्जनों बार दुहराये सूत्रों एवं वैदिक भाषा के विषय में पाणिनीय व्याकरण के सभी नियम ढीले हैं वैकल्पिक हैं[1]।' आदि निष्कर्षों से अवश्य यह भान होता है कि ऋषियों की भाषा स्वच्छन्द थी, व्याकृत लक्षणों से बहुत बंधने वाली नही थी पूर्णत व्याकृत नहीं थी[2]।

इस प्रकार की भाषा उनके प्रयोक्ताओं की भाषा चिन्तन सम्बन्धी जागरूकता

---

१ द्र परि भाषा ३५ सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते।

२ पतञ्जलि के अनुसार अष्टाध्यायी में लौकिक एवं वैदिक शब्दों का व्याकरण किया गया है अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम ? लौकिकानां वैदिकानां च (महा भाष्य, पस्पशा, पृष्ठ १, ३)। वस्तुत इसमें लौकिक भाषा के व्याकरण को ही प्रमुखता दी गई है। वैदिक भाषा के व्याकरण की तो लौकिक से भेद की मोटी मोटी बातें ही दी गई हैं। यही कारण है कि अष्टाध्यायी को वैदिक भाषा का भी पूर्ण व्याकरण मानने पर उपर्युक्त भ्रान्ति होती है।

का स्वत -स्फूत एव सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण प्रमाण है। इस के अतिरिक्त ऋग्वेद-संहिता म ऐसे अनेको भाषिक प्रयोग मिलते हैं, जो भाषा वे व्युत्पत्ति चिन्तन के बिना सम्भव नही प्रतीत हाते। जैसे—

(१) त्रित प्लात ऋषि ने 'द्रविणस्यु' के साथ 'द्रविणसश्चकान' का प्रयोग कर के 'चाहना' अथ मे विद्यमान 'यु' प्रत्यय वाले शब्द की व्याख्या उस का विग्रह करके की है[1]।

(२) मधु च्छन्दस के पुत्र जेतृ ने 'मघ' (दिया जाने वाला धन) के साथ √मह (देना) क्रिया का प्रयोग कर के इन दोनो के व्युत्पाद्य व्युत्पादक सम्बन्ध का प्रकाशित किया है[2]। उनके पिता मधु च्छन्दस वैश्वामित्र न भी इसी प्रकार का प्रयोग किया है[3]। वाम देव गौतम ने इसी आशय को √दा (दना) का प्रयोग कर के स्पष्ट किया है[4]। भरद्वाज बार्हस्पत्य[5] और आमङ्ग प्लायोगि[6] ऋषि का कथन भी ऋग्वेदीय ऋषियों के 'मघ' शब्द के बारे मे परम्परा प्राप्त व्युत्पत्ति चिन्तन को ही प्रकट करता है। ये कोई अनु प्रास चमत्कार के लिए किये, अथवा अकस्मात् हो गये, प्रयोग नही हैं।

(३) इसी प्रकार मधु च्छन्दस वैश्वामित्र[7] मेधातिथि काण्व[8], नो धस गौतम गोतम राहूगण[10], अगस्त्य मैत्रा वरुणि[11], गौरिवीति शाक्त्य[12] बभ्रु आत्रेय[13], अवस्यु आत्रेय[14], भारद्वाज बार्हस्पत्य[15], ऋजिश्वन् भारद्वाज[16], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[17], श्रुष्टि गु काण्व[18], श्रुत कक्ष आङ्गिरस[19] और नभ प्रभेदन व रूप[20] ऋषियो ने 'अर्क' के साथ √अर्च का प्रयोग कर के इन दोनो मे व्युत्पाद्य व्युत्पादक सम्बन्ध को सूचित किया है।

(४) बन्धु गौपायन ऋषि ने तत्पुरुष 'अनड् वाह' (रथ को ढोने वाला) शब्द

---

१ एवा कविस्तुवीरवाँ ऋत ज्ञा द्रविणस्युर्द्रविणसश्चकान। १०।६४।१६॥
२ स्तोतृभ्यो महते मघम॥ १।११।३॥
३ शूरो मघा च महते। ६।११।१०।
४ दाता मघानि मघवा सु राधा। ४।१७।८।
५ मघोनां महिष्ठा (इन्द्रा वरुणौ)। ६।६८।२॥
६ स्तुहि स्तुहीदेते घा ते महिष्ठासो मघोनाम। ८।१।३०॥
७ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। १।१०।१॥
८ प्र उग्रा अर्कमानृचु। १।१९।४॥
९ सुवृक्तिभि स्तुवत ऋग्मियायार्चामार्क नरे विश्रुताय॥ १।६२।१॥
१० अर्चन्तो अर्क (मरुत)। १।८५।२॥
११ अर्चन्त्यर्क मदिरस्य पीतये। १।१६६।७॥
१२ द्र ५।२९।१२। १३ द्र ५।३०।६। १४ द्र ५।३१।५।
१५ द्र ६।२१।१०। १६ द्र ६।५०।१५। १७ द्र ७।२३।६।
१८ द्र ८।५१।४,१०। १९ द्र ८।९२।१९। २० द्र १०।११२।९।

के साथ इस का विग्रह भी दिया है[१]।

(५) शत्रुओं के किलों को तोड़ने के कारण पड़े इन्द्र के 'पुरन्दर' नाम का प्रयोग समास के अलावा विग्रह में भी पुरां दर्ता', 'पुरां ददि' 'पुरां दर्मा आदि शब्दों से किया गया है। ये प्रयोग भी ऋषियों के भाषा चिन्तन के पक्ष को स्पष्ट करते हैं।

(६) व्याकरण शास्त्र में √वन और √उन को परस्पर सम्बद्ध बताया गया है[२]। प्रन्तदन दवो दासि का इन धातुओं का युगपत् प्रयोग[३] इस सम्बन्ध के ज्ञान का सूचक है। अन्तर इतना ही है कि यह कार्य व्याकरण में लक्षण (नियम) के द्वारा किया जाता है[४], तथा उपयुक्त मन्त्र में लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान सूचित होता है। परिपूर्ण व्याकरण लक्ष्य और लक्षण को मिला कर ही होता है[५]। वस्तुत तो लक्ष्य से जो भाषा में विकास व्यक्त होता है, व्याकरण उसी का अभिधान करता है।

(७) आम तौर पर √गृ और √स्तु को पर्याय समझा जाता है। परन्तु वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने इनका एक ही मन्त्र में अलग अलग वाक्य में प्रयोग इनके सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रख कर किया लगता है[६]। इसी प्रकार वामदेव गौतम ने √शस और √स्तु में अन्तर को भी सूचित किया है[७]।

वेद की भाषा अपार शब्द राशि, प्रायोगिक वविध्य प्रत्यय समूह अर्थ का वपुल्य, स्वरों का चमत्कार, वाक्य रचना की लीला पूर्ण चातुरी पद रचना का शिल्प आदि की दृष्टि से अगाध समुद्र है। सहस्रों वर्षों से सर्वोत्तम तथा परिपूर्णतम माने जाने वाले व्याकरण अष्टाध्यायी के द्वारा परिष्कृत संस्कृत' भाषा तो उसके आगे गोष्पद (गीली धरती में गाय के पैर से बने गड्ढे) जितनी ही है[८]। स्वरों की बारीकी के साथ उस का कलात्मक प्रयोग भाषा में व्युत्पत्ति चिन्तन के बिना ही

---

१ समिन्द्रेरय गामनड्वाह य आ वहदुशीनराण्या अन ।१०।५९।१०।

२ द्र अष्टाध्यायी ६।२।१६ ग्रहि ज्या वयि व्यधि वष्टि विचति-वृश्चति पृच्छति भृज्जतीनां ङिति च।

३ तदुर्णा त विश्व इमे सखायस तदह वशिम पवमान, सोम । ९ ६६।४॥

४ द्र महाभाष्य पस्पशा वार्तिक १७ के अन्त में, पृष्ठ ४७ सूत्रत एव हि शब्दान् प्रति पद्यते। आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्र कथयेत्, नादो गृह्येत।

५ द्र वही पृष्ठ ४५ लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम।---शब्दो लक्ष्य। सूत्र लक्षणम। ६ गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत् ।७।९६।३॥

७ ता घा ता भद्रा उषस पुराऽऽसुरभिष्टि द्युम्ना ऋत जात सत्या ।
यास्वीजान शशमान उक्थ स्तुवञ्छसद्द्रविणं सद्य आप ॥४।५१।७॥

८ द्र 'महाभारत' की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार देव बोध

न दृष्ट इति धयासे शब्दे मा संशय कृथा। अज्ञैरज्ञातमित्येव पद न हि न विद्यते॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पद रत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनि गोष्पदे॥

हो गया, यह सोचना दुराग्रह ही प्रतीत होता है।

प्रकृत अध्याय मे हम निवचन के परि प्रेक्ष्य मे ऋषियो के भाषा चिन्तन के व्युत्पत्ति-सम्बन्धी पक्ष पर प्रकाश डालेंगे।

ऋग्वेद संहिता मे व्युत्पत्ति चिंतन पर प्रकाश डालने वाले प्रयोग दो प्रकार के हैं (१) शब्दो की व्युत्पत्ति को झटिति स्पष्ट करने वाले प्रयोग[1]। (२) ऐसे प्रयोग जिनसे वे शब्द स्पष्ट होते हैं जो अपनी प्रकृति से संस्कार (ध्वनि आदि मे विकार) की दृष्टि से हट गए होते हैं[2]। इन शब्दों को देखते ही साधारण (अन धीत व्याकरण) जन इन की व्युत्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकते।

प्रथम प्रकार के प्रयोगो से व्युत्पत्ति चिंतन के निचले धरातल का ज्ञान होता है, और द्वितीय प्रकार के प्रयोगों से कुछ कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रकाश पडता है। अत द्वितीय प्रकार के प्रयोग इस विषय म अधिक महत्त्व पूर्ण हैं।

पहले प्रथम प्रकार के प्रयोगो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

(१) वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने क्षितियो पर क्षयण करते हुए[3] प्रयोग से निम्न बातें स्पष्ट की हैं (क) 'क्षिति' निवासार्थक √क्षि स (ख) अधिकरण मे निष्पन्न है। वेद मे √क्षि तीन हैं (अ) निवासार्थक, (आ) नाशार्थक और (इ) शासनार्थक। अधि करण के प्रयोग स प्रकृत √क्षि की निवासार्थकता सूचित होती है।

अत्रि भौम ने 'पुष्ट करता हुआ राजा इन्द्र[4] 'क्षितियो का क्षयण करता है।' प्रयोग से (क) क्षिति को शासनार्थक √क्षि से (ख) कर्म मे निष्पन्न शब्द के रूप मे सूचित किया है।

इन दोनो प्रयोगो से निम्न बातें स्पष्ट हुइ (क) ऋषि यह जानते हैं कि क्षिति' नाम √क्षि क्रिया के कारण पडा है, (ख) इस के दो अंश हैं क्षि+ति। क्षि के अर्थ निवास और शासन' हैं तथा ति के अधि करण और कर्म। (ग) विभक्ति के प्रयोग मे धातु और प्रत्यय के मध्य विद्यमान कारक सम्बन्ध को व्यक्त किया गया है।

(२) दीर्घ-तमस् औचथ्य ने यज्ञार्थक 'तन्तु के साथ √तन् के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह शब्द √तन् के कर्मार्थक 'तु प्रत्यय मे निष्पन्न है[5]।

---

१ द्र निरुक्तम् २।१ अथम् निवचनम। तद्येषु पदेषु स्वर संस्कारौ समर्थौ, प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्याताम् तथा तानि निर्ब्रूयात्।

२ द्र वही अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थ नित्य परीक्षेत केनचिद् वृत्ति सामान्येन। अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत।

३ ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत्॥७।८८।७॥

४ न स राजा व्यथते, यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गो सखायम्।

आ सत्वनैरजति हन्ति वृत्रं, क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन्॥५।३७।४॥

५ ... नाय दाशुषे॥ १।१४२।१॥

यह व्युत्पत्ति १ गृत्समद[१], २ नारद काण्व[२], ३ असित काश्यप[३], ४ हिरण्यस्तूप आङ्गिरस[४], ५ पवित्र आङ्गिरस[५], ६ अकृष्ट माष आदि[६], ७ देवो[७], ८ बृहदुक्थ वाम देव्य[८], ९ बन्धु गौपायन[९], १० यज्ञ प्राजा पत्य[१०] ने भी दी है। श्रुत कक्ष आङ्गिरस ने √यज और √तन् के अर्थ सम्बन्ध को सूचित किया है[११]। तु' प्रत्यय दीर्घतमस[१२], विश्वामित्र गाथिन[१३] एवम् इष आत्रय[१४] ने कत्वर्थ मे भी दिया है। यह अनेकार्थक है।

(३) वसिष्ठ मत्रा-वरुणि ने 'नृ' के साथ 'नय और 'नारी' का प्रयोग करके इनके सबंध को सूचित किया है[१५]।

(४) मधु च्छ्दस वैश्वामित्र ने इन्द्र के प्रसिद्ध नाम 'शक्र' का आधार √शक लिया है, यह सूचित किया है[१६]। इसी प्रकार सव्य आङ्गिरस[१७], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[१८] मेधातिथि काण्व[१९] और कुरुसुति काण्व[२०] ने भी यही व्युत्पत्ति दी है। वैयाकरण भी इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं[२१]।

√शक् धातु मूलत 'समर्थ होना अर्थ मे है[२२]। दान देकर दाता अपनी सामर्थ्य को प्रकट भी करता है, तथा बढाता भी है। अत इन प्रयोगो म यह धातु सामर्थ्य=दान-सामर्थ्य=दान अर्थ मे अभिप्रेत है। इस प्रकार इन ऋषियो ने (क)

सध्य सध्य तनुमा-तन्वते दिवि। १५६।४॥
यत्रो वक्ष्येऽपि सप्त तन्तुनि-तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ १६४।५॥

१ द्र २।३।६। २ द्र ८।१३।१४। ३ द्र ९।२२।६७।
४ द्र ९।६९।६। ५ द्र ९।७३।६। ६ द्र ९।८६।३२।
७ द्र १०।५३।६। ८ द्र १०।५६।६। ९ द्र १०।५७।२।
१० द्र १०।१३०।१। ११ देवासो यज्ञमत्नत। ८।९२।२१॥
१२ द्र पृष्ठ २७, की टि ५ म पृष्ठ २८ पर उद्धत १।१६४।५।
१३ स पूर्व्यज्जनयज्जन्तवे धनम। ३।२।१२।
१४ अह तश्चिद् यमिन्वते सञ्जनयन्ति जन्तव ॥ ५।७।२॥
१५ वृषा जजान वृषण रणाय, तमु चिन्नारी नय ससूव।
प्र य सेना नीरध नृभ्यो अस्तीन सत्वा गवेषण स धृष्णु ॥ ७।२० ५॥
१६ तमित्सखित्व ईमहे त राये, त सु वीर्ये।
स शक्र उत न शकदिन्द्रो वसु दयमान ॥ १।१०।६॥
१७ अर्चा शक्राय शाकिन शचीवते। १।५४।२॥
१८ त्वमङ्ग शक्र वस्य आ शको न। ७।२०।९॥
१९ स न शकश्चिदा शकद् दानवाँ अन्तराभर। ८।३२।१२।
२० न कीमिन्द्रो नि कर्तवे न शक्र परि-शक्तवे। ८।७८।५॥
२१ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३) शकादिभ्य रन् ...नुनिर्गत रक्।
२२ द्र टि १७ म उद्धत १।५४।२ टि १६ म उद्धत ८।३२।१२ और टि २० में उद्धत ८।७८।५।

√शक के 'देना' और (ख) 'र्' प्रत्यय के अर्थ (क्त त्व) को इन प्रयोगों से सूचित किया है।

ऋग्वेद संहिता में इस वर्ग के प्रयोग प्रचुर मात्रा में हैं। हमारा अभिप्राय इन उदाहरणों से भली भांति स्पष्ट हो जाता है। अतः और उदाहरण दे कर ग्रन्थ विस्तार करना अनावश्यक एवम् अनपेक्षित है।

निर्वचन के योग दान की दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण दूसरे प्रकार के प्रयोगों को हम तनिक व्यापकता से प्रस्तुत कर रहे हैं

१ अक्तु √ < अञ्ज यह शब्द मूलतः वर्ण वाचक है। ऋग्वेद संहिता में यह 'श्वेत वर्ण' को ले कर प्रकाश[1] के लिए और कृष्ण वर्ण को ले कर अन्धकार[2] के लिये प्रयुक्त हुआ है। क्त वैश्वामित्र ने इस वृ विभक्ति में तथा √अञ्ज के साथ प्रयुक्त किया है[3]। भरद्वाज बार्हस्पत्य[4] और यम वैवस्वत[5] ने करण विभक्ति में तथा वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[6] ने कर्म विभक्ति में √अञ्ज के किसी आख्यात अथवा नाम रूप के साथ प्रयुक्त किया है। 'अक्तु' और '√अञ्ज' में इतना ध्वनि गत भेद है कि क वर्गीय और च वर्गीय ध्वनियों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध है इस ज्ञान के बिना यह व्युत्पत्ति दे पाना सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस सम्बन्ध को यास्क ने भी 'अक्तु' के एक अर्थ के पर्याय 'नक्त' के निर्वचन (न + √अञ्ज + त) में स्पष्ट किया है[7]।

२ अग्नि अग्नि' की व्युत्पत्ति पर विद्वानों में प्राचीन काल में ही मत भेद स्थापित हो चुके थे। यास्क ने इसके चार निर्वचन किये हैं, जिन में से दो को स्थौलाष्ठीवि और शाकपूणि के किये निर्वचन बताया है[8]। ऋग्वेद संहिता में भी इस के दो निर्वचन अभिप्रेत लगते हैं

१ अग्नि > √अग्र भरद्वाज बार्हस्पत्य के मत में 'अग्नि' और 'अग्र' में

---

१ द्र नीचे टि ३ में ३।१७।१, उद्धृत टि ८ में उद्धृत ७।७६।२।

२ द्र नीचे टि ५ में धृत १०।१४।६।

३ समिध्यमानः प्रथमानु धर्मा समक्तुभिरज्यते विश्ववारः। ३।१७।१॥

४ स वामञ्जन्त्वक्तुभिर्मतीनाम। ६।६६।३॥

५ अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै। १०।१४।९॥

६ व्यञ्जते दिवो अन्तेष्वक्तून्, विशो न युक्ता उषसो यतन्ते।७।७६।२॥

७ द्र निरुक्तम् ८।१० नक्तेति रात्रि नाम। (क) अनक्ति भूतान्यवश्यायेन। (ख) अपि वा नक्ता व्यक्त वर्णा।

८ द्र निरुक्तम् ७।१४ अग्नि कस्मात्? (१) अग्र णीर्भवति। अग्र यज्ञेषु प्रणीयते। (२) अङ्ग नयति सन्नममानः। (३) 'अक्नोपनो भवती'ति स्थौलाष्ठीवि। न क्नोपयति = न स्नेहयति। (४) त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणि — (क) इताद्, (ख) अक्ताद् दग्धाद्वा, (ग) नीतात्। स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारम नक्तेर्वा दहतेर्वा, नी परः।

वैयुत्पत्तिक सम्बन्ध है[1]। दोनों में 'अग्' अंश समान है, तथा इससे √अग् (गति) की कल्पना सहज ही की जा सकती है। पाश्चात्य विद्वान् भी यही व्युत्पत्ति प्रायः मानते हैं[2]। याज्ञवल्क्य ने सम्भवतः इसी प्रयोग से प्रेरणा पा कर 'अग्रि<अग्नि' के विकास की बात कही है।

२ अग्नि<√अञ्ज् नामाव काण्व[4] ने √अञ्ज् के कर्ता के रूप में और भग प्रागाथ[5] ने कर्म के रूप में इस की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है। यह √अञ्ज दीप्ति अर्थ में है तथा अग्नि की इस स्वाभाविक विशेषता को अथर्व-संहिता में √दीप के प्रयोग से स्पष्ट बताया गया है[6]। तीन धातुओं से अग्नि की व्युत्पत्ति मानने वाले शाकपूणि ने एक धातु √अञ्ज् भी दी है[7]। व्याकरण परम्परा में सम्भवतः दीप्ति और प्रकाश को अग्नि के नाम-करण का आधार न मान कर उस के फैलने को ही प्रमुखता दी है तथा गत्यर्थक √अङ्ग् से इस की व्युत्पत्ति बताई है[8]।

३ अघा+<√ हन् 'अघा' कुछ तारक-पुञ्जों का नाम है। सूर्या सावित्री ने इसका प्रयोग अधि-करण विभक्ति में √हन् के साथ किया है[9]। अधि करण विभक्ति से प्रत्ययार्थ की व्याख्या है, या इस शब्द के 'अ' अंश की व्याख्या है[10], यह स्पष्ट नहीं है। यह 'अ' 'आ' उपसर्ग को ह्रस्व करने से भी निष्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का एक निर्वचन यास्क ने आ+√हन्<अहि का किया है[11]। अस्तु

---

१ अग्नि देवासो अग्रियमिन्धते वृत्र हन्तमम्। ६।१६।४८।

२ द्र मक्डानल, ए वेदिक रीडर फार स्टूडेण्ट्स, पृष्ठ ३ The name of Agni (Lat *ignis* Slavonic *ogni*) is Indo European and may originally have meant the agile as derived from the root ag *to drive* (Lat *ago* Gk ἄγω Skt ajami

३ द्र शत पथ ब्राह्मण २।२।४।२ तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत। तस्मा दग्नि। अग्रिर्ह वै नामतद् यदग्निरिति। ६।१।१।११ स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत, तस्मादग्नि। अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्।

४ अग्निर्देवो अनक्तु न। ८।३९।१।

५ अग्न, आ याह्यग्निभिर आ त्वामनक्तु। ८।६०।१॥

६ यस्माद्रेजन्त्यदीप्यते अग्निरस्य। १०।७।२। यत्र प्रेरम्य दीप्यत ऊर्ध्वो अग्नि। ४।

७ द्र निरुक्तम् ७।१४ स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा।

८ द्र उणादि सूत्र ८६० (४।५०) अङ्गेर्न लोपश्च।

९ अघासु ह यन्ते गाव। १०।८५।१३।

१० अर्थात् यह 'अ' अंश सर्व नाम 'अ' (द्रष्टव्य अ+त्र=अत्र' 'अ+स्मिन्<अस्मिन्) भी हो सकता है आसु हन्य त, इत्यथा। शाकल्य ने इस पद में अव ग्रहण नहीं किया है। अतः यह आशय उन्हें अभीष्ट नहीं लगता।

११ द्र निरुक्तम् २।१७ अयमपीतरोऽहिर् (क) एतस्मादेव। (ख) निर्ह्रसितोपसर्ग—आ हन्तीति वा।

इस प्रयोग से इतना तो विदित होता ही है कि सूर्या को 'ह<घ' के सम्बन्ध का ज्ञान था। इस प्रवृत्ति के अन्य उदाहरणों में घन, जघन, दुघा, दोघ, द्रोघ और मघ शब्द द्रष्टव्य हैं।

४ अजुर< √ज (जीर्ण करना) यह शब्द 'अ जय' के यौगिक अर्थ में है[1]। गृत्समद ऋषि ने इसी के उत्तर पद 'जुर' की व्युत्पत्ति जीर्ण करना अर्थ वाली √ज से है इस ओर सङ्केत इसके साथ उसके प्रयोग से किया है[2]। यहां 'ऋ< उर' विपरिणाम द्रष्टव्य है। इस प्रवृत्ति के अन्य उदाहरण जुरत्' और तुर्' हैं।

५ अद्रि इस शब्द की व्युत्पत्ति पर भी मतभेद है

(१) अद्रि<आ+ √दृ। वाम देव गौतम ने इसकी व्याख्या कर्तरि √दृ का प्रयोग कर के की है[3]। पर इससे इसके 'अ' अंश की व्याख्या नहीं हो पाती। स्यूम रश्मि भार्गव ने इसे आ+ √दृ से कर्तरि व्युत्पन्न समझा प्रतीत होता है[4]।

(२) अद्रि< √अद्। अबुद काद्रवेय ने इस शब्द को √अद् (खाना) से व्युत्पादित समझा है, यह यास्क का कथन है[5]। वैयाकरण लोग भी यही व्युत्पत्ति मानते हैं[6]।

६ अधि< √धा अधि' के साथ कुशिक सौभर ऋषि के प्रयोग से कुछ एसा लगता है, जैसे ये 'अधि' को √धा से व्युत्पन्न समझते हो।

७ अनूच<अनु+ √अञ्च। 'अन्वञ्च्' के द्वितीया बहु वचनान्त 'अनूच' के साथ पराच' और 'प्रतीच' के प्रयोग[8] से विदित होता है कि विश्वामित्र गाथिन इन शब्दों में क्रमशः अ आ और ई का भेद होते हुए भी इन्हें एक ही प्रकृति से विभिन्न (क्रमशः अनु परा और प्रति) उपसर्गों के योग से बने शब्द मानते हैं। पाणिनि ने भी इन शब्दों की यही व्युत्पत्ति दी है[9]।

---

१ अर्थात् पाणिनि का रूढ अजय सङ्गतम। (अष्टा ३।१।१०५) अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

२ अ जुर्यो जरयन्नरिम। २।८।२॥ इन्द्रम जुय जरयन्तमुक्षितम।१६।१

३ ते मृजत दद्दृवांसो अद्रिम।४।१।१४॥ अपो यदद्रि पुरु हूत दद।१६।८॥

४ ग्रावाणो न सूरय सिन्धु मातर आ दर्दिरासो अद्रयो न विश्वहा। १०।७८।६॥

५ यास्क ने दोनों व्युत्पत्तियाँ बता कर √अद् से अद्रि पर मन्त्र उद्धृत किया है। द्र निरुक्तम् ४।४ अद्रिर, (१) आ दृणात्येनेन। (२) अपि वात्ते स्यात्। 'ते सोमादो' (ऋ १०।९४।९) इति ह विज्ञायते। निरुक्त के इस प्रसङ्ग पर निरुक्त के पांच अध्याय, पृष्ठ ४३८ देखें।

६ द्र उणादि सूत्र ५०५ (४।६५) अदि शदि भू शुभिभ्य क्रिन्।

७ विश्वा अधि श्रियोऽधित॥२०।१२७।१॥

८ जहि प्रतीचो, अनूच, पराच ३।३०।६॥

९ द्र अष्टाध्यायी ३।२।५९ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां

८ अमिता< √मा वृहदुक्थ वाम देव्य ने 'अमिता' के साथ 'मिमाना' का प्रयोग कर के[1] इनके सम्बन्ध का सङ्केत किया है। अर्थात् वे यह जानते हैं कि 'आ' ध्वनि 'इ' ध्वनि मे परिवर्तित हो सकती है। पाणिनि ने भी इसकी व्यवस्था की है[2]।

९ अरितृ< √ऋ 'अरितृ' के साथ ध्वनि की दृष्टि से इससे बहुत भिन्न स्वर विपरिणाम वाली 'इयर्ति' क्रिया के प्रयोग[3] से विदित होता है कि प्रस्कण्व काण्व ऋषि 'अरितृ' और 'इयर्ति' रूपो का मूल एक ही धातु को समझ रहे हैं।

१० अर्क< √अर्च 'अर्क' की व्युत्पत्ति का संकेत कई ऋषियों ने किया है, यह हम पीछे देख चुके हैं। यह शब्द अनेकार्थक है निघण्टु में यह 'अन्न' (२।७।१८) और 'वज्र' (३।२०।१०) के पर्यायों में सङ्कलित है ही, ऐक पदिक काण्ड (४।२। २३) मे अनेकार्थक पदों मे भी आया है। इस की व्याख्या यास्क ने यही व्युत्पत्ति दे कर की है तथा इस देव मन्त्र, अन्न और वृक्ष[4] अर्थों मे बताया है[5]। ऋग्वेद संहिता में भी इन अर्थ भेदो को प्रकाशित करने वाली व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं।

मधुच्छन्दस वैश्वामित्र ने अर्क को √अर्च का कर्म बना कर स्तुत्य अर्थ मे तथा ब्रह्मन् (स्तोता) के पर्याय के रूप मे मत्वर्थीय प्रत्यय से युक्त 'अर्किन्' का प्रयोग किया है कि ये लोग मन्त्र वाले हैं[6]। अत मधुच्छन्दस के अनुसार इस के दो अर्थ हैं (१) स्तुत्य देवता, (२) स्तुति=मन्त्र। गोतम राहूगण ने भी मरुतो को 'अर्क का अर्चन करने वाला' बतलाया है[7]। सायण ने इसका अर्थ 'स्तुत्य (इन्द्र)' किया है[8]। इस व्याख्या की पुष्टि अगस्त्य मैत्रा वरुणि के इस कथन से भी होती है कि मरुत् लोग सोम को पीने के लिए अर्चनीय (इन्द्र) की स्तुति करते हैं[9]। श्रुत कक्ष आङ्गिरस[10] ने इन्द्र को प्रस्तुत सोम की प्रशंसा करने की प्रार्थना अपने साथी

ऋ। ६।३।१६८ चौ। ६।४।२४ अनिदिता हल उप धाया क्ङिति।

१ सहोर्मिविश्व परि चक्रमु रज पूर्वा धामान्यमिता मिमाना।।१०।५६।५।।

२ द्र अष्टाध्यायी ७।४।४० द्यति स्यति मा स्थामित् ति किति।

३ इयर्ति वाचमरितेव नावम्। ८।६५।२।।

४ 'आक' नामक छोटा सा पौधा, पुराण म इस का सम्बन्ध सूर्य से बताया गया है। 'अर्क' शब्द सूर्य का पर्याय भी हो गया है।

५ द्र निरुक्तम् ५।४ अर्को देवो भवति, यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति, यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्न भवति, अर्चति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति, सवृत्त कटु किम्ना।

६ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किण।।१।१०।१।।

७ अर्चन्तो अर्कम जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्नि मातर।।१। ८५।२।।

८ द्र सायण भाष्य अर्कम=अर्चनीयमिन्द्रमर्चन्त=पूजयन्त।

९ अर्चन्त्यर्क मदिरस्य पीतये।।१।१६६।७।।

१० इन्द्राय मद्वने सुत परि ष्टोभन्तु नो गिर। अर्कमर्चन्तु कारव।।८।९२।१९।।

स्तोताओं से की है। यहाँ यह शब्द सोम, के अर्चनीय होने से साम के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यास्क ने 'अर्क' का अर्थ 'अन्न' अर्चनीय होने से नहीं, अपितु अर्चिता होने से किया है[1]।

मेधातिथि काण्व ने भी मरुतों को अर्क का अर्चन करने वाला बताया है[2]। सायण ने शतपथ ब्राह्मण[3] के प्रमाण पर 'मरुतों ने वर्षा से जल (अर्क) सम्पादित किया[4]।' अर्थ किया है। पर ऋग्वेद-संहिता के आन्तरिक साक्ष्य पर यहां आंधी तूफान के समय होने वाले शोर को ही मरुतों द्वारा की गई इन्द्र की स्तुति के रूप में 'मरुतों ने अर्क का अर्चन किया' समझना चाहिए। गौरिवीति शाक्त्य का कथन है कि मरुत् लोग इन्द्र का अर्चन करते हैं[5]। बभ्रु आत्रेय ने भी स्तुत्य को चतुर्थ्यन्त (तुभ्य) तथा स्तुति को द्वितीयान्त (अर्कम्) के रूप में प्रयुक्त किया है[6]। अवस्यु आत्रेय ने अर्क का स्तुति के करण (स्तोत्र मन्त्र) के रूप में विस्पष्ट प्रयोग किया है[7], अतः ऊपर चर्चित मेधातिथि काण्व के 'अर्क' का अर्थ 'स्तोत्र' ही समुचित प्रतीत होता है 'उदक' नहीं। दीर्घ तमस औचथ्य ने इस स्तोत्र रूप अर्क का वर्णन यों किया है कि अर्क छन्दों बद्ध होता है, तथा गाए जाने पर यही सामन् बन जाता है[8]।

इस अर्थ में व्युत्पत्ति प्रदर्शन के साथ 'अर्क' के निम्न ऋषियों के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं नोधस् गौतम[9], गौरिवीति शाक्त्य[10], भरद्वाज बार्हस्पत्य[11], ऋजिश्वन्

---

१ द्र निरुक्तम् ५.४ *अर्कमन्नं भवति, अर्चति भूतानि। * निघण्टु (२।७।१८) और माधवीय नामानुक्रमणी (पङ्क्ति १३०) में भी यह पुंलिङ्ग में है। देवराज ने इस की व्याख्या नहीं की है। दुर्ग ने 'तद्धि से' अर्क का परामर्श किया है, या 'अन्नम्' का, यह अर्थ स्पष्ट नहीं है। वहाँ उद्धृत 'अर्क' ही है। स्कन्द ने भी लिङ्ग पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। संहिताओं में नपुंसक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ प्रतीत होता। अतः यास्क का 'अर्क' प्रयोग चिन्त्य है।

२ य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि॥१।१९।४॥

३ द्र १०।६।५।२ आपो वा अर्क।

४ द्र सायण भाष्य अर्कम्=उदकम् आनृचु=अर्चितवन्तो, वर्षेण सम्पादितवन्त इत्यर्थ।

५ अर्चन्तीन्द्रं मरुतः सधस्थे त्रैष्टुभेन वचसा बाधत द्याम्। ५।२९।६॥

इस मन्त्र का 'त्रैष्टुभ वचस' प्रयोग ऋ १।१६४।२४ का 'त्रैष्टुभ वाक' ही त होता है।

६ तुभ्येदेते मरुतः सुशेवा अर्चन्त्यर्कं सुन्वन्त्यन्धः ॥ ५।३०।६॥

७ ब्रह्माण इन्द्र महयन्तो अर्कैः। ५।३१।६॥

८ गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कम्, अर्केण साम। १।१६४।२४॥

९ द्र १।६२।१। १० द्र ५।२९।१२। ११ द्र ६।२१।१०, ६६।९।

भारद्वाज[1], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[2], धृष्टि गु काण्व[3], नभ प्रभेदन वैरूप[4]। इन लोगों ने 'स्तुति अर्थात् 'मन्त्र अर्थ में अर्क' की √अर्च् से कर्म अथवा करण अर्थ में व्युत्पत्ति को सङ्केतित किया है।

निष्कर्ष (१) वाच्य भेद से 'अर्क' की तीन[5] व्युत्पत्तियाँ अभिप्रेत हैं (क) कर्म स्तवनीय देवता अर्क है। (ख) भाव स्तुति अर्थात् मन्त्र। (ग) करण जिससे देवता की प्रशंसा की जाती है, वह मन्त्र। (२) प्रकृति की तालव्य ध्वनि कण्ठ्य ध्वनि में बदल जाती है। अर्थात् उस समय (क) शब्द की अनेकार्थकता का, (ख) कारक भेद का और (ग) ध्वनि विपरिणाम का चिन्तन हो चुका था।

ऋग्वेद-संहिता का यह निर्वचन शब्दांश की व्याख्या का जहाँ तक सम्बन्ध है, पर-वर्ती काल में भी अपनाया गया है याज्ञवल्क्य ने 'आप (जल) के पर्याय के रूप में 'अर्क की व्याख्या '√अर्च्+च से बनाई है[6]। वैयाकरण लोग भी √अर्च >अर्क व्युत्पत्ति को मानते हैं[7]।

११ अर्णा<√ऋ 'अर्णा' का प्रयोग अगस्त्य मैत्रा वरुणि ने √ऋ (गति) से निष्पन्न 'ऋणो' के साथ कर के[8] इन दोनों के व्युत्पत्ति सम्बन्ध को सङ्केतित किया है। इस व्युत्पत्ति में 'ऋ> अर् तथा 'न' > ण' का ज्ञान भाषा चिन्तन का अङ्ग है।

१२ सव्य आङ्गिरस ने कूप वाचक 'अवत का प्रयोग 'आ वत' के साथ किया है। कदा चिद् यह शब्द 'आ वत>अवत है यही उन्हें अभिप्रेत है। आगे इसका विकास 'अवट' के रूप में मिलता है हयत आगाय को √अव् से अभिप्रेत 'अवत' शब्द[9] साम वेदीय कौथुम-संहिता[9] में, और बुध सौम्य का अवत[11] तैत्तिरीय संहिता[12] में 'अवट' के रूप में बदल दिया है। यास्क[13] ने 'अव+√अद्

---

१ द्र ६।५०।१५। २ द्र ७।२३।६

३ द्र ८।५१।४, १०। ४ द्र १०।११२।९।

५ यास्क ने इनमें से दो व्युत्पत्तियाँ ('क' और 'ग) दी हैं।

६ द्र शतपथ-ब्राह्मण १०।६।५।१ सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते व मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्।

७ द्र उणादि सूत्र ३२० (३।४०) कृ-दा धा राऽर्चि कलिभ्य क। यह केवल शब्द निर्वचन है, अर्थ निर्वचन नहीं।

८ ऋणोरपो अनवद्यार्णा। १।१७४।२॥

९ सिञ्चन्ति नमसाऽवतमुच्चाचक्रं परि-ज्मानम। ८।७२।१०॥ नाव उपावतावतम। १२।

१० द्र १।११७, २।१६२२ ५।

११ सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयम। १०।१०१।५॥

१२ द्र ४।२।५।५।

१३ द्र निरुक्तम् ५।२३ अवतोऽपातितो महान्भवति। १०।१३ (अवतम्

>भवत' व्याख्या दी है ।

१३ ग्रहि<√हन कई ऋषियों ने 'ग्रहि' का प्रयोग √हन् के साथ किया है[1] । अर्थात् उन्हें यह √हन् से निष्पन्न के रूप मे अभिप्रेत है । यास्क ने इसकी एक व्युत्पत्ति आ+√हन् से की है[2] । शौनक[3] और शाकटायन[4] ने भी इसे आ +√हन् से ही निष्पन्न बताया है ।

१४ ग्राज्य<√ग्रञ्ज् मूधन्वत् आङ्गिरस ने अग्नि की स्तुति मे 'ग्राज्य' को √ग्रञ्ज के साथ अग्नि को प्रदीप्त करने के करण के रूप मे प्रयुक्त किया है[5] । √ग्रञ्ज मूलत 'प्रकाश करना' अर्थ मे प्रयुक्त है यह 'अक्तु', और 'नक्त शब्दों से सूचित होता है । अग्नि प्रदीप्त होकर प्रकाश करता है । अत यहा यह अर्थ 'प्रदीपन मे लाक्षणिक रूप स उसी तरह प्रयुक्त हुआ लगता है, जिस प्रकार वि रूप आङ्गिरस के घी से अतिथि अग्नि को जगाओ[6] ।' कथन मे √बुध अन्तत 'प्रदीपन अर्थ म प्रयुक्त हुई है । उरुक्षय आमहीयव ने 'घृत' को √ग्रञ्ज् क करण के रूप मे प्रयुक्त किया है[7] । अत 'आज्य और 'घृत[8] नाम इनके अभिधेय द्रव्य का अग्नि को दीप्त करने मे उपयोग होने के कारण पडे हैं । वैया करण लोग इसे आ+√ग्रञ्ज से मानते हैं[9] । शौनक ने इसके निर्वचन मे 'अभि +√ग्रञ्ज का प्रयोग किया लगता है[10] । यहाँ अभि वैयाकरणो के आ का सम स्थानिक है, या निरर्थक है, यह बहुत स्पष्ट नही है । शाकल्य इसे अकेले √ग्रञ्ज से मानते हैं उन्होंने पद पाठ मे अव ग्रहण नही किया है ।

१५ आ दर्दिर<√दृ नेम भागव ने इन्द्र के विशेषण 'आ-दर्दिर' की व्याख्या √दृ से की है कि मैं (इन्द्र) आ दर्दिर हूँ, (क्योंकि) मैं भुवनों को दीर्ण करता हूँ[11] । इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद संहिता मे एक बार और स्यूम रश्मि भागव द्वारा सोम के डण्ठलो को कुचलने वाले अद्रियो (पत्थरो) से उपमित मरुतो के प्रसङ्ग

=) भवातितम ।

१ द्र २।११।५, १२।३, ११, ४।२८।१ ८।६६।५, १०।१३३।२ ।

२ द्र निरुक्तम २।१७ अहिरयनादेत्यन्तरिक्षे । अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव । निर्ह्सितोपसर्ग आ हन्तीति वा । कोपो म 'वा नहीं है । द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २२२ टिप्पणी २ ।

३ द्र बृहद्देवता ५।१६६ अहिरा हन्ति मेघान् स ।

४ द्र उणादि सूत्र ५७७ (४।१३७) आङि श्रि हनिभ्या ह्रस्वश्च ।

५ य समाञ्जन्नाज्येना वृणाना । १०।८८।४ ॥

६ घृतर्वोधयतातिथिम । ८।४४।१ । ७ घृतेनाग्नि समज्यते ।१०।११८।४॥

८ घृत' का विवरण आगे देखें ।

९ द्र अष्टाध्यायी ३।१।१०९ पर वार्तिक आङ्-पूर्वादञ्जेरुप सङ्ख्यानम् ।

१० यदाञ्जनाभ्यञ्जनमा हरन्त्याज्यमेव तत् । अथर्व-म ६।६।११ ॥

११ आ दर्दिरो भुवना दर्दरीमि । ८।१००।४ ॥

मे किया गया है[1]। इसका तात्पर्य यह है कि यह शब्द आंधी तूफान और तेज बौछार के उस भयानक दौर को प्रकट करता है, जब लगता है कि सब कुछ तूफान के मारे चूर चूर हो कर तहस नहस हो जायेगा। भाषा चिन्तन की दृष्टि स यह क्रिया पद (१) क्रिया के अ त शब्द अथवा पौन पु य, (२) कत त्व और (३) ऋ>इर् विकार को प्रकट करता है।

१६ इम<इ म लौकिक सस्कृत के पुरुष-सवनामो (personal pronouns) के सब रूप मूलत एक ही शब्द स सम्बद्ध नही हैं अपितु प्राचीन काल म कभी स्व तन्त्र शब्दो के रूप म प्रचलित कई शब्दो के सम्मिलित किये गये अवशेष हैं। जसे— मूलत त्व, युव और युष्मद् शब्द मध्यम पुरुष क वाचक पृथक पृथक पद थे। कालान्तर म इनमे से किसी शब्द का कोई रूप शेष रह गया, तो किसी का कोई। अन्तत पाणिनि स पूव के किन्ही आचाय ने अथवा स्वय पाणिनि ने 'युष्मद्' को आधार बना कर अन्य शब्दो के तात्कालिक व्यावहारिक सस्कृत म अवशिष्ट रूपों को आधार शब्द म विभिन्न आदेशो के द्वारा प्रति पादित कर लिया[2]। पाणिनीय तन्त्र का केन्द्रीय 'इदम्' शब्द भी वस्तुत अन, इ और 'इम' शब्दो का इसी प्रकार कल्पित अव शेष सञ्चय है।

'इम' भी वस्तुत इ+म के योग से बना शब्द है। यहाँ म प्रत्यय है, जो 'अव म 'पर म और मध्य म शब्दो म सस्वर्गीय के रूप म स्पष्ट है। इम' की इस व्युत्पत्ति का सङ्केत विश्व वमन् भौवन ने इस के साथ उपयु क्त तीन पदो के प्रयोग स किया है[3]। 'इम था (इस जैसा) की व्याख्या करते हुए यास्क ने 'इम को स्वतन्त्र शब्द के समान ही लिया है और इम की प्रकृति 'इ के ही एक अन्य रूप 'अयम् (यह) की व्याख्या √इ स की है[4]। न मेध और पुरु मध आङ्गिरस ने सोम पान के निमित्त घर घर जान वाल इ द्र को 'इम सोम को पीने की प्राथना की है[5]। आचाय स्कन्दस्वामी का आशय है कि इस मन्त्र म 'एषि (तू जाता है) और 'इमम् म व्युत्पत्ति सम्बन्ध ऋषि को अभीष्ट है[6]। ऋग्वेद-सहिता म 'इम' म

---

१ या शरिरामो यद्यो न विश्व हा। १०।७८।६ ॥

२ द्र अष्टाध्यायी ७।२।८६ ९८ तथा ८।१।२० २६।

३ या ते धामानि परमाणि, याऽवमा, या मध्यमा विश्व कमन्नुतेमा॥१०।८१।५॥

४ द्र निरुक्तम् ३।१६ त अग्र था पूव था, विश्व थेम था।' (ऋ ५।४४। १)=अग्र इव पूव इव विश्व इव इम इवेति। अयमेतरो-मुष्मात्। इस सन्दभ की व्याख्या के लिए निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ३८४ ५ देखें।

५ अमो च एषि वीरवो गृहं गृह वि चाकशत।
इम जम्भ-सुत पिब धानावन्त करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्॥८।९१।२॥

६ द्र निरुक्त-टीका ३।१६ पृष्ठ १७६ इद सवमाषमावरयतलिराह— अमेष एव वीर'॰ इत्येमामिषु निवकारो मन्यतीनि। ॰ स्कन्दटीका क भहित ए में यह अन्य पाठ है। का सम्पादक न इस ठीक स न समझ पाने के

अप्रचलित अन्य रूपों मे केवल 'इमस्य' (इसका) ही एक बार प्रयुक्त मिलता है[1]। लौकिक मे प्रचलित तथा ऋग्वेद म उपलब्ध रूप हैं इमम्, इमा (इमानि का वैदिक रूप), इमा, इमानि, इमाम्, इमे (द्विवचन और बहुवचन)।

१७ इष< √इष् इष अनेकार्थक है, पर 'अन्न' अर्थ म अधिक प्रसिद्ध है। इसकी व्युत्पत्ति (शब्द निर्वचन) तो निगम व्याख्यात है, पर अर्थ निर्वचन स्पष्ट नहीं है कि यह किस अर्थ वाली √इष से निष्पन्न है। अगस्त्य मैत्रा वरुणि ने पाणिनीय तन्त्र के 'श्ना' विकरण के प्रयोग से इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया लगता है[2]। सायण ने इस धातु का अर्थ 'इच्छा' किया है[3]। किन्तु इस विकरण वाली √इष का प्रयोग 'गति' अर्थ म ही हुआ है जो घस् गौतम ने कहा है कि हे बहुत बुलाये जाने वाले इन्द्र, तुम शत्रुओं की पहली किले बन्दियों की ओर जाते हो (इष्णासि)[4]। सायण ने भी इस का अर्थ 'अभि गच्छसि' (अभि यान करते हो) किया है[5]। नोधस क एक और इसी तरह के प्रयोग[6] का अर्थ सायण ने 'गति' ही किया है[9]। वाम देव गौतम[7] और असित काश्यप[8] के भी √इष् के इसी तरह के प्रयोगों का अर्थ सायण ने 'गति' ही किया है[10]। अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अगस्त्य ने भी गत्यर्थ मे ही √इष् का प्रयोग किया है, तथा इषु (अन्न) का उन्होंने गति का कर्म होने से इस √इष से व्युत्पन्न समझा है। विश्व मनस वैयश्व को भी इस विषय में सह मति प्रतीत होती है[11]।

१८ उक्थ< √वच 'कहना' अर्थ वाली √वच् से 'उक्थ' की व्युत्पत्ति का सङ्केत अत्रि भौम[12] नाभा नेदिष्ठ मानव[13] के प्रयोगों से मिलता है। यहाँ धातु क प्रथम अक्षर (अन्तस्थवान् व) के स्थान मे स्वर ('उ') है। अत सम्प्रसारण की प्रवृत्ति से य लाग परि चित हैं।

वारण इस पर यह टिप्पणी (द्र वही टि १६) की है कि इस वचन का स्रोत अप्राप्त है। पर वस्तुत यहाँ पिछली टिप्पणी मे घृत ऋचा (८।६१।२) ही अभिप्रेत है। इस पर निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २८५ देखें।

१ यदि मे सख्यमा वर, इमस्य पाह्यन्धस। ८।१३।२१॥

२ पूर्वीरिषश्चरति मध्व इष्णन् ।१।१८१।६॥ ३ द्र भाष्य इष्णन्=इच्छन्।

४ येनाचि हयत ऋतो अमित्रान् पुर इष्णासि पुरु हूत पूर्वी। १।६३।२॥

५ द्र भाष्य।

६ पृथे यन्निष्णान आयुधान्यघायमाणो नि रिणाति शत्रून। ४।१७।३॥

७ द्र भाष्य इष्णाम=ग्रामीदय्वेन प्रेरयम। ८ भिनद् गिरिं शवसा वज्रमिष्णन। ४।१७।३॥ ९ इष्णन्सूय न योन्य। ९।१७।५॥

१० द्र भाष्य इष्णन=गच्छन्। ११ पूर्वीरिष इषयन्तावति क्षप।८।२६।३॥

१२ अस्मा इत्काव्य वच उक्थमिन्द्राय शस्यम। ५।३९।५॥

१३ अधद्रुवथवचोमिरा हि नूनम। १०।६१।२७॥

१९ उक्थ < √वच अगस्त्य मैत्रावरुणि[1] और वामदेव गौतम[2] उपयुक्त सम्प्रसारण प्रवृत्ति से तो परिचित हैं ही उन्होंने 'उक्थ' के ही अर्थ वाले तथा उसी से स्वर भक्ति (स्वरागम) से निष्पन्न 'उचथ' का प्रयोग √वच् के साथ करके इसकी व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। भाषा चिन्तन की दृष्टि से (१) तालव्य स्पर्श (च्) का कण्ठ्य स्पर्श (क) में विपरिणाम, (२) धातु के आदिम 'व' का सम्प्रसारण (उ) और (३) स्वर भक्ति का ज्ञान[3] इस व्युत्पत्ति से सूचित होता है।

२० उग्र < √उज् कई ऋषियों ने 'उग्र' के साथ 'ओजस', 'ओजिष्ठ' 'ओजीयस' का प्रयोग कर के इनके पारस्परिक व्युत्पत्ति सम्बन्ध को सूचित किया है। इन में भरद्वाज बार्हस्पत्य[4] वसिष्ठ मैत्रावरुणि[5], रेभ काश्यप[6], वम्रानस[7] के प्रयोग द्रष्टव्य हैं। ये सब शब्द √उज से निष्पन्न हैं। 'उग्र' में कर्तृवाचक 'र' है 'ओजस' में भाववाचक 'अस' है, 'ओजिष्ठ' और 'ओजीयस' क्रमश के अतिरिक्त तुलना का भी प्रकट करने वाले 'इष्ठ' और 'ईयस्' प्रत्ययों से निष्पन्न हैं। √उज् के आख्यात रूप वाङ्मय में नहीं मिलते। पाणिनीय तन्त्र में 'उग्र' को निपातन-सिद्ध[8] तथा 'ओजस' को √उज्[9] से व्युत्पन्न माना जाता है[10]। यास्क ने √उज् और √उज्ज का विकल्प दिया है[11]। √उज के नाम पदों में भी उपयुक्त चार पदों के अतिरिक्त एक ओज्मन्[12] ही और है। ओजस का नाम धातुज

---

१ यद्धा मानास उचथमवोचन। १।१८२।८॥

२ एता त अग्न, उचथानि वेधोऽवोचाम कवये, ता जुषस्व। ४।२।२०॥

३ यहाँ 'थ्य' 'अथ' प्रत्यय प्रतीत होता है। अत 'उच्+थ' में स्वर भक्ति है या 'उच्+अथ' है यह निश्चय स नहीं कहा जा सकता। स्वर भक्ति यदि हो तो रूप उकथ' बनना चाहिये। विद्वान् लोग दोनों पक्षों पर विचार करें।

४ शविष्ठ न आ भर शूर, शव ओजिष्ठमोजो अभि भूत उग्रम ।६।१९।६॥

५ याम येष्ठा शुभा शोभिष्ठा, श्रिया सम्मिश्ला ओजोभिरुग्रा ।७।५६।६॥

६ क्रत्वा वरिष्ठ वर आ मुरिम, उतोग्रमोजिष्ठ, तवस तरस्विनम।८।९७।१०॥

७ महाँ असि सोम, ज्येष्ठ, उग्राणामिन्द्र, ओजिष्ठ। ९।६६।१६॥
य उग्रेभ्यश्चिदोजीयान। १७॥

८ द्र उणादि-सूत्र १८६(२।२९) ऋज्रेन्द्राग्र वज्र विप्र कुब्र चुब्र-क्षुर खुर भद्रोग्र भेर भेल शुक्र शुक्ल गौर वन्रेरा माला। भट्टोजि दीक्षित ने इस √उच् से बताया है उच समवाये (धातु पाठ ४।११५)। चस्य ग।

९ द्र माधवीय धातु वृत्ति ६।२३ उब्ज आर्जवे।

१० द्र उणादि सूत्र ६३१ (४।१९१) उब्जेर्बले ब लोपश्च।

११ द्र निरुक्तम् ६।८ ओज (क) ओजतेर्वा, (ख) उब्जतेर्वा। दुर्ग ने √उज को वृद्धयर्थक बताया है। स्कन्द ने इस नहस्न धातु बताया है ओज शब्द निगम प्रवचन निराह—ओजतेवा महत्तम्य धातो, सामर्थ्य-कर्मणो वा।

१२ दिवस्पृथिव्या पर्योज उद्भृतम

रूप भी मिलता है[1]।

२१ उत्स<उदन्<√उन्द् श्यावाश्व आत्रेय ने 'उदन् (जल) की कामना करने वाले को उत्सो जैसे मरुद्'[2] प्रयोग में 'उत्स' और उदन्यु' के पूर्व पदों (उद्' और 'उदन्') की समानता की ओर कुछ प्रकाश डाला है। गोतम राहूगण ने √उन्द् (गीला करना) के साथ करण के रूप में 'उन्न्' का प्रयोग किया है[3]। इससे सूचित होता है कि 'उदन्' (जल) भिगोने का करण होने से इस नाम से अभिहित है यह व्युत्पत्ति गोतम को अभीष्ट है तथा 'उत्स' का इस 'उदन्' से कोई सम्बन्ध है, यह श्यावाश्व का आशय है। यास्क ने 'उदन् को √उन्द् से किन्तु उसके कर्ता के रूप में, व्युत्पन्न बताया है[4]। कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध पर यदि विचार किया जाये, तो करण और कर्ता में बहुत अन्तर नहीं है। छेदन क्रिया के करण असि को कर्ता के रूप में कहा भी जाता है कि यह तलवार बहुत सफाई से काटती है[5]। भृगु ने उदन्' के परिवर्धित रूप 'उदक' को अथर्व स म उद्+√अन् से बताया है[6]। 'उत्स' की यास्क ने कई व्याख्यायें की हैं। उनमें से एक मे इसे √उन्द् से बताया है[7]। वैयाकरणों मे यही व्याख्या प्रसिद्ध है[8]।

'उत्स' का पूर्वाङ्ग 'उद्' है। उसकी व्युत्पत्ति के बारे में ऋषियों के विचार यों हैं न मेध आङ्गिरस ने 'उदन्' के साथ[9] और अत्रि भौम ने स्वतन्त्र रूप से[10] 'उद्' का प्रयोग 'जल अर्थ म किया है। अर्थात् नृ मेध 'उद्' और 'उन्न्' को समान शब्द ही मानते हैं। 'उद्' प्रकृति 'उत्स' से मिलते जुलते 'उद्र मे भी है। यह शब्द

अपामोज्मान परि गोभिरावृतम । ६।४७।२७॥

१ द्र १।१४०।६, २।१२।११, ३।३२।११।

२ इय वो अस्मत्प्रति हर्यते मतिस्तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे।५।५७।१॥

३ चर्मेवो मिन्द्युन्ति भूम ॥ १।८५।५॥

४ द्र निरुक्तम् २।२४ उदक कस्मात ? उनत्तीति सत ।

५ तुलना करें सिद्धान्त कौमुदी, कम कर्तृ-प्रकरणम् यदा सौकर्यातिशय द्योतयित कर्तृ व्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कारकान्तराण्यपि कर्तृ सञ्ज्ञां लभन्ते, स्व-व्यापारे स्व तन्त्रत्वात। तेन पूव करणत्वादि सत्त्वेऽपि सम्प्रति कर्तृत्वात्कर्तरि लकार—साध्वसिश्छिनत्ति, काष्ठानि पचन्ति, स्थाली पचति।

६ उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ अथर्व-संहिता ३।१३।४॥

इस व्युत्पत्ति के अर्थ पर प्रकाश डालने के चरम निदर्शन के लिये द्र डा फतह सिंह, दी वेदिक् एटिमॉलॉजी पृष्ठ १०५, और उसकी समीक्षा के लिये द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४८।

७ द्र निरुक्तम् १०।९ उत्स (१) उत्सदनाद्वा। (२)उत्स्यन्दनाद्वा। उनत्तेर्वा।

८ द्र उणादि सूत्र ३४८ (३।६८) उन्दि गुधि कुषिभ्यश्च।

९ अधा हीन्द्र, गिर्वण, उप त्वा कामान्मह ससृज्महे, उदेव यन्त उदभि॥ ८।९८।७॥ १० उदा वधन्तामभि षाता अर्णा ॥ ५।४१।१४॥

स्वतन्त्र रूप से माध्यन्दिन[१] काण्व[२], तैत्तिरीय[३], मैत्रायणी[४] और काठक[५] संहिताओं में एवम् 'अनुद्र (<न+उद्र)' के रूप में वाष्टि हव्य के एक मन्त्र[६] में और यास्क द्वारा वैकल्पिक रूप से 'सम्+उदक' से, अथवा 'सम्+√उन्द्' से व्याख्यात 'समुद्र'[७] शब्द के उत्तर पद के रूप में प्रचुर बार उपलब्ध है। व्याकरण-परम्परा[८] में भी 'उद्र' शब्द[९] √उन्द् से ही व्याख्यात है।

दुहरे मत्वर्थीय प्रत्यय (र+इन्=रिन्) के साथ 'उद्' नाम 'उद्रिन्' शब्द में भी है। गृत्समद[१०] और काण्व ने 'उत्स' और 'उद्रिन' का युगपत् प्रयोग कदाचिद् इन की प्रकृति की समानता को दृष्टि में रख कर ही किया लगता है[११]। इन दोनों शब्दों में प्रकृति (उद्) एक ही है प्रत्यय (स और 'रिन्') का भेद है। इस सन्दर्भ में प्रस्कण्व[१२] और पुष्टिगु काण्व[१३] तथा कक्षीवद् दैर्घतमस[१४] और बुध सौम्य[१५] के 'उद्रिन्' के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं।

२२ उरु< √वृ　दीर्घ तमस औचथ्य[१६], भरद्वाज बार्हस्पत्य[१७] और पायु भारद्वाज[१८] ने 'उरु' के साथ √वृ से निष्पन्न 'वरीमन्' और 'वरीयस' तथा 'वरुण'

---

१ द्र २४।३७।　　२ द्र २६।८।२।　　३ द्र ३।५।२०।१।

४ द्र ३।१४।१८।　　५ द्र ४७।१०।११।

६ अनुद्रे चिदो धवता वर सते महिनाय धन्वते दविष्यते ॥ १०।११५।६॥

७ द्र निरुक्तम् २।१० समुद्रः कस्मात्? (१) समुद्द्रवन्त्यस्मादापः। (२) समभिद्रवन्त्येनमापः। (३) सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि। (४) समुदको भवति। (५) समुनत्तीति वा। इस प्रकरण की व्याख्या के लिये द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २०२।

८ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३)　स्फायि तञ्चि वञ्चि शकि क्षिपि क्षुदि सृपि तृपि दृपि वन्दि *उन्दि श्विति　गृधिभ्यो रक्। * समझने में सुविधा के लिये मध्यस्थ हमने तोडी है। विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

९ मैक्डॉनल्ड ने इस का अर्थ 'जल-चर' बताया है। ऋग्वेद संहिता में 'जलवान् पानी से भरा' अर्थ है।

१० बृहू साकं सिषिचुरुत्समुद्रिणम् ॥२।२४।४॥

११ श्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु। उत्सं कवन्धमुद्रिणम्॥८।७।१०॥

१२ उद्रीव वज्रिन्नवतो न सिञ्चन क्षरन्तीन्द्र धीतयः ॥ ८।४६।६॥

१३ उद्रीव वज्रिन्नवतो वसुत्वना सदा पीपेथ दाशुषे ॥ ८।५०।६॥

१४ दिवस्कवन्धमवदर्षदुद्रिणम् ॥ ६।७४।७॥

१५ सिन्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुप क्षितम् ॥ १०।१०१।५।
इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्॥६॥

१६ सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः ॥ १।१५६।२॥

१७ या सद्य उस्रा व्युषि ज्मो अन्तान्युयूषतः पर्युरू वरांसि ॥ ६।६२।१॥

१८ उरोर्वरीयो वरुणस्ते इन्द्रोः। ६।७५।१८॥

पदों के प्रयोग में इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। पाणिनि ने '-इष्ठ', '-ईयस' प्रत्ययों से पूर्व 'उरु' को 'वर' (हल न्त) आदेश कर के[१] इस व्युत्पत्ति को पुष्ट किया है। उणादि-कार ने इस की व्युत्पत्ति √ऊर्णु (ढँकना) से दी है[२]।

२३ उषस् < √उच्छ ऋग्वेद संहिता में √उच्छ (चमकना धातु पाठों में अंधेरा हटाना) से 'उषस्' की व्युत्पत्ति के सूचक प्रयोग कन्यत्र में इकतालीस बार हुए हैं (१) सत्रह बार अकेली √उच्छ के[३] (२) तेईस बार 'वि √+उच्छ के[४], (३) एक बार वि वि+√उच्छ' का[५]। यास्क ने इसके (१) दिव्य और (२) आन्तरिक्ष स्वरूपों को दृष्टि में रख कर (१) वश (कान्ति, चाहना) से और (२) √उच्छ (चमकना) से व्युत्पत्ति बताई है[६]। √वश > √उषस व्युत्पत्ति ऋग्वेद संहिता में नहीं है। वैयाकरण इसे √उष (टीका 'दाह') से व्युत्पन्न मानते हैं[७]। इन सब में ऋग्वेदीय (√उच्छ > उषस) व्युत्पत्ति ही 'उषा' के प्राकृतिक स्वरूप (भोर) को पूर्ण तया स्पष्ट करती है। ध्वनि विकास की दृष्टि से भी यह व्युत्पत्ति पूर्णत वैज्ञानिक

---

१ द्र अष्टाध्यायी ६।४।१५७ प्रिय[१] *स्थिर[२] स्फिर[३] उरु[४] बहुल[५] वृद्ध[६] तृप्र[७] दीर्घ[८] वृन्दारकाणां[९,१०] प्र[१] स्थ[२] स्फ[३] वर[४] बंहि[५] गर[६] वर्षि[७] त्रप[८] द्राघि[९] वृन्दा[१०]।

* ये संख्याएँ क्रमश स्थानी और आदेश के क्रमिक सम्बन्ध को बताने के लिये दी गई हैं।

२ द्र उणादि सूत्र ३० ३१ ऊर्णोतेर्नु लोपश्च। महति ह्रस्वश्च।

३ द्र १।४८।३, ७१।१, ११३।१७ १२४।१ ६, १८४।१, ३।७।१०, ४।३६। १, ७।७२।४, ७५।५, ७६।६, ७, ८।१२, ९।७।४, १०।३५।३, ५५।४।

४ द्र १।४८।१, ११३।७ ८ १० ११ ११८।११, १३ २।२८।९, ३।१।५२, ५५।१, ४।१।५, १४।४, २३।५ ३९।३, ४५।२, ५।३७।१, ६।२।८ ७।६६।५ १०। ६।३, ३५।१,५, ४१।१, १२२।७। 'वि+√उच्छ' के प्रयोगों की अधिकता के कारण ही सम्भवत व्याकरण-तन्त्र में 'प्रायेणाय विपूर्व ।' प्रसिद्ध है 'वि पूर्वश्चाय प्रयुज्यत इति पुरुष कारे (द्र माधवीय धातु-वृत्ति १।२१४, पृष्ठ ६६)।

५ सु सङ्काशा मातृ मृष्टेव योषाऽऽविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्।

भद्रा त्वमुषो, वितरं व्युच्छ न तत्ते अन्या उषसो नशन्त॥१।१२३।११॥

६ द्र निरुक्तम् २।१८ उषा कस्मात्? उच्छतीति सत्या। रात्रेरपर काल। १२।५ उषा वष्टे कान्ति कर्मण। उच्छतेरितरा माध्यमिका*। प्रात-कालीन दिव्य (दिवो दुहिता) उषा यास्क को √उच्छ से ही अभिप्रेत है।

* द्र निघण्टु ५।५।३४।

७ द्र उणादि सूत्र ६७३ (४।२३३) उष कित्। दश पादी उणादि में इस √वस से निष्पन्न मान कर 'वस कित्।' सूत्र दिया है। ऋ १।४८।३ के 'उवासोषा' में सम्भवत यह व्युत्पत्ति भी अभिप्रेत है। हर दत्त ने पद मञ्जरी (७। ४।४८) में 'उष कित।' पाठ ही स्वीकार किया है। √उष के अर्थ के लिये तत्त्व-बोधिनी तथा बाल मनो रमा देखें।

हैं[1]। तालव्य स्पर्श और मूर्धन्य ऊष्म के पारस्परिक सम्बन्ध के लिये √यज्>इष (इष्ट), √राज् >राष् (राष्ट्र) आदि धातु उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वैयाकरण लोगों की व्युत्पत्ति तो अर्थ की दृष्टि से हास्यास्पद है। उषा की जीवन-दायी, मन्द्र मधुर झिलमिलाहट उन्हें दाहक प्रतीत हुई। साहित्यिकों को तो चन्द्र ज्योत्स्ना ही दाह करती थी। 'टिड्डाणुज' पण्डित को उस से तनिक उष्ण उषा ही तो दाहक होगी!

२४ उस्र< √वस (चमकना) पुं-स्त्री लिङ्गों में उपनाम इस शब्द का प्रयोग प्रति प्रभ आत्रेय[2], भरद्वाज बार्हस्पत्य[3], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[4] और वत्स आश्व्य[5] ने √वस के साथ किया है। देवातिथि काण्व ने उस्रिय का प्रयोग 'वसु' के विशेषण के रूप में किया है[6]। इन प्रयोगों से विदित होता है कि इन ऋषियों को उस्र, उस्रा और उस्रिय शब्द √वस से निष्पन्न के रूप में अभिप्रेत हैं। यहाँ 'व > उ' (सम्प्रसारण) का प्रयोग स्पष्ट है।

√वस का अर्थ √वस से निष्पन्न वसु का प्रयोग गोतम राहूगण[7] और हरि मन्त आङ्गिरस द्वारा[8] 'पहिनना, धारण करना' अर्थ वाली √वस के साथ किया गया है। कान्ति का आवरण सा होता है। अतः सम्भवतः इस कारण आच्छादनार्थक √वस चमकना में भी प्रचलित हो गई थी ऐसा प्रतीत होता है। 'उषा' की व्युत्पत्ति इस (चमकना अर्थ वाली) √वस से भी अभिप्रेत थी यह हम पीछे कह ही आए हैं[9], सर्वाधिक द्युति शील आदित्य का विवस्वत् नाम भी सम्भवतः चमकने के कारण ही (√वस से) पड़ा है। यास्क ने तो यह व्युत्पत्ति दी ही है[10] प्रस्कण्व काण्व[11] और इध्म वाह दाढ च्युत[12] ने इस अर्थ में व्युत्पत्ति का सङ्केत किया भी है। सायण ने यहां √वस को 'निवास' अर्थ में माना है[13]। परन्तु

---

१ द्र अष्टाध्यायी ८।२।३६ व्रश्च भ्रस्ज सृज-मृज यज राज भ्राज-छ शां ष। डा सिद्धेश्वर वर्मा 'दि एटिमालाजीज आफ यास्क,' पृष्ठ १४ और जे वाकेरनेगेल, 'आल्त् इन्दिशे ग्रामातिक', १।१२५, भी देखें।

२ *अ दश्रया दयते वार्याणि पूषा भगो अदितिर्वस्त उस्रः।* ५।४९।३॥

३ स इ रेभो न प्रति वस्त उस्राः। ६।३।६॥

४ यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा। ७।६९।५॥

५ यो अश्वेभिर्वहते वस्त उस्रा। ८।४६।६॥

६ त्वं तान् सुवेदमुस्रियं वसु। ८।५१।६॥

७ ते विश्वे देवा हि वस्वो वसवाना। १।६०।२॥

८ मा निर्मार्विसुत सादन-स्पृशो, रयिं पिशङ्गं बहुलं वसीमहि॥९।७२।८॥

९ द्र पृष्ठ ४१ टि ७। १० द्र निरुक्तम् ७।२६ विवस्वान् विवासनात्।

११ वावसाना विवस्वति। १।४६।१३॥

१२ तमह्नासुरिजोथिया स वसान विवस्वत। ९।२६।४॥

१३ द्र ऋ भा ९।२६।४ स वसान=वसन्त धात्रे।

सोम के पीले (हरि) वर्ण[1] को देखते हुए यह 'चमकना' अर्थ वाली भी हो सकती है। प्रस्कण्व काण्व ने अग्नये[2] कुत्स आङ्गिरस[3] और विश्वामित्र गाथिन ने[4] 'विवस्वत्' का प्रयोग 'चमकीला' अर्थ मे ही किया है।

यास्क ने उस्रिया' की व्युत्पत्ति 'उद्+ √स्र' से दी है[5]। वैयाकरण लोग 'उस्र' को √वस् से निष्पन्न मानते हैं[6]।

२५ ऊति< √अव् गो धस् गौतम[7], गोतम राहूगण[8], कुत्स आङ्गिरस[9], गृत्समद[10], विश्व सामन आत्रेय[11], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[12], नारद काण्व[13] और इन्द्र व कुत्स[14] ने √अव् से भाव मे 'ऊति' का सङ्केत किया है। यास्क ने इसे कृत सम्प्रसारण धातु (√अव्) से निष्पन्न तो माना ही है, साथ ही यह भी बताया है कि भाषा मे इस धातु के अ तस्थ वाले रूप अधिक हैं, सम्प्रसारण वाले रूप कम हैं[15]। पाणिनि ने इसे निपातन सिद्ध बताया है[16]।

२६ ऊव< √व यह शब्द पुल्लिङ्ग और अकारान्त है। यह ऋग्वेद संहिता मे बाईस बार आया है। विश्व बन्धु के मत मे इस का अर्थ और व्युत्पत्ति

---

१ यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥ ९।९९।२ ॥
'निरुक्त के पांच अध्याय', ४।१९ भी देखें।

२ अग्ने विवस्वदुषसश्चित्र राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वह । १।४४।१ ॥

३ विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ १।९६।२ ॥

४ विद्रक्षन्त उषसो यामन्नक्तोर्विवस्वत्या महि चित्रमनीकम् । ३।३०।१३ ॥

५ द्र निरुक्तम् ४।१९ उस्रियेति गो नाम। उत्स्राविणोऽस्यां भोगा। इसकी व्याख्या के लिये 'निरुक्त के पांच अध्याय' देखें।

६ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३) स्फायि तञ्चि वञ्चि शकि क्षिपि क्षुदि सृपि तृपि दृपि वन्द्युन्दि श्विति वृत्यजिनीपदि मदि मुदि खिदि छिदि भिदि मन्दि चन्दि दहि दसि दम्भि वसि वाशि शीङ् हसि सिधि शुभिभ्यो रक। सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ १६१ वसे सम्प्रसारणे 'म र पर भूपि मृजि स्पृशि स्पृहि सवनादीनाम्' (अष्टा ८।३।११०)—उस्रो=रश्मि । उस्रा=गौ ।

७ प्र नू स मर्त शवसा जनाँ अति तस्थौ व ऊती मरुतो, यमावत । १।६४।१३॥

८ सोम यास्ते मयो भुव ऊतय सन्ति दाशुषे। ताभिर्नोऽविता भव॥१।९१।९।

९ द्र १।११२।२। १० द्र २।११।१३। ११ द्र ५।२२।३।

१२ द्र ७।१९।३ २०।२। १३ द्र ८।१३।१७। १४ द्र १०।४९।३।

१५ द्र निरुक्तम् २।२ तद् यत्र स्वरादन तरान्तस्थान्तर्धातु भवति तद् द्वि प्रकृतीनां स्थानमिति प्र दिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुप पद्यमानायामितरयोप विपाद यिषेत्। तत्राप्येकेऽल्प निष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथतद्—ऊतिर्, मृदु, पृथु पृषत कुणारुमिति। इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिये द्र 'निरुक्त के पांच अध्याय', पृष्ठ १६६ ७। निरुक्तम् ५।३ ऊतिरवनात्।

दोनो ही अविदित है[१]। ऋग्वेद सहिता मे यह चौदह बार[२] वृत्र के द्वारा रोक कर रखी गई 'गो (आप जल)' के प्रसङ्ग म उनक बाडे (अव रोध) के लिए आया प्रतीत होता है। यह बाडा जहां गुप्त (ढँका, छुपा हुआ) है, वही मजबूत भी है[३]। अत यह 'आच्छादन अथ वाली √व स निष्पन्न है, यह कहना उचित तो प्रतीत होता ही है ऊपर सङ्केतित मन्त्रो म एव वसिष्ठ मत्रा-वरुणि के उशिजो ने गो के ऊव को खोला[४]। कथन म इस अथ वाली √वृ के प्रयोग स पुष्ट भी होता है। 'गो स सम्बन्ध के कारण पडे गाय के बाड स आगे चल कर यह शब्द सामान्य छुपा हुआ गुप्त, मजबूत स्थान' अथ मे भी रूढ हुआ मिलता है[५]।

२७ ऋक्थ, २८ ऋक्वन, २९ ऋग्मिय< √अर्च् नो घस् गोतम ने ऋग्मिय' (स्तत्य) तथा 'अक (स्तोत्र) के साथ[६], श्यावाश्व आत्रेय ने 'ऋक्वन् के साथ[७] और लुश धानाक ने 'ऋक्व' (अदन्त) के साथ[८] इनकी प्रकृति √अर्च् के प्रयोग से इन के निवचन का सङ्केत दिया है। यास्क ने 'ऋच् (ऋचा) की व्याख्या √अर्च् से की है[९]।

ऋग्वेद सहिता मे उपलब्ध '१ ऋचसे' (ऋचस=अर्चयितृ, च ,ए व[१०] , √ऋच् +असे, तुमथ[११]), '२ ऋच्यते[१२] , '३ ऋच्यन्ते[१३],'४ ऋच्यमाना[१४]' और ५ ऋच्य

१ द्र वैदिक पदानुक्रम कोष, सहिता भाग, खण्ड २, पृष्ठ ९९२, टि k।

२ द्र १।७२।८ ३।३२।६, ४।२।१७ ५।२९।१२ ३०।४ ४५।२, ।१७।१ ६, ७।१६।७, ९०।४, ८।६६।३, ९।८७।८ १०।७४।४, १०८।८।

३ गव्य चिद्रूवमपि धानवन्त त चिन्तर शशमाना अप वन्। ५।२९।१२। ओर्णोदुर उस्रियाभ्यो वि दृळ्होद् ऊवद् गा असृजो अङ्गिरस्वान ॥६।१७।६॥ स ऊवस्य रेजयत्यपा त्रतिमिन्द्रो गवस्य वृत्र हा। ८।६६।३ ॥ एवा ययो परमादन्तरद्रे कू चित्सतीरूर्वे गा विवेद। ९।८७।८ ॥

४ गव्य चिद्रूवमुशिजो वि वव्रुस तेषामनु प्र दिव सस्रुराप । ७।९०।४। टि ३ म धृत मन्त्र भी इसी आशय के पोषक हैं।

५ बृहन्त इद् भानवो भा ऋजीकमग्नि सच त विद्युतो न शुक्रा । गुहेव वृद्ध सदसि स्वे अन्तर पार ऊर्वे अमृत दुहाना ॥ ३।१।१४ ॥ महश्चिदग्न, एनसो अभीक ऊर्वाद्देवानाम् उत मर्त्यानाम् ॥ ४।१२।५ ॥ पृथ त, सुप्रम वध्यमूव बृहस्पते, रक्षतादस्य योनिम ॥ ४।५०।२ ॥

६ सु वृक्तिभि स्तुवत ऋग्मियायाक नरे वि श्रताय। १।६२।१ ॥ सु वक्ति पर विमश के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४५।

७ अर्चा मरुद्भिऋक्वभि। ५।५२।१ ॥

८ बृहस्पति सामभिऋक्वो अचतु। १०।३६।५ ॥

९ द्र निरुक्त १।८ ऋगचनी। १३।११। एवग भवति, यदेनमर्चन्ति प्रत्यच =सर्वाणि भूतानि।

१० द्र ६।३९।५। ११ द्र ७।६१।६।

१२ द्र ८।३८।१०। १३ द्र ७।७०।६। १४ द्र ६।३८।२।

माने[1] के प्रयोगों से विदित होता है कि √अच् के साथ साथ √ऋच् भी प्रयुक्त होती थी। 'ऋच्' अन्त वाले शब्दों के साथ √ऋच् का प्रयोग न कर के √अच् का प्रयोग करने से विदित होता है कि ऋग्वेद के ऋषि (१) इन दोनों प्रकृतियों को परस्पर सम्बद्ध मानते थे, (२) √अच के आख्यात रूपों और 'अच' अन्त वाले नामों की तुलना में √ऋच के आख्यात रूप और 'ऋच्' अन्त वाले नाम बहुत कम प्रयोग में आते थे, अतः व्युत्पत्ति आदि के कार्यों में अपने समय में अधिक प्रचलित धातु को ही प्रदर्शित करते थे। √अच् और उस से निष्पन्न नामों की तुलना में √ऋच और इस से निष्पन्न नामों के कम प्रयोगों को तथा परकालिक संहिताओं में इन के घटते प्रयोगों को देखते हुए तो कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि √ऋच् प्राचीन है और √अच्, √ऋच का ही अर्वाचीन रूप है। √ऋच पाणिनीय तन्त्र में सङ्कलित तो है[2], पर लौकिक वाङमय में प्रयुक्त शायद ही हुई हो।

३० ऋत< √ऋ त्रित आप्त्य ने सत्य के साथ ऋत का प्रयोग √ऋ के एक क्रिया पद के साथ किया है[3]। इस से प्रतीत होता है कि यह शब्द व्यवस्थित दिव्य मर्यादा अर्थ में है और इस मर्यादा की गतिशीलता के कारण √ऋ से व्युत्पन्न के रूप में उन्हें अभिप्रेत है। मर्यादा की सार्थकता गतिशीलता और सत्ता में ही है। ऋषि ने गतिशील नदियों के व्यवस्थित नियमित बहाव का ऋत के अन्तर्गत, और अपनी मर्यादित सत्ता से जगत् का उपकार करने वाले सूर्य के प्रसङ्ग में 'ऋत' के ही अन्यतर समानार्थक पर्याय में प्रयोग किया है। सायण ने 'ऋत' को 'उदक' का पर्याय माना है।

३१ ऋतु< √ऋ प्रस्कण्व काण्व ने 'ऋत' में शब्दार्थ में मिलते जुलते 'ऋतु' की भी यही व्युत्पत्ति सूचित की है[4]। इन्होंने ऋतु शब्द का यौगिक 'गमन' अर्थ में प्रयुक्त किया है। योग रूढ रूप में इस से निरन्तर गतिशील (तुलना करें समय < सम्+√इ गतौ) काल सामान्य, या काल विशेष (समय का एक भाग, मौसम) अर्थ का बोध भी होता है। निरुक्त[5] और वैयाकरण[6] सम्प्रदायों ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है।

३२ ऋत्विज्<ऋतु+√यज यह 'ऋतु' और 'इज' (यज करने

---

१ द्र ६।४९।३।

२ द्र धातु-पाठ ६।२२ ऋच स्तुतौ। अष्टाध्यायी ७।२।६६ अत्त याच* रुच प्रच्छ ऋचश्च। * माधवीय धातु-वृत्ति में यहां पर 'ऋच प्रच्छश्च' उद्धत है। काशिका में यथा पाठ ही पाठ और व्याख्यात है।

३ ऋतमर्षन्ति सिन्धवः सत्यं तातान सूर्यः। १।१०५।१२।

४ यमश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि। उषः प्रारन्नृतूंरनु। १।४९।३।

५ द्र निरुक्तम् २।२५ ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः।

६ द्र उणादि सूत्र ७१ अर्तेश्च तुः।

वाला) का समास है। ऋषियों ने इस शब्द के विग्रह का प्रयोग कई बार किया है। त्रित आप्त्य ने इस की तीन व्याख्याएं की हैं (१) ऋतून् विद्वान् यजति=ऋतुओं=यज्ञ के अवसरों को जानता हुआ यज्ञ करता है[१]। (२) ऋतु शो यजति=ऋतुओं अर्थात् यज्ञ के अवसरों के अनुसार यज्ञ करता है[२]। (३) ऋतु भियजति=मौके मौके पर—अवसर के अनुसार—यज्ञ करता है[3]। इन में से प्रथम व्याख्या हविर्धान आङ्गि ने[४] और द्वितीय देवापि आर्ष्टि षेण ने[५] दी है। ये व्याख्याएँ शब्दों में अन्तर होते हुए भी अर्थतः एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं कि यज्ञ के अवसर को समझ कर उनके अनुकूल यजन कार्य करने वाला व्यक्ति ऋत्विज् कहलाता है। इन अवसरों तथा उन के कार्यों आदि के भेद से ऋत्विज् चार, सात, और सोलह होते हैं। भाषा चिन्तन की दृष्टि से इस निर्वचन से निम्न बातें प्रकाशित होती हैं (१) यह समस्त शब्द है, (२) उत्तर पद √यज से क्वन्प में निष्पन्न है, (३) धातु के आदिम अक्षर को सम्प्रसारण हो गया है।

यास्क ने भी इस की तीन ही व्युत्पत्तियां दी हैं (१) ईर से, (२) ऋच+√यज् से, (३) ऋतु+√यज् से[६]। इन में से एक (तीसरी) वेदोक्त है। व्याकरण-परम्परा में भी यही व्युत्पत्ति प्रचलित है, तथा इस के तीन पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं (१) ऋतु पर यज्ञ करता है, (२) ऋतु का यजन करता है, (३) मौसम के अनुसार यजन करता है[७]।

२३ ओक<√उच वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने ओक का प्रयोग उवोच क्रिया के साथ किया है[८]। सायण ने इन दोनों को सेवन करना अर्थ वाली √वच से निष्पन्न बताया है[९]। यास्क[१०] और पाणिनि ने निवास अर्थ वाले ओक को

---

१ विद्रोहि देवाँ उशतो यविष्ठ, विद्वाँ ऋतॠ तु पते यजेह। १०।२।१॥

२ अग्निष्टद्धोता, क्रतु विद्,वि जानन्यजिष्ठो देवाँ ऋतु शो यजाति।१।२।५॥

३ यथायज ऋतुभिर्देव देवान, एवा यजस्व तन्व सु जात॥१०।७।६॥

४ स यजियो यजतु यजियाँ ऋतून।१०।११।१॥

५ नि षीद होत्रमृ, ऋतु था यजस्व देवान्देवापे, हविषा सपर्य।१०।९८।४॥

६ द्र निरुक्तम् ३।१९ ऋत्विक्कस्मात्? (१) ईरण। (२) ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणि। (३) ऋतु याजी भवतीति वा।

७ द्र अष्टाध्यायी ३।२।५९ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च। काशिका (१) ऋतौ यजति, (२) ऋतु वा यजति (३) ऋतु प्रयुक्तो वा यजति=ऋत्विक्।

८ नि यो गृभं पौरुषेयीमुवोच दुरोकमग्निरायवे शुशोच। ७।४।३॥

९ द्र ऋ भा ...युवोच। अत्र वचि सेवार्थे वर्तते, नि षेवत इत्यर्थ। दुरोक=स-परन्तु सेव यथा भवति, तथा।

१० द्र निरुक्तम् ३।३ ओक इति निवास नाम उच्यते। हस्त लेखों के आधार पर सम्पादित डा लक्ष्मणस्वरूप और राजवाडे के संस्करण। म यहां उच्यत

√उच् से निष्पन्न बताया है। पाणिनीय तन्त्र मे √उच् 'समवाय' (इकट्ठा करना) अर्थ मे है[1]। इस का समानान्तर 'गृह' शब्द √ग्रह से निष्पन्न है[2]। वसिष्ठ के प्रकृत मन्त्र मे भी 'ओक' और √ग्रह के वैदिक रूप √गृभ से निष्पन्न 'गृभ' का युगपत्प्रयोग कदाचिद् इन दोनो की समानार्थकता की ओर सङ्केत करता है। वाम देव गौतम ऋषि ने ओक' के साथ उक्थ' (√वच् से निष्पन्न[3]) का युगपत्प्रयोग किया है[4]। सायण ने 'उक्थ' का अर्थ 'स्तोत्र' और 'ओक' का अर्थ 'आवास' किया है[5]। प्रवृत्ति निमित्त मे बहुत भेद होने के कारण ये दोनो शब्द समान धातु ज नही हैं। अत वाम-देव का आशय यहाँ व्युत्पत्ति प्रदर्शन नही है।

३४ कम्भन<√स्कम्भ अष्टा-दंष्ट्र वै रूप के 'कम्भन के साथ √स्कम्भ और 'स्कभीयस्' के प्रयोग स सूचित होता है कि वे 'कम्भन' को √स्कम्भ् से करण मे

(विसर्ग रहित) पाठ है। दुर्ग ने इस निर्वचन की व्याख्या नही की है। स्कन्द ने 'उचते' (स विसर्ग) की व्याख्या की लगती है। यह स्कन्द भाष्य के एक कोष (हस्त लेख) मे है भी। उन्होंने 'उच्यते' को पाठान्तर बताया है ओक इति निवास नाम। उच्यतेरिति पाठान्तरम्। आह च—ओक उच के (अष्टाध्यायी ७।३।६४) इति। 'उच्यते' पर डा लक्ष्मणसरूप ने यह टिप्पणी की है कि 'उच्यते' पाठ सी' कोष में है, 'बी' कोष मे 'उचते।' उच्यतेरिति पाठान्तरम।' पाठ है। द्र पृष्ठ १२३, टि २२ 'उचते' C अयमपि पाठ B'। हस्त लेखो का 'उच्यते' (विसर्ग रहित) 'उच्यते' (स विसर्ग) पाठान्तर का भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है। इस विषय मे निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २७७, देखिय।

१ द्र अष्टाध्यायी ७।३।६४ ओक उच के। तथा माधवीय धातुवृत्ति ४। ११५ उच समवाये। ओक। अच*। 'ओक उच के (अष्टा ७।३।६४) इति निपातनात्कुत्वम्। ओक ओकसी†=गृहम्। असुनि बाहुलकात्कुत्वम्।

* कुत्व का विधान 'क प्रत्यय म किया गया है। अत यहाँ 'अच' चिन्त्य है। काशिका मे सही व्युत्पत्ति दी गई है कर्तरि इगुपध लक्षण क प्रत्यय। माधव न सम्भवत अन्तोदात्तता के लिय 'अच' बताया है। जयादित्य ने 'क' का विधान कर के इसे प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त सिद्ध किया है किमर्थं पुनरयं घञ्येव न व्युत्पाद्यते? स्वरार्थम। अन्तोदात्तोऽयमिष्यते। घञि सत्याद्युदात्त स्यात्।

† पहला 'ओक' अकारान्त था। इसे भी कही अकारान्त न समझ लिया जाय, सम्भवत इसी कारण माधव ने इसका प्रथमा द्वि-वचनान्त (ओकसी) रूप भी साथ मे दिया है।

२ द्र निरुक्त ३।१३ गृहा कस्मात्? गृह्णन्तीति सताम्।

३ द्र पीछे पृष्ठ ३८, '१८ उक्थ<√वच।

४ अवस्यव शशमानास उक्थैरोको न रण्वा सुदृशीव पुष्टि ॥ ४।१६।१५॥

५ द्र ऋ भा अन्न कामा स्तोत्र शसमाना=स्तुवन्त। तदा सोऽय मिन्द्र स्तोतृणामावास इव भवति।

निष्पन्न मानते हैं[1]। यहाँ दो विकार स्पष्ट दृष्टि गोचर होते हैं (१) स्कम्भन' में आदिम 'स्' का लोप, (२) 'स्कभीयस्' में मध्य वर्ती 'म्' का लोप। ये विकार वैदिक लोगों के उच्चारण में प्राकृत प्रभाव के द्योतक हैं। 'स्कभीयस्' में 'ईयस्' को तद्धित मानने पर[2] धातु का व्यञ्जनान्त नाम प्रकृति के रूप में प्रयोग भी यहाँ द्रष्टव्य है। 'म्' के लोप के लिये हिरण्य-स्तूप आङ्गिरस,[3] कुशिक ऐषीरथि अथवा विश्वामित्र गाथिन[4], के 'स्कभ्' और 'स्तभ्' के प्रयोग भी द्रष्टव्य हैं। भरद्वाज बार्हस्पत्य ने 'खम्भन' के शुद्ध रूप 'स्कम्भन' का प्रयोग भी इसी व्युत्पत्ति को सूचित करने के लिये किया है[5]। वैदिक 'स्कम्भ' आज 'खम्ब', 'खम्भ', 'खम्बा', 'खम्भा' के रूप में उपलब्ध है। इसी का पर्याय (√स्तम्भ् से निष्पन्न) स्तम्भ भी 'थम्ब', 'थम्बा', 'थम्भ' और 'थम्भा' रूप में है।

१५ कीकट<किम+√कृ विश्वामित्र गाथिन ने 'कीकट' के साथ 'किम+√कृ' के प्रयोग से इन दोनों के सम्बन्ध को सूचित किया है[6]। इस का प्रयोग सप्तमी, ब. व., में किया गया है। इस से इस की देश वाचकता[7] सूचित होती है। इस व्युत्पत्ति में कीकट के दो अंश अभिप्रेत हैं (१) की<किम् (२) कट<कृत। यहाँ भाषा चिन्तन की दृष्टि से (१) संयुक्ताक्षर (ङ्क) में एक व्यञ्जन (ङ) का लोप होने पर उसकी क्षति पूर्ति के लिये पूर्व वर्ती ह्रस्व को दीर्घ (२) दन्त्य ('त') ध्वनि का मूर्धन्यीभाव ('ट') तथा (३) 'ऋ' का 'अ' में परिवर्तन स्पष्ट हैं।

पर वर्ती काल में यास्क ने भी इस शब्द की यही व्युत्पत्ति बताई है। हाँ

---

१ इन्द्रो व्यास्कम्भ चिरस्कम्भनेन स्कभीयान्॥ १०।१११।५॥

२ 'इष्ठ, ईयस' आदि प्रत्यय पाणिनीय तन्त्र में तद्धित माने जाते हैं। आधुनिक वैयाकरण इन्हें कृत् मानते हैं। आगे ७४ दूर<√दु। पर दूसरी टिप्पणी देखें।

३ अव स्कम्भास स्कभितास आरभे। १।३४।२॥ यहाँ आरभे शब्द आ+√रभ+ए (चतुर्थी प्रति रूपक तुमर्थ) है। यह √रभ 'सहारा' अर्थ वाले लौकिक √लम्ब के प्राचीन-तर रूप √रम्भ का शुद्ध रूप है। इस से 'लाठी' अर्थ में रम्भ उसी प्रकार निष्पन्न है जिस प्रकार प्रकृत √स्कम्भ से स्कम्भ निष्पन्न है। त्रिशोक काण्व ने इस अर्थ में √रम्भ् और रम्भ का प्रयोग किया है आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्मा शवसस्पते। (८।४५।२०)। यास्क ने भी 'अस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्। (१०।१४९।१)की व्याख्या 'अनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्।' (निरुक्तम् १०।३२) में √रम्भ और √स्कम्भ की पर्यायिता को प्रकट किया है। अतः यहाँ आरभ=आ+√लम्ब है।

४ वि ष्कम्नन्त स्कम्भनेना जनित्री। ३।३१।१२॥

५ उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेनाप्रथतं पृथिवीं मातरं वि॥ ६।७२।२॥

६ किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु ? गावो नाशिरं दुह्रे, न तपन्ति घर्मम्।३।५३।१४॥

७ द्र. इस के परिचय के लिये हमारी 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ ३६८, ३८३।

उत्तर-पद 'कट' के सम्भावित शुद्ध रूप 'कृत' की दो व्याख्याएँ—कर्म और भाव में—भी की हैं[1] कि (१) आर्य लोग उनके प्रति घृणा वश 'इन्हें ईश्वर ने क्यों बनाया ?' कहा करते थे। (२) ये लोग ही आर्यों की धार्मिक क्रियाओं यज्ञ आदि का मखौल 'इन क्रियाओं से क्या होगा ?' कह कर उड़ाया करते थे।

'किम्<की' के दर्शन 'की ग्ड'[2] और की वत्[3] शब्दों में होते हैं। यास्क ने 'की-वत्' का अनुवाद 'कियत्' किया है[4]। यह विकास पाणिनि के द्वारा भी विहित है[5]।

'कट<कृत' के दर्शन 'वि कट' में होते हैं। अथर्व वेद की पैप्पलाद संहिता के वि-कट[6] के स्थान मे शौनक शाखा में 'व्यङ्ग' मिलता है। प्रवृत्ति निमित्त की दृष्टि से 'विकट' और 'व्यङ्ग' पर्याय मे ही हैं। इसमे विदित होता है कि 'विकट' कभी वि-कृत' रहा होगा[7]। ऋग्वेद-संहिता[8] और पैप्पलाद संहिता—दोनों—के पद पाठ मे विकट' में अव ग्रह। (विऽकट) भी इस निष्कर्ष का पोषक है। 'चटाई' के लिये प्रयुक्त कट[10] भी 'कृत' का ही वि कृत रूप प्रतीत होता है।

३६ केतु<√चित्। मन्त्र च्छन्दस् वैश्वामित्र ने √चित् के साथ केतु' का प्रयोग करण रूप में[11], उनके पिता विश्वामित्र गाथिन[12] एवं वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने[13] कर्तृ अर्थ में किया है। यह √चित् अ कर्मक है एवं 'प्र ज्ञान अर्थ मे है। मधुच्छन्दस ने अ कर्मक क्रिया को प्रेरणार्थक रूप में स कर्मक बना कर 'केतु' (शुद्ध

---

१ द्र निरुक्तम् ६।३२ कीकटा नाम देशोऽनार्य निवास। कीकटा =(१) किं कृता ? (२) किं क्रियाभि ? इति-प्रेप्सा वा। डा लक्ष्मणस्वरूप के अनुसार (द्र निरुक्तम्, मूल मात्र, पृष्ठ १२६ टि ११) लघु पाठ के कोषों मे दूसरे निर्वचन के अन्त मे 'वा' नहीं है। बृहत्पाठ के कोषों म तो यह है ही दुर्ग और स्कन्द ने भी इसकी व्याख्या की है। सायण द्वारा इस मन्त्र के भाष्य मे उद्धृत निरुक्त-पाठ मे भी यह है। अत यहाँ 'वा' परम्परा पुष्ट है।

२ कीदृङ्ङिन्द्र सरमे का दृशीका ? १०।१०८।३ ॥

३ आ कीवत सललूक चकर्थ ? ३।३०।१७ ॥

४ द्र निरुक्तम् ६।३ आ कियतो देशात् ?

५ द्र अष्टा ६।३।९० इद किमोरीश्की।

६ ? २०।३०।१०। ७ अय यो वक्रो वि परुर व्यङ्ग। ७।५८।४॥

८ यास्क न इसे औपमन्यव के मत में 'वि क्रान्त' से और अपनी वैकल्पिक व्याख्या म वि कुत्सित से निष्पन्न बताया है विकटो=वि-क्रान्त-गतिरित्यौपमन्यव। कुटतेर्वा स्याद्—वि कुटितो भवति (निरुक्तम् ६।३०)।

९ द्र १०।१५५।१। १० तैत्तिरीय संहिता ५।३।१२।२

११ महो अर्ण सरस्वती चेतयति केतुना। १।३।१२॥

१२ अग्निर्धिया स चेतति केतुर्यज्ञस्य पूर्व्य। ३।११।३॥

१३ अचेति केतुरुषस पुरस्तात्। ७।६७।२॥

वस्था के कर्ता) को करण के रूप में प्रयुक्त किया है। इस से विदित होता है कि केतु' प्रज्ञापन का साधन है। यज्ञ प्रारम्भ हो गया है,' 'उषस् आ रही है' आदि से इस बात का ज्ञान होता है, अत यह इन दोनों का 'केतु' (प्रज्ञापक) है। अत केतु में √चित् सकर्मक रूप में अभिप्रेत है। उपर्युक्त मन्त्रों में यही कारण है कि केतु का शब्द निर्वचन (√चित् से व्युत्पत्तिक सम्बन्ध कथन) ही किया गया है। अन्य निर्वचन नहीं। इस व्युत्पत्ति में च् का क में कि परिणाम स्पष्ट है।

यह √चित् से सीधे व्युत्पन्न है, अथवा √कित् से व्युत्पन्न है, तथा ऋषियों ने व्युत्पत्ति प्रदर्शन के लिए √कित् का प्रयोग कुछ कारणों से न कर के उस के स्थान में √चित् का प्रयोग कर दिया है, इस पर हम कुछ वक्तव्य प्रतीत होता है

रात-हव्य आत्रेय[1] और वसु भारद्वाज[2] ने केतु के स्थान पर 'चेतु' का प्रयोग किया है। इस से यह विदित होता है कि उस समय केतु और चेतु' दो शब्द थे। आपाततः केतु √कित् से और 'चेतु' √चित् से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। ऋग्वेद संहिता में इन दोनों के प्रयोग की मात्रा के आधार पर हमारा यह विचार है कि √कित्, अर्थात् क कारवान् धातु प्राचीन थी और √चित् अर्थात् च-कारवान् धातु, उसका स्थान ले रही थी। क-कारवान् के नाम और आख्यात दोनों प्रकार के प्रयोग सीमित हैं, जबकि च-कारवान् के हर प्रकार के रूपों के प्रयोग मिलते हैं। परवर्ती काल में तो क कारवान् (√कित्) का सर्वथा उच्छेद हो गया और च कारवान् (√चित्) का ही बोल बाला रह गया, यहाँ तक कि पाणिनीय तन्त्र में √कित् केवल √चिकित्स की व्युत्पत्ति के लिए ही समाम्नात है[3]। यही कारण प्रतीत होता है कि ऋषियों ने भी प्राचीन काल में अधिक प्रचलित √कित् से निष्पन्न केतु' की व्युत्पत्ति का सङ्केत अपने समय में अधिक प्रचलित √चित् से ही किया है अथवा प्राचीन केतु के साथ अर्वाचीन √चित् का प्रयोग किया है।

---

१ ता वामियानोऽवसे पूर्वा उप ब्रुवे सचा। स्वश्वास सु चेतुना वाजाँ अभि प्र दावने ॥ ५।६५।३ ॥ यहाँ शाकल्य ने सु चेतना' को दो स्वतन्त्र पद माना है। स्वर की दृष्टि से भी सु (उदात्त) तथा चेतुना (मध्योदात्त) अलग अलग पद हैं। सायण ने इन्हे समस्त एक पद मान कर 'सु चेतुना = शोभन प्रज्ञानो युवां (मित्रावरुणौ)' अर्थ किया है। यह चिन्त्य है। समस्त सु चेतना (तु' उदात्त) का प्रयोग अर्चनानस आत्रेय ने इस से पिछले सूक्त में किया है

ता बाहवा सु चेतुना प्र यन्तमस्मा अर्चते।
शेव हि जार्य वां विश्वासु क्षासु जोगुवे ॥ ५।६४।२ ॥

२ आ न सोम, पवमान किरा वस्विन्दो भव मघवा राधसो मह।
शिक्षा वयो धो, वसवे सु चेतुना, मा नो गयमारे अस्मत्परा सिच ॥६।८१।३॥
यहाँ सायण ने सु और चेतना की पद-योजना शाकल्यानुसारी की है।

३ द्र अष्टाध्यायी ३।१।५ गुप तिज किद्भ्य सन्। माधवीय धातु-वृत्ति १।९७३ कित निवासे, रोगापनयने च।

√कित् के समानान्तर √चित् से भी 'केतु' के वजन पर लोगों ने 'चेतु' शब्द घड़ा, किन्तु वह सु-बहु प्रचलित 'केतु' को पद च्युत नहीं कर सका। बल्कि स्वयं ही मृत हो गया[1]। यास्क ने कहा भी है कि कुछ प्राचीन नाम पद चालू रह जाते हैं, जबकि उनके आख्यात रूप प्रचलन से अर्थ चन्द्र पा लेते हैं[2]।

रात हव्य आत्रेय ने जहां 'केतु' के स्थान पर 'चेतु' का प्रयोग किया है, वहीं '√कि<केतु' व्युत्पत्ति का सङ्केत भी किया है[3]। यह √कि भी ज्ञान' अथवा दर्शन' अर्थ वाली है, तथा केतु' इसका करण है।

पाणिनीय तन्त्र में स्वतन्त्र √कि लोक में प्रयुक्त नहीं है[4], अपितु √चाय[5] के स्थान में कुछ विशिष्ट शब्द रूपों की सिद्धि के लिये 'की' रूप में आदिष्ट है[6]। उणादिकार ने 'की' के स्थान में 'कि' आदेश किया है तथा उससे केतु' की निष्पत्ति की है[7]।

अर्थ (प्रवृत्ति निमित्त) की दृष्टि से 'केतु' शब्द फारसी 'निशान' के समकक्ष है।

३७ क्षत्रिय<क्षत्र विश्व मनस वैयश्व ने 'क्षत्रिय' के उत्तरांश 'इय' का अर्थ √इण् प्राप्ति) से स्पष्ट किया है कि क्षत्रिय वह है, जो क्षत्र को पाए[8]। 'क्षत्रिय' शब्द का प्रयोग किये बिना यह व्युत्पत्ति विग्रह-वाक्य के रूप में वसिष्ठ ने भी दी है[9]। अतः यहाँ 'इय' मत्वर्थीय ('वाला' अर्थ वाला) प्रत्यय है, यह ऋषियों का आशय स्पष्ट है।

पाणिनि ने क्षत्र से उस की अपत्य जाति अर्थ में 'क्षत्रिय' की व्युत्पत्ति दी है[10]। ऋग्वेद संहिता के उपर्युक्त दोनों प्रयोग शासकों के सन्दर्भ में हुए हैं। द्वितीय मन्त्र में तो प्रथम मन्त्र के 'क्षत्रिय' के स्थान पर ही जैसे 'राजन्' का प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद संहिता के इन दो प्रयोगों में क्षत्रिय' का

---

१ यह केवल उपर्युक्त दो मन्त्रों में प्रयुक्त मिलता है।

२ द्र निरुक्तम् २।२ अथापि भाषिकेभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते—दमूना, क्षेत्र-साधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिका—उष्णं, घृतमिति।

३ नि चेतुना जनानां चिकेथे पूत दक्षसा ॥ ५।६६।४ ॥

४ धातु पाठ में उपलब्ध 'कि ज्ञाने।' (मा धा वृ ३।१६) लौकिक नहीं है, अपितु छान्दस है। वैदिक में इसके 'चिकेत्', चिकेतु, चिकित्वि, 'अचिकेत्' और अचिक्यु रूप मिलते हैं।

५ द्र माधवीय धातु-वृत्ति ८६५ चायृ पूजा निशामनयोः।

६ द्र अष्टाध्यायी ६।१।३५ चायः की।

७ द्र उणादि सूत्र ७३ चायः किः।

८ ऋतावाना नि षेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू।
धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः ॥८।२५।८॥

९ अनाप्यो वरुणो, मित्रो, अर्यमा क्षत्रं राजान आशत। ७।६६।११ ॥

१० द्र अष्टाध्यायी ४।१।१३८ क्षत्राद् घः।

अय 'जाति विशेष' निश्चय से भले ही न कहा जा सके, पर उस अर्थ की सर्वथा असम्भावना भी नहीं की जा सकती। त्रसदस्यु पौरु-कुत्स[1], वसिष्ठ[2] और जुहू ब्रह्म जाया ऋषिका[3] के द्वारा शासकों के सन्दर्भ किये हुए 'क्षत्रिय' के प्रयोग भी इस अर्थ की सम्भावना के पोषक हैं।

ऋग्वेद संहिता और पाणिनि के व्युत्पत्ति-कथन में एक अन्तर है ऋषियों को 'क्षत्र की प्राप्ति' के कारण 'क्षत्रिय' नाम पड़ना अभीष्ट है, जब कि पाणिनि को 'क्षत्र से उत्पत्ति' के कारण। अर्थात् ऋषियों की व्युत्पत्ति में यौगिक अर्थ प्रकाशित हुआ है, पाणिनि की व्युत्पत्ति में योग रूढ अर्थ।

३८ गुहा, ३९ गुह्य, ४० गूळ्ह< √गुह[4]। मेधातिथि काण्व[5], प्रस्कण्व

---

१ मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥ ४।४२।१ ॥

२ आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धु पती क्षत्रिया यातमर्वाक् ।७।६४।२॥

३ तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ १०।१०९।३ ॥

४ ऋग्वेद संहिता में छुपाना अर्थ वाली यह धातु ह्रस्वोपध (√गुह) और दीर्घोपध (√गूह) दो रूपों में प्रयुक्त मिलती है। कुछ रूप तो दोनों के प्रयुक्त हैं (१) गुह (√गुह् लाट् म ए व) 'य इमे रोदसी मही समीची समजग्रभीत् तमोभिरिन्द्र तं गुह ॥' (८।६।१७)। गूह (√गूह से) मा वर्षो अस्मदप गूह एतत्। (७।१००।६)। (२) गुहमान (√गुह, शानच् पु प्र ए) 'अ पाद् अ शीर्षा गुहमानो अन्ता।' (४।१।११) गूहमाना (√गूह, शानच् स्त्री प्र ए व) 'अप द्रुह तम आवः गूहमाना।' (७।१०४।१७)।

प्रयोगों की मात्रा की दृष्टि से √गुह (ह्रस्वोपध) के आख्यात रूप तीन (गुह ८।६।१७ अघुक्षत् ५।४०।८ जुगुक्षत ८।३१।७) ही मिलते हैं, जब कि √गूह् (दीर्घोपध) के आख्यात रूप कहीं अधिक हैं तथा अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं निरुपसर्ग ही सात (गूहते १०।२७।२४, गूहन्ति १०।८।४, गूहथ ५।६३।४ गूहता १।८६।१०, गूहताम् २।४०।२, अगूहत् २४।३, तथा गूह ७।१००।६, १०।२७।२४) रूप हैं। अन्य संहिताओं में ह्रस्वोपध के आख्यात रूप नहीं मिलते, जब कि दीर्घोपध के कुछ अतिरिक्त रूप भी मिलते हैं। √गूह के आख्यात रूप के कुल प्रयोग सब संहिताओं में मिला कर आठ बार मिलते हैं। कृदन्त नाम भी √गुह (ह्रस्वोपध) के कुल आठ मिलते हैं गुह् १।६७।३, गुहत् २।१९।५ गुहमान ४।१।११ (ये तीनों ऋग्वेदीय ही हैं), गुहा, गुह्य, गुह्यमान गुह (काठक-संहिता ५३।३, श्री विश्व बन्धु ने इस का पाठान्तर कुह बताया है, द्र वैदिक-पदानुक्रम कोष, १।२, पृष्ठ ११३२ टि ८ और पृष्ठ १२२९, टि f) और गोह (ऋ ४।२१।६ ८)। √गूह (दीर्घोपध) के कृदन्त नाम चार हैं गूळ्ह गूढ्वी (ऋ ७।८०।२ म ही,) गूहन्ती (ऋ ४।५१।९ म ही) तथा गूहमान। वस्तुत प्रथम दो रूप √गुह के ही हैं संधि (√गुह +त >गुड +द >गुड >गूढ गुह +त्वी >गुड्+ढ्वी< गुढ्वी< गूढ्वी) में दीर्घ हो गया है। द्र अष्टाध्यायी ६।३।१११ ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः।

विश्वामित्र-पथु (व य)[6] ने इन शब्दो के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित कर के (१) ह्रस्व और दीघ ('गु', 'गू') के विकार से युक्त एक ही धातु तथा (२) प्रत्ययाश से युक्त होने पर 'ह' ध्वनि के मूधन्यी भाव की प्रवत्ति को प्रकट किया है। इस स्थिति मे मूधन्यी भाव के दशन √सह से निष्पन्न 'साळह ('अ षाळह' के उत्तर पद) में गृत्समद[7], भरद्वाज बाहस्पत्य[8] और वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[9] के व्युत्पत्ति प्रदशक प्रयोगो मे होते हैं। यास्क ने गुहा' की व्युत्पत्ति √गूह से बताई है[10]।

४१ गो<√गम भरद्वाज बाहस्पत्य ने पशु विशेष वाचक 'गो' के साथ √गम् के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[11]। व्याकरण-परम्परा मे भी यही व्युत्पत्ति मानी जाती है[12]।

गो< √गा त्रि शोक काण्व ने गत्यथक √इ के साथ तथा गत्यथक √गा मे निष्पन्न 'गातु' के साथ 'गो' (जल) का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[13]। यास्क ने इन दोनो युत्पत्तियो का विकल्प सुझाया है। 'गो के 'पृथिवी', 'पशु (गाय) आदि अनेक अभि धेय और लाक्षणिक अथ हैं। सब अर्थों मे उन्हे ये व्युत्पत्तियाँ ही अभिप्रेत हैं पदाथ का गति क्रिया से जैसा सम्बन्ध है, वैसे कारक का प्रयोग कर के उन्होने अभिधेयो मे भेद को स्पष्ट किया है[14]।

इस विवरण से विदित होता है कि √गुह (ह्रस्वोपध) मौलिक है और √गूह् (दीर्घोपध) उस का परि वर्धित रूप है। पाणिनि ने भी √गुह् (ह्रस्वो पध) का ही सङ्कलन धातु पाठ (गुहू स वरणे, १।८८०) म कर के उसी को दीघ का विधान किया है ऊदुपधाया गोह (अष्टा ६।४।८९)।

५ पुषा राजानमा घृणिरप गूळह गुहा हितम।
अविन्दच्चित्र बर्हिषम् १।२३।१४॥

६ गुहा हित, गुह्य, गूळहमप्सु। ४।११।५, ३।३६।६ और १०।१४८।१२॥

७ अ षाळहाय, सहमानाय वेधसे। २।२१।२॥

८ अ षाळहमुग्र सहमानमाभिर्गीर्भिवध वषभ चषणीनाम् ॥ ६।१८।१॥

९ अ षाळहाय, सहमानाय, वेधसे, तिग्मायुधाय भरता, शृणोतु न ॥७।४६।१॥ १० द्र निरुक्तम् १३।६ गुहा गूहते।

११ आ गावो अग्म नुत भद्रमक्रन्सीदन्तु गो ष्ठे, रणयन्त्वस्मे। ३।२८।१॥

१२ द्र उणादि सूत्र २८५ (२।६८ गमेर्डो।

१३ य कृतदिद्वि योन्य त्रि शोकाय गिरि पृथुम्।
गोभ्यो गातु निरेतवे ॥ ८।४५।३०॥

१४ द्र निरुक्तम २।५ गौर' इति (१) पृथिव्या नाम धेयम (अ) यद् दूर गता भवति। (आ) यच्चास्या भूतानि गच्छन्ति। (इ) *गातेर्वौकारो नाम करण। (२) अथापि पशु-नामेह भवत्येतस्मादेव।

* 'गाति' से दुग ने 'गाङ गतौ (मा धा व १।६३१) को तथा स्कन्द ने

४२ ग्मा< √गम् वि मन् ऐन् ने 'ग्मा' को √गम् के अपादान के रूप म प्रयुक्त कर के[1] इस व्युत्पत्ति का सङ्केत तो किया ही है, अपादान से इसकी अपि करणता भी सूचित की है[2]। यास्क ने गो की एक व्याख्या यह भी की है कि 'पृथ्वी गो इस लिये कहलाती है कि प्राणी इस पर गमन करते हैं[3]। यास्क की यह व्याख्या वि-मद द्वारा की प्रयुक्त निरुक्ति से मिलती-सी है।

४३ गृभ—गृह वसिष्ठ मना वरुणि[4] प्र गाथ काण्व[5] के 'घर' अर्थ म ही 'गृभ' और गृह' क पृथक् पृथक् प्रयोगो स सूचित होता है कि इस काल म य दोनो शब्द ध्वनि और अर्थ की दृष्टि स परस्पर-सम्बद्ध माने जाते थ। कुसीदिन् काण्व के 'ग्राभ (प वग-चतुर्थवान्) नाम के साथ √ग्रभ (प-वग चतुर्थवान्) आख्यात के प्रयोग[6] स, और यदम-नाशन प्राजा-पत्य के ग्राहि (कण्ठय महाप्राण ऊष्म वाले) नाम क साथ वैस ही √ग्रह के आख्यात के प्रयोग[7] स सूचित होता है कि इन पदो की आधार भूत धातुओ म कुछ अन्योन्य निरपेक्षता भी मानी जाती थी। यहाँ भ् और 'ह्' ध्वनियो मे कोई विकास-क्रम हो सकता है पर दोनो ही वतनियाँ साथ साथ प्रचलित थी। इन दोनो के पौर्वापर्य के बार म विचार यो है

गृभ' (७।२१।२, ८।१०।३) की अपेक्षा गृह' का प्रयोग कही अधिक (११ बार) हुआ है। √ग्रह के आख्यात रूप √ग्रभ् के आख्यात रूपों की तुलना मे सात गुने (√ग्रह ५ √ग्रभ् ३५) हैं। इससे यह विदित होता है कि ह् (कण्ठय महा प्राण ऊष्म) वाली वतनी अभी आरम्भिक स्थिति म थी और 'भ् (ओष्ठ्य

'गा स्तुतौ (३।२४) और 'ग शब्दे' (१।६३१) को माना है। यास्क न धातु निर्देश सवत्र पाणिनीय तन्त्र के श्तिपा निर्देश स किया है। 'गाति' रूप गाङ् गतौ का ही सम्भव है। स्कन्दोक्त धातुओ का निर्देश तो 'जिगाते' और गायते से किया होता। तुलना कर निरुक्त १।८ गायत्र गायते स्तुति-कमण। अत स्कन्द की व्याख्या उचित नही है। द्र निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ १८५।

१ आ जग्मयु पराकाद्—दिवश्च, ग्मश्च—मर्त्यम्॥ १० २२।६।

२ वस्तुत क्त और करण अधि करण और अपादान कम और सम्प्रदान कारक परस्पर वि-सदृश नही हैं अपितु तनिक-से दृष्टि भेद का प्रति प्रसव हैं। अत हमारे विचार मे मूलत कारक तीन ही हैं कतृ अधि कारण और कम।

३ द्र निरुक्तम् २।५ गौर (१, आ) यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति।

४ द्र अ ये गृहावममद्रुस्त्वाया, (७।१८।२१), तथा न्यु प्रियन्ते यशसो गृभादा (२१।२)।

५ यद्वा समुद्रे अध्या-कृते गृहेऽत आ यातमश्विना। ८।१०।१॥ और त्या न्वश्विना हुवे सु दंससा गृभे कृता॥

६ आ तू न इन्द्र क्षु मन्त, चित्र ग्राभ स गृभाय। ८।८१।१॥

७ ग्राहिजग्राह यदि वतदेनम। १०।१६१।१॥

महा प्राण घोष) वाली वतनी अधिक मात्रा मे प्रचलित थी। आधुनिक भाषा म इसके तनिक से समानान्तर उदाहरण 'क्षोभ—छोह' क्रोध—कोह आदि शब्द हैं। आज टकसाली साहित्यिक भाषा म भले ही महा प्राण स्पश का चोल बाला हो, पर जनता की भाषा म उसे कण्ठय महा प्राण ऊष्म ने पूरी तरह पद च्युत कर दिया है। ऋग्वेद काल मे अधिक उपलब्ध √ग्रभ पर वर्ती संहिताओ मे धीरे धीरे √ग्रह मे बदल रही थी। माध्यन्दिन संहिता तक, लगता है यह स्थिति आ गई थी कि कुछ प्राचीन मन्त्रो मे उपलब्ध √ग्रभ वाले पुरान प्रयोग इस संहिता मे √ग्रह वाले हो गये हैं[1]।

इस निष्कष की पुष्टि म हम अघ' और 'सघ' शब्दो पर विचार करेंगे

१ अघ ऋग्वेद मे लगभग समानाथक तीन निपात हैं जो परस्पर-सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। प्रयोगो की मात्रा को देखते हुए उनके विकास का एक क्रम भी निर्धारित किया जा सकता है अघ (१६४ बार) अध (१५४), अह (५१)। इनमे से किन्ही दो का एक ही ऋषि के द्वारा प्रयोग भी (योग पद्य अभिप्रेत नही है।) कई बार किया गया है। इस का ब्योरा यह है

(क) अघ और अध (१) कुत्स आङ्गिरस १।६४।६, ११ (२) १०२।६, ७,१०, (३) ११४।६ १०, (४) विश्वामित्र गाथिन ३।६।२ ६, (५) ३२।१०, ११, (६) वाम देव गौतम ४।१८।५, १० ११ (७) भरद्वाज बाहस्पत्य ६।१६।४, १८, (८) वश आप्त्य ८।४६।१५, १६ २६ ३१ ३३ (९) वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ९६।७ १५, (१०) त्रित आप्त्य १०।१।६ ७, (११) सूर्या ८५।१६ २७ ३३, (१२) अष्टा-दंष्ट्रा १११।६ ८

(ख) अघ और अह (१) दीघ तमस औचथ्य १।१४०।६ १०, (२) १५१। २७, (३) गृत्समद २।३११२, ४, ७, (४) वाम-देव गौतम ४।२२।६ ७ (५) गय आत्रेय ५।६।५, (६) श्यावाश्व आत्रेय ५२।३, ६ (७) ५४।४, ६, (८) वसिष्ठ मत्रा-वरुणि ७।२०।२–३, ५, (९) नाभा नेदिष्ठ मानव १०।६११।६ २४।

(ग) अध और अह (१) गोतम राहूगण १।६२।३ १५ (२) कक्षीवत् दीघ-तमस औशिज ११६।३, ८६ (३) देवा १०।५१।२, ७।

निष्कष (१) अघ' ऋग्वेद काल का सर्वाधिक प्रचलित निपात है। (२) उनके दो अन्य रूप भी चालू हो रहे थे (क) अध, (ख) अह। (३) अघ' और अध का साथ अधिक रहा प्रतीत होता है। (४) 'अघ-अह का साथ ऋग्वेद-काल में उससे कम रहा। (५) अध अह' म कुछ भेद समझा जाने लगा लगता है, यही कारण है कि इनका पयाय के रूप म प्रयोग केवल तीन ऋषियो ने किया है। इनमे से एक कक्षीवत् तो अघ अध और 'अध अह का प्रयोग करने वाले दीघ तमस के

---

१ द्र मैत्रायणी-संहिता ११।१।४ (सातवलेकर-स म मन्त्र सङ्ख्या २६)
अपां रसस्य यो रसस् त ते गृम्णाम्युत्तमम ॥
=माध्यन्दिन संहिता ९।३ अपां रसस्य यो रसस त वो गृह्णाम्युत्तमम ॥

बाद की पीढ़ी के हैं। (६) वाम देव और वसिष्ठ प्राचीनतर 'घ' ध्वनि के इस विकास के दोनों चरणों के साक्षी प्रतीत होते हैं।

२ सध ऋग्वेद संहिता में 'सध' (त वग चतुर्थवान्) नवासी बार और 'सह' (कण्ठ्य महाप्राणोष्मवान्) इक्यासी बार प्रयुक्त हुआ है। 'सध' का समानान्तर सध्री शब्द भी (२।१३।२ के सकृत् स्वतन्त्र प्रयोग को छोड़ कर सर्वत्र √अञ्च से निष्पन्न नाम पद के साथ पूर्व पद के रूप में ही) पच्चीस बार आया है। अतः घकारवान् प्रकृति के प्रयोगों की संख्या यद्यपि एक सौ चौदह है एवं हकारवान् प्रकृति के प्रयोगों की संख्या केवल अस्सी रह जाती है तथापि ऋग्वेद-संहिता के सध के बारे में यह भी एक बात ध्यान देने की है कि इसका प्रयोग (१) √मद् (२) √स्तु (३) √स्था से निष्पन्न (१) माद् माद माद (२) स्तुति, स्तुत्य, (३) स्थ नामों और एक अन्य नाम पद 'वीर' के साथ समास में पूर्व पद के रूप में ही हुआ है स्वतन्त्र रूप से नहीं, अर्थात् सध का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता तथा प्रयोग क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित है जब कि 'सह' स्वतन्त्र (५६ बार) और पूर्व पद (२२ बार) —दोनों रूपों में—प्रयुक्त हुआ है। इससे यह सूचित होता है कि 'सध' कुछ पुराने चले आ रहे शब्दों में ही रह गया था। स्वतन्त्र रूप से इसका विकास 'सह' रूप में हो गया था जो स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने के साथ साथ नये शब्दों[1] से बने समास के पूर्व पद के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा था। ऋग्वेदोत्तर-कालीन वाङ्मय में 'सध' का यह सीमित प्रयोग भी क्रमशः घटता गया है तथा 'सह' का प्रयोग बढ़ता गया है।

निष्कर्ष (१) 'सध' ऋग्वेद संहिता से पूर्व स्वतन्त्र रूप में भले ही प्रयुक्त होता रहा हो, पर ऋग्वेद काल में इस का प्रयोग कुल जमा तीन धातुओं के सिर्फ एक नाम पद और एक अन्य नाम पद के साथ समास में पूर्व पद के रूप में ही प्राचीन काल के अवशेष के रूप में शेष रह गया था। (२) सह का प्रयोग ऋग्वेद काल में स्वतन्त्र और पूर्व पद के रूप में भी 'सध' से कहीं अधिक होता था ५६ बार स्वतन्त्र रूप से और २२ बार समस्त १५ शब्दों में समास के पूर्व-पद के रूप में। (३) अतः 'ध' से 'ह' का विकास ऋचाओं के उस काल से बहुत पहले ही हो चुका था यह प्रतीत होता है।

वेदाङ्ग युग के भाषा चिन्तकों ने भी इस तथ्य को अपने ढंग से भली भाँति स्पष्ट किया है यास्क ने वैदिक 'प्रमाथ' (< √प्रम) की व्याख्या 'प्रहीनस्य'[2]

१ द्र १ गोपा २ छन्दस ३ जा ४ जातुष, ५ दानु, ६ देव ७ प्रमा, ८ भू ९ भूत १० वास, ११ वनु १२ वसु १३ वाह १४ नेय्य, १५ सामन्। वार के साथ (१) 'सध और (२) 'सह' दोनों का समास मिलता है (१) त्वया वस्तवते सध-वीर, वारा (।२६।७)। (२) धाना रयि सह वीर तुरास (३।४४।१३)। पत्ते रयि सह-वीर वचस्यवे (१०।८०।१) ।

२ द्र निरुक्तम् ३।१ नहि प्रमाथ' (ऋ ७।४।८) =न हि प्रहीनस्य।

(< √ग्रह) से की है। अर्थात् वे √ग्रभ् को अपने समय मे प्रचलित √ग्रह् का प्राचीन रूप मानते हैं। वैदिक काल के 'गर्भ' की व्युत्पत्ति उसी काल की √गृभ् से की है[1] जब कि 'गृह' की व्युत्पत्ति √ग्रह् से बताई है[2]। पाणिनीय तन्त्र मे भी लौकिक ग्रह् के ह्' के स्थान में प्राचीन भाषा (छन्दस्) मे 'भ्' का विधान[3] इसी निष्कर्ष का पोषक है।

४४ घन< √हन् कण्व घोर[4] और वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने[5] करण-विभक्त्यन्त 'घना' के साथ 'वि+√हन्' के आख्यातो के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। अन्यत्र भी यही व्युत्पत्ति दी गई है[6]। अ प्रति रथ ऐन्द्र के 'घनाघन'[7] को आचार्य शाकल्य ने एक-पद (असमस्त) ही माना है[8]। वैयाकरण लोग भी इस √हन् से क्रय्थ मे निष्पन्न एक पद ही मानते हैं[9]। ऐसी स्थिति में शाकल्य का आशय कदाचित् इस का अर्थ अति शय हन्तृ'[10] मानना है, तथा वैयाकरणों के मत मे केवल 'हन्त'। यो, यह 'घन' के दो विभिन्नार्थक शब्दो का समास भी हो सकता है घनाना=हन्तव्याना मेघाना, घन=हन्ता=घन+घन=घना घन। अर्थात् पूर्व पद का 'घन' कर्म मे निष्पन्न है तथा 'मेघ' का वाचक है और उत्तर-पद का 'घन' कर्त्रथक है एवं 'हन्त' अर्थ मे 'इन्द्र' के लिये प्रयुक्त हुआ है। समस्त रूप मे यह शब्द 'दस्यु हन' और 'वृत्र-हन' के सम कक्ष है। वि गृहीत रूप मे इसकी तुलना मधु छन्दस वैश्वामित्र[11] और तिरश्ची आङ्गिरस[12] के 'घनो वृत्राणाम्', विश्वा मित्र गाथिन के 'घन वृत्राणाम्'[13] भरद्वाज के 'घने वृत्राणाम्'[14] और वाम देव

---

१ द्र निरुक्तम् १०।२३ गर्भो गृभे। २ द्र वही ३।१३ गृहा कस्मात्? गृह्ण तीति सताम्। ३ द्र काशिका ८।२।६५ हृ ग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य।

४ घनेव विष्वग्वि जह्य राव्णः। १।३६।१६ ॥

५ घनेव विष्वग्दुरितानि वि घ्नन्। ६।९७।१६ ॥ तुलना करें नोधस गोतम घनेव वज्रिञ्छ्नथिह्य मित्रान् (१।६३।५)।

६ घनेन हन्मि वृश्चिकम् (ऋग्वेदीय खिल तथा अथर्व स १०।४।६)।

७ आशुः शिशानो वृषभो न भीमो, घनाघन, क्षोभणश्चर्षणीनाम्।१०।१०३।१।

८ उन्होंने इसके पद-पाठ मे अव-ग्रहण नही किया है।

९ द्र अष्टाध्यायी ६।१।१२ पर वार्तिक हन्तेर्घत्व च।

१० 'दस्यु-हन्तम','वृत्र हन्तम' आदि शब्दो के उत्तर-पद 'हन्तम' से तुलना करें। प्रकृत पद में अभ्यास को, अन्यथा, निरर्थक मानना पडेगा। यास्क आदि आचार्य धातु के द्वित्व को सप्रयोजन और निष्प्रयोजन मानते हैं। अतिशयता रूप प्रयोजन के होने पर प्रयोजनाभाव की कल्पना (घनाघन मे निरर्थक द्वित्व मानना) असङ्गत है।

११ अस्य पीत्वा शतक्रतो, घनो वृत्राणामभव। १।४।८ ॥

१२ त्व ह त्यद् वृषभ, चर्षणीनां, घनो वृत्राणां तविषो बभूथ।८।९६।१८ ॥

१३ नासा महामिन्द्र य घन वृत्राणां जनयन्त देवा ॥ ३।४९।१ ॥

१४ प्रातर्दनि क्षत्र श्रोरस्तु श्रेष्ठो घने वृत्राणां, सनये धनानाम्॥६।२६।८ ॥

गोतम[1] के 'घन दस्युभ्य' से भी जा सकती है।

ऋग्वेद संहिता में 'घन' का प्रयोग 'वृत्र (मारने वाला इन्द्र)'[2], करण (मारने का साधन आयुध, अर्थात् वज्र)[3] और भाव[4] अर्थों में निष्पन्न शब्द के रूप में हो हुआ है। इस बात को देखते हुए 'घना घन' का अर्थ 'विनाशक आयुध (अर्थात् वज्र) से नष्ट करने वाला' भी हो सकता है।

यास्क ने इस का शब्द निर्वचन √हन् से बताया है[5]।

४५ घासि< √घस दीर्घतमस औचथ्य ने यवसा के साथ 'घास' के पर्याय 'घासि' का प्रयोग 'खाता अश्व वाली √घस से कर के'[6] इस अर्थ में निष्पन्न के रूप में सूचित किया है। यौगिक रूप में यह अन्न का पर्याय है। अन्न शब्द भरद्वाज बार्हस्पत्य और वसिष्ठ मैत्रावरुणि[7][8] के अनुसार अदनीय (खाया जाने वाला) होने से √अद् से व्युत्पन्न है। दीर्घतमस के अनुसार √अद् और √घस पर्याय हैं इसमें उनका 'अन्न (< √अद्) और 'जग्ध (< √घस) का युगपत्प्रयोग[9] प्रमाण है। वैयाकरण भी यही व्युत्पत्ति मानते हैं[10]।

४६ घृत< √घृ वैदिक काल में घृत का प्रयोग घी' और 'जल' अर्थों में होता था। गृत्समद के अनुसार यह √घृ का करण होने से घृत है[11]। वत्स वैश्वामित्र ने इसी तरह के संदर्भ में इस के साथ 'इध्म (प्रदीप्त करने वाला) विशेषण का प्रयोग किया है[12]। अथर्व-संहिता में 'घृत' को सम्+√इन्ध का करण बताया गया है[13]। इस से सिद्ध होता है कि घृत की प्रकृति √घृ प्रदीप्त (प्रज्वलित) करना अर्थ में है तथा घी आग को प्रज्वलित करने के कारण ही 'घृत' कहलाता है। कपिष्ठल कठ-संहिता में (सम्भवतः छौंक के समय) 'घृड' ध्वनि करने के कारण अर्थात् शब्दानुकरण पर, 'घृत' नाम पड़ा है यह बताया गया है[14]।

अथर्व संहिता में √घृ का 'प्रयोग सींचना तर करना, सराबोर करना' अर्थ

---

१ क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभि भूतिमुग्रम् ॥ ४।३८।१ ॥

२ द्र १।४।८, ३।४९।१ ८।९६।१८। ३ द्र १।८।३ ३६।१६ ६३।५, ४।३८।१ ६।६७।१६। ४ द्र ६।२६।८।

५ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्यादि विपर्ययो ज्योतिर्घनो बिन्दुर्वाट्य इति।

६ (अश्व) यवसं घासिं यच्च घासिं जघास। १।१६२।१४ ॥

७ नितिक्ति यो वारणमन्नमत्ति। ६।४ ५ ॥

८ स यो वना युवते शुचि दन् भूरि चिदन्ना समिदत्ति सद्य। ७।४।२ ॥

९ अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते, स वत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः ।१।१४०।२॥

१० द्र उणादि सूत्र ५६९ (४।१२१) जनि घसिभ्यामिण्।

११ जिघर्म्यग्निं हविषा घृतेन प्रति क्षियन्तं भुवनानि विश्वा। २।१०।४ ॥

१२ इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे, बलाय। ३।१८।३ ॥

१३ घृतेन त्वा मनुरद्या समिन्धे। अ सं ७।८२।६ ॥

१४ स घृडकरोत्। तद् घृतस्य घृतत्वम्। ३७।८ ॥

म भी हुआ है तथा इसके करण के रूप में 'घृत' के ही पर्याय 'आज्य' का प्रयोग किया गया है[1]।

'घृत' का मूलार्थ 'घी' ही प्रतीत होता है। पार्थिव पदार्थों के लिये जल का वही महत्त्व है, जो मनुष्य के जीवन में घी' का होता है। अतः मूलतः 'घी' का वाचक 'घृत' शब्द लाक्षणिक रूप में 'जल' के लिये प्रयुक्त होने लगा। 'जल' का प्राति स्विक गुण या सिञ्चन है दीपन नहीं। परिणामतः √घृ 'सींचना' अर्थ में भी प्रचलित होने लग गई। अथर्व संहिता में उपलब्ध 'सिञ्चन' अर्थ इसी अर्थ विकास की एक कडी प्रतीत होती है।

यास्क ने जल' के पर्याय घृत' का सींचना' अर्थ वाली √घृ से निष्पन्न बताया है[2]। यास्क सम्भवतः जल वाचक 'घृत' को दीप्ति अर्थ से भी सम्बद्ध मानते हैं, यह उनके 'माध्यमिक अग्नि (बिजली) जल से प्र ज्वलित होती है।' कथन[3] से विदित होता है।

√घृ के प्रयोग के इतिहास की दृष्टि से यास्क का यह वचन ध्यान देने योग्य है कि √घृ के आख्यात रूप प्राचीन काल में प्रयुक्त होते थे, लौकिक संस्कृत के काल में यह कुछेक प्राचीन नाम पदों में ही शेष रह गई है[4]।

वैयाकरण √घृ को 'सिञ्चन (सेचन, क्षरण) तथा 'दीप्ति अर्थों[5] में मानते हैं तथा घृत' की व्युत्पत्ति सेचन अर्थ वाली √घृ से ही मानते हैं[6]।

---

१ पुरोडाशावाज्येनाभि घारितौ। अ सं १०।६।२५॥ अथर्व का यह अभि घारण याज्ञिकों में आ घारण' शब्द से कहा जाता है। जैमिनीय-न्याय माला में 'क्षरद् घृतमा घार।' (धारा-बद्ध गिरता हुआ घी आ घार है।)' कहा गया है। प्रकृत में 'घी से तर किये दो पुरोडाश।' अर्थ अभिप्रेत है।

२ द्र निरुक्तम् ७।२४ घृतमित्युदक नाम, जिघर्तेः सिञ्चति कर्मणः।

३ द्र वही ७।२३ यत्र वद्युत (अग्नि) शरणमभि हन्ति यावदनुपात्तो भवति, मध्यम धर्मैव तावद्भवति—उदके धन शरीरोप शमन। इस सन्दर्भ की व्याख्या 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ ३०६ तथा निरुक्त के पाँच अध्याय' में यथा स्थान देखिये।

४ द्र वही २।२ अथापि नगमेभ्यो (धातुभ्यो) भाषिका (कृतो भाष्य ते) —उष्णम्, घृतमिति।

५ द्र माधवीय धातु-वृत्ति १।६२० घृ सेचने। ३।१४ घृ क्षरण-दीप्त्योः।

६ द्र महा भाष्य ७।१।६५, वा ८, पृष्ठ ६० घरतिरस्मा अविशेषेणो पदिष्ट, स घृत घृणा, घर्म इत्येव विषय। प्रदीप घृ घृ सेचने' इति भौवादिक। उणादि-सूत्र ३३६ (३।८८) अञ्जि घृ सिभ्य क्त। इस सूत्र की व्याख्या में नानेन्द्र सरस्वती तथा वासु देव दीक्षित ने जौहोत्यादिक √घृ से घृत बताया है। भाष्य विरोध से वैयाकरणों के लिये यह चिन्त्य है। माधव ने (धातु-वृत्ति १।६२) भाष्यानुसारी व्युत्पत्ति दी है।

४७ चक्रि< √कृ वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[1] और उशनस् काव्य[2] ने इन दोनों के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। यहाँ चक्रि' कर्त्तृवाचक है।

४८ चक्रृत्य< √कृ सोभरि काण्व ने कर्म विभक्तयन्त 'चक्रृत्य' के साथ करना अर्थ वाली √कृ से निष्पन्न नाम-पद (कृण्वत) का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को प्रकट किया है[3]।

४९ चित्त< √कित् वत्सवामित्र ने चित्त और √कित् के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[4]। यास्क ने इसे √चित् से बताया है[5]।

५० चित्र< √चित् भरद्वाज बार्हस्पत्य[6] और वश अश्व्य[7] ने √चित् के साथ चित्र' के प्रयोग से सूचित किया है कि चित्र वह है, जो ज्ञान कराता है।

चित्र< √कित् अरुण वत हव्य ने इस का प्रयोग √कित् के साथ किया है[8]। √चित् और √कित् के ऐतिहासिक सम्बन्ध की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। अतः यह निर्वचन चित्र' के अर्थ की व्याख्या करता प्रतीत होता है।

नरुक्त[9] और वैयाकरण[10] लोग इसे √चि से 'चायनीय' अर्थ में मानते हैं।

५१ चेतस< √कित् √चित् पौर आत्रेय[11] ने √कित् से और वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[12] ने √चित् और √चित् दोनों से चेतस' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। पराशर शाक्त्य[13] और सुतम्भर आत्रेय[14] ने क-कारवान् नाम का प्रयोग क-कारवान् धातु के साथ और अत्रि भौम ने[15] च-कारवान् नाम का प्रयोग च-कारवान् धातु के साथ कर के इन दोनों धातुओं के उस काल में होने वाले प्रयोग की ऐतिहासिक स्थिति को स्पष्ट किया है कि ये दोनों धातु उस समय एक-दूसरे से अलग होने

---

१ चक्रिर्यो नर्यो यत्करिष्यन। ७।२०।१॥
२ इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रि। ६।८८।४॥
३ यस्मादेजन्त कृण्वन्त्यश्वक्रृत्यानि कृण्वत। ८।१०३।१॥
४ तपो वसो, चिकितानो अ चित्तान। ३।१८ २॥
५ द्र निरुक्तम् १।६ चित्त चतते।
६ स चित्र चित्र चितयन्तमस्मे। ६।६।७॥
७ उग्र चित्र चेतिष्ठ सूनत। ८।४६।२०॥
८ तव श्रियो वर्ष्यस्येव वि-द्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतव।१०।९१।५।
९ द्र निरुक्तम् ४।४ १२।६ १६।
१० द्र उणादि सूत्र ६०३ (४।१६३) अमि चि मिदि शसिभ्य क्त्र।
११ युवोरत्रिश्चिकेतति नरा सुम्नेन चेतसा। ५।७३।६॥
१२ इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतस नयन्ति। ७।६०।७॥
　इमे मित्रो वरुणो दूळभासोऽचेतस चिच्चितयन्ति दक्षै। ६॥
१३ न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो, विदा देवेषु प्रमति चिकित्वान्। १।७१।१०॥
१४ ऋत चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धि। ५।१२।२॥
१५ प्र चेतसा चेतयते अनु द्युभि। ५।८६।४२॥

की प्रक्रिया मे काफी आगे बढ गइ थी। व्याकरण मे चेतस की व्युत्पत्ति √चित् स मानी गई है[1]।

५२ जघन< √हन् पायु भरद्वाज ने[2] अश्वाजनी (चाबुक) के प्रसङ्ग मे 'जघन' की व्युत्पत्ति √हन् से कम मे सूचित की है। उन का आशय यह प्रतीत होता है कि बार-बार चाबुक से ताडित अङ्ग जघन कहलाता है। लगता है कि पशु के अङ्ग से अवयव सस्थान की दृष्टि से समानता के कारण यह शब्द मनुष्य के अङ्ग विशेष मे भी रूढ हो गया[3]। यास्क न वदिक व्युत्पत्ति को ही दुहराया है[4]। व्याकरण मे √हन् से ही अङ्ग विशेष अथ मे जघन' की व्युत्पत्ति कर दी गई है[5]।

५३ √जन=जा। श्यावाश्व आत्रेय ने √जन् और उसके 'जा' रूप म पारस्परिक सम्बन्ध को इन की युगपत् प्रयुक्ति स स्पष्ट किया है[6]। यह सम्बन्ध वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[7] और नृ मेध आङ्गिरस[8] न भी द्योतित किया है। पाणिनि ने 'जा' को √जन् का आदेश बताया है[9]।

५४ जनिमन्< जन्मन् पराशर शाक्त्य[1] के अनुसार 'जन्मन्' और 'जन' म पारस्परिक सम्बन्ध है। जन शब्द √जन् स निष्पन्न है[11]। अत 'जन्मन् भी √जन् से (भाव म) निष्पन्न है। ऋग्वद सहिता मे इस की दो वतनियाँ मिलती हैं (क) जन्मन् (४० बार) (ख) जनिमन् (२० बार)। जन्मन्' प्राचीनतर शब्द प्रतीत होता है। इसके सम कक्ष अन्य शब्द हैं अज्मन् अद्मन् अश्मन् चमन् (सु)-त्मन् मन्मन् सद्मन् हन्मन्। इस मे स्वर भक्ति ('म' के दो व्यञ्जनो क मध्य मे इ के से स्वरागम) से यह शब्द 'जनिमन् रूप म विकसित हो गया था। ऋग्वेद काल में य दोनो वतनियाँ साथ साथ चल रही थी भरद्वाज बार्हस्पत्य न इस आशय को 'जनिमन्' के प्रयोग स बताया है[12] तो वसिष्ठ मैत्रा वरुणि न जन्मन्' का प्रयोग करते हुए[13]। आज यह शब्द बोल चाल की भाषा मे जनम्

---

१ द्र सिद्धान्त कौमुदी, उणादि सूत्र ६२८ (४।२२८) सव धातुभ्यो सुन्। चेत। बाल मनो रमा चितो सञ्ज्ञान। अस्मादसुनि रूपम।

२ आ जङ्घन्ति सा वेषा जघनाँ उप जिघ्नते। ६।७५।१३॥

३ निरुक्त २।२ म 'कश' के और २।७ प पाद' के निवचन से तुलना कर।

४ द्र निरुक्तम् ६।२० जघन जङ्घन्यते।

५ उणादि सूत्र ७१० (५।३२) हन्ते शरीरावयवे द्वे च।

६ सु जातासो जनुषा। ५।५७।५॥ ७ न जातो, न जनिष्यते। ।३२।२३॥

८ वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भाग न दीधिम॥ ८।९९।३॥

९ द्र अष्टाध्यायी ७।३।७९ ज्ञा जनोर्जा।

१० आ दध्यानि व्रता चिकित्वान्, आ मानुषस्य जनस्य जन्म॥१।७०।१॥

११ अनुल्बण वयत जोगुवामपो, मनुभव, जनया दव्य जनम॥१०।५३।६॥

१२ विश्वा वेद जनिमा जातवेदा। ६।१५।१३॥

१३ अभिज्ञ मानि देव आ वि विद्वान्। ७।१०।२॥

और जलम्' रूप मे प्रयुक्त होता है। अर्थात् पढे लिखे तबके के लोग भले ही तत्सम जन्म' बोलते हो, जन साधारण इसमे स्वर भक्ति आज भी करते ही हैं। इसी प्रकार वैदिक काल मे भी उस काल के तत्सम 'ज मन्' का तो प्रयोग होता ही था, तद्भव रूप मे यह स्वर भक्ति से जन साधारण मे बोला जाता होगा तथा छन्द के कारण, या का य म कुछ माधुय लाने के लिए, कवि लोगो ने इसे साहित्य म भी अपना लिया था [1]।

स्वर भक्ति की इस प्राकृत (जन साधारण की स्वाभाविक) प्रवृत्ति का अनुशासन वैयाकरण लोगो ने √जन् से इमन् प्रत्यय के विधान से किया है[2]।

५५ जरणा घोषा काक्षीवती ने अश्विनो की स्तुति म √स्तु के पर्याय √जर के साथ स्तुत्य के उपमान के रूप मे 'जरणा का प्रयोग किया है[3]। सायण ने इसे जरा' (बुढापा) के लाक्षणिक अथ (ऐश्वय के कारण बढे हुए) म लिया है[4]। अत उनके मत मे जरेथे' (क्रिया पद, और जरणा (नाम पद) म शब्द साम्य ही प्रतीत होता है, अथ साम्य नही। इस मन्त्र मे प्रयुक्त 'कापया (=कापा तृ ए व) का अथ उन्हो ने स्तुति से किया है। वेङ्कट माधव ने 'जरणा को भी तृ ए व म माना है। ऐसी स्थिति म यह 'कापया' का पर्याय (स्तुति अथ म) भी हो सकता है और तब 'जरेथे' तथा जरणा पद अथत भी सम्बद्ध हो सकते हैं। ऋग्वेद सहिता मे जरणा' का प्रयोग छह बार और हुआ है। घोषा के पिता कक्षीवद् दघ तमस औशिज एव दीघ तमस औचथ्य[5] ने इस का प्रयोग स्तुति' अथ मे किया है। वाम देव गौतम[7] वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[8] अभि तपस सौय[9] और

---

१ जन्म का प्रयोग ११ बार हुआ है तो जनिम (सहिता म जनिमा) का प्रयोग १६ बार एव 'जन्मानि' ३ बार प्रयुक्त हुआ है तो जनिमानि १० बार। जन्मन् (३ बार) की अपेक्षा जनिमन् (४ बार) अधिक आया है।

२ द्र उणादि सूत्र ५८८(४।१४८) जनि मृङ्भ्यामिमनिन्।

३ प्रातजरेथे जरणेव कापया वस्तोवस्तोयजता गच्छथो गृहम्।
कस्य ध्वस्रा भवथ कस्य वा नरा राज-पुत्रेव सवनाऽव गच्छथ ॥१०।४०।३॥

४ द्र ऋ भा युवां प्रात -काले जरेथे=स्तोतृभि स्तूयेथे। तत्र दृष्टान्त —जरणेव=यथा जरणौ=ऐश्वर्येण वृद्धौ राजानौ, कापया=प्रात प्र बोधकस्य वदिनो वाणी कापा तया स्तूयेते तद्वदित्यथ।

५ अध प्र जज्ञे तरणिर्ममत्तु, प्र रोच्यस्या उषसो न सूर।
इन्दुर्येभिराष्ट स्वेदु हव्य स्रुवेण सिञ्चञ्जरणाऽभि धाम ॥ १।१२१।६ ॥

६ वि यदस्याद् यजतो वात चोदितो ह्वारो न वक्वा जरणा अना-कृत ॥१।१४१।७॥

७ पुनर्ये चक्रु पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना। ४।३३।३॥

८ यन्द्रा सूरिभ्य उपमं वरूथ स्वा भुवो जरणामश्नवन्त ॥ ७।३०।४॥

९ मा नूने भूम सूयस्य सन्दृनि मद्र जीवन्तो जरणामशीमहि ॥१०।३७।६॥

स्वय घोषा काक्षीवती[1] ने इस का प्रयोग 'जरा' अर्थ मे किया है। अत प्रकृत[2] मन्त्र मे 'जरणा' का अर्थ निश्चित कर पाना कठिन है। स्तुत्यर्थक 'जरेथे' के साथ किये प्रयोग को देखते हुए तथा 'स्तुति' अर्थ मे इस के दो प्रयोगो—एक तो स्वय घोषा के पिता हैं, दूसरे घोषा के पितामह[3] तथा ऋग्वेद के बहुत समय ऋषि हैं उनके प्रयोगो—को देखते हुए इस का 'स्तुति' अर्थ मानने मे कोई आपत्ति नजर नही आती। यो 'जरणा' अनेकार्थक है यह स्पष्ट है। अत घोषा ने ही एक मन्त्र मे एक अर्थ मे तथा दूसरे मन्त्र मे दूसरे अर्थ मे प्रयोग कर दिया हो, तो भी कोई आश्चर्य नही है।

५६ जरितृ < √जॄ (स्तुति) 'जरितृ' शब्द √जॄ से कर्त्रर्थ मे निष्पन्न है यह प्रत्यक्ष है। परन्तु ऋग्वेद संहिता मे यह धातु (१) स्तुति, (२) वयोहानि (पुराना पडना) अर्थों मे प्रयुक्त है। अत यह किस अर्थ वाली √जॄ से निष्पन्न है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। मधुच्छन्दस वैश्वामित्र ने कम विभक्त्यन्त देवता के प्रसङ्ग मे √जॄ के साथ कर्ता के रूप में 'जरितृ' का तथा 'उक्थ' का उस के करण के रूप मे प्रयोग किया है[4]। इस से विदित होता है कि उन्हो ने इसे 'स्तुति' अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है। अर्थात् 'जरितृ' शब्द को मधुच्छन्दस स्तोतृ का पर्याय मानते हैं। अत्रि भौम ने जरितृ के प्रयोग के अतिरिक्त 'स्तोतृ' 'गिर्' (स्तुति वाणी) तथा सुष्टुति' का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया है[5]। बृहस्पति आङ्गिरस ने भी जरितृ की वाणियो का बढ़ा। कह कर 'जरितृ' का स्तोतृ अर्थ स्पष्ट किया है[6]।

५७ जातवेदस यह शब्द 'जात+वेदस' का समास है यह प्रत्यक्ष स्पष्ट है। वेदस शब्द √विद् से है, यह तो यद्यपि स्पष्ट है तथापि √विद् का अर्थ क्या है ? यह स्पष्ट नही है। √विद् अनेकार्थक है -

---

१ युव विप्रस्य जरणामुपेयुष पुन कलेरकृत युवद् वय। १०।३९।८॥

२ अर्थात् १०।४०।३। ३ दीर्घतमस ऋषि उचथ्य आङ्गिरस (ऋ १।५०५ के ऋषि) के पुत्र हैं। इन की माता का नाम ममता है। अत ये औचथ्य भी कहलाते थे तथा मामतेय भी। द्र १।१५८।१,४,६। अङ्ग देश के राजा की रानी की उशिज नामक दासी से दीर्घतमस् ने कक्षीवन् को उत्पन्न किया। द्र सायण ऋ भा १।११६।१ उशिक्सञ्ज्ञायामङ्ग राजस्य महिष्या दास्या दीर्घतमसोत्पादित कक्षीवान्दीर्घतमस उशिक्प्रसूत। बृहद्देवता (३।१४२ ६) के अनुसार इन्हो ने अपना परिचय 'दीर्घतमस के पुत्र' के रूप मे दिया है

राजन्नाङ्गिरसोऽस्मीति कुमार प्रत्युवाच तम्। ३।१४५॥
पुत्रोऽहं दीर्घतमस औचथ्यस्य ऋषेन प। ३।१४६॥

४ वाय, उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितार। १।२।२।

५ यत्, गिरो जरितु सुष्टुति च विश्वे गन्त मरुतो विश्व ऊती।५।४३।१०॥

६ स न पुनान आ भर रयिं स्तोत्रे सुवीर्यम्। जरितुर्वर्धया गिर। ९।४०।५॥

(१) √जन+√विद् (ज्ञान) भरद्वाज बार्हस्पत्य ने जात वेदस के तृ त्व मे 'ज्ञान' अर्थ वाली √विद् का प्रयोग कर्तृ वाच्य म √जन् से निष्पन्न जनिम' (जन्म के कर्मत्व मे किया है कि जात वेदस अग्नि सब जन्मो अर्थात् न्म वाला, को जानता है[1]। 'जात वेदस' की साक्षात् चर्चा न करते हुए भी वसिष्ठ त्रा वरुणि ने इसी आशय को दूसरे ढग स कहा है[2]। पराशर शाक्त्य[3], प्रजा ति वश्वामित्र[4] और वत्स आग्नेय[5] ने तथा वातन[6] ने भी यही आशय कुछ अ तर साथ व्यक्त किया है।

(२) √जन+√विद् (ज्ञान या लाभ) वि मद ऐन्द्र ने 'अग्नि ने पैदा होते ही सब का यों का वेदन किया[7]।' मे √विद् को ज्ञान' अर्थ में प्रयुक्त किया कि 'लाभ' अर्थ म, यह स्पष्ट नही है। सोमाहुति भार्गव ने इस मन्त्र के आशय को प्रकारान्तर से अग्नि के प्रसङ्ग मे यों कहा है अग्नि सब काव्यो के चारा ओर सी प्रकार हो गया, जिस नेमि प्रकार चक्के के चारो ओर होती है[8]। यहाँ परि+ √भू' से उसी आशय का वर्णन किया गया है जिस के लिए वि मद ने √विद् का प्रयोग किया है। अत कदाचित् वि मद की √विद् लाभार्थक भी हो सकती है।

(३) √जन+√विद् (सत्ता)। विश्वामित्र गाथिन के हर जन्म (वाले) जात-वेदस नि हित (सत्तावान्) है।'[9] कथन से प्रतीत होता है कि वे अग्नि को प्रत्येक प्राणी मे सत्तावान् होने से जात वेदस मानते हैं। अत यहाँ √विद् सत्ता अर्थ में अभिप्रेत प्रतीत होती है।

यास्क ने इसे 'जात+√विद्' से √विद् के ज्ञान सत्ता, लाभ अर्थों म उत्पादित किया है[10]। व्याकरण परम्परा में[11] भी जात+√विद् से ही 'जात

१ अग्निर्होता, गृह पति , स राजा विश्वा वेद जनिमा जात वेद ।
देवानामुत मर्त्यानाम ॥ १।१५।१३ ॥

२ अग्निजन्मानि देव आ वि विद्वान ।७।१०।२ ॥

३ आ दैव्यानि व्रता चिकित्वान आ मानुषस्य जनस्य जन्म ॥ १।७०।२ ॥
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान् ॥६॥

४ अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद, महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥ ३।५५।१० ॥

५ यो विश्वाऽभि विपश्यति भुवना स च पश्यति । १।१८७।४ ॥

६ यत्रपामग्ने, जनिमानि वेरय गुहा सतामत्त्रिणां जात वेद । अ स १।८।४॥

७ अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या । १०।२१।५ ॥

८ परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत् । २।५।३ ॥

९ जन्मञ्जन्मन्नि हिता जात-वेदा ॥ ३।१।२० २१ ॥

१० द्र निरुक्तम् ७।१९, (१, क) जातानि वेद । (ख) जातानि वन विदु । (२ क) जाते-जाते विद्यत इति वा । (ख) जात वित्तो वा=जात धन । (१, ग) जात विद्यो वा=जात प्रज्ञान ।

११ द्र सिद्धान्त-कौमुदी, उणादि सूत्र ६६६ (४।२२६) गति-कारकोप

वेदस की व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। टीका कारों में नाने द्रसरस्वती ने इस √विद् के 'ज्ञान' और लाभ दोनों अर्थ बताए हैं[1] तथा वासु देव दीक्षित ने ज्ञान ही[2]।

५ जामि < १ जन प्रजा पति वैश्वामित्र ने इन दोनों के युगपत् प्रयोग[3] से इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। 'जामि की व्याख्या के तीन विकल्पों मे यास्क ने एक यह भी दिया है[4]।

५६ जार < √ज कृष्ण आङ्गिरस ने 'स्तोतृ' अर्थ वाले जरितृ के साथ 'जार का प्रयोग[5] इन्द्र के विशेषण के रूप में कर के इन दोनों के व्युत्पत्ति-सम्बन्ध को प्रकट किया लगता है। यह √ज से निष्पन्न है यह जरणा' के समान ही स्पष्ट है, तथा उसी के समान इस की प्रकृति √ज का अर्थ भी स्पष्ट करना आव श्यक और अपेक्षित है।

(१) ज स्तुति' सायण ने इस मन्त्र के 'जार की व्याख्या भूता को जीर्ण करने वाला' की है[6]। यह उचित नही प्रतीत होता इन्द्र वर्षा के द्वारा भूता को जीवन देते हैं, या उन्हे जीर्ण करते हैं यह सुधी जन स्वय विचार करें। इन्द्र को मनुष्यों के लिए सर्वातिशायी सुख दायक[7], मनुष्यों के भोजन की व्यवस्था करने वाला[8] और मनुष्यों के बाप के समान[9] बताया गया है। अत जार' को 'जरा अर्थात् 'जीर्ण करना अर्थ वाली √ज से मानना असङ्गत है। वास्तव म तो यह उसी √ज से निष्पन्न प्रतीत होता है, जिस से प्रकृत मन्त्र का जरितृ शब्द निष्पन्न है। *अत जार' शब्द √अन्त से निष्पन्न 'अर्क के सम कक्ष ही है, तथा 'स्तुत्य= देवता अर्थ में है*[10]। इस अर्थ मे √ज जरितृ के अतिरिक्त अचनानस आत्रेय

पदयो पूर्व पद प्रकृति स्वरत्व च। असि स्यात्। सु तपा। जात वेदा।

१ द्र वही तत्त्व बोधिनी गतौ कारक योप पदेऽसि स्यात्। तप सन्तापे। विद ज्ञाने (२।५८) विद्लृ लाभे (६।१४८)।

२ द्र वही बाल मनो रमा ज्ञान शब्दे कर्म कारक उप पदे 'विद ज्ञाने' (२।५४) इत्यस्मादसि।

३ सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्न। ३।५४।६॥

४ द्र निरुक्तम् ३।६ जामिर (१) अन्येऽस्या जनयन्ति। (२) जीममपत्यम। (३) जमतेर्वा स्याद् गति कर्मणो, निगमन प्राया भवति। इस म दभ की प्रामाणि कता और पाठ भेद के लिये निरुक्त के पाच अध्याय' पृष्ठ २१८ टि १ २ देखिये। एक और ('अधिक') अर्थ के लिये वही ४।२० म 'जामि' पर व्याख्या देखिये।

५ दोहेन गामुप शिक्षा, सखाय प्र बोधय जरितर जारमिन्द्रम्। १०।४२।२॥

६ द्र ऋ भा जारम्=भूतानां जरयितारम्।

७ न त्वदन्यो मघवन्, अस्ति मर्डितेन्द्र, ब्रवीमि ते वच॥ १।८४।१९॥

८ विश्व स्वाद्म सम्भृतमुस्रियाया, यत्सीमिन्द्रो अदधाद् भोजनाय। ३।३०।१४॥

९ मां हवन्ते पितर न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्॥ १०।४८।१॥

१० द्र पीछे पृष्ठ ३२ '१० अर्क < √अर्च'।

के 'देव' (गुण) के विशेषण 'जाय'[1] में और त्रित आप्त्य के 'अध्वर का जार अग्नि'[2] कथन में प्रयुक्त हुई है। जाय' का अर्थ सायण ने भी 'स्तुत्य' किया है। अध्वर का जार का अर्थ सायण ने अध्वर को समाप्त करने वाला कहा है[3]। यह क्या क्या ठीक है या इस का आधार मधुच्छन्दस ने 'यज्ञ का देवता अग्नि'[4] कथन में कहा है अर्थात् 'जार' शब्द 'देव' का पर्याय है, यह कहना ठीक है, यह विद्वज्जन विचार करें। हमारे विचार में जार शब्द 'देव' का पर्याय है।

वसिष्ठ मन्त्र वरुणि ने भी 'जार' का प्रयोग इसी अर्थ में किया है[5]। सायण ने, किन्तु इस का अर्थ भी 'जरयितृ' ही कहा है[6]। पर (१) क्या जीर्ण करना ही सुकर्म करने वाला के लिए द्रविण धारण करना है ? (२) अग्नि जीर्ण करने का नहीं है अपितु मृत्यु भावव के अनुसार हम जिलाने को है[7]। (३) इसी प्रकार में प्रारम्भ होने वाले एक मन्त्र में विश्वामित्र गाथिन ने[8], और बुध एवं गविष्ठिर आत्रेयों ने[9] अग्नि की प्रशस्तता को ही प्रकट किया है। तब यहीं समाप्ति रूप अमङ्गल की चर्चा सवेरे सवेरे क्यों की ? (४) व रूप अष्टा-म्भृ ने भी इन्द्र का जार = स्तुत्य' देवता अर्थ में ही प्रयुक्त किया है इन्द्र अप का जार है[10]। इन्द्र जल को क्षीण करने वाला नहीं, अपितु मधुच्छन्दस के अनुसार जल को जीत लाने[11]

---

१ ता बाहवा सुचेतुना प्र यन्तमस्मा अर्चते।
शेवं हि जाय वा विश्वासु क्षासु जोगुवे ॥ ५।६४।२ ॥

२ युम्मिहित मित्रमिव प्रयोग प्रत्नमृत्विजमध्वरस्य जारम्।
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त, विक्षु होतार न्यसादयन्त ॥ १०।७।५ ॥

३ द्र ऋ भा अध्वरस्य जारम्=समापयितारम्।

४ अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्।
होतारं रत्न धातमम ॥ १।१।१ ॥

पूर्वोद्धृत (द्र टि २) १०।७।५ मन्त्र और इस मन्त्र में अग्नि के लिये ऋत्विज, होतृ शब्द समान हैं। मधुच्छन्दस के 'यज्ञस्य देवम्, के स्थान में त्रित ने अध्वरस्य जारम का प्रयोग किया है। यज्ञ और 'अध्वर जिस प्रकार पर्याय हैं, वैसे ही देव और जार' भी समानार्थक से ही होने चाहिये।

५ अबोधि जार उषसामुपस्थाद्, धोता, मन्द्र, कवितम, पावक।
दधातु केतुमुभयस्य जन्तोर्—हव्या देवेषु, द्रविणं सुकृत्सु ॥ ७।६।१ ॥

६ द्र ऋ भा जार =सर्वेषां प्राणिनां जरयिता।

७ प्रयमग्निरस्म्यत्ममृतादिव जन्मन देवो जीवातवे कृत। १०।१७६।४ ॥

८ प्रत्यग्निरुषसश्चेकितानोऽबोधि विप्र, पदवी कवीनाम। ३।५।१ ॥

९ अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्नि सुमना प्रातरस्थात्। ५।१।२॥

१० सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम। १०।१११।१० ॥ ११ जेव स्ववतीरप। १।१०।८ ॥

वाला तथा कुत्स आङ्गिरस के अनुसार जल की सृष्टि करने वाला[1] है। सव्त आङ्गिरस के जारयमख'[2] की व्याख्या भी सायण ने 'यज्ञ को समाप्त करता हुआ' की है[3]। यह अर्थ भी समुचित नहीं प्रतीत होता उष काल तो अग्नि के प्रदीप्त होने का समय है[4], न कि यज्ञ की समाप्ति का। प्राजीगर्ति शुनःशेप ने अग्नि को जरा से जगने वाला' कहा भी है[5]। यह 'जरा' पद स्तुति अर्थ में ही है[6]।

(२) √ज 'वयो-हानि' इस अर्थ वाली √ज से निष्पन्न 'जार' का स्पष्ट प्रयोग प्रस्कण्व काण्व ने किया है[7]। अग्नि जल को जला डालता है, अतः वह उचित ही जल का 'जार' हानि करने वाला है। वेन भार्गव ने भी इसी तरह के अर्थ में सूर्य के लिए 'जार' का प्रयोग किया है[8]। सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा भौम जल को जीर्ण करने से 'जार' है।

निष्कर्ष जार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है (१) 'स्तुत्य' अर्थ से देवता अर्थ में इन्द्र, अग्नि के लिए। (२) 'जीर्ण करने वाला' अर्थ में अग्नि और सूर्य के लिए।

इन्द्र के लिए प्रयुक्त जार' के सही अर्थ को न जानने के कारण पौराणिकों ने इन्द्र को बिना वजह व्यभिचारी बना दिया। वस्तुतः वे लोग इस प्रसङ्ग में आदित्य और इन्द्र में अन्तर नहीं कर पाए।

इन दो आधार भूत अर्थों से चल कर जार' का प्रयोग दो दिशाओं में होने लगा तथा ये दोनों अर्थ भी एक दूसरे के निकट आते आते परस्पर में मिल गए। या यों कहें कि दूसरे अर्थ वाले 'जार' ने प्रथम 'जार' को लील किया।

जार=व्यभिचारी। ऋग्वेद संहिता में जार का प्रयोग सत्ताईस बार हुआ है सात बार अग्नि के लिए[9], ग्यारह बार प्रेमी मनुष्य के लिए[10], तीन बार देवता अर्थ में[11], दो दो बार सूर्य[12] और पूषा[13] के लिए, एक बार मित्र के

---

१ वज्रेण हत्वा निरपः ससर्ज। १।१०३।२।।

२ आ याहि वस्व्या धिया मंहिष्ठो जारयन्मखः सुदानुभिः ।।१०।१७२।२।।

३ द्र० ऋ० भा० जारयन्मखः=समापयन्यज्ञ।

४ उषो यदग्निं समिधे चकर्थ, वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य। यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगः।१।११३।९।।

५ जराबोध तद् विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय। १।२७।१० ।।

६ द्र० निरुक्तम् १०।८ जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः। तां बोध। तया बोधयितरिति वा।

७ हविषा जारो अपां, पिपर्ति पपुरिर्नरा। पिता कुटस्य चर्षणिः ।।१।४६।४।।

८ अप्सरा जारमुप सिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन।।१०।१२३।५।।

९ द्र० १।४६।४, ६६।४, ६९।१, ५, ७।९।१ १०।१ १०।३।२।

१० द्र० १।११७।१८, १३४।३ ७।७६।३ ९।३२।५, ३८।४, ५६।३, ९६।२३, १०।१।४, १०।११।६, ३४।५ १६२।५। ११ द्र० १०।७।५, ४२।२, १११।१०।

१२ द्र० १।९२।११, १०।१२३।५, यहां वेन सूर्य ही है। १३ द्र० ६।५५।४ ६।

लिये[1] (प्रत आदित्य के लिए कुल पाँच बार) तथा एक बार[2] इस का अर्थ हमें स्पष्ट नहीं हो पाया है। यों भी यह प्रयोग माद्युदात्त है[3], अत प्रकृत मन्तोदात्त 'जार' से भिन्न है।

'जार' का 'प्रेमी' अर्थ स्तुत्य' से विकसित हुआ है। ऋग्वेद संहिता के 'जार' के २६ प्रयोगों में से अधिकांश (१६)[4] म 'जार शब्द 'प्रेमी अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ लगता है। 'पार-दारिक (व्यभिचारी पुरुष अर्थ म 'जार का स्पष्ट प्रयोग कवष ऐलूष[5] और रक्षो हन् ब्राह्म[6] ने ही किया है। इन दोनों के प्रयोगों म जार के प्रति एक विरोध भावना सी दिखाई देती है, जब कि शेष म वह नहीं है। अत उपयुक्त उन्नीस प्रयोगों मे 'जार लौकिक के 'कान्त' अथवा 'प्रिय' के सम कक्ष प्रतीत होता है। ये दोनों शब्द पति के लिये भी प्रयुक्त होते हैं तथा 'यार' के लिये भी। फारसी का 'यार' भी ध्वनि और अर्थ दोनों दृष्टियों से वैदिक 'जार से पूर्णत मिलता है तथा उसी के समान अर्थ-द्विध्य को प्रकट करते करते क्रमश पूर्वापेक्षया सङ्कुचित होकर प्रेमी (प्रानिक माशूक) अर्थ म पर्यवसित हो गया है। यार म दोस्त (मित्र) का भाव भी सुरक्षित रहा है जब कि वैदिक मे यह विरुद्ध लिङ्गी व्यक्तियों की मित्रता के प्रसङ्ग मे ही अधिक आया है। वसिष्ठ मत्रा वरुणि का 'जहाँ से जार के समान आती हुई ह उषा तू दिखलाई देती है न कि जाती सी।[7] कथन 'मित्र' अर्थ मे 'जार क प्रयोग का उदाहरण है[8]।

६० √जि—√गि भरद्वाज बार्हस्पत्य ने √गि से निष्पन्न जिग्युषु' और 'जिग्ये का प्रयोग √जि से निष्प न जयेथे के साथ किया है[9]। इस प्रयोग मे निम्न दो बातें स्पष्ट हैं (१) √गि और √जि अर्थत तो परस्पर सम्बद्ध हैं ही, ध्वनि की दृष्टि से भी परस्पर सम्बद्ध हैं। (२) ये दोनों धातु परा के योग मे

---

१ द्र १।१५२।८। २ द्र १०।१०६।७।

३ ऋग्वेद संहिता मे जार इस छोड कर सवत्र अन्तोदात्त है।

४ अर्थात् १।४६।४ ७।६।१, १०।७। ३४।५, ४२।२ १११।१०, १६२।५ स इतर प्रयोगा म।

५ यदादीध्ये न दविषाण्येभि, परा यद्भ्योऽव हीये सखिभ्य।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत, एमीदेषां निष्कृत जारिणीव ॥१०।३४।५॥

६ यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा नि पद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति, तमितो नाशयामसि ॥ १०।१६२।५ ॥

७ तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूयस्य।
यत परि जार इवा-चरन्त्युषो, ददृक्षे, न पुनर्यतीव ॥ ७।७६।३ ॥

८ जार पर विशेषाय द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पष्ठ ३७८ ३८२

९ उभा जिग्यथुर न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनो। ६।६९। ॥

आत्मने पदी हैं अन्यथा परस्मै पदी[1]। पाणिनि ने इन दोनो तथ्यो का विधान किया है[2]।

६१ जुहुरे < √हु गृत्समद ने अग्नि के वर्णन मे √हु से निष्पन्न 'हवींषि' और 'समिद्धे' के साथ 'जुहुरे' का प्रयोग कर के[3] इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[4]। यहाँ च-वर्ग स 'ह' ध्वनि के सम्बन्ध का ज्ञान बहुत स्पष्ट है।

६२ ज्योतिष < √द्युत् हविर्धान आङ्गि ने 'ज्योति' और 'द्योतनि' के युगपत्प्रयोग[5] से ज्योतिष्' का विकास √द्युत् स हुआ है, इस सूचित किया है। यहाँ आदिम तालव्य स्पर्श (ज्) दन्त्य ध्वनि (त) से तालव्य अन्तस्थ के सान्निध्य के कारण विकसित हुआ है, अत आदि व्यापत्ति स्पष्ट है। यास्क[6] और उणादि कार[7] ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।

६३ ततुरि < √तॄ भरद्वाज बार्हस्पत्य ने 'प्रतिरते' (देता है) क्रिया के साथ उस के कर्ता के रूप मे 'ततुरि' (दाता) का प्रयोग कर के इन दोनो के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है[8]।

६४ तमस < √तन् भरद्वाज ने तमस का सम्बन्ध √तन् (विस्तार से) सङ्केतित किया है[9]। यास्क ने भी यही निवचन दिया है[10]। गौरिवीति शाक्त्य ने √तम् से निष्पन्न तम्रा' के साथ तमस्' के प्रयोग से 'तमस < √तम्' युत्पत्ति[11]

---

१ तुलना करें पुनर्जिम त उत्तरावन्तमिन्द्रम् येन जयति, न परा जयन्ते। ऋ स ४।२२।५।

२ द्र अष्टाध्यायी ७।३।५७ सन्लिटोर्जे। १।३।१९ विपराभ्या जे।

३ प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे। २।६।३॥

४ √ह्वा स व्युत्पत्ति के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय', ४।१९।

५ सूर्यो ज्योतिरदधुर मास्यक्तून् परि द्योतनिं चरतो अ जस्रा।१०।१२।७॥ यहाँ मास' शब्द चन्द्रमा के लिय तथा 'अक्तु' अन्धकार के लिये प्रयुक्त हुआ है। द्र पीछे पृष्ठ २९ म 'अक्तु'। यास्क ने 'चन्द्रमस की यास्या 'चन्द्र+मस कर क मस' की व्याख्या 'माता (बनाने वाला) की है। प्राचीन काल म चन्द्र की कलाओ की वृद्धि तथा क्षय के आधार पर ही काल गणना अधिक की जाती थी। अथव सहिता (१०।७।२) मे यह आशय स्पष्ट वर्णित है

कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम्॥

६ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्यादि-व्यापत्तिर्भवति—ज्योतिषनो, बिन्दुर, वाट्य इति। * 'आदि-व्यापत्ति' के पाठभेद के लिये द्र निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १६१, टि १।

७ द्र उणादि सूत्र २६७ (२।११०) द्युतेरिसिन् आदेश्च ज।

८ प्र सद्यो द्युम्ना तिरते ततुरि॥ ६।६८ ७॥ आगे 'पपुरि देखें।

९ स इत्तमोऽवयुन ततन्वत्सूर्येण वयुनवच्चकार। ६।२१।३॥

१० द्र निरुक्त२।१६ तमस्तनोते। ११ मिह प्र तम्रा अवपत्तमांसि॥१०।७३।५।

का सङ्केत किया लगता है। उणादि-कार ने 'तमस्' के स्वरान्त रूप 'तमस' की व्युत्पत्ति √तम् से दी है[१]।

६५ तरणि, ६६ तरस ६७ तमन्<√त कुत्स आङ्गिरस[२] श्यावाश्व आत्रेय[३], नामाक काण्व[४] ने तरणि' 'तरसा, 'सु-तर्माणम्' का प्रयोग √त के साथ, या इस से निष्पन्न नाम 'तुर' के साथ कर के इनकी व्युत्पत्ति को स्पष्ट किया है। यहाँ 'ऋ>अर'[५] विकार स्पष्ट है।

६८ तिग्म<√तिज वामदेव गौतम ने √तिज के यङलुगन्त रूप तेतिक्ते के साथ[६] भरद्वाज बार्हस्पत्य ने[७] √तिज से व्युत्पन्न 'तेजस' के साथ 'तिग्म' के प्रयोग से इन दोनों के सम्बन्ध को प्रकाशित किया है। यास्क[८] और उणादिकार[९] ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।

६९ तीर्ण<√त क्रतु भार्गव ने √त से निष्पन्न 'अतारीत्' के साथ (अ)तीर्ण का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[१०]। यहाँ 'ऋ>इर' विकार स्पष्ट है।

७० तुर ७१ तूर्ति, ७२ तूय<√त कुत्स आङ्गिरस ने √त से निष्पन्न 'तरणि'[११] के साथ 'तुर' का[१२] तथा नमेध आङ्गिरस ने √त से ही निष्पन्न 'तूर्ति', 'तुर' 'तूय' और 'तरुष्यत्' का[१३] युगपत्प्रयोग कर के इनकी व्युत्पत्ति स्पष्ट की है।

---

१ द्र० उणादि सूत्र ३६७ (३।११७) अति अवि द्रमि तमि नमि रमि लभि नमि तपि पति पनि पणि महिभ्योऽसच्। 'अति अवि' में सन्धि-च्छेद योजक चिह्न की सुविधा के लिये हमने किया है।

२ यामिः परिज्मा तनयस्य मज्मना द्विमाता तूर्षु तरणिर्विभूषति।१।११२।४।

३ इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो, यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः।५।५४।१५॥

४ यथाऽसति विश्वा दुरिता तरेम, सुतर्माणमधि नाव रुहेम॥ ८।४२।३॥

५ ऋ के अन्य विकारों के लिये द्र० ६३ ततुरि तथा आगे ६९ तीर्ण', '७० तुर, ७१ तूर्ति और '७२ तूय।

६ द्रुह जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका। ४।२३।७॥

७ तिग्मेन नस्तेजसा सं शिशाधि॥ ६।१५।१९॥ ८ द्र० निरुक्तम् १०।६ तिग्म तेजतेरुत्साह कर्मणः। ९ द्र० उणादि-सूत्र १४३ युजि रुचि तिजां कुश्च।

१० विश्वं पश्यन्त बिभृथ तनूष्वा तेनास्मभ्यं शर्म सप्रथः। प्र मायुस्तारीदतीर्णम्॥८।७९।६॥

११ द्र० ६५ तरणि'। १२ तूर्षु तरणिर्विभूषति। १।११२।४॥

१३ त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अ शस्तिहा जनिता, विश्वतूरसि, त्वं तूर्य॰ तरुष्यतः॥ ८।९९।५॥

० ... मन्त्र में आया है। यह मन्त्र माध्यन्दिन ३३।६६, काण्व ३२।५।१८ कौथुम १।३११ २।६८७ जैमिनीय १।३२।८ और शौनकीय अथर्व संहिता २०।१०५।१ में भी पठित है। सायण ने इसे सम्बोधन माना है उवट और महीधर ने क्रियापद (तूर्य=त्वरि=मारय।) माना है। हमारे विचार में यह

इन शब्दो मे 'ऋ' के तीन विकार हैं (१) उर (२) ऊर, (३) अर।

७३ दधि< √धा वत्स प्रि भालन्दन ने धारक' अर्थ वाले 'दधि' (हरि-वत्) की √धा से व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[१]। यह शब्द पूर्व-पद के रूप मे दधि क्रा', 'दधि क्रावन्' 'दध्यञ्च्' म भी है। यास्क ने 'दधि क्रा' के पूर्व पद 'दधि की व्याख्या इसके लौकिक मे प्रसिद्ध पर्याय 'दधत्' से की है[२]। शौनक ने भी यही' व्युत्पत्ति बताई है[३]। कात्यायन ने 'दधि की यही व्युत्पत्ति दी है, किन्तु इस लौकिक म ही प्रयुक्त बताया है[४]।

७४ दूर< √दु गर्ग भारद्वाज ने 'दूर' के साथ दवीयस' के इकट्ठे प्रयोग से[५] इनकी प्रकृति के अर्थ गत और ध्वनि गत साम्य की ओर सङ्केत किया है। 'इम ,' इष्ठ' और ईयस प्रत्यय धातु के साथ लगते हैं[६]। इस से सिद्ध होता है कि

द्वेषो युतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम ॥ (५।९।६), तुर्याम दस्यून्तनूभि ॥' (७०।३), तुर्याम यस्त आ दिशाम राती ।' (६।४।५) मन्त्रो के 'तुय' अङ्ग का छन्दोऽनुरोधेन दीर्घ किया हुआ रूप (लोट, मध्यम ए व ' का) है।

१ दधिर्यो धायि, स ते वयासि, यन्ता वसूनि विधते तनू पा ।१०।४६।१॥

२ द्र निरुक्तम् २।२७ तत्र दधि-क्रा इत्येतद् (१) दधत्क्रामतीति वा। (२) दधरक्रन्दतीति वा। (३) दधदा-कारी भवतीति वा। इन निर्वचना की व्याख्या' निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २६३ ४ मे देखिये।

३ अपामम्बर गर्भोधसा दधत् सोऽष्ट मासिकम्।
यत्क्रन्दत्यसकृन्मध्ये दधि-क्रास्तेन कथ्यते ॥ बृहद्देवता २।५६ ॥

४ द्र अष्टाध्यायी ३।२।१७१ पर वार्तिक भाषाया धाञ्-कृ सृ गमि जनि नमिभ्य (किकिनौ, लिट च)।

५ स दुन्दुभे, स जूरिन्द्रेण देवर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ ६।४७।२९ ॥

६ पाणिनि ने तृ (तृन्, तृच्) प्रत्यय वाले प्राति पदिक से इन प्रत्ययो का विधान कर के फिर 'तृ' का लोप कर क ऐस शब्दो की सिद्धि की है तुश्छन्दसि (अष्टा ५।३।५९), तुरिष्ठेमेयस्सु (६।४।१५४)। दवीयस आदि शब्दो की प्रकृति के रूप म पाणिनि ने दूर' आदि ('तृ' से स्वरूप और अर्थ की दृष्टि स भिन्न प्रत्यय स निष्पन्न) शब्दो के र आदि अंश का लोप कर के दूर + ईयस > दू + ईयस > दवीयस् व्याख्या की है स्थूल दूर युव ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्राणा यणादि पर पूर्वस्य च गुण (अष्टा ६।४।१५६)। किन्तु यह पाणिनीय तन्त्र की अपनी आन्तरिक व्यवस्था है। निम्न लिखित शब्दो की ऋषियो के द्वारा बताई व्युत्पत्तियो से विदित होता है कि उन्हें ये प्रत्यय धातु स ही विहित अभिप्रेत हैं तथा इन का अर्थ तुलना' के अतिरिक्त कर्त कारक भी है १ ओजिष्ठ (६।१६।६, ८।९७।१०, ९।६६।१६ में √उज से) २ ओजीयस (९।६६।१७ √उज), ३ तपिष्ठ (६।५।४, √तप), ४ तवीयस् (६।१८।४, २०।३, ७।१००।३, १०।८३।३, √तु), ५ तव्यस (५।३३।१ ७।१००।३, √तु, प्रत्यय के ई का लोप द्रष्टव्य है।), ६ दसिष्ठ (१।१८२।२,

यहाँ धातु √दु अभिप्रेत है। यास्क ने 'दूर' को (१) √द्रु से या (२) दुर्+अय्

√दस) ७ घनिष्ठ (१०।७३।१, √घन्), ८ पनिष्ठ (१०।१६५।५ √पन्) ९ प्रेष्ठ (८।१०३।१०, √प्री*, १० महिष्ठ (६।६८।२ ८।१।३ √मह) ११ यजिष्ठ (२।६।६ ६।१५।१३ √यज), १२ यजीयस (२।६।४ ६।११।१, १०।५३।१, ११०।३ √यज), १३ यमिष्ठ (६।६७।१, √यम्) १४ येष्ठ (५।७४।८ √या) १५ वरीमन् (१।१५६।२ √वृ), १६ वरीयस (६।७५।१८ √वृ) १७ वहिष्ठ (४।१४।४ ६।४७।३, √वह) १८ वाहिष्ठ (७।३७।१ √वाह) १९ वेपिष्ठ (६।११।३, √विप या √वेप) २० शचिष्ठ (४।२०।६, ८।६६।१४ √शच्<√शक), २१ शविष्ठ (६।१९।४ ६८।२ ८।७०।२, √शु) २२ शोचिष्ठ (८।६०।६ √शुच्), २३ श्रेयस् (५।६०।४ √श्रि*) २४ सवीमन् (६।७१।२, १०।३६।१२ ६४।७ √सू), २५ सहिष्ठ (६।१८।४, √सह), २६ स्कभीयस (१०।१११।५ √स्कम्भ) २७ हवीमन् (१।१३१।६ √हु)।

* मक्डानल् ने इन शब्दों को क्रमश √प्री √श्री के आ कारान्त रूप 'प्रा और श्रा से निष्पन्न बताया है इष्ठ agent With this suffix attached to the root is formed the superlative with an adjectival sense a There are some irregularities in the formation of this superlative Thus the roots prī and śrī are treated as if they ended in ā pre ṣṭha 'dearest śreṣṭha 'most glorious (दी वेदिक ग्रामर, पृष्ठ ११७ अनुच्छेद १३३ तथा पृष्ठ ११८ पर पाद टिप्पणी ४ भी देखें)। हमारे विचार मे √प्री+इष्ठ>प्रे+इष्ठ~प्रयिष्ठ>प्र+इष्ठ>प्रेष्ठ' तथा √श्रि+ईयस>श्रयीयस>श्रईयस>श्रयस मानना उचित है (१) आज के 'ए का प्राचीन उच्चारण संयुक्त 'अइ' जैसा था यह तथ्य सुविदित है। अत आज का 'प्रेष्ठ' वैदिक काल म प्रइष्ठ जैसा बोला जाता था। इस बारे म मक्डानल का निम्न कथन भी इसी दिशा मे सङ्केत करता है Roots in ā combine that vowel with the initial ī of the suffix to e which however is usually to be read as two syllables (पृष्ठ ११६)। (२) 'इव पत्न्यत्य गिरो वतम्। (अथर्व-स ६।८६।१) म प्रयुक्त प्रेणी शब्द भी हमारे विचार म √प्री स निष्पन्न प्रयिणी की इसी प्रकार की यात्रा से निष्पन्न (प्रयिणी>प्रइणी>प्रेणी) शब्द है तथा यह क्रिया का समर्थन है। (३) ऋग्वेद संहिता म इस विकसित अवस्था स पूर्व की अवस्था का एक शब्द है प्रयियो (प्रयियु षष्ठी, एक व)। यह शब्द ८।१९।३७ म ही आया है। इसकी व्युत्पत्ति, परिणामत अर्थ भी क्लिष्ट है। शाकल्य न इसम अवग्रह नही किया है। इसका आशय यह है कि यह शब्द प्र+√या से निष्पन्न नहीं है जैसा कि निरुक्त ४।१५ पर दुर्ग और स्कन्द ने बताया है। स्कन्द न इसकी एक व्याख्या और दी है पर दुर्भाग्य स वहाँ का पाठ बहुत भ्रष्ट है अथवा प्रयियोरिति सुवास्त्वा नदी• विशेषणे। प्रयियोरत्यय प्रयिवृम* सुवास्त्वा

(+√इ) से निष्पन्न बताया है[1]। उणादिकार इसे दुर+√इ से मानते हैं[2]।

७५ दस्म ७६ दस्र<√दस—√दस नोधस गौतम ने √दस् से निष्पन्न 'दसम' तथा √दस के आख्यात 'दस्यन्ति' का[3], कक्षीवत् दघ तमस ने 'दस्र' और 'दसना' के साथ 'दस्यु' का[4], अगस्त्य मत्रा वरुणि ने 'दसिष्ठ' और 'दस्यु' का[5], श्यावाश्व आत्रेय ने 'दस्र' और √दस से निष्पन्न दस्यन्ति' का[6], तथा कृष्ण आङ्गिरस ने दस्र' के साथ 'दसस' का[7] प्रयोग किया है। इससे विदित होता है कि ये लोग इन शब्दों में व्युत्पत्ति की दृष्टि से साम्य मानते हैं, अर्थात् इन में उपलब्ध दो प्रकृतियाँ √दम एवं √दस परस्पर सम्बद्ध हैं। यो दस्म दस्यु और दस्र शब्द √दस में तथा दमना दसस और दसिष्ठ √दस से सम्बद्ध हैं यह निगद व्याख्यात है।

भरद्वाज बार्हस्पत्य के[8] 'दस्यु जूत' के स्थान में कक्षीवत् दघ-तमस औशिज ने[9]

(पृष्ठ २३३)। ✱ डा लक्ष्मणसरूप ने तारकित शब्दों के स्थान पर क्रमश 'नद्या' और 'प्रयिन्या' पाठ की सम्भावना प्रकट की है। इससे ज्ञात होता है कि सम्भवत स्कन्द 'प्रयियु' को √प्री से 'त' प्रत्यय में निष्पन्न 'प्रयित्री' का समान धातुज पर्याय समझते हैं। इस शब्द मे 'य' का लोप नहीं हुआ है। (४) इस यण्लोप की प्रवृत्ति के उदाहरण हैं तितउ (<तिनवु), 'प्रउग (<प्र+युग)। इन शब्दो मे और प्रकृत अन्य शब्दो मे एक ही अन्तर है कि इन में गुण सन्धि नहीं हुई है, जब कि प्रकृत 'प्रेष्ठ' आदि मे सन्धि हो गई है।

१ द्र निरुक्तम् ३।१८ दूर कस्मात् ? (१) दुत भवति। (२) दुरय वा।

२ द्र उणादि सूत्र १७७ (२।२०) दुरीणो लोपश्च।

३ तद्नु प्रयक्ष तममस्य कर्म दस्मस्य चारु तममस्ति दस । १।६२।६ ॥
सनादेव तव रायो गभस्तौ, न क्षीयन्ते, नोप दस्यन्ति दस्म ॥ १२ ॥

४ इय दुहन्ना मनुषाय दस्रा, अभि दस्यु बकुरेणा धमन्ता। १।११७।२१॥
उद्वन्दनमैरत दसनाभिर, उद्रेभ दस्रा वृषणा, शचीभि । ११८।६ ॥
रथ न दस्रा, करणा समिन्वथ। अ वामत्र विधते दसना भुवत्॥११९।७॥

५ दस्रा दसिष्ठा, रथ्या रथी तमा।१ १८०।२॥ यहा 'रथ्या' और 'रथीतमा' जैसे सम्बद्ध हैं, वैसे ही 'दस्र' और 'दसिष्ठ' शब्द भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से सम्बद्ध हैं, यह सूचित होता है। ६ न वो दस्रा, उप दस्यन्ति धेनव । ५।५५।५॥

७ ता वल्गू, दस्रा पुरु दससा धियाऽश्विना, श्रुष्ट्या गतम्। ८।८७।६ ॥

८ न वीळवे नमते, न स्थिराय, न शर्धते दस्यु जूताय स्तवान्।
अज्रा इन्द्रस्य गिरयश्चिदृष्वा, गम्भीरे चिद् भवति गाधमस्मै ॥६।२४।८॥

९ स व्राधतो नहुषो दसु जूत, शर्धस्तरो नरा, गूर्त-श्रवा ।
वि सृष्ट रातिर्याति बाळ्हसृत्वा, विश्वासु पृत्सु सदमिच्छूर ॥१।१२२।१०।

आचार्य शाकल्य ने इस का पद पाठ 'दम्ऽसुजूत' किया है। दसु जूत व्याख्या श्री विश्व बन्धु ने सुझाई है। द्र वैदिक पदानुक्रम-कोष, १।३, पृष्ठ १५३३, टि, c। √दम का प्रयोग सर्वत्र देवता के लिये होने के कारण सम्भवत √दस।

दसु जूत' का प्रयोग किया है। हिरण्यस्तूप आङ्गिरस[1], विश्वामित्र गाथिन[2] बभ्रु आत्रय[3] और तिरश्ची आङ्गिरस[4] के 'दास पत्नी' के प्रयोग के स्थान पर वाम देव गौतम ने 'दसु पत्नी'[5] का प्रयोग किया है। इसस भी यही विदित होता है कि दास' और 'दस्यु' तथा दसु शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि स परस्पर सम्बद्ध हैं।

√दस का अथ भरद्वाज बाहस्पत्य न अश्विना को 'दस्र और 'पुरु शाकु तम (अत्यधिक सामथ्य वालो म श्रेष्ठ) कहा है[6]। कृष्ण ने इस के स्थान पर उन्हे 'दस्र' और 'पुरु दसस'[7] (बहुत दसस वाले) कहा है। इसमे विदित होता है कि √दस् का अथ किसी न किसी प्रकार √शक के अथ के समान है। √शक के दो अथ हैं सामथ्य तथा देना। यहाँ कौन सा अथ अभिप्रेत है, इस पर चचा करने से पूव हम 'दस्र' के अथ पर तनिक विचार करते हैं कण्व घोर[8], अगस्त्य मैत्रा वरुणि[9], पुरु मीळह सौ होत्र[10] ने 'दस्र' का प्रयोग रक्षा के सन्दभ में किया है। रक्षा सामथ्यवान् ही कर सकता है, अत 'दस्र की प्रकृति का अथ 'सामथ्य प्रतीत होता है। प्रकृत मे √दस का अथ भी 'सामथ्य मानना उचित है। अगस्त्य

और √दस का सम्बन्ध शाकल्य के समय तक अविदित हो गया था। परिणामत उन्होंने इतने सीधे शब्द का भी इतना कल्पनापेक्षी पद पाठ किया है।

१ दासपत्नीरहि गोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आप पणिनेव गाव ।१।३२।११॥

२ इन्द्राग्नी, नवति पुरो दास पत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कमणा ॥३।१२।६॥

३ अतश्चिदिन्द्रादभय त देवा विश्वा अपो अजयद्दास पत्नी ॥ ।१०।५ ॥

४ त्व सिन्धूरसृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो दास पत्नी ॥ ८।९६।१८॥

'दास पत्नी पर विशेषाथ द्र 'निरुक्त के पाच अध्याय पृष्ठ २२३ २२६।

५ आग्रुवो नमन्यो न वक्वा, ध्वस्रा अपिन्वद् युवतीऋ त ज्ञा ।

धन्वान्यज्रा अपृणक्तृषाणा अधोगिन्द्र स्तर्यो दसु पत्नी ॥ ४।१९।७ ॥

इस का पद-पाठ भी शाकल्य न दसुऽपत्नी किया है। शेष के लिए पृष्ठ ७३ टि ९ मे 'दसु जूत' पर विवरण देखिए।

६ ता वल्गू दस्रा, पुरु शाक-तमा, प्रत्ना नव्यसा वचसा वि वासे।

या शसते स्तुवते शम्भविष्ठा बभूवतुगृ णते चित्र राती ॥ ६।६२।५ ॥

७ वय हि वा हवामहे विपन्यवो विप्रासो वाज सातये।

ता वल्गू, दस्रा, पुरु दससा धियाऽश्विना श्रुष्ट्या गतम् ॥ ८।८७।६ ॥

८ आ तत्ते दस्र, मन्तुम, पूषन्नवो वृणीमहे। १।४२।५॥

९ युवां गोतम, पुरुमीळहो, अत्रिर्दस्रा हवतेऽवसे हविष्मान्। १।१८३।५॥

१० को वा महश्चित्त्यजसो अभीक उरुष्यत माध्वी दस्रा न ऊती। ४।४३।४॥

पिछली टिप्पणी में उद्धत (१।१८३।५) मन्त्र में पुरु मीळह के नाम के साथ इस आशय की चर्चा की होने स विदित होता है कि ऋग्वेद का यह (४।४३) सूक्त प्रथम मण्डल के सूक्त से प्राचीन है। अत अगस्त्य मत्रा वरुणि की अपेक्षा पुरु मीळह सौ-होत्र प्राचीन हैं।

मैत्रा-वरुणि ने रक्षा के सन्दर्भ में 'दमन' का प्रयोग किया भी है[1] । अतः 'पुरु-दंसस' का अर्थ हुआ बहुत क्रिया शक्ति वाले, बहुत कर्मठ । नोधस गौतम ने इन्द्र को इसी क्रिया-सामर्थ्य के कारण 'दस्म' कहा है तथा इस सामर्थ्य को 'कर्मन्' और 'दंसस' दोनों शब्दों से व्यक्त किया है[2] । अतः अर्थ में सूक्ष्म अन्तर[3] होते हुए भी 'कर्मन्' और 'दंसस्' पर्याय हैं[4] । 'दस्र' के इस अर्थ की पुष्टि अगस्त्य मैत्रा वरुणि के इस के साथ √कृ के प्रयोग[5] से भी होती है । अतः √दस् का अर्थ 'कुछ करने में समर्थ होना' है तथा परिणामतः 'दस्म' एवं 'दस्र' का अर्थ 'कुछ करने की सामर्थ्य वाले' है । 'दंसिष्ठ' का अर्थ 'अत्यधिक समर्थ', अथवा 'कर्मठ' है । 'दंसना, दंसस' इस प्रकार की 'सामर्थ्य', अथवा 'सामर्थ्य साध्य कार्य' के वाचक हैं ।

दस्यु दास यही अर्थ मूलतः 'दस्यु और 'दास' का भी रहा होगा । इन के लिए 'असुर (शक्ति शाली)[6] शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ का सूचक है । परन्तु असुर' के समान ही इन शब्दों में बुराई की भावना घर कर गई जब कि 'दस्म और 'दस्र' देवता के लिए प्रयुक्त होने के कारण इस से मुक्त रहे । परिणाम यह हुआ कि इन से सम्बद्ध धातु भी अर्थ की दृष्टि से 'कुछ कर जाना=समर्थ होना=शत्रुओं को क्षीण करना अर्थ में परिणत हो गई । जो लोग कभी सामर्थ्यवान् होने से दस्यु' कहलाते थे कालान्तर में उन का सम्बन्ध 'उपक्षय के कर्म के रूप में ही √दस से रह गया, दस्म' दस्र में कर्तृत्व ही बना रहा ।

इस विवरण से विदित होता है कि √दंस और √दस धातु एकार्थक तथा परस्पर-सम्बद्ध हैं । हमारा तो यहाँ तक विचार है कि √दंस (सानुस्वार) प्राचीन है तथा √दस (अनुस्वार रहित) उस से विकसित होने वाला रूप है (१) √दंस (सानुस्वार) के दर्शन चार शब्दों[7] में केवल स्वरादि प्रत्ययों में ही होते हैं, जब कि √दस् (अनुस्वार रहित) स्वरादि ('अ, अत् < √शतृ आन < √शानच) प्रत्ययों के अलावा व्यञ्जनादि (म, 'मत्, म्य', 'यु और र) प्रत्ययों से निष्पन्न पाँच[8]

---

१ तद् वो जामित्वं मरुतः, परे युगे पुरू यच्छंसममृतास आवत ।
अया धिया मनवे श्रुष्टिमाव्या साकं नरो दंसनैरा चिकित्रिरे ॥ १।१६६।१३॥

२ तदु प्र यक्ष तममस्य कर्म दस्मस्य चारुतममस्ति दंसः । १।६२।६ ॥

३ कर्मन् में 'क्रियमाणता' प्रमुख है 'दंसस' में शक्ति मत्ता प्रमुख है । हर ऐरा गैरा कर्म 'दंसस्' नहीं है, अपितु शक्ति की प्रचण्डता से युक्त कर्म ही 'दंसस' है ।

४ द्र निघण्टु २।१।३, 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २७४ ।

५ किमत्र दस्रा कृणुथः ? किमासाथे ? जनो यः कश्चिद हविर्महीयते ।
अति क्रमिष्टं, जुरतं पणेरसुं ज्योतिर्विप्राय कृणुतं वचस्यवे ॥ १।१८२।३॥
तुलना करें दस्मत्कृणोष्यध्वरम् । १।७४।४ ॥

६ द्र निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ ३६६ ७ ।

७ दंसन (दंसना भी) दंसस, दंसि, दंसिष्ठ ।

८ दस्म, दस्मत्, दस्म्य, दस्यु दस्र ।

दाम्न में भी मिलता है। (२) √दंस् (सानुस्वार) का कोई आख्यात रूप नहीं मिलता, जबकि √दस् (निरनुस्वार) के चार रूप[1] मिलते हैं। अतः √दंस् (सानुस्वार) का प्रयोग सीमित, क्षीण, हो रहा था, जब कि √दस (निरनुस्वार) उभर रही थी।

दस्यु' और दास' के साथ √दस (निरनुस्वार) का सम्बन्ध कुछ इतना सुबद्ध हो गया लगता है कि परवर्ती काल में यह √दास् (दास' से भिन्न) रूप में न केवल स्वतन्त्र धातु मान ली गई, अपितु ऋग्वेद-संहिता के दशम के ऋषि मुद्गल भाम्यश्व ने तो दास की व्युत्पत्ति, लगता है इसी √दास से मानी है[2]। ऋग्वेद-संहिता के मण्डल विकास की दृष्टि से भी कुछ इसी तरह का तथ्य निकलता है √दास का आख्यात रूप में प्रयोग 'देना' अर्थ में दो बार अष्टम मण्डल में[3] तथा 'दास्वत्' शब्द के कुल आठ प्रयोगों में से[4] प्रथम मण्डल में दो बार और दशम मण्डल में एक बार—अर्थात् ऋग्वेद-संहिता के कुल दस प्रयोगों में से इन अर्वाचीन समझे जाने वाले मण्डलों में कुल तीन बार—प्रस्कण्व काण्व[5], परुच्छेप दैवोदासि[6] तथा तार्क्ष्य सुपर्ण[7] ऋषियों के द्वारा किया गया है। 'हानि करना' अर्थ में कुल आठ प्रयोगों में से गौतम राहूगण ने प्रथम[8] में भरद्वाज बार्हस्पत्य ने षष्ठ में[9] और वसिष्ठ मैत्रावरुणि ने सप्तम[10] मण्डलों में एकेक बार किया है तो अकेले दशम में भिषग् आथर्वण[11], मुद्गल भाम्यश्व[12], सुदास पैजवन[13] और

---

१ दसत्, दसयन्त दस्यति दस्यति ।

२ अ तयच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभि दासत ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ॥ १०।१०२।३ ॥

३ अव प्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभि सहस्र । ८।१।३३ ॥
इन्द्राग्नी, युवं सु न सहन्ता दासथो रयिम् । ४०।१ ॥

४ द्र १।४८।१ १२७।१ २।४।३ ४।२।७, ५।६।२ ६।३३।१ ६८।५ १०।१४८।२ । ५ सह वामेन न उषो, व्युच्छा दुहितर्दिव ।
सह द्युम्नेन बृहता वि भावरि, राया देवि, दास्वती ॥ १।४८।१॥

६ अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं । १।१२७।१॥

७ अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते ।१०।१४४।२॥

८ यो नो अग्नेऽभिदासत्यन्ति, दूरे पदीष्ट स । अस्माकमिद्वृधे भव ॥१।७९।११ ॥ ९ यो न सनुत्यो अभि दासदग्ने, यो अन्तरो मित्र महो, वनुष्यात् ।
तम जरेभिवृषभिस्तव स्वैस्तपा तपिष्ठ तपसा तपस्वान् ॥ ६।५।४ ॥

१० इन्द्रा-सोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो न कदा चिदभिदासति द्रुहा ॥ ७।१०४।७॥ ११ उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥ १०।९७।२३॥

१२ अ तयच्छ जिघांसतो वज्रमिन्द्राभि दासत । १०।१०२।३॥ द्र टि २ ।

१३ यो न इन्द्राभि दासति सनाभिर्, यश्च निष्ट्य ।
अव तस्य बल तिर ॥ १०।१३३।५॥

दास भारद्वाज[1] सम्र ने कुल मिला कर पाँच बार किया है।

यास्क ने क्रमन् के पर्याय 'दसि' की व्याख्या √दस से[2] तथा 'दास' की व्याख्या √दस से[3] की है। 'दस्र' का अर्थ उन्होंने 'दर्शनीय' बताया है[4]। पाणिनीय धातु पाठ म √दस दशन और डंसना अर्थों म है[5]। उणादि-कार ने 'दस्म और 'दस्र को √दस्[6] (ज्ञानेन्द्र सरस्वती और वासुदेव दीक्षित के अनुसार 'उपक्षय' अर्थ वाली) से तथा दास को √दम (सानुस्वार) से[7] निष्पादित किया है।

७७ दात्र< √दा 'दात्र' शब्द √दा से निष्पन्न है, यह स्वत स्पष्ट है किन्तु √दा अनेकार्थक है, यह किस अर्थ वाली √दा से है, यह स्पष्ट करना महत्त्व पूर्ण है

लौकिक मे दात्र' शब्द 'काटना' अर्थ वाली √दा से निष्पन्न माना जाता है यास्क ने काटने के औजार के रूप में एक 'दात्र' की चर्चा की है कि यह पूरब मे 'लवन[8]' अर्थ मे प्रयुक्त √दा का उत्तर मे प्रयुक्त होने वाला नाम पद है[9]। इस अर्थ म √दा से निष्पन्न 'दाति' का प्रयोग परा शर शाक्त्य[10] और इध आत्रेय

---

१ वि रक्षो, वि मृधो जहि, वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र, वृत्र हन्, अ मित्रस्याभि दासत ॥ १०।१५२।३ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि, नीचा यच्छ पृतन्यत।
यो यस्मां अभि दासत्यधर गमया तम ॥ ४ ॥

२ द्र निरुक्तम् ४।२५ दसय कर्माणि—दसयन्त्येनानि।

३ द्र वही २।१७ दासो दस्यते —उप दासयति कर्माणि।

४ द्र वही ६।२६। ५ द्र मा धातु-वृत्ति १०।१४१ दसि दशन दशनयो।

६ द्र उणादि सूत्र १४२ इषि युधि इन्धि दसि श्या धू सूभ्यो मक।

७ द्र वही ६८८ (५।१०) दसेष्ट-टनौ, न आ च। √दस से नाने द्र सरस्वती ने डसना, 'दखना' अर्थ वाली चौरादिक धातु मानी है। वासु देव दीक्षित ने 'दसि सेवने' बताई है, किन्तु यह अर्थ धातु पाठो म उपलब्ध नही है। द्र गजानन बाल कृष्ण पल्सुले, 'ए कङ्कार्डेंस् आफ् सम्कृत धातु पाठज्', पृष्ठ १६६ पर 'सेवने' अर्थ म उल्लिखित धातु।

८ 'लवन' का अर्थ 'काटना' होता है। आज ये दोनो अर्थ विशेष अर्थ (फसल के सम्बन्ध) म 'लुनाई', 'लावनी', 'कटाई' आदि शब्दो मे रूढ मिलते है। 'लावनी' के औजार को हरियाणा मे 'दरांती' तथा लकडी, टहनी आदि काटने के औजार को 'दांत एव शाक भाजी काटने के साधन को 'दात' और 'दरांत' कहते हैं। अब 'लवन' शब्द का अर्थ विस्पष्ट रूप से 'फसल की कटाई' है, या सामान्य 'काटना', यह स्पष्ट नही है।

९ द्र निरुक्तम् २।२ अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते विकृतय एकेषु। दातिलवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।

१० यद्वात-जूतो वना व्यस्थाद्, अग्निह दाति रोमा पृथिव्या। १।६५।४॥

न किया है[1] । कुरुसुति काण्व ने 'दात्र' का प्रयोग भी काटने के करण के रूप में किया है[2] । दूसरी तरफ 'देना' अर्थ में भी 'दाति' का प्रयोग वाम देव गौतम[3], प्रतिभानु आत्रेय[4] और भरद्वाज बार्हस्पत्य[5] ने किया है । लौकिक में सम्भवतः इसी कठिनाई के कारण 'काटने' से सम्बद्ध शब्द 'दात्र' तथा 'देने' से सम्बद्ध शब्द 'दत्र' ही प्रचलन में रह गया है[6] । वैदिक 'दात्र' शब्द 'काटने का करण' और 'देने का कर्म' दोनों अर्थों में प्रचलित था ।

'दात्र' < दा √ (देना) भरद्वाज बार्हस्पत्य ने 'देना' अर्थ वाली √दा से कर्त्रर्थ में निष्पन्न 'दामन्' नाम और कर्त्रर्थक 'दा' (मध्यम पुरुष, ए व) आख्यात के अतिरिक्त इसी अर्थ वाली √दाश से निष्पन्न कर्त्रर्थक 'दाश्वस्' के साथ 'रेवणस' के विशेषण के रूप में कर्मार्थक 'दात्र' का प्रयोग इस व्युत्पत्ति को मन में रख कर ही किया है[7] । वाम देव गौतम ने √दा के (पाणिनि के अनुसार जौहोत्यादिक रूप के) साथ[8] तथा वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने 'दातृ' के साथ[9] 'दात्र' का प्रयोग किया है । ये दोनों प्रयोग 'उपयुक्त व्युत्पत्ति उन्हें अभिप्रेत है', इस बात के सूचक हैं । अतः 'दात्र' शब्द देय=धन का वाचक है ।

उत्तराधिकारियों (दायादों) में इस (धन) का विभाजन किया जाता है सम्भवतः इसी कारण रोथ ने इसे अव-खण्डनार्थक √दा[10] से निष्पन्न माना है[11] । वसिष्ठ ने अव खण्डनार्थक √दा से निष्पन्न 'दिति' के साथ 'वाम' (वरणीय=धन) के दान की चर्चा 'दाति' का प्रयोग कर के की है[12]। सम्भवतः यह प्रयोग

---

१ स हि क्ष्मा धन्वा क्षित दाता न दात्या पशु । ५।७।७ ॥

२ तवेदिन्द्राहमाशसा हस्ते दात्र चना दद । ८।७८।१० ॥

३ दाति प्रियाणि चिद् वसु । ४।८।३ ॥

४ अतो भग सविता दाति वार्यम् । ५।४८।५ ॥

५ वाजी स्तुतो विदथे दाति वाजम । ६।२४।२ ॥

६ काटना और शोधन अर्थों वाली धातुओं का पृथु दास कर के पाणिनि ने √दा से त-कारादि प्रत्यय बाद में होने पर √दा को दद् आदेश किया है जिस से देना अर्थ वाली √दा से दत्र बनता है तथा 'काटना' अर्थ वाली से दात्र । द्र अष्टाध्यायी १।१।२० दा धा घ्वदाप । ७।४।४६ दो दद् घो ।

७ शु दामन् तद्रेवणो प्र प्र मृध्यमृजिष्वने दात्र दाशुषे दा ॥ ६।२०।७ ॥

८ उतो हि वा दात्रा सन्ति पूर्वा, या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे ।
क्षेत्रासा ददथुरुर्वरासा घन दस्युभ्यो अभि भूतिमुग्रम् ॥ ४।३८।१ ॥

९ अभि मनो अभि दात्रस्य दाता नि मघवा मघवद्भ्य इन्द्रो ॥६।६७।८॥

१० द्र माधवीय धातु-वृत्ति ४।४० दो अव खण्डन ।

११ द्र मनु पात्स्वय मस्कृत कोश ।

१२ त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भग ।
दितिश्च दाति वार्यम् ॥ ७।१५।१२ ॥

१ दा तथा √यम् परस्पर निकट आ चुके थी, इस तथ्य को प्रकट किया है। √यम् का अर्थ 'रोकना' भी है[1]। अतः यहाँ 'दानु' के साहचर्य से √यम् का अर्थ (देना) भी स्वतः स्पष्ट हो गया है। मनु वैवस्वत ने भी √यम् के साथ 'दाम्वस्' के प्रयोग से √यम् का अर्थ निर्वचन किया है[2]।

यास्क ने 'दानु' की व्याख्या 'दाता और दातृ' अर्थों में की है[3]। उणादिकार के अनुसार यह √दा से निष्पन्न है[4]। टीकाओं के अनुसार यह √दा 'देना' अर्थ वाली है तथा 'नु' प्रत्यय कर्तृवाचक है। अतः दानु=दातृ पर्याय है[5]।

ऋग्वेद संहिता में यह 'दातृ' (दातृ) और 'धन' (धन तुलना करें दात्र) अर्थों में प्रयुक्त है। वसिष्ठ मैत्रावरुणि ने एक ही मन्त्र में 'दानु' और 'दानु पिन्व' शब्दों में दोनों अर्थों में 'दानु' का प्रयोग किया है[6]। प्रथम 'दानु' कर्मार्थक है, यह √दा का कर्म है तथा द्वितीय 'दानु' √पिन्व का कर्ता है। विश्वमनस वैयश्व ने 'दानु द' के आशय को[7] तथा सव्य आङ्गिरस ने 'दानु पिन्व' के आशय को[8] विग्रह वाक्य से दिया है। सायण ने 'दानु द' और 'दानु पिन्व' दोनों के 'दानु' की व्याख्या कर्तृवाचक 'दातृ' से की है[9]। उपर्युक्त ऋषियों के आशय के प्रतिकूल होने से यह चिन्त्य है।

७६ दामन् < √दा 'दामन्' शब्द √दा से व्युत्पन्न है, यह शब्द निर्वचन आपात स्पष्ट है, किन्तु इस का अर्थ निर्वचन करना भी आवश्यक है। दीर्घतमस् औचथ्य ने इस का अर्थ रस्सी (हिन्दी दाम, दावँडी दामण) इस के साथ

स्वीकार किया है। द्र अष्टाध्यायी ७।३।७८ पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण् दृशि अर्ति सर्ति शद सदां पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ पश्यर्च्छ धौ शीय सीदा।

१ द्र माधवीय धातुवृत्ति १।६६४ यम उपरमे। वाचंयम तथा 'मन्यम' शब्दों में यह अर्थ स्पष्ट है। दीर्घतमस औचथ्य का निम्न प्रयोग भी इसी अर्थ से सम्बद्ध है रश्मींरिव यो यमति जन्मनी उभे (१।१४१।११)। भरद्वाज बार्हस्पत्य का निम्न प्रयोग भी द्रष्टव्य है स या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभिः स्वैः (६।६७।१)।

२ यद्वाऽसि पित्वे असुरा, ऋत यते छर्दिर्येम वि दाशुषे। ८।२७।२०॥

३ द्र निरुक्तम् २।१३ ११।२१। ४ द्र उणादि सूत्र ३१२ (३।१२) दाभाभ्यां नुः। ५ सिद्धान्त कौमुदी, उणादि ३१२ दानुर्दाता। तत्त्व बोधिनी डुदाञ् दाने। दानुर्दातरि विक्रान्ते। इति मेदिनी।

६ प्र दानुदो दिव्यो दानुपिन्व ऋतमृताय पवते सुमेधा। ९।९७।२३॥

७ स यो दानूनि येमथुर्दिव्या पार्थिवीरिषः।
नभस्वतीरा वां चरन्तु वृष्टयः ॥८।२५।६॥

८ उक्था वा यो अभि गृणाति राधसा
दानुरस्मा उपरा पिन्वते दिवः ॥१।५४।७॥

९ द्र ऋ भा ९।९७।२३ दानुदो=दातृभ्यो धनादीनां दाता।

बन्धनायक 'सम्+√दा' से निष्पन्न 'सन्दान' शब्द से स्पष्ट किया है[1]। प्रभू-वसु आङ्गिरस ने धन देने के प्रसङ्ग मे इस की व्याख्या √दा (देना) से की है[2]। 'दात्' अर्थ में 'दामन्' का प्रयोग ऋग्वेद मे कई बार हुआ है। भरद्वाज बार्हस्पत्य ने √दा (देना) से निष्पन्न 'दात्र' और √दाश् (देना) के साथ 'सु-दामन्' (अच्छा दानी) का प्रयोग इस की व्युत्पत्ति को भली-भांति स्पष्ट करता है[3]।

८० √दिप्स<√दभ मेध नमस आौचथ्य और वाम देव गौतम[4], कूर्म गार्त्समद[5], और वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[6] ने √दभ और इस से इच्छार्थ मे निष्पन्न √दिप्स का युगपत् प्रयोग कर के इन के सम्बन्ध को द्योतित किया है। पाणिनीय तन्त्र में इस व्युत्पत्ति म √दिप्स की बजाए √धिप्स (माध्यन्दिन[7] तथा मैत्रायणी संहिताओं[8] म एकेक बार ही प्रयुक्त) की निष्पत्ति होती है[9]।

८१ दीघ<√द्राघ सुमित्र वाध्र्यश्व ने 'दीघ' और 'द्राघ्मन्' के युगपत् प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[10]। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[11]। √द्राघ प्राचीन धातु है। ऋग्वेद मे इस का प्रयोग १ दीघ, २ द्राघिष्ठ ३ द्राघीयस और ४ द्राघ्मन् शब्दो मे ही अवशिष्ट मिलता है।

८२ दुघ<√दुह परुच्छेप दैवो दासि ने 'सबर्दुघा' और 'दोहते' के इकट्ठे प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[12]। यहाँ घ कारवान् और ह कारवान् प्रकृतियो मे कोई सम्बन्ध है यह ज्ञान स्पष्ट है।

√दुघ (क वर्ग चतुर्थान्त) प्राचीन प्रतीत होती है तथा √दुह (कण्ठ्य महा प्राण ऊष्म वाली) अर्वाचीन (१) √दुघ (कण्ठ्यान्त) का कोई आख्यात रूप ऋग्वेद मे नहीं है जब कि √दुह् (ऊष्मान्त) के बहुत है। (२) 'दुघान' का[13]

दानु पिन्व। पिवि सेचने, कमण्यण।' (अष्टा ३।२।१) इत्यण। गातृन्द कामाना क्षारयिता।

१ अश्वाजिनो दाम सन्दानमर्वतो या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य। १।१६२।८॥

२ स आ गमदिन्द्रो, यो वसूना चिकेतद्दातु दामनो रयीणाम्। ५।३६।१॥

३ सु दामन् तद्रेक्णो अप्र मृष्यमृजिश्वने दात्र दाशुषे दा॥ ६।२०।७॥

४ दिप्सन्त इद्रिपवो नाह देभु॥ १।१४७।३॥

५ त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षा। २।२७।३॥

६ इन्द्र दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्। ७।१०३।२०।

७ द्र ११।८० धिप्सात् (त, मै, काठ दिप्सात्)। विश्वबन्धु के कोष मे धिप्सात् मा शतपथ (२।६।३।१०) म ही सूचित है वा म म नही।

८ द्र ४।१५।१७ (२४८)।

९ द्र अष्टाध्यायी ७।४।५६ दम्भ इच्च।

१० वि प्रथता देव-जुष्ट तिरश्चा दीघ द्राघ्मा सुरभि भूत्वस्मे। १०।७०।४॥

११ द्र निरुक्तम् २।१६ दीघ द्राघते।

१२ तुभ्य धेनु सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते। १।१३४।४॥

१३ द्र १।१००।३, ३।३१।१०, १०।६७।६।

प्रयोग १, ३ और १० मण्डलो म एकेक बार तथा 'दुहान' का प्रयोग २ ३, ६ १० मण्डला मे कुल मिला कर १३ बार[1] हुआ है। इस स विदित होता है कि ऋग्वेद काल मे ही घ कारवान् रूप घट रहा था, तथा उस का स्थान ह कारवान् रूप ले रहा था।

८३ दृढ < दृह गो पूक्तिन् और अश्व सूक्तिन् काण्वायनों ने[2] तथा विश्व मनस वयश्व ने[3] √दृह (अ वमक) स क्त्रथ म दृ॰ की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है। इन के प्रयोग से विदित होता है कि ढ म दत्व केवल ह् कार के स्थान मे नही है, अपि तु व्यञ्जना तर (त) के सयोग से हुआ है। अन्यथा ह कार के पश्चात् स्वर होने पर उस म कोई परि वलन नही हुआ है दृहित। पाणिनि के अनुसार यह (√दृह से) क्त्रय मे 'क्त' से विशेषण के रूप मे निष्पन्न हुआ है[4]।

८४ द्यु < √दिव वाम देव गोतम ने दिन वाचक द्यु' की व्युत्पत्ति 'चम कना' अर्थ वाली √दिव से सूचित की है[5]। यहाँ सम्प्रसारण का ज्ञान स्पष्ट है।

८५ द्वर ८६ द्वर ८७ द्वार < √व ऋग्वेद सहिता मे ये ती शब्द 'दरवाजा' (शा ्क अर्थ रोकने वाला) अर्थ म प्रयुक्त हुए हैं। 'द्वार' शब्द इन्हीं का परिवर्धित रूप प्रतीत होता है। इन की सर्वाधिक बार बताई व्युत्पत्ति √वृ (ढँकना) से है। स प आङ्गिरस[6] सदा पृण आत्रेय[7], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[8], ब्रह्मा तिथि काण्व[9] अयास्य आङ्गिरस और कश्यप मारीच[1] का इन शब्दो के साथ √वृ

---

१ द्र २।२।६ ३२।३, ३।१।१४, ५८।१, ६।२८।१ ७।४१।७, ४३।४, ८०। ३, ८।१००।११ ६।४२।४ १०।७।५, १०।६६।६, १४६।४।

२ इ ह्वेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृ हितानि च। ८।१४।६॥

३ दृळ्हश्चिद् दृह्य मघवन्, मघ त्तये। ८।२४।१०॥

४ द्र अष्टा ७।२।२० दृढ स्थूल बलयो।

५ दोषा वस्तर्वोविवासमनु द्यून्। ४।४।८॥

६ स हि द्वरो द्वरिषु वव्र ऊधनि चन्द्र बुध्नो मद वृद्धो मनीषिभि ।१।५२।३॥

७ अपा वत व्रजिनीरुत् स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आव ॥ ५।४५।१॥

८ अयमु ते सरस्वति, वसिष्ठो द्वारावृतस्य सु भगे व्याव। ७।६५।६॥

९ उत नो दिव्या इष उत सि धु रहर्विदा। अप द्वारेव वर्षथ ॥८।५।२१॥

सायण और विश्व ब धु के मत मे यहाँ वर्षथ √वष स निष्पन्न है। परन्तु इस व्याख्या मे दरवाजे के नीचे बरसते हो।' अर्थ म कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। अन्य यह √वृ का लेट म द्वि व, का रूप हो सकता है। 'द्वारा' भी द्वार का द्वितीया, ि व ही प्रतीत होता है। इस प्रकार का प्रयोग ऊपर टि ८ मे उद्धृत ७।६५।६ म तथा १।१८८।५ (पृष्ठ ८३ टि ५ म उद्धृत) और ६।१०।६ (क ी टि ७ में उद्धृत) मे भी उप लब्ध है। द्वि वचना त द्वार का अर्थ दरवाजे के दो पल्ले है।

१० वि मो राये दुरो वधि ॥ ६।४५।३ ६४।३॥

का प्रयोग इन लोगो के मत मे इन शब्दो की उपयु क्त व्युत्पत्ति का सूचक है। यास्क ने 'द्वार' के तीन निवचन दिए हैं[१] (१) √जव (√जु) से, (२) √द्रव (√द्रु) से, (३) √वारि (< √व) से[२]। तृतीय निवचन मे √वृ से निष्पन्न 'वार्' के आदि म 'द्' जोड कर 'द्वार अभिप्रेत है[३]। पर वर्ती काल में इन शब्दो की सिद्धि के लिए वैयाकरणो म √द्वृ की कल्पना कर ली गई थी[४]।

८७ द्वार्< √ऋ प्रस्कण्व काण्व[५], परा शर शाक्त्य[६] और असित काश्यप[७] ने वि+√ऋ के साथ 'द्वार् का प्रयोग किया है। इस से प्रतीत होता है कि इन लोगों को 'द्वार' शब्द √ऋ से अभिप्रेत है तथा √ऋ म 'व्' का आगम होने से ही √व निष्पन्न है।[८]

८८ द्वीप< द्वि+अप अगस्त्य मैत्रा वरुणि ने द्वीप' के साथ 'आप ' के प्रयोग[९] से यह सूचित किया है कि द्वीप' का उत्तर पद 'अप' है। पाणिनि ने भी 'द्वि+अप् > द्वीप' व्युत्पत्ति दी है[१०]। यास्क ने सीधे 'द्वीप' की व्याख्या तो नही की है पर इससे मिलते जुलते 'अनूप की व्याख्या उ होने 'अनु+आप्> अवाप> अनूप' बताई है[११]। अत 'द्वीप की व्याख्या भी यदि वे करते, तो 'द्वि+अप् > द्यप्>द्वीप' करते, यह कहा जा सकता है।

---

१ द्र निरुक्तम् ८।९ द्वारो (१) जवतेर्वा, (२) द्रवतेर्वा, (३) वारयतेर्वा।

२ 'द्वार के दो उद्देश्य होते हैं (१) दीवार आदि अवरोध म से प्रवेश और निगम की सहूलियत, (२) निर्बाध प्रवेश और निगम मे रुकावट। यास्क के प्रथम दो निवचन गति' अथ के कारण प्रथम उद्देश्य को दृष्टि म रख कर किये अथ निवचन हैं और तीसरा निवचन 'रोकना' अथ के कारण द्वितीय उद्देश्य को दृष्टि म रख कर किया गया शब्दार्थोभय निवचन है।

३ द्र निरुक्तम् २।२ अथापि वर्णोप जन—आस्थद्, द्वारो, भरूजेति।

४ द्र निरुक्त मीमासा पृष्ठ २४७ टि १।

५ उषो, यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिव'। १।४८।१५॥

यहाँ 'ऋणव है या 'वृणव ', इस पर द्र 'निरुक्त मीमासा , पृष्ठ २४७ २४८।

६ त्मना वह तो दुरो व्यृण्वन्, नव त विश्वे स्वर् दृशीके॥ १।६९।१०॥

७ अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वति कारव। ९।१०।६॥

८ इस विषय म विशेष के लिए द्र 'निरुक्त मीमासा', पृष्ठ २४७ ८।

९ अग्निरिच्छिद्धि त्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीप दधति प्र यासि॥ १।१६९।३॥

१० द्र अष्टाध्यायी ६।३।९७ द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्।

११ द्र निरुक्तम् २।२२ अनूपा=अनु-वपन्ति लोकास्तेन-स्वेन कमणा। अयमपीतरोऽनूप (१) एतस्मादेव—अनूप्यत उदकेन। (२) अपि वाऽन्वाविति स्यात्, यथा प्रागिति। तस्यानूप इति स्यात्, यथा प्राचीनमिति। इन निवचनों की व्याख्या म डा सिद्धेश्वर वर्मा की ('दी एटिमॉलॉजीज आफ यास्क पृष्ठ ५७ म) भ्रान्ति की समीक्षा के लिए द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २४१ २।

८६ धाय < √धा श्यावाश्व आत्रेय[1] और भरद्वाज बार्हस्पत्य[2] के 'धाय' और √धा के इकट्ठे प्रयोग से विदित होता है कि व इस √धा (धारण) स बना मानते हैं। उणादि कार ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[3]। यास्क ने 'धाय' की व्याख्या तो नहीं की है पर धा और अर्थ दोनों दृष्टियों से इससे मिलते जुलते 'धाना' की यही व्युत्पत्ति दी है[4]। अत वे धाय की भी यही व्युत्पत्ति कदा चिद् देते, यह अनुमान किया जा सकता है।

९० ध्वान्त < √ध्वस वैरूप नाभानेदिष्ट ने √ध्वस के साथ कथंचित् 'ध्वान्त' का प्रयोग कर के इन दोनों के व्युत्पत्तिक सम्बन्ध का सङ्केत किया है[5]। यास्क ने भी गौरिवीति शाक्त्य के[6] 'ध्वान्त' की व्याख्या √ध्वस् से ही की है[7]। पाणिनि ने इसे निपातन सिद्ध बताया है[8]। पतञ्जलि ने √ध्वन् स ध्वान्त की व्युत्पत्ति दी है[9]। शायद उन्हें ध्वान्त' से अन्धकार का साँय-साँय करता पक्ष ही अधिक प्रबल लगा हो अन्यथा ध्वान्त' चक्षु का विषय तो कदा चिद् है, पर श्रोत्र का विषय तो नहीं है।

९१ नि धि < √धा वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[10] और उल वातायन[11] न 'निधि' के उत्तर पद धि की व्याख्या हि से की है। यह √धा के स्थान पर प्रयुक्त होने वाली एक प्रकृति है[12]। अत इस व्युत्पत्ति से दो बातें स्पष्ट हैं (१) धि= हि < √धा सम्बन्ध विदित है। (२) प्रत्यय कर्म अर्थ में है। यास्क ने नि धि' का पर्याय 'शेव धि' दे कर[13] कदा चिद् यही व्युत्पत्ति सूचित की है। सङ्कुसुक यामा

---

१ येन तोकाय तनयाय धान्य बीज वहेथे अ क्षितम्।
अस्मभ्य तद् धत्तन यद् व ईमहे राधो विश्वायु सौ भगम् ॥ ५।५३।१३॥

२ विश्व स देव प्रति वारमग्ने धत्ते धान्यम् पत्यते वसव्य ॥ ६।१३।४॥

३ द्र उणादि सूत्र ७२६ (५।४८) दधातेर्यन्नुट् च।

४ द्र निरुक्तम् ५।१२ धाना (१) भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति। (२) फले हिता भवन्तीति वा।

५ ध्वान्त तमोऽव दध्वसे हत, इन्द्रो मह्ना पूर्व हूतावपत्यत ॥ १०।११३।७॥

६ वय सु पर्णा उप सेदुरिन्द्र प्रिय मेधा ऋषयो नाधमाना।
अप ध्वान्त मूर्णुहि पूर्धि चक्षुर् मुमुग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान् ॥ १०।७३।११॥

७ द्र निरुक्तम् ४।३ अपोर्णु ह्या ध्वस्त अक्षु।

८ द्र अष्टाध्यायी ७।२।१८ क्षुब्ध स्वा त ध्वान्त लग्न म्लिष्ट विरिब्ध फाण्ट बाढानि मन्थ मनस्-तमस सक्त अविस्पष्ट स्वर अनायास भृशेषु।

९ द्र महा भाष्य ७।२।१८, वा ३ पृष्ठ ११८ ध्वान्त तमोऽभि धान' इति वक्तव्यम्। ध्वनित तमसेत्यर्वाक्यम्।

१० एव स्य या पूर्व-मत्वेव सख्ये निधिर्हितो, माध्वी रातो अस्मे। ७।६७।७॥

११ यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हित। ततो नो देहि जीवसे॥ १०।१८६।३॥

१२ द्र अष्टाध्यायी ७।४।४२ दधातेर्हि। १३ द्र निरुक्तम् २।४।

यन ने 'परि धि' की व्याख्या √धा से की है[1]।

६२ नि युत् < नि+√यु नि युत् वायु की घोडियों का नाम है[2]। वसिष्ठ मन्त्रा वरुणि न इस शब्द का प्रयोग वायु के सम्बन्ध म व्युत्पत्ति प्रदशन पूर्वक किया है[3]। यह शब्द कम अथ म निष्पन्न है।

६३ नेमि < √नम्। वि रूप आङ्गिरस[4] और रेभ काश्यप[5] ने √नम् से नेमि' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। नमि पहिए के घेरे (Rim) का वाचक है। यह लुढकता है, तो यान गति करता है। यह लुढकना ही यहाँ √नम् (झुकना, नीचे की ओर होना) से कहा गया है। कात्यायन ने इसे लौकिक भाषा मे ही प्रयुक्त बताया है, तथा इस की व्युत्पत्ति √नम् से ही दी है[6]। उणादि कार न इस की नयन शक्ति को दृष्टि मे रख कर इसे √नी से व्युत्पन्न बताया है[7]।

६४ नौ < नु नौ' शब्द 'नाव का वाचक है, आम तौर से यही विदित है। नाव अर्थ वाले नौ की व्युत्पत्ति यास्क ने √नुद् से, या √नम् से बताई है[8]। वैयाकरण लोग इसे √नुद् स मानते हैं कि इस ढकला जाता है[9]। वेद में नौ वाणी अथ म भी आया है[10]। अयास्य आङ्गिरस ने इस की व्युत्पत्ति स्तुत्यर्थक √नु स करण मे सूचित की है कि इस से स्तुति की जाती है[11]। ऐतरेय ब्राह्मण मे नौका के समान कठिनाइयों को पार करने का साधन होने के कारण 'वाक' को 'नौ' बताया है[12]।

६५ पक्ति < √पच सोम पान के साथ[13] किए जाने वाले नाश्ते को

---

१ इम जीवेभ्य परि धि दधामि। १०।१८।४॥

२ इन के स्वरूप के लिये द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २६९।

३ नि युवाना नि युत स्पार्हवीरा इन्द्र वायू स रथ यातमर्वाक। ७। ९१।५॥
प्र याभिर्यासि दाश्वांसमच्छा नि युद्भिर्वायविष्टये दुरोणे,
नि नो रयिं सु भोजस युवस्व॥ ७।९२।३॥

४ त नेमिमृभवो यथाऽऽनमस्व स-हूतिभि। नेदीयो यज्ञमङ्गिर॥ ८।७५।५॥

५ नेमिं नमन्ति चक्षसा मेष विप्रा अभि स्वरा। ८।९७।१२॥

६ द्र अष्टा ३।२।१७१ वार्तिक भाषायां धाञ्कृ सृ गमि जनि नमिभ्य'।

७ द्र उणादि सूत्र ४८३ (४।४३) नियो मि। तत्त्व बोधिनी नयति चक्रमिति नेमिश्चक्रावयव।

८ द्र निरुक्तम् ५।२३ नौ (१) प्र णोत्तव्या भवति। (२) नमतेर्वा।

९ द्र उणादि-सूत्र २२२ (२।६५) ग्ला नुदिभ्यां डौ।

१० द्र निघण्टु १।११।४५, तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४३।

११ सखी सखायो अस्वरन्वने क्रीळन्तमन्यविमिन्दु नावा अनूषत॥९।४५।५॥

१२ द्र ऐ ब्रा १।३।२ 'सु तर्माणमधि नाव रुहेम।' (ऋ ८।४२।३) इति—यज्ञो वै सु तर्मा नौ, कृष्णाजिन व सुन्तर्मा नौ, वाग्व सु-तर्मा नौ।

१३ इसे अनु ष्वध' कहा जाता था। द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १७४।

पकाने के वाचक 'पक्ति' की व्युत्पत्ति वाम देव गौतम[1], गौरिवीति शाक्त्य[2], भरद्वाज बार्हस्पत्य[3] और वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[4] ने √पच् से कम में दी है।

९६ पति < √पा वाम-देव गौतम को 'पति' (स्वामी) नाम रक्षकता के कारण √पा से पड़ा है यह अभिप्रेत है[5]। ऋग्वेद में √पत (पत्यते) ऐश्वर्य अर्थ में सु बहु प्रयुक्त है। हमारा विचार है कि यह 'पति' का नाम-धातु है। यास्क ने भी 'पति' की व्याख्या √पा से की है तथा √पा का अर्थ उन्हों ने √पाल से स्पष्ट किया है[6]। उणादि कार ने भी पति को √पा से निष्पादित किया है[7]।

९७ पपुरि < √पृ प्रस्कण्व काण्व[8] और कक्षीवत् दर्घ-तमस औशिज[9] ने √पृ से कर्म में 'पपुरि' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। यहाँ ऋ को 'उर' विकार स्पष्ट अभिप्रेत है। यास्क ने भी कक्षीवत् का अनु-करण किया है[10]।

९८ पप्रि < √पृ। सव्य आङ्गिरस ने पूरण अर्थ वाली पृ√ से 'पप्रि' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[11]। यहाँ पपुरि के समान ऋ < उर विकार नहीं हुआ है। शिरिम्बिठि काण्व ने इस 'पार जाना' अर्थ वाली पृ√ से प्रेरणार्थ में निष्पन्न समझा लगता है[12]।

९९ पयस इस शब्द की कति पय व्युत्पत्तियाँ अभिप्रेत प्रतीत होती हैं

---

१ य इन्द्राय सुनवत्सोममद्य पचात्पक्तीर उत भृज्जाति धाना। ४।२४।७॥

२ आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीर, अपिब सोममस्य॥ ५।२९।११॥

३ स सोम आमिश्लतम सुतोऽभूद्यस्मिन्पक्ति पच्यते, सन्ति धाना। ६।२९।४॥

४ सुनोता सोम पाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। पचता पक्तीर । ७।३२।८॥

५ पात्यग्निर विपत्सो नो, मित्रो मित्रियादुत न उरुष्येत्॥ ४।५५।५॥

६ द्र निरुक्तम् १०।१४ क्षेत्रस्य पति = क्षेत्र क्षियतेर्निवास कर्मण, तस्य पाता वा, पालयिता वा।

७ उणादि सूत्र ४६७ (४।५७) पातेर्डति। उणादि-कार ने √पा से 'डति' कर तो दिया, पर यह ध्यान में नहीं रखा कि पाणिनि के 'डति च। (अष्टा १।१।२५) से प्राप्त षट सञ्ज्ञा तथा षड्भ्यो लुक्। (अष्टा ७।१।२२) से प्राप्त प्रथमा द्वितीया के बहु वचन के लोप का क्या होगा?

८ हविषा जारो अपां पिपर्ति पपुरिर्नरा। १।४६।४॥

९ उप क्षरन्ति सिन्धवो मयो भुव ईजान च यक्ष्यमाण च।

पृणन्त च पपुरि च श्रवस्यवो घृतस्य धारा उप यन्ति विश्वत॥ ।१२५।४॥

१० द्र निरुक्तम् ५।२४ पिपर्ति, पपुरिरिति (१) पृणाति निगमो वा, (२) प्रीणाति निगमो वा। विपरीतार्थ तुलना के लिए आगे ९८ पप्रि देखिए।

११ स हि पप्रिरन्धस॥ आ य पृणाति दिवि सद्म बर्हिव। १।५२।३-४॥

१२ स न पप्रि पारयाति स्वस्ति नावा पुरु हूत।

इन्द्रो विश्वा अति द्विष॥८।१६।११॥ आगे '१०४ पार' भी देखिए।

(क) पयस< √पी गोतम राहूगण[1], दीघतमस औचथ्य[2], वाम देव गौतम[3], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[4], गय प्लात[5] ने 'पयस को √पी के करण के रूप में प्रयुक्त किया है। इस से विदित होता है कि ये लोग इस √पी से करण में निष्पन्न मानते हैं। गृत्समद ने[6] इस के साथ कत्रथक 'पीयूप' का प्रयोग करते हुए √पी के कम के रूप मे, तो असित काश्यप ने[7] √पी के कर्ता के रूप मे ही √पी के साथ 'पयस' का प्रयोग कर के 'पयस्' की व्युत्पत्ति √पी से कत्रय म अभीष्ट है, यह सूचित किया है। इस व्युत्पत्ति मे पोषण म दूध की उप योगिता को दृष्टि मे रखा गया प्रतीत होता है।

(ख) पयस् > √पा दीघ-तमस औचथ्य ने √पा (पीना) के साथ उसके कम के रूप मे भी √पयस् का प्रयोग किया है[8]। इस व्युत्पत्ति मे सम्भवत पयता के कारण √पा से 'पयस' का नाम करण अभिप्रेत है।

यास्क ने ये दोनो ही निवचन दिये हैं[9]। वयाकरणों म (१) कुछ लोग इस की पेयता को ले कर √पा स पयस मानते हैं[10], तो (२) कुछ लोग पोषकता के कारण √पी म पयस मानते हैं[11]।

(ग) पयस< √पिन्व् नोधस गोतम[12], विश्वामित्र गाथिन[13], वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[14], वत्स प्रि भाल दन[15], गय प्लात[16], वसु करण वासु क्र[17] और

---

१ यदीमृतस्य पयसा पियान । १।७९।३॥
२ सृक्वाण घममभि वावशाना मिमाति मायु पयते पयोभि ॥ १।१६४।२८ ॥
३ कृष्णा सती रुशता धासिनषा जामर्येण पयसा पीपाय ॥ ४।३।९ ॥
४ या सुश्वय त सु दुघा सु धारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानां । ७।३६।६॥
५ यां मे धिय मरुत इन्द्र देवा अददात वरुण मित्र, यूयम्।
तां पीपयत पयसेव धेनुम्। १०।६४।१२ ॥
६ तदा हना अभवत्पिप्युषी पयोऽशो पीयूष प्रथम तदुक्थ्यम् ॥ २।१३।१॥
७ पयो यदस्य पीपयत्। ९।९।७॥ ८ वीत पात पय उस्रियाया ॥ १।१३।४॥
९ द्र निरुक्तम २।५ पय (१) पिवतर्वा, (२) प्यायतेर्वा।
१० द्र माधवीय धातु वत्ति १।९०८ पय — पिवतेरीच्च'* इत्यसुनि ईकारातादेशे गुणायादेशौ। * यह सूत्र सिद्धान्त कौमुदी मे नही है।
११ द्र सिद्धान्त-कौमुदी, उणादि-सूत्र ६२८ (४।२२८) सव धातुभ्योऽसुन्। चेत। सर। पय। सद। 'पयस को नागेन्द्रसरस्वती ने √पय गति' से, या √पी पान' से वासु-देव दीक्षित ने 'पीङ् पाने' (मा धा व ४।३३) से बताया है।
१२ भूमिं पिन्वन्ति पयसा परि ज्रय । १।६४।५ ॥
पिन्वन्त्यपो मरुत सु दानव पयो घृतवद् विदथेष्वा भुव । ६ ॥
१३ एना वय पयसा पिन्वमाना अनु योनि देव कृत चरन्ती । ३।३३।४ ॥
१४ ता अस्मभ्य पयसा पिन्वमाना । ७।५०।४ ॥
१५ वि यो ममे यम्या स यती मद साक वृधा पयसा पिन्वद क्षिता ।८।६९।३॥

शम्बर काक्षीवत[१८] ने 'पयस' का प्रयोग √पिन्व (पुष्टि) के करण[१९] और कर्म[२०] के रूप में उसके साथ कर के इन दोनों के व्युत्पत्तिक सम्बन्ध को सङ्केतित किया है।

१०० पवत< पवन् पुनवत्स काण्व न मरुतों ने पवतों को पव पव (टुकड़े टुकड़े) कर दिया[२१]।' कथन में पवत "पव" पवन् से मत्वर्थीय प्रत्यय से बना है, इस बात को सूचित किया है। यास्क[२२] और कात्यायन[२३] ने भी पवत को यही व्युत्पत्ति दी है। उणादि कार ने इसे कृदन्त समझ कर पूरणार्थक √पव से अत' (अतच) प्रत्यय से निष्पादित किया है[२४]। इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पवत' को अन्तोदात्त होना चाहिए[२५]। उणादि कार के इस नियम के अधीन निष्पन्न जितने शब्द ऋग्वेद और दूसरी संहिताओं में हैं वे सब अन्तोदात्त हैं, किन्तु 'पवत' सवत्र आद्युदात्त है। यास्क और कात्यायन द्वारा दी गई व्युत्पत्तियों में स्वर ठीक है। अत उणादि कार की 'पवत< √पव व्युत्पत्ति चिन्त्य है।

१०१ पाक< √पच दीर्घतमस औचथ्य ने पाक' को √पच के साथ प्रयुक्त कर के इन दोनों के व्युत्पत्ति-गत सम्बन्ध का सङ्केत किया है[२६]। यहाँ तालव्य और कण्ठय स्पर्शों का पारस्परिक सम्बन्ध सुविदित है। भग, भाग, याग आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं तथा संस्कृत ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से यज्ञ' भी आज उत्तर भारत में 'यग्य' तथा गुजरात, महाराष्ट्र में यग्न' (कण्ठयवान्)बोला जाता है।

१०२ पायस< √पा 'पायस की प्रकृति √पा है यह प्रत्यन्त स्पष्ट है परन्तु √पा के कई अर्थ हैं। अत इस का अर्थ निर्वचन बहुत आवश्यक है। प्रजापति वैश्वामित्र ने भाग वाचक 'पायस के साथ रक्षार्थक 'गोपा और पाति' का प्रयोग कर के √पा का रक्षा अर्थ अभिप्रेत है, यह सूचित किया है[२७]। गृत्समद ने

---

१८ येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पय पीयूष द्यौरदितिरद्रि बर्हा। १०।६३।३॥

१९ द्यावा-पृथिवी वरुणाय स व्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वत ॥ १०।६५।८॥

२० ता पयसा पिन्वमाना प्रजावतीरिन्द्र, गो-ष्ठे रिरीहि ॥१०।१६९।३॥

२१ १।६४।५ ३।३३।४, ७।५०४, ८।६८।२ १०।१६९।३।

२० द्र १।६४।६ १०।६३।३ ६५।८।

२१ वि वृत्र पर्वशो ययुर्, वि पर्वताँ अराजिन।
चक्राणा वृष्णि पौंस्यम्। ८।७।२३॥

२२ द्र निरुक्तम १।२० गिरि —पवत समुद्गीर्णो भवति। पववान्पवत।

२३ द्र अष्टाध्यायी ५।२।१२१ पर वार्तिक तप पर्व मरुद्भ्याम्।

२४ द्र उणादि-सूत्र ३९० (३।११०) भृ मृ दृशि यजि-पर्वि-पचि अमि-तमि नमि हर्येभ्योऽतच्। पचि अमि म यणतरि योजक चिह्न-सुविधाय तोड़ दी है।

२५ 'अतच' प्रत्यय चित् है तथा चित् प्रत्यय से बना शब्द अन्तोदात्त होता है। द्र अष्टाध्यायी ६।१।१६३ चित (अन्त उदात्त)।

२६ सुकृता तच्छमितार कृण्वन्तुत मेध शृत पाक पचन्तु ॥ १।१६२।१०॥

२७ विष्णुर्गोपा परम पाति पाथ प्रिया धामा यमृता दधान। ३।५५।१०॥

भी सम्भवत इसी व्युत्पत्ति को दृष्टि म रख कर इस के साथ 'पायु प्रयोग किया है'[1]।

यास्क ने 'अन्तरिक्ष के पर्याय पाथस को व्युत्पत्ति की दृष्टि से पथ्' के समान बताया है। पथ शब्द उनके अनुसार 'प था' (पाणिनीय तन्त्र पथिन् प्र ए व) स सम्बद्ध है तथा (१) √पत् से, या (२) √पद् से, अथवा (३) √पन्थ से व्युत्पन्न है[2]। प्रथम दो धातु गत्यथक हैं[3]। तीसरी धातु इस नाम को देख कर कल्पित की गई लगती है[4]। जल और अन्न ('पितु' से तुलना करें) के पर्याय के रूप मे इस 'पान अथ वाली √पा स बताया है[5]। उणादि कार न भी इन दोना अर्थो म √पा म ही व्युत्पत्ति बताई है[6]। अ विकरण (पाते) प्रयोग का देख कर ही सम्भवत टीका कारा न √पा स रक्षाथक धातु ली है[7]। परन्तु पेयता के आधार पर 'जल' का नाम-करण न कर के रक्ष्यता क आधार पर उस की व्युत्पत्ति बतलाना विचित्र है। उणादि कार कहीं बाडमर के रेगिस्तान के सताय हुए ता नही थे।

१०३ पायु< √पा ऋग्वेद-सहिता म 'पायु का प्रयोग नौ बार रक्षाथक √पा के करण क रूप म किया गया है। इस स विदित होता है कि १ कुत्स आङ्गिरस[8], २ परुच्छेप दवो दासि[9], ३ दीघ तमस औचथ्य[10] ४ अगस्त्य मैत्रा वरुणि[11], ५ गृत्समद[12], ६ उरुचक्रि आत्रेय[13], ७ भरद्वाज बाहस्पत्य [*] ८ वसिष्ठ मत्रा वरुणि[14] और ९ भग प्रागाथ[15] ऋषि इसे रक्षाथक √पा म करण म निष्पन्न समभत हैं। उणादि कार न यही व्युत्पत्ति दी है और √पा का अथ स्पष्ट रूप से नहीं बताया है[17]।

---

१ पाथो न पायु जनसी उभे अनु ॥ २।२।४ ॥

२ द्र निरुक्तम् ६।७ पाथ पथा व्याख्यातम्। २।२८ 'पथामङ्कासि (ऋ ४।४०।४)=पथां कुटिलानि। प था (१) पततेर्वा। (२) पद्यतेर्वा। (३) पन्थतेर्वा।

३ द्र निघण्टु २।१४।११४ पतति। √पद् गति क लिय तुलना करें निरुक्त ५।१८ पदिगन्तुभवति, पत्पद्यते। पाणिनीय तन्त्र म भी य दाना गत्यथक बताय हैं। द्र माधवीय धातु वत्ति १।८६० पत्लृ गतौ। ४।६१ पद गतौ।

४ पाणिनीय त त्र म यह गति' अथ म है पथि-गतौ (मा धा व १०।४१)।

५ निरुक्त ६।७ उदकमपि पाथ उच्यते, पानात्। अन्नमपि पाथ उच्यते, पानादेव।

६ द्र उणादि सूत्र ६४२ (४।२०३) पातेर् उदके युट च। ६४४ अन्ने च।

७ प्रकृत (६४३) सूत्र म पात ' पिछले सूत्र स अनुवत्त है। वहाँ भानेन्द्र सरस्वती और वासुदव दीक्षित दानो न पा रक्षणे। (२।४६) का ग्रहण किया है। अत यहाँ भी, वही अथ अनुवत्त होना चाहिय।

८ द्र १।६९।९। ९ द्र १।१३०।१०। १० द्र १।१४३।८।

११ द्र १।१८९।४। १२ द्र २।२।४। १३ द्र ५।३०।३।

१४ द्र ६।३१।२। १५ द्र ७।३८।३। १६ द्र ८।६०।८।

१७ द्र उणादि सूत्र १ कृ वा पा जि मि स्वदि साधि

१०४ पार< √प　गृत्समद[1] और वसिष्ठ मत्रा वरुणि[2] ने 'पार' के साथ √पृ के प्रयोग से इसे √पृ से निष्पन्न समझा लगता है। गर्ग भारद्वाज ने 'पार' की प्रकृति पृ √का अर्थ 'पार करना' दिया है[3]। यास्क ने इस 'पर' नाम से स्वार्थ मे प्रत्यय से निष्पन्न समझा लगता है[4] कि परला किनारा जिस पहुँचना होता है 'पार' होता है तथा उरला किनारा 'अवार' कहलाता है।

१०५ पितु> √पा　नोधस गोतम ने √पा 'पीना' से 'पपिवस' के साथ वम के रूप म 'पितु' का प्रयोग किया है[5]। गद्ध यामायन ने इस के लिये 'सुत' विशेषण का प्रयोग किया है[6]। इस से प्रतीत होता है कि यह 'सोम' का नाम है। भिक्षु आङ्गिरस ने इसे 'अन्न' अर्थ म प्रयुक्त किया है[7]। इससे विदित होता है कि मूलत इस का प्रवृत्ति निमित्त गुण 'पयता' था फिर यह 'भक्ष्यता' मे सीमित हो गया। यास्क ने इसे अन्न[8] के पर्यायो म और देवता के रूप मे स्तुत पार्थिव पदार्थों मे[9] सङ्कलित किया है। उन्होने इसके तीन निवचन किये हैं (१) √पा 'रक्षा' से (२) √पा 'पीना' से, (३) √प्यै 'पुष्टि' से[10]। शाकटायन ने इस √पा से बताया[11]

√पा के एक तरफ आदादिक √वा (२।४०) है तो दूसरी तरफ भौवादिक √जि (१।५५४ ६२७)। अन साहचय नियम के अनुसार इस स भौवादिक और आदादिक दोनों का ग्रहण हो सकता है। यही कारण प्रतीत होता है कि टीकाकारो ने दानो का ही ग्रहण किया है तत्त्व बाधिनी और बाल मनो रमा म 'पायु' का अर्थ 'गुद' बताया है तथा इसे 'पीना' अर्थ वाली √पा से निष्पन्न बताया है कि यह तेल आदि पीने का साधन है पिबत्यनेन तलादिकमिति पायुगु द स्थानम् (तत्त्व बाधिनी)। इस र त्व अर्थ म रक्षार्थक √पा स भी निष्पन्न माना गया है पाति=रक्षति इति विग्रहे रम्भको.पि (त बो)। तेल पीने को गुदा का प्रवत्ति निमित्त बतलाना कुछ विचित्र सा ही है। इस अर्थ म वास्तविक युत्पत्ति अन्वेष्य है।

१ पवि ए पारमहस स्वस्ति। २।३३।३।

२ प्र वाजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पार नो अस्य विष्पितस्य पषन्॥ ७।६०।७॥

३ भवा सुपारो, अति पारयो न। ६।४७।७।

४ द्र निरुक्तम २।२४ पार पर भवति। अवारमवरम।

५ अस्येदु मातु सवनेषु सद्यो मह पितु पपिवाञ्चार्वन्ना। १।६१।७॥

६ यहि पदो ये स्व धया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठा॥ १०।१५।३॥

७ म आध्राय, चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोप जग्मुषे। १०।११७।२॥
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्व। ४॥

८ द्र निघण्टु २।७।६।　　९ द्र निघण्टु ५।३।११।

१० द्र निरुतम ९।२४ पितुरित्यन्न नाम (१) पातेर्वा, (२) पिबतेर्वा, (३) प्यायतेर्वा।

११ द्र उणादि सूत्र ७० प क्विच।

है, किन्तु इस का अर्थ नहीं बताया है। भट्टोजि दीक्षित ने इस का अर्थ 'पीना' बताया है[1]।

१०६ पुर< √पृ वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने 'पुर्' का प्रयोग पालनार्थक √पृ के साथ तथा इस के विशेषण के रूप मे 'पर्तृ' का प्रयोग कर के 'पुर्' की व्युत्पत्ति √पृ से सूचित की है कि यह (पुर्=किला) रक्षा करने से 'पुर' है[2]।

१०७ पृथिवी< √प्रथ गृत्समद[3], श्यावाश्व आत्रेय[4], भरद्वाज बार्हस्पत्य[5], न मेध तथा पुरु मेध आङ्गिरसा[6] और नाभा नेदिष्ठ मानव[7] ने धरती का 'पृथिवी' नाम फलने से पडा है, यह स्पष्ट किया है। एव याम रुद् आत्रेय ने 'पृथिवी' के प्रथन की चर्चा की है[8]। गृत्समद ने धरती की इस विशेषता को 'भूमि' के प्रसङ्ग मे भी बताया है[9]। इसी आशय को परा शर शाक्त्य ने 'क्षिति' की विशेषता के रूप मे पृथ्वी' शब्द से[10], और अगस्त्य मैत्रा वरुणि ने समानार्थक 'उर्वी' और पृथ्वी शब्दो से कहा है[11]। जिस प्रकार 'जन्मन्' शब्द इ' की स्वर भक्ति से जनिमन् के रूप मे प्रयुक्त हुआ है वस ही 'पृथ्वी' शब्द भी 'इ' की स्वर भक्ति से 'पृथिवी' हो गया लगता है। इस निवचन मे 'र > ऋ' (सम्प्रसारण) का ज्ञान भी स्पष्ट है[12]। शाकटायन न भी इसकी यही व्युत्पत्ति दी है[13]। 'शब्दार्णव कोष के अनुसार पृथ्वी क दो विकार लोक म प्रचलित थे (१) पृथिवी, (२) पृथवी[14]

---

१ द्र उणादि सूत्र ७० पर सिद्धान्त कौमुदी पिबतीति पितुवह्नो, दिवा करे।

२ तां महस पिपृहि पर्तृ भिष्टव शत पूर्भियविष्ठय ॥ ७।१६।१० ॥

३ स (इन्द्रो) धारयत् पृथिवीं पप्रथच्च। २।१५।२ ॥

४ प्रथिष्ट याम पृथिवी चिदेषाम्। ५।५८।७।।

५ उप द्यां स्कम्भथु स्कम्भनेनाप्रथत पृथिवीं मातर वि ॥ ६।७२।२ ॥

६ तत्पृथिवीमप्रथय ।८।८६।५।। ७ अप्रथय पृथिवीं मातर वि।१०।६२।३।।

८ दीर्घं, पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवम्। ५।८७।७ ॥

९ वि समना भूमिरप्रथिष्ट। २।११।७ ॥

१० पुष्टिन रण्वा, क्षितिन पृथ्वी। १।६५।५ ॥

११ उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे अन्ते। १।१८५।७ ॥
पूर्वच पृथ्वी बहुला न उर्वी। १।१८६।२ ॥

१२ द्र निरुक्तम १।१३ प्रथनात्पृथिवीत्याहु। १४ अथ वै दर्शनेन पृथु।

१३ द्र उणादि-सूत्र १४८ प्रथे षिवन्, सम्प्रसारण च।

१४ द्र शब्दार्णव पृथवी पृथिवी पृथ्वी धरा, सव सहा, रसा।
बाल मनो रमा "पृथिवी, पृथवी, पृथ्वी' इत्यमर"। परन्तु अमरकोष म 'पृथवी' (कण्ठ्य स्वर युक्त) शब्द ही नही है। अत यह कथन चिन्त्य है। 'पृथवी वैदिक, लौकिक वाङमय मे अनुपलब्ध है, बोल चाल मे सम्भवत प्रयुक्त रहा हो, तथा इसी कारण कोषों मे इस वर्तनी का भी सङ्कलन कर लिया गया हो। बहुत स शिक्षित लोग तक आज भी 'पथिवी' का उच्चारण 'प्रथवी' करते हैं।

अर्थात् इस शब्द में 'इ' की स्वर भक्ति के समान 'अ' की स्वर भक्ति भी प्रचलित थी। यह मन्तव्य उज्ज्वल दत्त को भी स्वीकार है[1]।

१०८ पृथु< √प्रथ गृत्समद[2] और एवयामरुद् आत्रेय[3] ने 'पृथु' की व्युत्पत्ति √प्रथ से भाव में अभिप्रेत है इस बात का सङ्केत किया है। यास्क ने भी इसे √प्रथ की सम्प्रसारण वाली प्रकृति से निष्पन्न बताया है तथा कहा है कि √प्रथ (रेफवान्) की अपेक्षा √पृथ (सम्प्रसारण वाला) रूप कम शब्दों में उपलब्ध होता है[4]। उणादि कार भी इसे √प्रथ से सम्प्रसारण होने पर निष्पन्न मानते हैं[5]।

१०९ पृष्ठ< √प्रुष नोधस गौतम ने 'पृष्ठ' और 'प्रुषित' शब्द के युगपत्प्रयोग[6] से इन की प्रकृति की समानता का सकेत कदाचित् किया है। यास्क इस √स्पृश से मानते हैं कि पीठ अङ्गों से छुई हुई होती है[7]। शाकटायन ने इस निपातन सिद्ध बताया है। टीकाओं में इसकी प्रकृति √पृष (सेचन) दी है[8]।

११० प्रतर< √तॄ इस शब्द में 'प्र' उपसर्ग प्रकृति है[9] तथा 'तर' अन्त प्रत्यय है[10]। वामदेव गौतम, एवं कुल्मल बर्हिष शैलूषि[11] ने और बन्धु गोपायन ने

---

१ पथिवी' की सिद्धि के लिये कुछ वैयाकरण उणादि सूत्र १४८ (द्र पृष्ठ ९१, टि १३ में उद्धत) में 'षिवन्' के स्थान पर 'षवन्' पाठ मानते हैं। द्र सिद्धान्त कौमुदी षवन्नित्येके—पृथिवी। पृथवी पृथिवी पृथ्वी इति शब्दार्णव। 'षिवन्' के स्थान पर षवन् पाठ की सूचना सब से पहले सम्भवत उज्ज्वलदत्त ने दी है। द्र शब्दकल्पद्रुम' में 'पथवी' की व्युत्पत्ति।

२ स देवो देवान्प्रति पप्रथे पृथु। २।२४।११॥

३ द्र पृष्ठ ९१, टि ८ में उद्धत ५।८७।८।

४ द्र निरुक्त में २।२ तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु भवति, तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति। तद् यथैतद् ऊतिर् मृदु, पृथु, पृषत कुणारुम् इति। इस प्रघट्ट की व्याख्या के लिये निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १६६ ७ तथा डा मधुकर अनन्त मेहन्दले की 'निरुक्त नोटस भाग १ पृष्ठ ३८, देखिए।

५ द्र उणादि सूत्र २८ प्रथि म्रदि भ्रस्जां सम्प्रसारणं, स लोपश्च।

६ अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते, दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्॥ १।५८।२॥

७ द्र निरुक्त में ४।३ पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः।

८ द्र उणादि सूत्र १६६ (२।१२) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः। द्र तत्त्वबोधिनी तिज निशाने (१।६५१) पृषु सेचने (१।६६२) गु पुरीषोत्सर्गे (६। ११५) यु मिश्रणे (२।२३), प्रुङ् गतौ (१।६३८)—एते यथाक्रमं प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते।

९ उपसर्ग की परिभाषा पर नई दृष्टि में विचार के लिये द्र निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ १५२ १६२।

१० द्र अष्टाध्यायी ५।३।५७ द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ।

११ प्रतारयन्ते प्रतरं न आयु॥ ५।१२६, १०।१२६।८॥

इस का[1] विग्रह प्र+√त से कर के इस प्रत्यय की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है। डा सिद्धेश्वर वर्मा आदि आधुनिक भाषा चिन्तक प्रत्ययों को अव्युत्पन्न मानते हैं तथा उनकी व्युत्पत्ति की बात करना दोषावह समझते हैं[2], पर वस्तुत प्रत्यय भी कभी व्युत्पन्न प्राति पदिक थे, पर कालान्तर में समस्त होते-होते पूर्वाङ्ग के आगे बिल्कुल गौण पड गये। वाम देव आदि ऋषि भाषा के विकास की इस स्थिति से परिचित हैं तथा यही कारण है कि उन्होंने 'तर' की व्युत्पत्ति दी है[3]।

१११ प्रयस<प्र+√यम् नोधस गौतम ने इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[4]। अर्थ की दृष्टि से यह शब्द सम्भवत 'हविष्' से मिलता है और 'अन्न' अर्थ में रूढ हो गया है।

११२ प्र हित<प्र+√हि यह शब्द 'प्र+हित' का समास है यह तो आपातत स्पष्ट है, परन्तु 'हित' की व्युत्पत्ति क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। यह √धा से निष्पन्न धित का हित' के रूप में विकास भी हो सकता है[5], तथा √गत्यर्थक √हि[6] से निष्पन्न भी। न मेध आङ्गिरस ने दूसरी व्युत्पत्ति दी है[7]।

११३ भक्त<√भज (प्राप्ति, सेवन) विश्वामित्र गाथिन ने 'धायु' को √धा से और 'भक्त' को √भज से 'सेवन' अर्थ में व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[8]। यहां प्रकृति के ज का विपरिणाम् ग>क में हुआ है। ऋषि ने इस अन्तर को भली भांति पकड लिया है। अत यह शब्दार्थोभय निवचन है।

११४ भग<√भज (बांटना) वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने देव विशेष के गुणाभिधान 'भग' की व्युत्पत्ति 'बांटना, देना' अर्थ वाली √भज् से सूचित की है[9]। प्रति-क्षत्र और प्रति प्रभ आत्रेया ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये √भज के साथ 'वि' का प्रयोग किया है[10]। यास्क ने योनि वाचक भग की व्युत्पत्ति √भज[11] से

---

१ प्र तार्यायु प्र तर नवीय । १०।५६।१ ॥

२ द्र एटिमालाजीज आफ यास्क पष्ठ ६४।

३ इस विषय मे अधिक के लिये द्र 'निरुक्त मीमासा' पृष्ठ ४२८।

४ अस्मा इदु प्रय इव प्रयसि । १।६१।२ ॥

५ पाणिनि ने इस विकास की सूचना √धा को सीधे हि आदेश कर के दी है। द्र अष्टाध्यायी ७।४।४२ -दधातेहि ।

६ द्र माधवीय धातु-वृत्ति ५।११ हि गतौ, वृद्धौ च। 'गति' से 'प्रेरणा' अर्थ अभिप्रेत प्रतीत होता है। द्र निरुक्तम् ६।२२।

७ इत ऊती वो अ जरम्, प्र हेतारम-प्र हितम् । ८।६६।७ ॥

८ यस्य धायुरदधा मर्त्याय भक्त चिद् भजते गेह्य स । ३।३०।७ ॥

९ भग्र आश्चिद्य मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् भग भक्षीत्याह ॥७।४१।२॥

१० भगो वि भक्त। शवसावसाऽऽगमत् । ५।४६।६ ॥ तथा
देव वो अद्य सवितारमेषे भग च रत्न वि भजन्तमायो । ४९।१ ॥

११ द्र निरुक्तम १।७ भगो भजते । इस निर्वचन की अ प्रामाणिकता पर

दी है। यह √भज् 'सेवन' अर्थ वाली है। पाणिनीय तन्त्र में 'भग' को √भज् से निष्पादित किया गया है, पर √भज का अर्थ स्पष्ट नहीं है[1]।

ऋग्वेदीय निर्वचना मे धातु का अर्थ 'बाँटना' तथा प्रत्यय का अर्थ 'कर्तृ' स्पष्ट है। सम्भवतः वैयाकरणों की व्याख्या स्त्री योनि परक भग'की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करती है। यास्क ने 'भग' के तीन निर्वचन किये हैं (१)'भद्र' का पर्याय, अर्थात् 'श्रेष्ठ, पाने योग्य, सेवन करने योग्य वस्तु' 'भग' है[2]। इस अर्थ में यह 'सेवन' अथवा 'प्राप्ति' अर्थ वाली √भज् से है। (२) स्त्री-योनि 'भग' है[3]। यहाँ भी 'सेवन' अर्थ स्पष्ट है। (३) हिंसा इस अर्थ मे यास्क ने व्युत्पत्ति दी तो नहीं है पर वह बाँटना' अर्थ वाली √भज् से निकाली जा सकती है[4]।

११५ भाग< √भज (बाँटना) कक्षीवत् दीर्घ-तमस औशिज[5] विश्वामित्र गाथिन[6] और हविर्धान आङ्गि[7] ने हिंसा' अर्थ वाले 'भाग' की व्युत्पत्ति वि+√भज् (बाँटना)[8] से की है। कक्षीवत् के पिता दीर्घ-तमस् औचथ्य[9] ने सायण के अनुसार *शेष अंश' अथवा फल' अर्थ वाले भाग' के साथ आ+√भज् का प्रयोग 'समीप करना' अथवा 'स्थापित करना' अर्थ मे किया है*[10]।

निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ १०१, देखें। ३।१६ स्त्री भगस्तया स्य द् भजते। ४।१० भद्रं भगेन व्याख्यातम्—भजनीयं भूतानाम्।

१ द्र सिद्धान्त कौमुदी, उत्तर कृदन्त प्रकरण सूत्र-सङ्ख्या ३३०४, पृष्ठ ३०१ (मो ब दास संस्करण) खनो घ च (अष्टा ३।३।१२५) घिकरणम् 'भ्यंयोऽय्ययम्।' इति ज्ञापनार्थम्। तेन भजेभग। इस पर बाल मनो रमा भज्यत इति कर्मणि घ।

२ द्र निरुक्तम् ४।१०। ३ द्र वही ३।१६।

४ द्र निरुक्तम् ६।३१ 'भद्रां भगस्य ' (ऋ १०।१५१।१)=भद्रां भगस्य=भाग धेयस्य।

५ यदद्य भाग वि भजासि नृभ्य उषो, देवि, मर्त्यत्रा सु जाते। १।१२३।३॥

६ वायु वि भक्ता भाग धियणेव वाजम्॥ ३।४६।४॥

७ रत्ना च यद्वि भजासि स्वधावो भाग नो अत्र वसुमन्त वीतात्॥१०।११।८॥

८ √भज मूलत बाटना अर्थ में रही प्रतीत होती है सेवन अथवा पाना' उस के बाद के अर्थ हैं। इन प्रयोगों के समय अकेली √भज से बाँटना अर्थ की प्रतीत दुरूह हो गई प्रतीति होती है। परि-णामत इसके साथ वि' का प्रयोग किया जाने लगा। पर वर्तमान काल में तो पहले से प्रचलित भाग आदि शब्दों को छोड़ कर अकेली √भज से बाँटना अर्थ की प्रतीति बन्द ही हो गई है।

९ येषा मजिर्वान्त्रियवस्य भागमृतस्य भागे यजमानमा भजत् ॥१।१५६।५॥

१० द्र ऋ भा (१।१५६।५) ऋतस्य=यज्ञस्य भागे हुत शेष-रूपे सयज मानमा भजत्=भजति, समीपयतीत्यर्थ। यद्वा ऋतस्य=यज्ञस्य भागे फले यज मानमा भजत्=स्वामित्वेन स्थापयति।

११६ भानु < √भा प्रस्कण्व काण्व[1], वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[2], त्रित आप्त्य[3] और वत्स प्रि भालन्दन[4] ने 'भानु' को √भा के करण के रूप में प्रयुक्त किया है। यास्क ने भी इसे √भा की पर्याय √अञ्ज के करण के रूप में प्रयुक्त किया है[5]। टीका-कारों के अनुसार शाकटायन इसे √भा से कत्रय में मानते हैं[6]।

११७ भास < √भा वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[7] और त्रित आप्त्य[8] ने 'भास' का प्रयोग 'चमकना अर्थ वाली √भा के करण के रूप में 'भानु' के समान कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। पाणिनि ने इसे √भास् से कत्रय में व्युत्पादित किया है[9]।

ऋग्वेद-संहिता में √भास का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। अन्य संहिताओं में यह याजुष परम्परा में एक प्रयोग[10] में भासत' (< √भास √शत) के रूप में एक ही बार उपलब्ध होती है। बाद के साहित्य में इस का प्रयोग ब्राह्मणों में तनिक अधिक हो गया है (१) 'भास'[11] और (२) 'भासक'[12] शब्द और मिलते हैं। उपनिषद् युग में तो इस के आख्यात रूप (पर कालीन उपनिषदों में) और कुछ और कृदन्त प्रयोग भी मिलने हैं। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालना असङ्गत नहीं होगा (१) ऋग्वेद काल में √भा का ही प्रयोग होता था। (२) इस से निष्पन्न सञ्ज्ञा पद 'भास' ऋग्वेद काल में प्रयुक्त होता था। (३) याजुष काल में यह 'भास' नाम-पद √भास के रूप में व्यवहृत होने लगा तथा लिखित भाषा में इससे निष्पन्न एक कृदन्त शब्द मिलता है। (४) ब्राह्मण युग में इस के कुछ और प्रयोग कृदन्त

---

१ उष, आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिव । १।४८।९ ॥

२ अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो, देवि प्र तिरन्ती न आयु । ७।७७।५॥

३ यो भानुभिर्वि भावा वि भात्यग्निर्देवेभिॠ तावाऽजस्र । १०।६।२ ॥

४ सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यद् आ रोदसी भानुना भात्यन्त ॥१०।४५।४॥

५ द्र निरुक्तम् १२।७ उषस पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।' (ऋ १। ९२।१)=समञ्जते भानुना।

६ द्र उणादि सूत्र ३१२ (३।३२) दा भाभ्या नु । सिद्धान्त कौमुदी दानुर्दाता। दानु' चूँकि कत्रय मे बताया है, अत 'भानु भी कत्रथक ही अभिप्रेत होना चाहिये।

७ वृषा हरि शुचिरा भाति भासा। ७।१०।१ ॥

८ चिकिद् वि भाति भासा बृहता। १०।३।१ ॥

९ द्र अष्टा ३।२।१७७ भ्राज भास धुर्वि द्युतोर्जि पृ जु ग्रावस्तुव क्विप।

१० द्र माध्यन्दिन स १२।३२, काण्व स १३।३।३, तत्तिरीय-स ४।२।३।१, मैत्रायणी स २।७।१० काठक स १०।१० कपिष्ठल कठ-स २८।१ बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् (अग्नि)।

११ द्र त ब्रा १।२।४।३ ऐ ब्रा ४।१९, ताण्ड्य ब्रा ४।६।१५ ६।६।८, १४।११।१२, १४, आर्षेय ब्रा १।४७०। १२ आर्षेय ब्रा १।४७०।

रूप में ही होते रहे । (५) उपनिषदों की रचना के निचले काल स्तर पर इसके आख्यात रूप भी प्रयुक्त होने लगे । (६) वेदाङ्गों के समय इस का आख्यात के रूप में प्रयोग खुल कर होने लगा था ।

११८ मण्डूक< √मद् वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने √मद् (आनन्दित होना) के साथ कर्ता के रूप में मण्डूक का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[1] । यास्क ने मण्डूक की पाँच व्युत्पत्तियाँ दी हैं इन में से एक यह भी है । उन्होंने वैयाकरणों के मत में इसे √मण्ड से व्युत्पन्न बताया है[2] । शाकटायन ने यह व्युत्पत्ति दी है । टीकाओं में इस √मण्ड को भूषा अर्थ में माना है[3] ।

११९ मधु< √मद् श्यावाश्व आत्रेय ने मधु की व्युत्पत्ति का सङ्केत इस के साथ √मद् से निष्पन्न मदिर विशेषण का प्रयोग कर के किया है[4] । यास्क ने भी इसे √मद् से ही निष्पन्न बताया है[5] । शाकटायन इसे √मन् से निष्पन्न मानते हैं[6] । यह व्युत्पत्ति सम्भवत मधु मन को अच्छा लगता है इसलिये दी है ।

---

१ अ या अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्र सर्गे यदमन्दिषाताम् ।
मण्डूको यदभि वृष्टः कनिष्कन् । ७।१०३।४ ॥

२ द्र निरुक्तम् ९।५ मण्डूका (१) मज्जूका मज्जनात् । (२) मदतेर्वा मोदतिकर्मण । (३) मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मण । (४) मण्डयतेरिति वैयाकरणा । (५) मण्ड एषामोक इति वा ।

३ द्र उणादि सूत्र ४८२ (४।४२) शलि मण्डिभ्यामूकण । तत्त्व बोधिनी तथा बाल मनो रमा शल गतौ (मा धा वृ १।८२८), मडि भूषायां, हर्षे च (मा धा वृ १०।५३) । तत्त्व बोधिनी में चौरादिक को वैकल्पिक कर भी भौवादिक (मा धा वृ १।२६६ वेष्टन अर्थ) में व्याख्या की है मण्डते वर्षा समयमिति मण्डूको भेक । सिद्धान्त कौमुदी में आत्मनेपदी √मण्ड का अर्थ नहीं बताया है । सरस्वती जी ने 'वेष्टन अर्थ बता कर भूषा अर्थ में भाग परस्मैपदी को बताया है मडि च । पृथक्पाठादयं वेष्टने पीत्याहु । 'मडि भूषायाम्' (सिद्धान्त-कौमुदी) इत्यग्रे परस्मैपदिषु । अत उनकी यह (आत्मनेपदी √मण्ड से व्याख्या) पूर्वापर विरोध के कारण चिन्त्य है । सायण ने 'मण्डूक' की व्युत्पत्ति वेष्टनार्थक भौवादिक आत्मनेपदी से ही दी है मडि च (मा धा वृ १।२६६) । मण्डूक शलि* मण्डिभ्यामूकण' (उणादि सूत्र ४८०) इत्यूकण । ...मडि भूषायां हर्षे च (१०।५३) । मण्डयति । मण्डते इति वेष्टन शब्द ।

* मा धा वृ के चौखम्बा-संस्करण में 'शरि' प्रूफ की अशुद्धि प्रतीत होती है । रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण (१।४८६) पर ठीक पाठ छपा है ।

४ य ई बहन्त आशुभि पिबन्तो मदिरं मधु । अत्र श्रवांसि दधिरे ।५।६१।११॥

५ द्र निरुक्तम् ४।८ मधु सोमम् इत्यौपमिकम्, माद्यते । इदमपीतरत् मध्वेतस्मादेव ।

६ द्र उणादि-सूत्र १८ फलि-पाटि-नमि-मनि-जनां गुक् पटि-नाकि-धतश्च ।

'मधु' के दो अर्थ हैं (१) शहद और (२) शराब। यास्क[1] और शाकटायन[2] दोनों ने 'मांस' का √मन् से निष्पन्न किया है कि इस में मन लगता है, यह मन को अच्छा लगता है[3]। शराब और मांस का साथ अधिक रुचि कर होता है। अतः लगता है कि शाकटायन ने मधु < √मन्' व्युत्पत्ति शराब अर्थ वाले 'मधु' की ही की है। यों मीठा होने के कारण 'शहद' भी अच्छा लगता है, अतः 'शहद' अर्थ वाला 'मधु' भी √मन् से अभिप्रेत हो सकता है। ऋग्वेद में 'मधु' 'सोम' के प्रसङ्ग में बहुधा आया है। सोम मादक होता है[4]। अतः ऋग्वेदीय 'मधु' शब्द 'नशा' अर्थ वाली √मद् से अभिप्रेत लगता है।

१२० मधुदोघ<√दुह्. वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने 'मधु-दोघ' के साथ √दुह् का प्रयोग कर के इस शब्द के उत्तर पद की व्युत्पत्ति बताई है[5]।

१२१ मनीषिन्<मनस. विश्व कर्मन् भौवन ने मनीषिन्' के साथ 'मनस' के प्रयोग से इस के पूर्वांश की व्याख्या की है[6]। वैयाकरण भी इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं[7]। यास्क ने इस शब्द की व्याख्या 'मनस+ईषा' से की है[8]। श्यावाश्व को 'मनस>मन>मन्+ईषा' व्युत्पत्ति अभिप्रेत है, यह स्पष्ट है।

१२२ मनुष्य< √मन्. लुश धानाक ने मनुष्यों के कर्तृत्व में √मन् के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[9]। यास्क ने 'मनुष्य' के चार निर्वचन किये हैं[10]। उनमें से प्रथम में इस शब्द के पूर्वांश 'मन्' की व्याख्या √मन् से और उत्तरांश 'उष्य' की व्याख्या √सीव से की है। पाणिनि ने इनमें से तीसरे निर्वचन को दिया है[11]। 'मनु' का √मन् से सम्बन्ध मनु वैवस्वत[12] ने √मन् से निष्पन्न

सिद्धान्त कौमुदी मन्यत इति मधु।

१ द्र निरुक्तम् ४।३ मांस=(१) माननं वा। (२) मानसं वा। (३) मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा। २ द्र उणादि सूत्र ३४४ (३।६४) मनेर्दीर्घश्च।

३ इस पर विशेष के लिये द्र 'निरुक्त के पांच अध्याय' पृष्ठ ४३५।

४ द्र (मरुतो) मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे॥ १।८५।१०॥

५ तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा, या एतद् दुह्रे मधुदोघमूधः। ७।१०१।१॥

६ मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥१०।८१।४।

७ द्र सिद्धान्त कौमुदी अच्सन्धि प्रकरण पृष्ठ ८२ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्।""मनीषा। तथा काशिका ६।१।९४ में वार्तिक।

८ द्र निरुक्तम् २।२५ मनीषया=मनस ईषया।

९ पिपर्तु मा तद् ऋतस्य प्र वाचनं देवानां यन्मनुष्या अमन्महि।१०।३५।८।

१० द्र निरुक्तम ३।७ मनुष्याः कस्मात्? (१) मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। (२) मनस्यमानेन सृष्टाः। मनस्यति पुनर्मनस्वी भावे। (३) मनोरपत्यम्। (४) मनुषो वा। इस सन्दर्भ की व्याख्या के लिये द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ ३०१।

११ द्र अष्टाध्यायी ४।१।१६१ मनोर्जातावञ्यतौ, षुक् च।

१२ देवासो हि ष्मा मनवे समन्यव। ८।२७।१४॥

म'यु' के साथ कर के प्रकाशित किया है। 'मनुष्य' नाम आदमी की मनन की विशेषता के आधार पर पड़ा है।

१२३ √रश=√यम् पुन देव आजीगर्ति[1], दीर्घतमस औचथ्य[2], भरद्वाज बार्हस्पत्य[3] और श्यावाश्व आत्रेय[4] ने √यम् के साथ 'रश्म और रश्मि' का प्रयोग युगपद् किया है। ये दोनों नाम पद √रश् से हैं, यह प्रत्यक्ष है। आज की भाषा में इस का रूप रास, रस्सा और रस्सी है। इस प्रयोग से विदित होता है कि (१) √रश् आख्यात के रूप में किसी जमाने में प्रयुक्त होती होगी। (२) ऋग्वेद काल में उस से निष्पन्न कुछ कृदन्त नाम-पद[5] ही प्रयोग में रह गये थे। (३) √रश् का स्थान √यम् ने ले लिया था। आख्यात के रूप में जहाँ √रश के प्रयोग की आवश्यकता होती थी वहाँ निधड़क होकर √यम् का प्रयोग किया जाता था। (४) अत ये ऋषि √रश् और √यम के इस सम्बन्ध से परिचित लगते हैं।

यास्क ने 'रश्मि का निर्वचन √यम् से ही किया है[6]। इस अर्थ में √यम् का स्पष्ट प्रयोग अर्चत् हैरण्य स्तूप ने यन्त्र' के रूप में किया है[7]। शाकटायन ने 'रशना' और रश्मि को √अश् के स्थान में √रश् आदेश कर के व्युत्पादित किया है[8]। बात यही है √रश इतनी प्राचीन प्रकृति है कि परम्परा से चले आये कुछेक कृदन्त नाम पदों को छोड़ कर आख्यात के रूप में उसका प्रयोग सर्वथा अप्रचलित हो गया था। शाकटायन ने 'रशना' और रश्मि के समान राशि' को भी √अश् में रेफ के आद्यागम से निष्पादित किया है[9]। पतञ्जलि का कथन[10] है कि √रश का

---

१ यत्र मर्त्यां वि बध्नते रश्मो यमितवा इव। १।२८।४॥

२ रश्मीँरिव यो यमति जन्मनी उभे। १।१४१।११॥
योळहुन रश्मीन्त्समयस्त सारथि। १४४।३॥

३ स या (मित्रा-वरुणा) रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा॥ ६।६७।१॥

४ अश्विना रश्मीँरिव यच्छतमध्वरौं उप। ८।३५।१॥

५ रशना, रश्मन् रश्मि तथा राशि। 'रज्जु' का तो स (२।५।१।७), यास्क और शाकटायन ने सृजु < सृज से आद्यन्त विपर्यय से माना है। द्र निरुक्तम २।१ तथा उणादि-सूत्र १५। यह भी कदाचित् √रश से ही तो नहीं है? दीर्घ तमस् औचथ्य ने 'यद् वाजिनो दाम स दानमवतो, या शीर्षण्या रशना रज्जुरस्य। (१।१६२।८) में इस का प्रयोग 'रशना के साथ कर के कदाचित् √रश > रज्जु व्युत्पत्ति को उसी तरह प्रकाशित किया है, जैसे दामन् < √दा को प्रकाशित किया है।

६ द्र निरुक्तम २।१५ रश्मिर्यमनात्।

७ सविता यन्त्र पृथिवीमरम्णात्। १।१४६।१॥

८ द्र उणादि-सूत्र २३३(२।७६) अश्नो रश्च। ४८६ (४।४६) अश्नोते रश्च।

९ द्र वही ५७२ (४।१३२) अशि पणाय्यो रुँड् आयलुकौ च।

१० द्र महा भाष्यम ७।२।६५, वार्तिक ८, पृष्ठ ६० रशिरस्मा न विशेषेणोपदिष्ट। स राशि रश्मि, रशनेत्येव विषय।

ख्यात के रूप में प्रयुक्त नहीं होती, वह तो 'राशि', 'रश्मि' और 'रशना' शब्दों में ही सीमित है।

१२४ राष्ट्र< √राज वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[1] ने √राज से निष्पन्न 'राजन्'[2] के साथ 'राष्ट्र' का उसके कम के रूप में प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है। इस प्रयोग में तालव्य स्पर्श (ज) का मूर्धन्य ऊष्म (ष) विपरिणाम स्पष्ट विदित है। इस ध्वनि विकार का एक अन्य उदाहरण ऋजिश्वन् भारद्वाज ने 'यष्ट—याज' के रूप में दिया है[3]।

१२५ √वश< √उश प्रतदन दवो दासि ने इन दोनों प्रकृतियों के इकट्ठे प्रयोग से इन के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के अतिरिक्त सम्प्रसारण की प्रवृत्ति से अपना परिचय भी सूचित किया है[4]।

१२६ √वाजि< वाज मधुच्छन्दस् वैश्वामित्र ने 'वाजिन' नाम-पद और 'वाजयाम' आख्यात-पद की प्रकृति के रूप में 'वाजेषु' नाम पद का प्रयोग किया है[5]। अर्थात् 'वाज' नाम से निष्पन्न √वाजि नाम धातु का प्रयोग मधुच्छन्दस ने किया है। उनके समय यह सुविदित था कि नाम पद भी धातु के रूप में प्रयुक्त होते हैं। कुत्स आङ्गिरस[6] और विश्वामित्र गाथिन[7] ने भी इस नाम धातु का प्रयोग वाज' से सम्बन्ध में निष्पन्न 'वाजिन् के साथ किया है। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण संवनन आङ्गिरस का 'मन्त्र' नाम के साथ 'मन्त्रये' नाम धातु का प्रयोग है। 'मन्त्र' स्वयं √मन् से व्युत्पन्न के रूप में ज्ञात है, यह भी उन्होंने मन्त्र' और 'मनस' के युगपत् प्रयोग से सूचित किया है[8]। √मन् से मनस की व्युत्पत्ति में भरद्वाज बार्हस्पत्य[9] और वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि[10] ऋषियों का इन दोनों का युगपत् प्रयोग

---

१ राजा राष्ट्रानाम् ॥ ७।३४।११ ॥ सातवलेकर संस्करण में मूल में तो यह पाठ सही ही छपा है, पर मन्त्रा की वर्णानुक्रम सूची (पृष्ठ ६२६) में राष्ट्राणा (नकार के स्थान में ण कार) गलती से छप गया लगता है।

२ भरद्वाज बार्हस्पत्य ने 'राजन्' का अर्थ निर्वचन किया है ईशे हि वस्व उभयस्य राजन् (६।१६।१०)। यहाँ 'राजन् ने कर्तृत्व में प्रयुक्त √ईश् शासनार्थक है तथा √राज की पर्याय है निघण्टु (२।२१।४) में √राज ऐश्वर्यार्थ में दी है।

३ म होयतामति-याजस्य यष्टा ॥ ६।१२।१॥

४ तद्वशन्ति विश्व इमे सखायस तदहं वश्मि पवमान सोम ॥ ६।६६।४ ॥

५ त त्वा वाजेषु वाजिन वाजयाम शतक्रतो ॥ १।४।६ ॥

६ नरा शस वाजिन वाजयन्निह। १।१०६।४ ॥

७ इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह स्तोम जरितुरुप याहि यज्ञियम्।३।६०।७॥

८ समानो मन्त्र समिति समानी, समान मन सह चित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि॥१०।१६१।३॥

९ वि मे मनश्चरति दूर आधी कि स्विद्वक्ष्यामि ? किमु नु मनिष्ये॥६।६।३॥

१० नहि प्रमाथारण सुदीवोऽभ्योदर्यो मनसा मन्सा ८।७

गापर है।

१२७ वाम< √ वन् भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि ने इस व्युत्पत्ति का सङ्केत प्रकृति (√वन्) और विकृति (वाम) के युगपत् प्रयोग से किया है[1]। यहाँ यह क्रम में निष्पादित अभिप्रेत है। वाम की व्याख्या यास्क ने अनेकत्र[2] √वन् से निष्पन्न वननीय से की है। शाकटायन ने इसे √वा से बनाया है[3]। किन्तु स्वर की दृष्टि से वदिक (अन्तोदात्त) वाम शाकटायन व्युत्पादित (आद्युदात्त) वाम' से भिन्न है। अर्थ की दृष्टि से लौकिक वाम का विकास यों हुआ लगता है वाम=वननीय (सवनीय)=सुन्दर=नखरालू=टेढ़ा (लौकिक)। हिन्दी का बाँका इस दृष्टि से विपरीत प्रक्रिया को अपना कर वाम के कुछ कुछ निकट है वक्र=टेढ़ा > बाँका= टेढ़ा=नखरालू=सुन्दर। यों यह अर्थ बाँका की प्रकृति 'वक्र' में ही विकसित हो चुका था। शाकटायन ने सम्भवतः लौकिक में वाम का 'विपरीत कुटिल टेढ़ा अर्थ देख कर इसे गत्यर्थक √वा से निष्पादित किया है। या, √वन् का अर्थ सम्भजन भी 'गति' ही है। अतः 'न् > आ' ध्वनि विकास के झंझट से छुट्टी पाने को भी √वा से 'वाम' की व्युत्पत्ति बताई हो सकती है। लौकिक में वाम के पर्याय 'वक्र' की व्युत्पत्ति भी उन्होंने √वञ्च् ('गति' पजाबी √वज) से दी है[4]।

१२८ विधवा< √विध काक्षीवती घोषा ने पुल्लिङ्ग विधत् और स्त्री लिङ्ग विधवा का एक साथ प्रयोग कर के[5] कदाचित् इन की समान धातुजता का सङ्केत किया है। श्री विश्व बन्धु ने 'विधन्त का अर्थ (विधवा) परिएयन्त किया है[6]। सायण ने विधन्त का अर्थ 'परिचरन्त तथा विधवा का अर्थ अपतिका' किया है[7]। आधुनिक विद्वान् इसे वियोगार्थक √विध से निष्पन्न मानते हैं[8]। सायण की विधवा=अपतिका व्याख्या शाकल्य के पद पाठ[9] पर आधारित प्रतीत

---

१ न वन्त इन्द्र, नू तमामिष्टनती वसीमहि वाम श्रोमतेभि। ६।१६।१०॥

२ द्र निरुक्तम् ४।२६, ६।२२, ३१, ११।४६।

३ द्र उणादि सूत्र १३७ अर्ति स्तु सु हु सृ घृ क्षि क्षु भा या वा-पदि-यक्षि नीभ्यो मन्। 'न् अनुबन्ध का प्रयोजन इस से निष्पन्न शब्द का आद्युदात्त बनना है। द्र अष्टाध्यायी ६।१।१९७ ञ्नित्यादिर्नित्यम्।

४ द्र वही १७० (२।१३) स्फायि-तञ्चि वञ्चि नाकि क्षुमिभ्यो रक।

५ युव ह कृशा, युवमश्विना शयु, युव विधन्त विधवामुरुष्य थ। १०।४०।८॥

६ द्र वदिक पदानुक्रम कोष १।५, पृष्ठ २८६६, टि p।

७ द्र ऋ भा १०।४०।८ युवां विधन्त=परिचरन्त मनुष्य, विधवां चापतिकां वध्रि मतीं योद्धुं स्त्रियं चोरुष्यथ (रक्षथ)।

८ द्र रोथ और ग्रासमान् के जमन सस्कृत शब्द कोष।

९ द्र ४।१८।१२, १०।४०।८ विऽधवाम्। पूना से प्रकाशित ऋग्वेद-संहिता पद सूची की उत्तर-पद सूची मे तथा विश्व बन्धु के कोष के १।६ मे दी उत्तर पद ती म इस शब्द का सङ्कलन नही है। क्या ये लोग धव' को उत्तर पद नही मानते?

होती है। यास्क ने इसे दो पदों के समास से निष्पन्न मान कर पूर्वपद में 'वि' और उत्तर पद में (१) √धा, (२) √धू, (३) √धाव् से (चर्म शिरस के नाम में) निष्पन्न धव और (४) मनुष्य' के पर्याय धव' में से अन्यतम का विकल्प दिया है[१]।

ग्रीक आद्युदात्त 'विथग्रोस' (\ι theos) सम्भवतः इस (वि धवा) व्युत्पत्ति पर ही आधारित है तथा इसी कारण इस शब्द में बहुव्रीहि का स्वर—'वि उदात्त[२]—ग्रीक में है। वैदिक विधवा' में बहुव्रीहि का स्वर नहीं है, यह एक ध्यान देने योग्य तथ्य है।

'धव' का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग ऋग्वेद में और यजुर्वेद की समूची परम्परा में कहीं नहीं हुआ है। दीर्घतमस् औचथ्य[३] और वि मद ए द्र[४] द्वारा प्रयुक्त 'आ धव' में 'धव कम्पनार्थक √धू से निष्पन्न पद के रूप में यौगिक अर्थ में उत्तर पद के रूप में आया है। परन्तु यह भी विधवा में कल्पित 'धव से भिन्न है 'विधवा का 'धव आद्युदात्त है और यह 'धव' अन्तोदात्त माना जाता है[५]। इस अन्तोदात्त धव' का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग एक वृक्ष विशेष के लिये आथर्वण परम्परा में हुआ है[६]। श्री विश्व बन्धु के मत में[७] पति का पर्याय 'धव' (स्वर ज्ञात नहीं है।) पैप्पलाद-संहिता[८] में आया है।

इस विवरण से विदित होता है कि ऋग्वेद काल में तो 'धव' की पत्यर्थकता अभी प्रमाणापेक्षी है ही, पैप्पलाद संहिता के एक स्थल को एकीय मत में छोड़ कर

पूना संस्करण में तो संहिता भाग तथा पद सूची में इस में अव ग्रह मुद्रित भी है।

१ द्र निरुक्तम् ३।१५ विधवा (१) वि धातृका भवति। (२) वि धवनाद् वा। (३) वि धावनाद्वेति चर्म शिरा। (४) अपि वा धव' इति मनुष्य नाम। तद्वियोगाद् वि धवा। व्याख्यार्थ 'निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ३६७ ३६८ में देखें।

२ द्र अष्टाध्यायी ६।२।१ बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व पदम्।

३ यदीमनु प्र दिवो मध्व आ धवे गुहा सन्त मातरि श्वा मथायति ॥१।१४१।३॥

४ मसीमहि त्वा वयमस्माकं देव, पूषन्।
मतीनां च साधन, विप्राणां चाधवम् ॥ १०।२६ ४॥

५ द्र विश्व बन्धु वैदिक पदानुक्रम कोष १।२, पृष्ठ ६५४, टि n कर्तरि भावे च अच प्रत्यय "। तथा १।३ पृष्ठ १७२८ टि a कर्तरि अच प्रत्यय। अच प्रत्यय के चित् होने से 'धव' अन्तोदात्त हो जाता है। द्र अष्टा ६।१।१६६ चित।

६ द्र शौनक शाखा ५।५।५, २०।१३१।१४*। पैप्पलाद शाखा ६।४।४ ६।६।११। * वैदिक-पदानुक्रम कोष १।३, पृष्ठ १७०१, स्तम्भ २, में दूसरे मन्त्र की संख्या १७ दी है। यह अशुद्ध है तथा इस का उल्लेख शुद्धि पत्र में भी रह गया है। रॉथ के द्वारा सम्पादित अथर्व संहिता में भी यह मन्त्र चौदहवाँ ही है।

७ द्र वैदिक पदानुक्रम कोष १।३, पृष्ठ १७०१, स्तम्भ २, टि j।

८ द्र २०।६१।७।

शेष मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद राशि म भी यह इस अर्थ म प्रयुक्त नही मिलता है। निघण्टु[1] में 'मनुष्य' के पर्यायो म धवा ' का समाम्नान बहुत कर के (१) पप्प लाद-सहिता[2] के आधार पर, या (२) शाकल्य के पद पाठ के आधार पर ही हुआ लगता है। लौकिक प्रयोक्ताओ ने द्वारा 'धव या पति' अर्थ म प्रयोग सर्व प्रथम शाकल्य के उपर्युक्त पद पाठ मे ही विदित है। उस के पश्चात् यह निघण्टु[3] और निरुक्त[4] म यास्क के द्वारा एव शङ्ख और लिखित के द्वारा अपने धर्म सूत्र[5] म ही किया मिलता है। पुराणो तथा पञ्च-तन्त्र आदि मे इसका पर्याप्त प्रयोग हुआ है।

१२९ विप्र< √विप भरद्वाज बार्हस्पत्य ने विप्र और 'वपिष्ठ' के युग पत् प्रयोग से इस शब्द का सम्बन्ध √विप से द्योतित किया है[6]। वामदेव गौतम ने वेपम्' का[7] और भरद्वाज बार्हस्पत्य ने ही 'वेपी' का[8] प्रयोग 'स्तुति' के सन्दर्भ म किया है। प्रकृत मन्त्र मे भी यह 'स्तोतृ' के पर्याय रेभ' के साथ आया है। अत यह √विप 'स्तुति अर्थ से सम्बद्ध है भले ही यह अर्थ लाक्षणिक हो √विप= हिलाना=देवता को स्तुति से द्रवित करना=अनु कम्पित करना। 'विप्र' √विप +र से, 'वेपस्' √विप्+अस् से, वपिष्ठ' √विप+इष्ठ से निष्पन्न हैं। वैया करण 'विप्र को √वप् (बोना) से मानते हैं[9]।

१३० वीरुध्< वि+√रुह काक्षीवती घोषा ने इस कृदन्त शब्द की व्यु त्पत्ति इस का विग्रह कर के बताई है[10]। इन के बाबा दीर्घ-तमस औचथ्य ने इस शब्द के उत्तर पद 'रुध्' की व्युत्पत्ति √रुह् के प्रयोग से स्पष्ट की है[11]। यहाँ निम्न बातें स्पष्ट हैं (१) 'वि को दीर्घ हो गया है। (२) यह योग कर्मथक है। (३) 'ह् का विपरिणाम 'ध मे हो गया है। अत ये दोनो ध्वनिया परस्पर सम्बद्ध हैं, यह इन लोगो को विदित है। नैरुक्त[12] और वैयाकरण[13] लोग भी यही व्युत्पत्ति

---

१ द्र २।३।२। २ द्र २०।६१।७। ३ द्र २।३।३।

४ द्र ३।१५। ५ द्र ११६।६३।

६ वेपिष्ठो अङ्गिरसां यद्ध विप्रो मधु च्छन्दो भनति रेभ इष्टौ ॥ ६।११।३॥

७ वि वाह्यग्ने गृणते मनीषां ख वेपसा तुविजात स्तवान । ४।११।२॥

८ पृच्छन्ती वज्र हस्त रथेष्ठामिन्द्र वेपी वक्वरी यस्य नु गी । ६।२२।५॥

९ द्र उणादि-सूत्र १८६(२।२९) ऋज्रेन्द्राग्र-वज्र विप्र कुब्र-चुब्र-क्षुर-खुर भद्रोग्र भेर भेल शुक्र शुक्ल गौर वन्रेरा माला । ज्ञानेन्द्र सरस्वती, वासुदेव दीक्षित ने इसे डुवप् बीज सन्ताने (सिद्धान्त-कौमुदी, भ्वा १००३) से निष्पादित बताया है।

१० जनिष्ट योषा पतयत्कनीनको वि चारुहन्वीरुधो दसना अनु।१०।४०।९॥

११ प्र यत्पितु परमान्नीयते पर्या पृक्षु धो वीरुधो दसु रोहति॥१।१४१।४॥

१२ द्र निरुक्तम् ६।३ वीरुध ओषधयो भवन्ति, वि रोहणात्।

१३ द्र काशिका ७।३।५३ (१) न्यग्रोधो (२) वीरुदित्यत्र (१) न्यक्पूर्वस्य रुहे पचादच् (२) वि पूर्वस्य क्विपि धकारो ऽत्र पीयते। (१) न्यग रोहयतीति न्यग्रोध। (२) वि रोहयतीति वीरुत्।

मानते हैं।

वीरुध< √वि+ √रुध परा शर शाक्त्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति √रुह के स्थान मे √रुध से मानी लगती है[1]। शब्द-कल्प-द्रुम कोष मे यह व्युत्पत्ति भी दी गई है[2]।

१३१ वृक्ष< √व्रश्च परुच्छेप दैवो दासि ने काटे जाने के कारण √व्रश्च से 'वृक्ष' नाम की व्युत्पत्ति सूचित की है[3]। यास्क[4] और शाकटायन[5] ने भी यही व्युत्पत्ति दी है।

१३२ वृत्र< √वृ गृत्समद[6], वाम देव गौतम[7], भरद्वाज बार्हस्पत्य[8], पवत काण्व[9], अ महीयु आङ्गिरस[10] ने जल को घेरने के कारण कत्रथ मे √वृ स 'वृत्र' की व्युत्पत्ति सूचित की है। विश्वामित्र गाथिन ने वृत्र' को इन्द्र-कर्तृक वरण' (रोकने) का कम बताया है[11]। तत्तिरीय सहिता मे वरण' के कम के रूप मे 'य लोक' बताये हैं[12]। यह व्युत्पत्ति वृत्र के भौतिक आकार पर दानवी करण की बढती प्रवृत्ति का परिणाम है[13]। तत्तिरीय सहिता मे वृत्र' की व्युत्पत्ति √वृत् से कत्रथ मे भी बताई है[14]। यास्क ने कि ही ब्राह्मण-वाक्यो के प्रमाण पर इसे (१) √वृ से (२) √वृत से अथवा (३) √वृध स निष्पन्न बताया है[15]। शाकटायन

---

१ वि यो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्र जा, उत प्र सूष्वन्त । १।६७।६ ॥

२ वि शेषेण रुणद्धि वृक्षान्या । वि+ √रुध+क्विप । 'अन्येषामपि ' (अष्टा ६।३।१३७) इति दीघ । अथवा वि रोहतीति वी रुत् ।

३ तष्टेव वृक्ष नि वृश्चसि, परश्वेव नि वृश्चसि ॥ १।१३०।४ ॥

४ द्र निरुक्तम् २।६ वृक्षो व्रश्चनात् ।

५ द्र उणादि सूत्र ३४६ (३।६६) स्नु-व्रश्चि कृत्यविभ्य कित् ।

६ अध्वयवो, यो अपो वव्रिवास वृत्र जघानाशन्येव वृक्षम् । २।१४।२ ॥

७ अपो वृत्र वव्रिवास पराहन् । ४।१६।७ ॥

८ अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांस हन् । ६।२०।२ ॥

९ यदा वृत्र नदी वृत शवसा वज्रिन्न् अवधी । ८।१२।२६ ॥,

१० स पवस्व य आविथेन्द्र वृत्राय हन्तवे। वव्रिवास महीरप ॥९।६१।२२॥

११ इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छ्धनीति । ३।३४।३ ॥

१२ द्र २।४।१२।२, ५।२।२ स इमाल्लोकानवृणोत् । यदिमाल्लोकान् अवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।

१३ विशेपाथ द्र निरुक्त मीमासा', पष्ठ ३२७ ३५० ४ तथा निरुक्त के पाच अध्याय पष्ठ ६३, २२१ २ ।

१४ द्र २।५।२।१ यदवतयत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।

१५ द्र निरुक्तम् २।१७, 'निरुक्त के पांच अध्याय पृष्ठ २२२ वृत्रो (क) वृणोतेर्वा (ख) वर्ततेर्वा (ग) वधतेर्वा (क) 'यदवृणोत्, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।' इति विज्ञायते । (ख) 'यदवर्तत, तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् ।' इति विज्ञायते । (ग 'यदव

ने √वत् से 'वत्र' की व्युत्पत्ति दी है[1]।

१३३ वोळ्हु < √वह परुच्छेप दैवो दासि ने 'वोळ्हु' (वहन) के साथ √वह के प्रयोग से यह व्युत्पत्ति सूचित की है[2]। इस व्युत्पत्ति में (१) √वह के अ का 'ओ' के रूप में विपरिणाम (२) ह् को 'ढ' विकार स्पष्ट हैं। पाणिनि ने भी इस की व्युत्पत्ति इसी प्रकार दी है[3]।

१३४ शूर < √शु भरद्वाज बाहस्पत्य ने √मह से 'मघ' की व्युत्पत्ति के साथ साथ √शु (तेजी से जाना) से 'शूर' (तेजी से झपटने वाला=वीर < √वी[4]) की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[5]। नो धस गौतम[6] गृत्समद[7] और भरद्वाज बाहस्पत्य[8] ने इसी धातु से निष्पन्न शूर (बलवान्) और शवस् (बल) के पारस्परिक सम्बन्ध को भली भाँति स्पष्ट किया है। यास्क ने बताया है कि 'शव' (अथवा शवस') और 'शूर' शब्द √शु से निष्पन्न हैं जो गति' अर्थ में काबुल में ही बोली जाती है[9]। शाकटायन ने भी शूर की यही व्युत्पत्ति दी है। टीकाकारों ने √शु का अर्थ 'गति' बताया है[10]।

धत, तद् वत्रस्य वृत्रत्वम्।' इति विज्ञायते। इन वाक्यों का स्थल अज्ञात है। तुलना के लिये तैत्तिरीय संहिता के निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं स इषु मात्रमिषु मात्रं विष्वङ् ङवधत। स इमांलोकानवृणोत्। यदिमांल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम् (२।४। १२।२ ५।२।२)। तत्वष्टाऽऽहवनीयमुप प्रावतयत् स्वाहेन्द्र शत्रुर्वधस्व।' (मैत्रायणी स २।४।३) इति। यदवतयत् तद् वृत्रस्य वत्रत्वम् २।५।२।१)। यहाँ प्रत्यक्ष निर्वचन तो √वृत से ही किया है। √वृध की चर्चा होने से इस से भी सम्बन्ध जोडा जा सकता है। √वृध > वत्र निर्वचन का आधार सम्भवत विश्वामित्र गाथिन का निम्न प्रयोग है अधि वत्र वधवान वियारम वावधिन्द्र तवसा जघन्य (३।३०।८)।

१ द्र उणादि सूत्र १७० (२।१३) स्फायि वति ..शुमिभ्यो रक्।

२ वायुयुङ्क्ते रोहिता, वायुररुणा वायू रथे अजिरा धुरि वोळ्हवे, वहिष्ठा धुरि वोळ्हवे। १।१३४।३॥

३ द्र अष्टाध्यायी ६।३।११२ सहि वहोरोद-वर्णस्य। ८।२।३१ हो ढ।

४ द्र निरुक्तम् १।७, 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पृष्ठ १०२ वीरो (क) वीर यत्यमित्रान् (ख) वेतेर्वा स्याद् गति-कर्मणो (ग) वीरयतेर्वा। निघण्टु २।१४।११८।

५ ता हि श्रेष्ठा देव-ताता तुजा शूराणां शविष्ठा ता हि भूतम्। मघोनां मंहिष्ठा तुवि-शुष्म ऋतेन वृत्र-तुरा सर्व-सेना॥ ६।६८।२॥

६ रोदसी आवदता गण श्रियो नृ-षाच शूरा शवसाऽहि मन्यव। १।६४।६॥

७ धिष्वा शव शूर, येन वृत्रमवा भिनद् दानुमौर्णवाभम्। २।११।१८॥

८ शविष्ठ म आ भर शूर शव, ओजिष्ठमोजो अभि भूत उग्रम्। ६।१९।६॥

९ द्र निरुक्तम् २।२ शवतिर्गति-कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारम स्यार्येषु भाषन्ते 'शव' इति। ४।१३ शूर शवतेर्गति कमण।

१० द्र उणादि सूत्र १८९ (२।२६) शु सि चि मीनां दीर्घश्च। सिद्धान्त

१३५ श्लोक< √श्रु श्यावाश्व आत्रेय ने √श्रु से 'श्लोक' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है[१]। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[२]। पाणिनीय तन्त्र में √श्लोक की कल्पना सम्भवत इस व्युत्पत्ति के परोक्ष हो जाने से की गई है[३]। पाणिनि ने 'श्लोक' का प्रयोग धातु के रूप में करने का विधान किया है[४]। 'श्लोक' की क्या व्युत्पत्ति उन्हें अभीष्ट है, यह अविदित है।

१३६ सन्धि< सम्+√धा मेधातिथि और मेध्यातिथि काण्व ने सम्+√धा के कर्म के रूप में 'सन्धि' का प्रयोग कर के इस शब्द का निर्वचन सूचित किया है[५]। व्याकरण में भी यही व्युत्पत्ति मानी जाती है।

१३७ सरण्यु< √सृ विश्वामित्र गाथिन[६] और नाभानेदिष्ठ मानव[७] ने इस शब्द की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया है। यास्क ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[८]।

१३८ सहस्र< सहस् मेध्यातिथि काण्व ने 'बल' अर्थ वाले 'सहस्' के साथ 'सहस्र' (बलवान् प्रचण्ड सङ्ख्या) का प्रयोग कर के इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[९]। नोधस् गोतम ने भी यह सम्बन्ध सूचित किया है[१०]। यास्क ने 'सहस्र' की यही व्युत्पत्ति दी है[११], जिसे डा सिद्धेश्वर वर्मा ने विलक्षण और पूर्णत भाषा-विज्ञान सम्मत व्युत्पत्ति बताया है[१२]।

१३९ सिन्धु< √स्यन्द् वाम देव गोतम ने √स्यन्द् से 'सिन्धु' का सम्बन्ध सङ्केतित किया है[१३]। कक्षीवत् दैर्घ-तमस औशिज[१४] ने इस का अर्थ निर्वचन

कौमुदी शु सौत्र। ज्ञानेन्द्र सरस्वती शु गतौ। वासु देव दीक्षित शु गतावित्यस्य धातु पाठेऽदर्शनादाह शु सौत्र इति।

१ य इमा विश्वा जाता या श्रावयति श्लोकेन।
प्र च सुवाति सविता ॥ ५।८२।९ ॥

२ द्र निरुक्तम् ६।९ श्लोक शृणोते।

३ द्र माधवीय धातु वृत्ति १।७७ श्लोकृ सङ्घाते। सङ्घातो ग्रन्थ।

४ द्र अष्टाध्यायी ३।१।२५ सत्याप पाश रूप वीणा-तूल श्लोक-सेना लोम-त्वच वर्म वर्ण चूर्ण चुरादिभ्यो णिच्।

५ सन्धाता सन्धि मघवा पुरू वसुरिष्कर्ता वि ह्रुत पुन ॥ ८।१।१२।

६ स आ ववृत्स्व हर्यश्व, यज्ञ सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि ॥ ३।३२।५ ॥

७ अध यद्राजाना गविष्टौ सरत्सरण्यु कारवे जरण्यु ।१०।६१।२३ ॥

८ द्र निरुक्तम् १२।९ सरण्यू सरणात्। 'सरण्यू' शब्द 'सरण्यु' का स्त्री है।

९ अय सहस्रमृषिभि सहस्कृत समुद्र इव पप्रथे। ८।३।४ ॥

१० अता रक्षन्ते अमृता सहोभि पुरू सहस्रा जनयो न पत्नी । १।६२।१०॥

११ द्र निरुक्तम् ३।१० सहस्र सहस्वत्।

१२ द्र 'दी एटिमॉलाजीज आफ यास्क', पृष्ठ ४।

१३ दीर्घामनु प्र सितिं स्यन्दयध्यै ॥ पिपीळे अंशुर्मद्यो न सिन्धु ।४।२२।७-८।

१४ उप क्षरन्ति सिन्धवो मयो भुव ईजान च यक्ष्यमाण च धेनव ।१।१२५।४।

√स्य द् के पर्याय √दात् के प्रयोग से किया है। यास्क[1] और शाकटायन[2] ने इस की व्युत्पत्ति √स्य द् से ही दी है।

१४० सु दीति< सु+√दी वायु बार्हस्पत्य[3] और वसिष्ठ मत्रा वरुणि[4] ने इसे दीप्त्यर्थक √दी[5] से सूचित किया है।

१४१ सु धित< √धा भरद्वाज बार्हस्पत्य[6] और वसिष्ठ मत्रा वरुणि[7] ने सु धित' के उत्तर पद 'धित' की व्युत्पत्ति √धा से सूचित की है। पर बाद में काल म कुछ स्थितियों म 'धि' का विकास 'हि' के रूप म हो गया है[8]। किन्तु 'सु धित' को पाणिनि ने भी इस स्थिति का अपवाद बताया है[9]।

१४२ सूक्त< √वच कण्व घोर[10] सन्त पुण वामेय[11] और वसिष्ठ मत्रा-वरुणि[12] ने वच् से व्युत्पन्न 'वचस के साथ सूक्त (<सु+उक्त)' का प्रयोग कर के (१) √वच्=√उच के सम्बन्ध को अर्थात् सम्प्रसारण को, तथा (२) 'च्' और 'क' के सम्बन्ध को प्रकट किया है।

१४३ सूची< √सीव गृत्समद ने सीना अर्थ वाली √सीव के साथ करण विभक्ति वाली सूची (सुई) की व्युत्पत्ति दी है[13]। यास्क ने[14] भी यही व्युत्पत्ति दी है। शाकटायन ने इस के पु लिङ्ग 'सूच' (हि सुआ, सूआ, सूजा) और 'सूची' की यही व्युत्पत्ति दी है[15]।

---

१ द्र निरुक्तम् ६।२६ सिन्धु स्यन्दनात्। द्र निरुक्त मीमांसा पृ ३२०।
२ द्र उणादि सूत्र ११ स्य दे सम्प्रसारण धश्च।
३ अजस्रेण शोचिषा शोशुचच्छुचे सु दीतिभि सु दीदिहि॥ ।४८।३॥
४ त्वमग्ने, सु हवो रण्व स दृक् सुदीती सूनो सहसो दिदीहि। ७।१।२१॥
५ द्र निघण्टु १।१६।४ निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २७०।
६ मित्र न य सु धित भृगवो दधु । ६।१५।२॥
अभि प्र यासि सु धितानि हि ख्यो नि त्वा दधीत रोदसी यजध्यै। १५॥
७ म न्द्रम् सु धित सु-शेवस दधात यजिषेष्वा। ७।३२।१३॥
८ द्र अष्टा ७।४।४२ दधातेर्हि।
९ द्र अष्टा ७।४। ४५ सु धित, वसु धित, नेमधित, धिषीय च।
१० अग्नि सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे, य सोमिदन्यय ईळते॥ १।३६।१॥
११ सूक्तेभिर्वो वचोभिर्देव-जुष्टैरिन्द्रा, न्वग्नी, अवसे हुवध्य। ४।४५।४॥
१२ इन्द्रो, सूक्ताय वचसे वयो धा । ६।६०।६॥
१३ सीव्यत्वप सूच्याऽच्छिद्यमानया, ददातु वीर शत दायमुक्थ्यम्॥२।३२।४॥
१४ द्र निरुक्तम् ११।३१ सूची सीव्यते।
१५ द्र उणादि सूत्र ५३३ (४।६३) सिवेष्टेरू च। सिद्धान्त कौमुदी सूचो =दर्भाङ्कुर। तत्त्व बोधिनी षिवु तन्तु सन्ताने (मा धा वृ ४।२)। अस्माच्चट प्रत्यय स्याट्टेरूत्व च। टित्वाङीप। 'सूची तु सीवन द्रव्येऽप्याङ्कितामितयान्तरे।' इति मेदिनी।

१४४ सेतु < √सि मत्स्य साम्मद ने 'सेतु' (पुल) की व्युत्पत्ति बन्धनार्थक √सि से दी है[1]। शाकटायन ने भी यही दी है[2]।

१४५ सौवश्व्य < स्वश्व शुनहोत्र भारद्वाज ने 'स्वश्व' के तद्धितान्त 'सौवश्व्य' का प्रयोग 'स्वश्व' के साथ कर के इस व्युत्पत्ति को व्यक्त किया है। इस में 'स्वश्व' के 'व' से पूर्व 'औ' का आगम स्पष्ट है[4]।

१४६ स्तोक < √श्चुत् 'बूंद'[5] अर्थ वाले 'स्तोक' की व्युत्पत्ति गाथिन् कौशिक ने 'टपकना' अर्थ वाली √श्चुत् से दी है[6]। यास्क ने इसे आद्यन्त विपर्यय से बता कर इसी व्युत्पत्ति को सूचित किया है[7]। वैयाकरण लोग इसे √स्तुच से निष्पन्न मानते हैं[8]।

निष्कर्ष

शब्द के निर्वचन अर्थात् व्युत्पत्ति के दो पक्ष होते हैं[9] (१) शब्द के अर्थ की व्याख्या के अतिरिक्त उसके भाषिक अर्थात् उच्चारित (ध्वनि) अंश की व्याख्या कर के उस के मूल को स्पष्ट करना। नैरुक्त परम्परा में इस पक्ष को 'शब्द निर्वचन'

---

१ मा न सेतुः सिषेदयं महे वृणक्तु नस्परि। ८।६७।८।

२ द्र उणादि सूत्र ६९ सितनि गमि मसि सच्यवि धाञ् कुशिभ्यस्तुन्।

३ सौवश्व्यं यो वनवत्स्वश्वो वृत्रा समत्सु सासहदमित्रान्॥ ६।३३।१॥

४ तुलना करें अष्टा ७।३।३ न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्।

५ एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः।
सेवमानो न चातृप्यदाज्यस्तोकैरिवानलः॥ श्रीमद्भागवत ९।६।४८॥
मूलतः 'स्तोक' का अर्थ 'बूंद' है आगे चल कर यह 'थोड़ा' के लिये रूढ हो गया है स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे। महाभारत १।१।२१८॥

६ घृतवन्तः पावक, ते स्तोकाः श्चोतन्ति मेदसः। ३।२१।२॥ तुभ्यं स्तोका घृतश्चुतः।३॥ तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो, शचीव, स्तोकासो अग्ने मेदसो घृतस्य।४॥

७ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्याद्यन्तविपर्ययो भवति—स्तोकाः, रज्जुः, सिकताः तर्क्विति।

८ द्र माधवीय धातुवृत्ति १।१७३ ष्टुच प्रसादे। स्तोकः—घञ्। उदश्विः स्तोकम्=अल्पमुदश्विदित्यर्थः।

९ द्र निरुक्तम् ४।१ पर दुर्गवृत्ति अत्रायमप्रतीयमानस्य पर्यायाभिधानेन विभज्य प्रतिपादनं व्याख्या। शब्दस्यापि व्युत्पादनं व्याख्या। एवमेते द्वे व्याख्ये। तयोरर्थ परिज्ञानमेकस्याः कार्यम्, शब्द परिज्ञानमेकस्याः।

आचार्य जयादित्य ने भी (काशिका ६।३।१०९ में) शब्द के निर्वचन में (१) ध्वनि और (२) अर्थों की व्याख्या को ही आवश्यक माना है

(१) वर्णागमो, वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
(२) धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्, तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

कहा जाता है। (२) शब्द में व्यञ्जन को स्पष्ट करने पर ध्यान न दे कर उस का अर्थ मात्र स्पष्ट करना। यह पक्ष 'अर्थ निर्वचन' कहलाता है।

ऋग्वेदीय ऋषियों के भाषा विषयक व्युत्पत्ति पक्ष पर उपलब्ध सामग्री के एक चौथाई से भी कम भाग का विवेचन करने के बाद नरुक्त परम्परा का यह वर्गीकरण हम समुचित प्रतीत होता है। इन निर्वचनों में शब्द के ध्वनि पक्ष और अर्थ पक्ष पर प्रकाश तो प्रायश पड़ा ही है कुछ निर्वचनों में उन के केवल अर्थ पर भी प्रकाश पड़ा है। विश्लेषण में सुविधा के लिए हम प्रथम शब्दीय निर्वचन को दो भागों में बाँटना उचित समझते हैं

(१, क) शब्द निर्वचन

शब्द प्राय तौर पर (क) प्रकृति (ख) प्रत्यय के योग से बने होते हैं। ऋषियों ने इन दोनों का निर्वचन किया है

(अ) प्रकृत्यंश का शब्द निर्वचन ऊपर अग्नि आदि शब्दों के निर्वचनों में इन शब्दों के प्रकृत्यंश की व्याख्या उस की निष्पादक धातु के आख्यात का प्रयोग कर के की है। इस श्रेणी के निर्वचनों की मात्रा पर्याप्त है।

(आ) प्रत्ययांश का शब्द निर्वचन प्र तर की व्याख्या में तर १ से निष्पन्न है यह सूचित किया गया है। इस श्रेणी का और कोई उदाहरण ऊपर विवेचित शब्दों में नहीं है[1]।

शब्द निर्वचनों का वर्गीकरण हम एक अन्य आधार पर भी करना चाहेंगे

जैसा कि सु विदित है नैरुक्तों के अनुसार वैयाकरणों ने शब्दों के १ नाम, २ आख्यात, ३ उपसर्ग और ४ निपात वर्ग बनाए हैं[2]। ऋषियों ने इन में से (१) सर्वाधिक निर्वचन नामों का किया है, (२) कुछ धातुओं का शब्द निर्वचन भी किया है, (३) एक उपसर्ग का भी शब्द निर्वचन उपलब्ध होता है। तद् यथा—

(१) नाम पदों का शब्द निर्वचन √अव > अव आवत > अवत १ के ऊव, √स्कम्भ > कम्भन, कि + √कृ > कीकट द्वि + अप > द्वीप आदि निर्वचन इसी श्रेणी के उदाहरण हैं।

नाम पदों का शब्द निर्वचन नामों की बनावट के अनुसार नाम पदों के साथ—

१ धातु बतला कर—धातु का आख्यात रूप दे कर—होता है यथा अग्नि अघ्या, अ जुय, अद्रि। इस श्रेणी के शब्द निर्वचनों की संख्या सर्वाधिक है।

---

[1] वैयाकरणों ने 'तर' को प्रत्यय बतलाया है। वैदिक काल में हो सकता है कि 'तम', 'तर' आदि स्वतन्त्र शब्द ही माने जाते रहे हों, तथा वस्तुत यहाँ उस स्वतन्त्र शब्द का प्रकृति निर्वचन ही किया गया हो।

[2] द्र निरुक्त १३।९ चत्वारि वाक्परि मिता पदानि।' (ऋ १।१६४।४५) ''''कतमानि चत्वारि पदानि? ओङ्कारो, महा व्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणा। 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १०७ १०८ भी देखें।

२ उन का अविकसित, अर्थात् मूल, रूप द कर होता है आ वत—अवत, स्वश्व>सौवश्व्य उदाहरण हैं।

३ तद्धित और समासा का विग्रह कर के किया जाता है ऋत्विज कीस्ट, क्षत्रिय जात वेदस, नि युत, प्र तर, प्र हित, वी रव सु दीति के निवचन द्रष्टव्य हैं।

'सव नाम नामा का आ तरिक भेद है। एक सव नाम 'इ', 'इम (=यह) का निवचन भी दो ऋषिया ने किया है नृ मेध आङ्गिरस ने प्रकृत्यश ('इ) की व्युत्पत्ति बतलाई है ता विश्व कमन भौवन न प्रत्ययाश 'म' को स्पष्ट किया है[१]।

सभी एकल नाम पदा की याख्या उनक आख्यात के द्वारा की गई है। इस स विदित होता है कि ऋषि 'नाम करण का आधार पदार्थ की कोइ क्रिया होनी है।' इस सिद्धात को मानते है।

(२) आख्यातों का शब्द निवचन धातु तीन तरह की होती हैं (१) शुद्ध, (२) प्रत्यया त तथा (३) नाम धातु। इन से *निष्पन्न आख्यातो के निवचन के* उदाहरण ये हैं

१ शुद्ध धातु से निष्पन्न आख्यात का शब्द निवचन इयर्ति>अरितृ' कथन म गुणवान् 'अरितृ' रूप से उस से तनिक भिन्न प्रकार के 'इयर्ति' का स्वरूप यह स्पष्ट हुआ है कि यहाँ धातु √ऋ है। केतु के निवचन के प्रसङ्ग मे √चित् √कित् स विकसित है, यह भी प्रकाश पडा है। चित्त< √क्ति' निवचन से भी इस विषय पर प्रकाश पडा है। इसी प्रकार √जि—गि √द्युत्<ज्युत् √व<ऋ (वकार का आगम) √वश<उश आदि निवचन भी इसी श्रेणी के अ तगत हैं।

२ प्रत्ययात धातु का शब्द निवचन √दिप्स √दभ् स इच्छाथ म निष्पन्न है। अत *'दिप्सन्तो देभु' क द्वारा पाणिनीय पद्धति म स प्रत्यया त √दिप्स की* व्युत्पत्ति बताई गई है।

३ नाम धातु का शब्द निवचन वाज नाम पद के साथ √वाजि के प्रयोग से इस धातु की 'वाज' नाम म निष्पन्नता सूचित हुई है।

(३) उपसग का शब्द निवचन अवि के साथ √धा से निष्पन्न आख्यात के प्रयोग स इस उपसग की व्युत्पत्ति √धा से अभिप्रेत है, यह सङ्केत किया गया है[२]।

शब्द निवचन मे अपनाये ध्वनि-सिद्धान्त

शब्द निवचन म उन विभिन्न ध्वनि विकारो के अध्ययन का समावेश होता है, जिन स शब्द अपने अन्तिम रूप—प्रयोगावस्था—मे आता है। आचाय जयादित्य

---

१ अथव संहिता म भी √इ से इम' की व्युत्पत्ति का सङ्केत किया गया में सर्वे देवा इहमा यन्तु म इमम् (६।२।७)।

२ अथव-संहिता में काङ्कायन ने 'प्र+ √धा>प्र धि' तथा 'उप+ √धा>उप धि' के साथ अधि के प्रयोग से अ+ √धा>अधि' व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया लगता है यथा प्र धिर्योप धिर्यथा नम्य प्र धावधि। ६।७०।३॥

ने इन विकारो के चार भेद बताये हैं (१) वर्ण का आगम (२) वर्णों की स्थान गत अदला बदली, (३) किसी वर्ण के स्थान म कोई और वर्ण आना, (४) वर्ण का लोप[1]। हम भी उपलब्ध सामग्री का विश्लेषण इसी दृष्टि से करेंगे

(१) वर्णागम उक्थ उचथ' म एक ही √वच् से दो शब्दो की व्याख्या की गई है। 'उक्थ' और 'उचथ म अन्तर यह है कि प्रथम म धातु के अन्तिम व्यञ्जन के तत्काल बाद प्रत्यय का व्यञ्जन है, किन्तु दूसरे शब्द मे इन दोनो के मध्य मे एक स्वर का आगम हो गया है। तु ज मन्-जनिमन्'। इन दोनो शब्दो म द्वितीय शब्द म 'न' के बाद 'इ' का आगम हो गया है। आज-कल 'इ' के स्थान मे 'अ' का (जनम) का उच्चारण लोग करते हैं। √वृ स द्वर द्वर, द्वार की निष्पत्ति मे भी द् का आगम स्पष्ट है। यास्क ने द्वार को वर्णोपजन के उदाहरण के रूप में दिया है। द्वार पर र्चाचत √ऋ > व म धातु के आदि मे 'व' का आगम हुआ है। पृथ्वी > पथिवी स्वश्व > सौवश्व्य भी इसी प्रवत्ति के उदाहरण हैं।

(२) वर्ण विपयय श्चुत् > स्तोक मे मध्य वर्ती च' और अन्त गत 'त' मे स्थान की अदला बदली हो गई है[2]।

(३) वर्ण विकार यास्क ने वर्णों की मात्रा गत विकृति को तो विकार' नाम दिया है तथा उच्चारण स्थान के भेद स होन वाली विकृति को 'व्यापत्ति' नाम दिया है[3]। हम इन दोनो प्रकार के विकारो को विकार' ही कहगे[4]। इसके हम दो भेद करना चाहग (क) परत त्र वर्ण विकार, (ख) स्वतन्त्र वर्ण विकार

(क) परत त्र विकार जो ध्वनि परिवतन समीप वर्ती किसी अन्य ध्वनि

---

१ वर्णागमो वर्ण विपययश्च द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्च विध निरुक्तम्॥
आचाय यास्क ने इन्हें क्रमश (१) वर्णोप जन, (२) विपयय (३) व्यापत्ति (स्वरो के मात्रिक विकार, को 'विकार) तथा (४) लोप कहा है। द्र निरुक्त २।१।

२ यास्क ने इसे 'आद्यन्त विपयय' (आदिम और अन्तिम वर्ण की आपस मे अदला-बदली) नाम दिया है। पर यह उचित नही प्रतीत होता यहाँ आदिम ऊष्म ध्वनि तो अपने स्थान पर मौजूद है हाँ निकट-वर्ती ध्वनि के परिवतन से—'च' (तालव्य) के स्थान में त' (दन्त्य) के आ जाने से—इस का उच्चारण-स्थान बदल गया है यह ध्वनि भी दन्त्य हो गई है। श > स' ध्वनि विकार के अन्तगत तो होगा, पर इसे विपयय नहीं कहा जा सकता।

३ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्युपधा विकारो भवति राजा, दण्डीति। अ थाप्यादि* व्यापत्तिभवति—ज्योतिर् घनो, बिन्दुर, वाट्य इति। * मुद्रित ग्रन्थों मे विपययों' पाठ है। व्यापत्ति पाठ पर निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ १६१ देखें।

४ पतञ्जलि आदि पर-कालीन आचार्यों ने भी इन दोनो प्रकार के विकारों के लिये पृथक-पृथक शब्द न दे कर एक 'विकार शब्द का ही प्रयोग किया है येषु लोपागम वर्ण विकारा श्रूयन्ते, न चोच्यन्ते (महा भाष्य ६।३।१०६, पृष्ठ ६६२)।

के प्रभाव के कारण होता है उसे हमने 'परत न्त्र विकार' कहा है। स्वर और व्यञ्जन के विकृत होने के कारण इसके दो भेद हैं

(अ) **स्वरों का परतन्त्र विकार** यह निम्न दिशाओं में उपलब्ध होता है

(१) अ > आ ध्वस > ध्वात। (२) 'इ' के विकार की निम्न प्रवृत्तियाँ हैं (i) इ > ई द्वि + अप > द्विप > द्वीप, (ii) इ > ए √पी > पयस, (iii) इ > य √दिव > दिउ > द्यु। (३) 'उ' के विकार की दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं (i) उ > ऊ √गुह > गूळ्ह, (ii) उ > ओ √उच > ओक √शु > शवस। (४) 'ऋ' के विकास की ये दिशाएँ हैं (i) ऋ[1] > अ आ वत > अवत, (ii) ऋ > अर √ऋ > अरितृ, अर्णा, √कृ > चकृत्य √ज > जरणा, जरितृ √त > तरणि, तरस तमनृ, (iii) ऋ > आर √ज > जार, प √ > पार, (iv) ऋ < इर √त > तीर्ण, (v) ऋ > उर् √ज > अ जुय, √त > ततुरि, तुर, √प > पपुरि, (vi) ऋ > ऊर् √त > तूर्ति तूय, (vii) ऋ < र् √द > अद्रि √कृ > चक्रि, √प > पप्रि

इस विवरण से विदित होता है कि स्वरों में परिवर्तन सर्वाधिक विधाओं में 'ऋ' का ही होता है।

(आ) **व्यञ्जनों का पर तन्त्र विकार** यह निम्न दिशाओं में उपलब्ध है

(१) चवर्ग > कवर्ग (i) च् > क (सु) √वच + त + > सूक्त √पच् + ति > पक्ति, √वच् + थ > उक्थ[2], √वच + थ्य > उक्थ्य, √ऋच + व > ऋक्व ऋच + वन् > ऋक्वन् √व्रश्च् + म > वृश्म। (ii) च > ग ऋच + मिय > ऋग्मिय। (iii) ज > क √भज + त > भक्त अञ्ज + तु > अक्तु। (iv) ज > ग √अञ्ज + नि > अग्नि, √तिज + म > तिग्म उज + र > उग्र।

(२) चवर्ग > ऊष्म ज > ष √राज + त्र > राष्ट्र।

(३) तवर्ग > चवर्ग √द्युत > ज्योतिष।

(४) घोष का अघोषी करण √दभ + स > √दिप्स[3]।

---

१ ऋ के ह्रस्व और दीर्घ भेद हमें बहुत अभिप्रेत नहीं है। अत उदाहरण मिले-जुले दिये हैं।

२ 'च + थ' के मध्य स्वरभक्ति (द्र ऊपर १ वर्णागम') होने पर यह विकार नहीं होता √वच + थ > उच् + अ + थ > उचथ।

३ संहिताओं की लिखित और मुद्रित वर्तनी के अनुसार यहाँ घोष महाप्राण स्पर्श (भ) अघोष अल्प प्राण स्पर्श (प) में बदल गया है। हमारे विचार में 'भ' के बाद अघोष महा प्राण (स) होने से 'भ्' घोष से अघोष हो गया है, तथा महा प्राणता ज्यों की त्यों बर-करार रही है। अर्थात् लिखित वर्तनी में चाहे यह 'दिप्स' ही क्यों न हो परन्तु उच्चारण में यह दिफ्स ही है। शिक्षाओं के अनुसार भी ऐसी स्थिति में महा प्राणता रहती है। वैयाकरणों में पौष्कर-सादि आचार्य ने भी इस स्थिति में यही व्यवस्था दी है चयो द्वितीया शरि पौष्कर सादेरिति वाच्यम्। द्र सिद्धान्त कौमुदी, हल्सन्धि प्रकरणम्।

(५) कण्ठघोष महा प्राण (ह) ध्वनि का मूर्धन्यीकरण १ गुह (+त) >गूळ्ह √दह (+त)>दळ, √वह (+तु)>वोळ्हु।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि व्यञ्जनो मे च वर्गीय ध्वनि ही सब से अधिक बदलती है। च वर्गीय ध्वनि के स्थान मे भी क-वर्गीय ध्वनि ही सर्वाधिक आयी है।

(ख) स्वतन्त्र विकार जो ध्वनि विकार किसी अन्य ध्वनि के प्रभाव (सयोग आदि) से न हो कर स्वत होता है, उसे इस श्रेणी के अन्तगत रखा गया है। इस के भी पूववत् स्वर व्यञ्जन भेद से दो भेद हैं

(अ) स्वरों का स्वतन्त्र परिवर्तन (१) 'अ ध्वनि के निम्न ध्वनि विकार उपलब्ध होते हैं (i) अ>आ √वम्>वाम (ii) अ>इ √दभ>दिप्स, (iii) अ>ए √नम्>नेमि, (iv) अ>ओ १ वह>वोळ्हु। (२) आ>इ √मा>अमिता √पा>पितु, √धा> सु धित। (३) 'इ' के दो विकार मिलते हैं (i) इ>ई वि+रह्>वीरुध (ii) इ>ए १ सि>सेतु। (४) उ> ओ १ दुह>दोघ, १ श्रु>श्लोक, √श्चुत्>स्तोक।

(आ) व्यञ्जनों का स्व-तन्त्र परिवतन १) क>च √कृ>चक्रि, चकृत्य, √कित्>चित् √कित्>चित्र, १ कित>चेतस। (२) च वर्गीय> कवर्गीय (i) च>क √अच>अक √पच>पाक √उच>ओकस, √चित् केतु √श्चुत्>स्तुच>स्तोक। (ii) ज>ग √भज>भग, भाग जि>गि। (३) चवर्गीय>ऊष्म छ>श √उच्छ>उषस। (४) दन्त्य>मूर्धन्य (i) त्>ट किम्+√कृ (+त)>कीकट, (ii) द>ड √मन्द>मण्डूक। (५) अल्प प्राण> महा प्राण द>ध् √मद्>मधु √स्यन्द>सिन्धु। (६) अघ>अह, सघ>सह मे उच्चारण-स्थान के साथ करण का स्पश होने की बजाय सन्घष होने से घ>ह हो गया है। (७) प्रथम शब्द में घोषता के स्थान म अ घोषता भी हो गई है अघ >अथ। तुलना करें सध>साथ (हिन्दी)। (८) र>ल √श्रु>श्लोक। (९) श्>स √श्चुत्>स्तुच्>स्तोक। (१०) निम्न धातुओं मे 'ह' का स्थान कण्ठ्य तालव्य और दन्त्य ध्वनियों ने ले लिया है (i) ह>घ (अन+)√हन्>अघा √हन्>घन √हन्>जघन, √दुह>दुघा, दोघ। (ii) ह>झ>ज √हन् >जघन[1]। (iii) ह>ध् वि√रह+>वीरुध्।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि कण्ठय और तालव्य ध्वनियों मे विकार की मात्रा ही सर्वाधिक है।

सम्प्रसारण अन्त-स्थ ध्वनियों वाले अक्षर (Syllable) के स्थान में बहुत सी बार स्वर का प्रयोग भी होता है। इस प्रवृत्ति को वैयाकरणों ने 'सम्प्रसारण'

---

१ यहाँ पहले 'ह्' को 'झ्' और दूसरे 'ह' को 'घ' हुआ। फिर दो महा प्राण ध्वनियों का एक के-बाद एक उच्चारण कठिन होने से पहली महा प्राण ध्वनि 'झ्' के स्थान में अल्प प्राण 'ज्' हो गई है।

नाम दिया है[1] । ऊपर चर्चित १४६ शब्दो मे से २१ शब्दों म सम्प्रसारण की निम्न प्रवृतिया उप लब्ध होती हैं

१ य > इ ऋतु + √यज > ऋत्विज √स्य द् > सिन्धु ।

२ रेफ वान् अक्षर के सम्प्रसारण की निम्न दिशायें है १ अर > ऋ √अच > ऋक्व ऋक्वन् ऋग्मिय । २ र > ऋ √प्रथ > पृथिवी पृथु पृथ्वी √व्रश्च > वृक्ष । ३ रा > ईर √द्राघ > दीघ । ४ रु > ऋ √प्रुव > पृष्ठ ।

३ व वाले अक्षर की निम्न परिणतियाँ उपलब्ध हुई हैं १ अव > ऊ √अव > ऊति । २ व् > उ दिव > दिउ > द्यु । ३ व > उ √वच् > उक्थ उवथ्य उचथ (सु) √वच > (सु) उक्त √वस > उस्र √वप > उप्त । ४ वृ > उर √वृ > उरु । ५ वृ > ऊर √वृ > ऊर्व । ६ ईव > ऊ √सीव > सूची ।

इस विवरण म ज्ञात होता है कि मात्रा की दृष्टि स सर्वाधिक प्रकार का सम्प्रसारण ज य विकार व ध्वनि वाले अक्षरा का उपलब्ध होता है । रेफवान् अक्षर को सम्प्रसारण का स्थान इस दृष्टि स दूसरा है ।

(४) वण लोप शब्द की निष्पत्ति मे मूल शब्द की किसी किसी ध्वनि का लोप हो जाता है । यास्क ने इस प्रवृत्ति का वर्गीकरण दो आधारो पर किया है (क) शब्द मे लुप्यमान ध्वनि के स्थान के आधार पर १ आदि लोप २ अन्त लोप और ३ उपधा लोप । (ख) लुप्यमान वर्णों की सङ्ख्या के आधार पर १ वण लोप (एक वण का लोप) और २ द्वि वण-लोप (दो वर्णों का लोप)[2] ।

अ यत्र वण लोप' का विभाजन १ आदि लोप २ मध्य लोप ३ अन्त लोप के रूप मे किया गया है[3] । हम इन दोनों को मिला कर प्रथम आधार पर

---

१ द्र अष्टाध्यायी १।१।४५ इग्यण सम्प्रसारणम् । पाणिनि ने अपने तन्त्र की सुविधा के लिये अन्तस्थ (अध मात्रिक) ध्वनि को मात्रिक स्वर (इक्) का विधान कर के फिर अन्य नियम स उस के पर वर्ती स्वर (अच्) को पूव रूप (सम्प्र सारण ज य स्वर से) एकादेश का विधान किया है सम्प्रसारणाच्च (अष्टा ६।१। १०८) । अत समूची प्रक्रिया की दृष्टि में रखते हुए सम्प्रसारण सञ्ज्ञा अध मात्रिक ध्वनि का एक मात्रिक ध्वनि के रूप म फैलाव होन के कारण नही पडी हैं अपितु एक से अधिक मात्रा वाले अक्षर के स्थान म एक मात्रा वाला अक्षर दने के कारण—सङ्कोच के कारण—पडी है । अर्थात् 'सम्प्रसारण म सम् शब्द प्रसारण' के अनुकूल न हो कर उस मे विपरीतता—सङ्कोच—का अभिधायक है । सहार उप सहार, सस्था शब्दों मे सम् इसी प्रकार के अर्थ में प्रतीत होता है ।

२ द्र निरुक्तम् २।१ अथाप्यस्तेर्निवृत्ति स्थानेष्वादि लोपो भवति स्त सन्तीति । अथाप्यन्त लोपो भवति गत्वा गतमिति । अथाप्युपधा लोपो भवति जग्मतुर जग्मुर इति । अथापि वण लोपो भवति तत्त्वा यामीति । अथापि द्वि वण लोपस्तृच इति ।

३ आदि मध्या त लुप्तानि प्रच्छन्नापि हितानि च ।

ब्रह्मण परि गुप्त्यर्थं वेदे व्यव हितानि च ।। (मून अज्ञात)

वर्ण-लोप की इस प्रवृत्ति के पांच भेद करना उचित समझते हैं १ आदि-लोप, २ मध्य लोप, ३ उपधा-लोप, ४ टि लोप और ५ अन्त लोप

१ आदि लोप √स्कम्भ् > कम्भन में आदिम 'स्' लुप्त है।

२ मध्य लोप अनवञ्च् > अनूच प्रत्यञ्च् > प्रतीच तथा द्वि + अप > द्वीप में समस्त शब्द के मध्यवर्ती अ का लोप हुआ है और इस के प्रति प्रसव के रूप में पूर्व पदों—अनु प्रति- और द्वि' के अन्तिम स्वर को दीर्घ हो गया है। √हन् > जङ्घन > जघन में भी मध्य गत नासिक्य का लोप हो गया है। किन्तु यहां पूर्व वर्ती स्वर को दीर्घ नहीं हुआ है।

३ उपधा लोप अन्वञ्च् > अनूच प्रत्यञ्च > प्रतीच, √अञ्ज > आज्य, √उन्द > उत्स √स्कम्भ > स्कभीयस √गम् > ग्मा √दस > दस्म दस्र √दृह् > दृढ में उपधा (अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ती वर्ण) ध्वनि का लोप हुआ है।

यहाँ निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं १ लुप्त होने वाली ध्वनियों में नासिक्य (ञ न् म् तथा अनुस्वार) ध्वनियों की सङ्ख्या अधिक है। २ अनु-नासिक ध्वनियों के लोप के प्रति प्रसव के रूप में पूर्व वर्ती स्वर को दीर्घ नहीं हुआ है[१]। ३ '√गम् > ग्मा' में उपधा-लोप होने पर 'ग म' को पुन सन्धि ('ङ म') नहीं हुई है।

---

१ 'अनवञ्च > अनूच आदि में पूर्व पद के अन्त्य स्वर को दीर्घ नासिक्य ध्वनि के लोप के प्रति प्रसव के रूप में नहीं हुआ है अपितु √अञ्च् के स्वर ('अ') के लोप के फल-स्वरूप उसकी क्षति पूर्ति के निमित्त, ही हुआ है।

√अञ्ज > आज्य' में आदिम अ को दीर्घ भी नासिक्य के लोप के कारण है या यह प्रत्यय की ही कोई विशेषता है यह स्पष्ट नहीं है। कात्यायन ने इसे 'आ + √अञ्ज + क्यप से बनाया है आङ्पूर्वादञ्जे सञ्ज्ञायामुप सङ्ख्यानम् (अष्टा ३।१।१०९ पर वार्तिक)। इस का अभिप्राय यह है कि वे इस के आदिम स्वर को ह्रस्व ही मानते हैं। 'आ' सन्धि ज है अनु नासिक-लोप के प्रति प्रसव के रूप में नहीं। प्रत्यय के कारण दीर्घता अपेक्षित अथवा अभिप्रेत होने पर प्रत्यय का स्वरूप 'क्यप' हुआ होता।

आचार्य शाकल्य इसे स्वतन्त्र आ-कारादि (दीर्घादि) ही मानते हैं उन्होंने यहाँ अवग्रह नहीं किया है। इस प्रकार की स्थिति में अवग्रह के लिये आऽज्य (१०।१५।६) आऽञ्जनेन (१८।७), आज्य (२।३८।१०), आज्यन (१०।६४।६ १४२।८), आन्तरण (१।११२।६, ८।३०।८) शब्दों का पद पाठ द्रष्टव्य है। इन में सर्वत्र अवग्रह दिया गया है।

अत कात्यायन की व्युत्पत्ति का आधार स्पष्ट नहीं है।

यदि अनु-नासिक लोप के कारण ही यहाँ दीर्घ हुआ होता, तो 'अज्यते, अज्यमान' आदि में भी दीर्घ हुआ होता। अत यहाँ दीर्घ प्रत्यय की उपस्थिति से हुआ है अनु-नासिक-लोप की क्षति पूर्ति के लिये नहीं।

४ टि लोप मनस+ईयिन् > मनीषिन् ।

५ अन्त लोप √हन् > अघा, किम्+ √ कृ > कीकट, √जन् > जात वेदस, √तन् > तमस, √वन् > वाम मे अन्तिम नासिक्य ध्वनि का लोप हुआ है तथा 'ध्वस > ध्वान्त' म अन्त्य 'स्' ध्वनि का लोप हुआ है[1] ।

इस प्रवृत्ति मे भी नासिक्य ध्वनि के लोप की मात्रा ही अधिक है। इन शब्दो मे एक 'तमस' को छोड कर शेष सब मे ध्वनि लोप के प्रति प्रसव के रूप मे पूव वर्ती ध्वनि को दीघ हो गया है[2] ।

कई शब्द इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं जिन के निवचन के बारे मे ऋषियो मे मत भेद हैं। एक ऋषि ने एक निवचन किया है, तो दूसरे ने दूसरा। अग्नि, अद्रि केतु गो, वित्त, तमम पयस शब्द द्रष्टव्य हैं।

(१, ख) शब्दाथ निवचन

स्पष्ट किया जाने वाला अथ शब्द के किस भाग से सम्बद्ध है इस आधार पर अथ निवचन के भी मूलत दो भेद हैं (१) प्रकृत्यथ निवचन और (२) प्रत्ययाथ निवचन

(१) *प्रकृत्यथ निवचन प्रकृत अध्ययन मे लिये गए अधिकाश शब्द धातु ज* हैं अत प्रकृत्यथ निवचन का आशय यह है कि अमुक शब्दो मे उन शब्दो के प्रचलित होने का आधार जो क्रिया है उस का अभिधान करने वाले धातु का अथ स्पष्ट करने की दृष्टि से अमुक शब्दो का निवचन किया गया है। अत यह निवचन शब्द के ध्वन्यश की व्याख्या न होने के कारण शब्द निवचन नहा है, तथा उस के अर्थांश की व्याख्या होने के कारण अथ निवचन है। उदाहरण—√इष > इष √उच > श्रोक, √घस् > घासि √ज > जरितृ, जात+ √विद् > जात वेदस, √ज > जार, √हृ >

---

१ पाणिनीय तन्त्र मे 'ध्वान्त' शब्द √ध्वन् (शब्द) से व्युत्पन्न माना जाता है द्र अष्टा ७।२।१८ पर महा भाष्य ध्वान्त तमोऽभिधान इति वक्तव्यम। ध्वनित तमसेत्येवान्यत्र।

अ वकार का श्रोत्रेंद्रिय से सम्बन्ध पतञ्जलि जैसे वडे आचाय के प्रमाण पर 'सत्त वचन महा राज !' की परम्परा को आगे बढाते हुए ही माना जा सकता है।

२ *पाणिनीय तन्त्र मे इस तरह के स्थलो मे प्रायेण दीघ का विधान न कर* के दीघवान् रूप को पूर्ववर्ती दीघ रहित रूप का आदेश बताया जाता है। तुलना करें इद किमोरीश्की (अष्टा ६।३।९०), आ जनोर्जा (अष्टा ७।३।७९)। 'वाम को उणादि कार √वा से मानते हैं। अत उन के मत मे तो इस शब्द मे दीघ विधान का झञ्झट ही नही है। देवराज यज्वन् ने इमे √वन् से बाहुलक स निष्पादित कर के 'न्' को 'आ आदेश किया है वन, षण सम्भक्तौ (ग्वा ४५९ ४६०)। इषु युधी (उणादि सूत्र १४२) इति बाहुलका मक प्रत्ययो, नकारस्या कारश्च (निघण्टु टीका ३।८।६)।

जुहुरे, √दस—√दस, √दा > दानु, √दा > दामन् √नु > नौ √पा > पति, √पृ > पप्रि, पयस् √पा > पायस्, √पा > पितु √भज > भक्त, भग, भाग, √ यम् > रश्मि, √वन् > वाम, √विप् > विप्र।

(२) प्रत्ययार्थ निर्वचन शब्दार्थ में प्रकृत्यर्थ तो आधार भूत है ही पर उस की विभिन्न छायाओं का निर्माण करने में प्रमुख दायित्व प्रत्ययार्थ का ही होता है। अत जहाँ प्रकृत्यर्थ प्रायश क्रिया रूप ही होता है, प्रत्ययार्थ के कई भेद होते हैं

(क) कारकार्थ प्रत्ययार्थ के इस भेद का ऋषियों ने विभिन्न कारक विभक्तियों के प्रयोग से सूचित किया है

(i) कर्तृ अक्नु, अग्नि, अद्रि, अरितृ आखण्डिर उग्र आजिष्ठ आजीयम उपस अश्व ऋक्वन् ऋत्विज, केतु*[1], क्षत्रिय[2], गो, चक्रि, चित्र जरितृ, जात वेदस ततुरि तमस*, तरणि, तमन्, -तुर दस, दानु, दामन्, द्रु, द्वर ध्वान्त पति, पपुरि प्र हेतृ भग मण्डूक मधु, मनुष्य विप्र, वीरुध, वृत्र शूर सिन्धु सतु स्तोतृ—कुल ४४ शब्द कर्त्रर्थ में व्युत्पादित हैं।

(ii) कर्म अक*, उक्थ उचथ, ऊव, ऋग्मिय, गूळ्ह घासि, चकृत्य जघन, जार, तमस*, तिग्म तीक्ष्ण दात्र*, दानु, द्वर द्वार धाय्य नि धि नि युत नेमि पक्ति, पयस* पायस पितु, पृथिवी, प्रन्यस भक्त भाग[3], रश्मि, वाम, विधवा वृक्ष सु धित, सूक्त—कर्म अर्थ में कुल ३५ शब्द व्युत्पादित हैं।

(iii) करण अक*, आज्य उदन् कम्भन, घन घृत चेतस, जरणा, दात्र*, नौ पयस* पायु भाम, सूची—करण अर्थ में कुल १५ शब्द व्युत्पादित हैं।

(iv) अधि करण गुहा, ग्मा।

(v) कर्म कर्तृ केतु*।

(ख) भाव अक†, ओजस ऊति, तरस भाग†, वोळ्हु, सु दीति।

(ग) अर्हार्थीय उक्थ्य, गुह्य।

(२) अर्थ निर्वचन

क्षत्रिय, नि धि और रश्मि की व्याख्या इन के ध्वन्यश की व्युत्पत्ति न बता कर केवल इन का अर्थ स्पष्ट कर के ही की गई है। अत ये अर्थ निर्वचन मात्र हैं।

अर्थ मात्र निर्वचन की अपेक्षा शब्दार्थ निर्वचन की इतनी प्रचुरता इस तथ्य की पोषक है कि वदिक ऋषियों ने अपने भाषा चिन्तन को उस स्तर तक पहुचा

---

१ तारकाङ्कित ५ शब्द एकाधिक कारकों में व्युत्पादित हैं (१) कर्तृ—कर्म कर्तृ केतु। (२) कर्तृ—कर्म तमस। (३) कर्म—करण अक, दात्र पयस।

२ वस्तुत इस शब्द में तद्धित प्रत्यय है। यह तद्धित कर्तृ निष्पाद्य 'अवात' क्रिया को प्रकट करता है। अत इसे यहीं प्रदर्शित कर दिया है।

३ इस चिह्न वाले दो शब्द भाव तथा कारक अर्थों के अभिधायक प्रत्यय से निष्पन्न हैं (क) कर्म—करण—भाव अक, (ख) कर्म—भाव भाग।

दिया था, जहाँ कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति विदित होती है। इस से यह विदित होता है कि ऋग्वेदीय ऋषि नामों को अधिकाश म व्युत्पन्न मानते थे तथा उनकी भाषा भाषिक चिन्तन की गहराइयों और बारीकियों की तह तक पहुँच कर व्युत्पादित हो चुकी थी।

इस विवेचन से निम्न लिखित तथ्य विदित होते हैं

(१) प्रायेण सभी निवचनो मे नाम पदो की व्युत्पत्ति धातु से दी गई है। अत इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋषि लोग नाम करण का आधार पदाथ की किसी क्रिया को मानते थे।

(२) व्युत्पाद्य अथ और व्युत्पादक धातु के अथ मे सामञ्जस्य उन्ह इष्ट था। यही कारण है कि आदित्य के लिये प्रसिद्ध 'पपुरि' का निवचन 'भरना' (जल की वर्षा म सहायक होने से) अथ वाली पिपर्ति' स और आपत्ति स पार लगाने वाले इन्द्र के नाम 'पप्रि' का निवचन 'पार करना' अथ वाली 'पारयति' से किया गया है। इस से सिद्ध होता है कि वे निवचन मे अथ को समुचित प्रधानता प्रदान करते थ।

(३) भाषा मे ध्वनि परिवतनो की स्थिति और उनके वैज्ञानिक आधार से भी ऋषि लोग भली भाँति परिचित थे।

(४) समास तथा तद्धित शब्दो का निवचन भी उन्होने किया है। इस मे विग्रह प्रदशन, प्रकृति विकृति सम्बन्ध का प्रदशन प्रमुख रूप से किया गया है[1]।

---

१ इस विषय मे विशेष के लिये 'निरुक्त मीमासा' म 'वैदिक साहित्य मे निवचन' अध्याय तथा विशेष कर पृष्ठ २०७-२०८ देखें।

ऋग्वेदेतर वैदिक वाङ्मय में व्युत्पत्ति चिन्तन

माध्यन्दिन संहिता में व्युत्पत्ति चिन्तन

यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में १३५ शब्दों के निर्वचन किए गये हैं। इनमें से ५२ शब्दों के निर्वचन ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी मिलते हैं। २७ शब्दों के निर्वचन केवल ऋग्वेद में, ६ शब्दों के निर्वचन अकेली अथर्व-संहिता में और १६ शब्दों के निर्वचन इन दोनों संहिताओं—मा० सं० और अ० सं०—में मिलते हैं। अब केवल ८३ शब्दों के निर्वचन हैं जो माध्यन्दिन संहिता के अपने निर्वचन हैं।

ऋग्वेद-संहिता तथा माध्यन्दिन संहिता दोनों में मिलने वाले २७ शब्दों के निर्वचनों में से बाईस शब्दों के निर्वचन दोनों संहिताओं में समान ही हैं। पांच शब्दों के निर्वचनों में कुछ अन्तर है जिसका ब्योरा यों है

१ अमृत ऋग्वेद में कुत्स आङ्गिरस[1] और गोतम राहूगण[2] ने 'अमृत' को 'मर्त' के विलोम के रूप में प्रयुक्त किया है। अर्थात् ये लोग इसे 'मरना' अर्थ वाली √मृ से निष्पन्न मानते हैं। यजुर्वेद में इसे 'ऋत' से सम्बद्ध के रूप में प्रयुक्त किया गया है[3]।

२ घृत ऋग्वेद में यह शब्द 'दीप्ति' और 'सिञ्चन' अर्थ वाली √घृ से निष्पन्न है तथा 'घृत' का पर्याय 'आज्य' 'लेपन' तथा 'दीपन' अर्थ वाली √अञ्ज् से अभिप्रेत है, यह हम पीछे[4] कह चुके हैं। माध्यन्दिन संहिता में 'घृत' को √अञ्ज् के करण के रूप में[5] देकर उपर्युक्त अर्थ को स्पष्ट किया है। अतः यह 'घृत' का अर्थ निर्वचन है जो ऋग्वेदानुकूल है।

३ धान्य ऋग्वेद संहिता में श्यावाश्व आत्रेय[6] और भरद्वाज बार्हस्पत्य[7] को यह शब्द धारणार्थक √धा से कर्म अर्थ में व्युत्पन्न अभिप्रेत लगता है किन्तु माध्यन्दिन-संहिता में यह प्रीणन अर्थ वाली √धि से अभिप्रेत है[8]। कृष्ण यजुर्वेद[9]

---

१ मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः । १।११०।४ ॥
२ यो (अग्नि) मर्त्येष्वमृत ऋतावा । १।७७।१ ॥
३ ऋतं च मेऽमृतं च मे । १८।३ ॥ ४ द्र० पृष्ठ ३६ ।
५ अश्वो घृतेन त्मन्या समक्तः । २९।१० ॥
६ येन तोकाय तनयाय धान्यं बीजं वहध्वे अक्षितम् ।
अस्मभ्यं तद्धत्तन, यद्व ईमहे राधो विश्वायु सौभगम् ॥ ५।५३।१३ ॥
७ विश्व स देव प्रति वारमग्ने, धत्ते धान्यं, पत्यते वसव्यैः ॥ ६।१३।४ ॥
८ धान्यमसि, धिनुहि देवान् । १।२० । ९ द्र० कपिष्ठल कठ संहिता १।६ ।

मे भी यही व्युत्पत्ति अभिप्रेत है। परवर्ती आचार्यों ने ऋग्वेदीय व्युत्पत्ति को ही माना है[1]।

४ भार दीर्घ-तमस औचथ्य तथा वसिष्ठ मैत्रा वरुणि ने √भृ (ओष्ठ-यादि धातु) से इस शब्द की व्युत्पत्ति का सङ्केत दिया है[2], जब कि माध्यन्दिन संहिता मे √हृ के साथ इस के प्रयोग[3] से सूचित होता है कि ऋग्वेदीय √भृ का स्थान उस काल मे √हृ ले चुकी थी तथा प्राचीन शब्दों म विद्यमान √भृ की व्याख्या अर्वाचीन √हृ से की जाने लगी थी।

५ शमी ऋग्वेद मे अत्रि भौम[4] तथा भारद्वाज बार्हस्पत्य[5] ने इस की व्युत्पत्ति स्तुत्यर्थक √शम् से की है परन्तु माध्यन्दिन संहिता म यह यज्ञिय कर्म-काण्ड के अनुकूल अध्वर्यु के साथी 'शमितृ' नामक ऋत्विक के बलि-पशु की चीर फाड़ से सम्बद्ध संस्कार की वाचक √शम् से व्युत्पादित के रूप मे अभिप्रेत है[6]।

माध्यन्दिन संहिता के अपने निवचनो को प्रमुख रूप स निम्न चार वर्गों मे बाँटा जा सकता है (१) कृदन्त ३१ शब्द, (२) समास २८ शब्द, (३) तद्धित १८ शब्द तथा (४) प्रकीर्ण ५। प्रत्येक वर्ग का ब्योरा यों है

(१) कृदन्त कृदन्त शब्दों के निवचन मे प्रकृति और प्रत्यय की व्याख्या अपेक्षित होती है

(क) प्रकृति की व्याख्या तो एक ही प्रकृति से निष्पन्न दो शब्दो के परस्पर-सम्बद्ध युगपत् प्रयोग से की जाती है। जसे—√इ से निष्पन्न 'एम' (लक्ष्य[7])

---

१ तुलना करें निरुक्तम् ५।१२ धाना भ्राष्ट्रे हिता भवन्ति। फले हिता भवन्तीति वा। उणादि सूत्र ७२६ (५।४८) दधातेयन्नुट् च।

२ गर्भो भार भरत्या चिदस्य। १।१५२।३॥
बिभर्ति भार पृथिवो न भूम॥ ७।३४।७॥

३ ऊर्ध्वमिनामुच्छ्रापय गिरौ भार हरन्निव। २३।२६॥

४ यो व शमी शशमानस्य निन्दात्तुच्छ्यान्कामा करते सिष्विदान। ५।४२।१०।

५ ईजे यज्ञेभि, शशमे शमीभिऋध द्वारायाग्नये ददाश। ६।३।२॥

६ स इद देवेभ्यो हवि शमीष्व, सु शमि शमीष्व। १।१५॥ महीधर ने यहाँ √शम् का अथ 'मक्षण विरोधि-तुषाप नयनेन शान्त कुरु। से स्पष्ट किया है। परन्तु निम्न मन्त्रो में √शम् ऊपर बताये हिंसन अथ में ही प्रयुक्त है, अत यहाँ भी यही अथ उचित है कस्त्वाऽऽच्छ्यति ? कस्त्वा वि शास्ति ? कस्ते गात्राणि शम्यति ? क उ ते शमिता कवि ? (२३।३९)। ऋतवस्त ऋतुथा पव शमितारो वि शासतु। स वत्सरस्य तेजसा शमीभि शम्यन्तु त्वा॥ ४०॥ महीधर ने भी यहाँ यही अथ किया है वि शास्ति=अश्वोदर पाटयति (३९)। शम्य तु=पव वि शासनेन हवि कुवन्तु (४०)।

७ द्र महीधर 'एम'—ईयत इत्येम, एतेय प्रत्यय, प्राप्तव्योऽथ। तुलना करें अंग्रेजी एम् (*aim*)।

शब्द के साथ उसी से निष्पन्न 'इत्या' के प्रयोग—'एमश्च मे इत्या च मे।' (मा स १८।१५)—से इन दोनों, विशेष कर के 'एम', की प्रकृति स्पष्ट की गई है। इसी प्रकार √दा से निष्पन्न 'दत्त'[१], √रम् से निष्पन्न 'रति', तथा 'रन्ति'[३], √शम् से निष्पन्न 'शमितृ'[४], √स्त से निष्पन्न 'स्तीर्ण'[५] और √स्वद् से व्युत्पन्न स्वात्त[६] के निर्वचन इस विषय में द्रष्टव्य हैं।

(ख) प्रत्यय की व्याख्या समानार्थक अन्य प्रत्यय के प्रयोग में की जाती है अग्निरिड ईडित। (मा स २।३) में ईडित (कर्म में 'त' प्रत्यय) के साथ 'इड' के प्रयोग से इड' भी कर्म कृदन्त है यह सूचित किया है।

(ग) एक ही धातु से निष्पन्न दो शब्दों का युगपत् प्रयोग कर के उन दोनों के सम्बन्ध का विभक्ति के द्वारा अभिधान कर के भी प्रत्यय का अर्थ स्पष्ट कर दिया जाता है 'इडाभिरग्निरीडय (मा स २१।१४)। यहाँ 'ईडय' के करण के रूप में 'इडा' के प्रयोग से 'इडा' की करण व्युत्पाद्यता का सङ्केत समझा जा सकता है।

भाषा-चिन्तन की दृष्टि से निम्न व्युत्पत्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं

१ धुर् < √धुर्व् शकट (छकडे) की 'धुर्' की व्युत्पत्ति हिंसार्थक √धुर्व (प्रयोग में √धूर्व्) से बताई है[७] क्योंकि यह वहन करने वाले को कष्ट देती है। यास्क और वैयाकरणों ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[८]। यहाँ उ की सन्धि में व का लोप[९] स्पष्ट अभिप्रेत है।

२ ध्रुव √ < धृ जिस प्रकार यन्तृ और यमन के युगपत्प्रयोग में इन दोनों शब्दों की एक धातुजनता स्पष्ट होती है, वैसे ही 'ध्रुव' और 'धरुण' के इकट्ठे प्रयोग से भी इन दोनों की समान धातुजता तथा ध्रुव √ > धृ व्युत्पत्ति का सङ्केत होता है[१०]। वैयाकरण निकाय में यह √ध्रु से बताया जाता है[११]। √ध्रु के अ

---

१ यद्दत्त, यत्परा दानम् (१८।६४)। २. इह रतिरिह रमध्वम् (८।५१)।

३ इह रन्तिरिह रमताम् (२३।१६)।

४ द्र पृष्ठ ११६, टि ६ में उद्धृत २३।३९ ४०।

५ स्तीर्ण बर्हि सुष्टरीम (२६।४)।

६ आपो देवी स्वदन्तु स्वात्त चित् (६।१०)।

७ धूरसि, धूर्व धूर्वन्तम् धूर्व त योऽस्मान्धूर्वति, त धूर्व, य वय धूर्वाम (१। ८)॥ उव्वट धूर्वण क्रिया निमित्त हि ते नाम।

८ द्र निरुक्तम् ३।९ धूर्धूर्वतेर्वधकर्मण। इयमपीतरा धुरेतस्मादेव—विहन्ति वहम्। अष्टा ३।२।१७७ भ्राज भास धुर्वि द्युतोर्जि पृ जु ग्रावस्तुव क्विप्।

९ द्र अष्टाध्यायी ६।४।२१ राल्लोप।

१० यन्तासि यमनो, ध्रुवोऽसि धरुण (६।२२)।

११ द्र उणादि-सूत्र २१६(२।६२)'ध्रुव क।' पर उज्ज्वल दत्त बाहुलकाद् 'ध्रु स्थैर्ये' अतोऽपि क। मा धा व १।८२५ 'ध्रुव' इति बाहुलकात्।

ख्यात रूप वैदिक वाङमय मे उपलब्ध नही हैं। तीन कृन्त रूप 'ध्रुति'[1], 'ध्रुवस[2]' तथा ध्रुवि[3] अवश्य मिलते हैं, जो √ध्रु की प्राचीनतर काल मे सत्ता के सूचक हैं। अत शब्दार्थोभय साम्य के कारण √ध्रु>ध्रुव व्युत्पत्ति अधिक उचित प्रतीत होती है। √ध्रु स्वय √धृ से विकसित हो, यह सम्भव है।

३ मृद्—मृद्धो मिट्टी' का वाचक मृद्' शब्द नरम होने के कारण पडा है[4]। 'मृदु शब्द 'पृथु के समान है तथा √म्रद स सम्प्रसारण हो कर निष्पन्न है[5]।

४ रति, ५ रति य दोनो शब्द √रम् से निष्पादित है[6] तथा एक मे 'म्' का लोप नही हुआ है, दूसरे मे हो गया है। पर वर्ती काल मे म्' का लोप अनिवाय हो गया है[7]।

५ विष्णु< √विष कुछ लोग 'जिष्णु आदि शब्दो की तज पर वि+स्नु=विष्णु व्युत्पत्ति मानते हैं। पर माध्यंदिन संहिता म व्याप्त्यथक √विष से कत्र थ म विष्णु अभिप्रेत है[8]। यास्क ने इस की तीन व्युत्पति दी हैं[9], जिन म म यह प्रथम है। तृतीय व्युत्पत्ति इसी का अथ निवचन भी हो सकती है। वैयाकरण लाग इसी व्युत्पत्ति को मानते हैं[10]।

६ शल्य< √श तीखी नोंक वाले 'शल्य' नामक एक अस्त्र के साथ मा स म हिंसायक √श का प्रयोग किया गया है शल्यो की (तीखी) नोकों को भोथरा कर के ।[11] इससे प्रतीत होता है कि 'शल्य' अपनी हिंसकता के कारण,

---

१ न स स्वो द रो वरुण, ध्रुति सा। ऋ ७।८६।६ ।। यहा यह 'स्थिर नियति' अथ मे आया लगता है कई बार मनुष्य स्वेच्छा (दक्ष) मे नही अपितु नियति से पाप (अनृत) मे प्रवत्त हो जाता है। विश्वब धु ने 'द्रोह' अथ बताया है। द्र वैदिक पदानुक्रम कोष।

२ आ विश्व वाराऽश्विना, गत न प्र तत्स्थानमवाचि वां पृथिव्याम्।
अश्वो न वाजी शुन-पृष्ठो अस्थादा यत्सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम ॥ ऋ ७।७०।१ ॥
विश्वबन्धु ने इसे √ध्रु से कत्र थ म कसुच से तथा रोथ् और वाल्दे न तुमथक (पाणिनीय तन्त्र असे) स निष्पन्न बताया है।

३ नन पर्वता ध्रुवयो भवन्तु। ऋ ७।३५।८ ।। यह मन्त्र आथवण परम्परा (शौनक शाखा १९।१०।८ पप्पलाद शाखा १३।८।८) मे भी धृत है।

४ मृद हस्ताभ्यां मृद्धीं कृत्वा –(११।५५)। ५ द्र निरुक्तम् २।२।

६ द्र पृष्ठ १२० टि २-३ म उद्धत मा स ८।५१, २२।१९।

७ द्र अष्टा ६।४।३७। ८ विष्णोर्वेष्योऽसि। १।३०।

९ द्र निरुक्तम् १२।१८ (१) अथ यद् विषितो भवति, तद् विष्णुर्भवति। (२) विशतेर्वा। (३) व्यश्नोतेर्वा।

१० द्र उणादि सूत्र ३१९ (३।३९) विषे क्चिच।

११ अव-तत्य धनुष्ट्व सहस्राक्ष शतेषु धे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो न सुमना भव ॥ मा स १६।१३ ॥

क्षीण करने के कारण, 'शल्य' कहलाता है, अत यह √श से व्युत्पन्न है एव यहाँ धातु के 'ऋ' को 'अर' विकार होने पर रेक को लकार भी हो गया है। ऋग्वेद सहिता मे इस का प्राचीन रूप 'शर्य' कतिपय बार प्रयुक्त हुआ है। वहाँ यह फेंके जाने वाले आयुध के रूप मे आया है[1]। वयाकरणों ने सम्भवत फेंकना रूप गति के कारण इस की व्युत्पत्ति गत्यर्थक √शल से बताई है[2]।

(२) समास माध्यन्दिन सहिता म उपलब्ध निवचन वाले समासो के उत्तर पद कृदन्त हैं। इन का निवचन (क) विग्रह प्रदर्शित कर के[3], (ख) केवल उत्तर पद की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर के[4] तथा (ग) उसी उत्तर पद वाले अन्य पद का उस के साथ प्रयोग कर के[5] किया गया है। प्रथम प्रकार के निवचनो की सङ्ख्या अन्य प्रकार के निवचनो से कहीं अधिक है।

(३) तद्धित तद्धितों के निवचन का सङ्केत प्रकृति और विकृति के युगपत् प्रयोग से किया गया है। प्रत्ययार्थ का निर्धारण प्रकरण से किया जा सकता है। ये तद्धित निम्न अर्थों मे प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं का[6], का अपत्य[7], की देव

---

१ युध पेदव पुरु वारमश्विना, स्पृधां श्वेत तरुतार दुवस्यथ ।
शर्यैरभि द्यु पृतनासु दुष्टर चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणी सहम ॥ १।११९।१०॥
पुरूणि दस्मो नि रिणाति जम्भराद्रोचते वन आ वि भावा ।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरस्तुर्न शर्यामसनामनु द्यून् ॥ १४८।४॥

२ द्र सिद्धान्त कौमुदी, उणा सूत्र ५४७ (४।१०७) शानसि वलसि-पणसि-तण्डुलाङ्कु श चषालेत्वल-पल्वल धिष्ण्य-शल्या । शलेय =शल्यम । तत्व बोधिनी शले '—शल गतौ (१।८२७) । बाल मनो रमा शल्यमित्यत्राह—'शले ' इति । शल गताविस्यस्मादिदयं ।

३ द्र आयुष्पा आयुर्मे पाहि (२२।१) । उद्ग्रामेलोदग्रमीत् (१७।६३) । उरु प्रथा उरु प्रथस्व (१।२२, तुलना करें २०।३६ उरु प्रथा प्रथमानम्) । काम काम दुघे धुक्ष्व (१२।७२) । गातु विदो गातु वित्त्वा (८।२१) । घृत घृत पावान पिबत, वसां वसा पावान पिबत (६।१९) । परि वीरसि, परि त्वा दवीविशो व्ययन्ताम् (३।६) । स्विष्ट कृदस्विष्ट-कृत्स्विष्टमद्य करोतु न (२८।२२) ।

४ द्र तास्त्व खाद सु-खादितान् (११।७८) । सु मूल विमून (८।२६) ।

५ द्र स सूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधि (३८।२२) ।

६ द्र अय पुरो भुवस्, तस्य प्राणो भौवायन (१३।५४) । अय दक्षिणा विश्व कर्मा, तस्य मनो वैश्व-कमणम् (५५) । अय पश्चाद्विश्व व्यचास, तस्य चक्षु वैश्व-व्यचसम् (५६) । इदमुत्तरात्स्वस् तस्य श्रोत्र सौवम् (५७) । इयमुपरि मतिस, तस्य वाङ् मात्या (५८) । टीका कारा न इनके तद्धिताथ की व्याख्या कहीं का ('तस्येदम्') से, तो कहीं 'का अपत्य' (तस्यापत्यम्) से की है ।

७ द्र आ-पतये त्वा परि-पतये गृह्णामि तनू नप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय (५।५) । उव्वट 'शाक्वराय'— शक्नुवन्त्याभ्यो भूतानि स्थातुम्' इति शक्वर

ता[1], के लिये[2], वाला[3], में प्रसिद्ध[4]।

(४) प्रकीर्ण इस वर्ग के अन्तर्गत तीन प्रकार के पाँच शब्द हैं

(क) एक प्रयोग में √जि (जीतना) के साथ उसके ण्यन्त रूप √जापि (जिताना) का प्रयोग किया है[5] तथा दूसरे प्रयोग में √श्रु (सुनना) के साथ √शुश्रूष (सुनना चाहना) का प्रयोग किया है[6]। इन से सूचित होता है कि धातु के शुद्ध तथा प्रक्रिया के रूपों का पारस्परिक सम्बन्ध इन निर्वचनों से स्पष्ट किया गया है।

(ख) एक प्रयोग[7] में √श्रु के साथ उस से निष्पन्न श्लोक[8] नाम का प्रयोग आख्यात के रूप में किया गया है।

(ग) एक प्रयोग में दो धातुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है 'सूक्त वाक' शब्द 'सूक्त + √वच्' से निष्पन्न है। इस की व्याख्या सूक्त + √ब्रू से की गई है[9]। इस से यह सूचित होता है कि √वच् का उस विशेष लकार में प्रयोग नहीं होता था, तथा उस के स्थान पर √ब्रू का प्रयोग किया जाता था। पाणिनीय तन्त्र में √वच के प्रयोग के इस वैशिष्ट्य को देख कर ही √वच् को

आकाश। तस्यापत्य शाक्वरो=वायुस्, तस्म।

१ द्र अश्विभ्यां दुग्ध भेषजमिन्द्रायेन्द्र सरस्वत्या (१६।१५)। महीधर ऐन्द्रम्=इन्द्र देवत्यम।

२ द्र अतिथेरातिथ्यमसि (५।१)। महीधर ने सम्भवत श्रुति में षष्ठी को देख कर ही इस की व्याख्या 'का' अर्थ में की है अतिथेरिदम्=आतिथ्यम्, 'अतिथेर्ञ्य' (अष्टा ५।४।२६) इति ञ्य प्रत्यय, पर यह सूत्र 'देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्'(२४) के 'तादर्थ्ये' के अधिकार में है 'तादर्थ्य इत्येव (काशिका ५।४।२६)।

३ द्र जवो यस्ते वाजिन्, निहितो गुहा तेन नो वाजिन्, बलवान्बलेन (६।६)। व्यचस्वतीं, प्रथस्वतीं प्रथस्व, पृथिव्यसि (१३।१७)। अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान्, रुक्मो वचसा वचस्वान् (४०)। तृतीया का प्रयोग कर के मत्वर्थ की व्याख्या करने की यह प्राचीन पद्धति प्रतीत होती है। द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४८३, टि ३। त स ३।२।३।१६ में बहुव्रीहि का अर्थ भी तृतीया से ही किया है।

४ द्र ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं, पैतृमत्यम् ऋषिम आर्षेयम् सुधातुदक्षिणम् (७।४६)। महीधर 'आर्षेयम्'—ऋषिषु विख्यात आर्षेयस, तम्। जात्या, प्रवरर, ज्ञानेन सुज्ञातम इत्यर्थ।

५ बृहस्पते, वाजं जय, बृहस्पतये वाचं वदत, बृहस्पतिं वाजं जापयत।
इन्द्र, वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्द्रं वाजं जापयत॥ ६।११॥

उव्वट ने √जापि को √जप या √जि से बताया है, महीधर ने √जि से।

६ शुश्रूषमाणाय स्वाहा, शृण्वते स्वाहा। २२।८॥

७ श्रोत्र मे श्लोकय। १४।८॥

८ यह व्युत्पत्ति ऋग्वेद के अतिरिक्त मा स में भी मिलती है श्लोकश्च मे, श्रवश्च मे, श्रुतिश्च मे। १८।१॥ ९ सूक्त वाकाय सूक्ता ब्रूहि। २१।६१॥

√धृ या आदेश बताया गया है[1]।

√दुष् और √दुह परस्पर सम्बद्ध हैं, यह हम पीछे[2] पढ़ चुके हैं। मा सं म इन का युगपत्प्रयोग[3] इस पक्ष का पोषक है। √दुष् का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्ववेद म भी मिलता है। दोनों का प्रयोग मा सं के अलावा मैत्रायणी-संहिता[4] मे ही मिलता है।

निष्कर्ष माध्यन्दिन संहिता के निर्वचन व्युत्पत्ति की सही पकड की दृष्टि से मध्यम श्रेणी के हैं, ऋग्वेद-संहिता के निर्वचनों से तनिक हीन कोटि के हैं प्रभृत, धान्य और ध्रुव के निर्वचन उदाहरण हैं। परवर्ती भाषा विदो ने ऋग्वेद और माध्य दिन संहिताओं—दोनों—म भिन्नतया मिलने वाले निर्वचनों म ऋग्वेदीय निर्वचनों को ही अपनाया है। ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से इन निर्वचनों म भी वही प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं, जिन्हें हम ऋग्वेदीय निर्वचनों की व्याख्या के प्रसङ्ग म देख चुके हैं। ऋग्वेदीय निर्वचनों की अपेक्षा माध्यन्दिन निर्वचनों म हम कोई विकास दृष्टि गोचर नहीं हुआ अलबत्ता कुछ ह्रास ही दिखाई देता है ऋग्वेदीय निर्वचनों जैसी बहुलता तथा ताजगी माध्यन्दिन निर्वचनों मे नहीं प्रतीत होती।

अथर्व वेद संहिता मे व्युत्पत्ति चिन्तन

आथर्वण शौनकीय संहिता म कोई ३५० प्रयोगों मे २३३ शब्दों के निर्वचनों का सङ्केत मिलता है। इनमें से ८१ निर्वचन पीछे चर्चित संहिताओं म भी मिलते हैं (क) ५६ ऋग्वेद-संहिता में (ख) ६ माध्यन्दिन यजुर्वेद म और (ग) १६ तीनों संहिताओं में। इस संहिता के अपने निर्वचन १५२ शब्दों के हैं।

(क) ऋग्वेद और अथर्व वेद संहिताओं मे मिलने वाले निर्वचन इन संहिताओं मे मिलने वाले निर्वचन प्रायश तो समान हैं, परन्तु निम्न शब्दों के निर्वचनों मे कुछ अन्तर है

१ आज्य < √अञ्ज ऋग्वेद-संहिता मे इस शब्द की व्युत्पत्ति प्रकृति और विकृति के युगपत् प्रयोगों से 'सूचित' होती है[5], जब कि अथर्व संहिता[6] में प्रकृति (क्रिया) को विकृति (नाम) के हेतु के रूप म स्पष्ट रूप मे कहा गया है कि अञ्जन के कारण आज्य आज्य है। यहाँ √अञ्ज आँजना=लीपना (अभि धारण[7])

१ द्र अष्टा २।४।५३ ब्रुवो वचि।

२ द्र पृष्ठ ८१। ३ इन्द्रो न रोदसी दुघे, दुहे धेनु (२१।३४)॥

४ ३।११।२ मे यही प्रप तनिक से अन्तर से घृत है।

५ द्र पीछे पृष्ठ ३५ पर '१४ आज्य < √अञ्ज।

६ यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत्॥ ६।८।११॥

इस प्रकरण मे ग्रन्थ निर्देश रहित सन्दर्भ अथर्व-संहिता (शौनकीय) से समझें।

७ कोटो ते स्तां पुरो डाशावाज्येनाभि घारितौ। १०।६।२५॥

तु अग्नो घृतेन रम्या समक्त उप देवाँ ऋतुश पाथ एतु। मा सं २६।१०॥

अर्थ मे अभिप्रेत है।

२ आप < √आप् ऋग्वेद मे नोधस गौतम[1], दीर्घतमस् औचथ्य[2], प्राजा पत्य स-वरण[3] और वसिष्ठ मैत्रा वरुणि[4] ने 'आप' की व्युत्पत्ति पुष्टयर्थक √पी से सूचित की है। नोधस गौतम[5] तथा त्रसदस्यु पौरु-कुत्स्य[6] ने कदाचित् √पिन्व स भी 'आप' की व्युत्पत्ति सूचित की है। इस के विपरीत अथर्व-वेद म भृगु ने स्पष्ट रूप स √आप से 'आप' का निर्वचन करते हुए बताया है कि वरुण के द्वारा प्रेरित तुम लोग तेजी से जा रही थी कि इन्द्र ने तुम्हे पा लिया, इस लिए तुम 'आप' हो[7]। अथर्व वेदीय निर्वचन बेहतर है तथा नरुक्त[8] एव वया करणा[9] ने इसे ही स्वीकृत किया है। डा सिद्धेश्वर वर्मा न इस व्युत्पत्ति को निर्जीव बताया है तथा भारोपीय 'जल, नदी' अर्थ वाले ap से व्युत्पादित किया है[10]। पर यह व्युत्पत्ति त्यन है, कि इतिहास-कथन ? जल फलता है (आप्नोति), अत 'आप' है। वर्मा जी ने यास्क के कथन का अनुवाद भी गलत किया है आप आपन का कर्ता है कम नहीं[11]।

३ घृत ऋग्वेद मे यह शब्द दीपन अर्थ वाली √घृ स अभिप्रेत है[12]। अथर्व वद म यह 'लीपना, सीचना तर करना अर्थ वाली √घृ से अभिप्रेत[13] प्रतीत

---

१ त्वं त्यां न इन्द्र, देव चित्रामिषमापो न पीपय परि ज्मन्। १।६३।८॥

२ उत वां विक्षु मद्यास्व धो गाव आपश्च पीपयन्त देवी। १।१५३।४॥

३ तस्मा आप स यत पीपयन्त, तस्मिन्क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु॥ ५।३४।६॥

४ आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नत जरितारस्त इन्द्र। ७।२३।४॥

५ पिन्वन्त्यपो मरत सु दानव, पयो घृतवद्विदयेष्वाभुव। १।६४।६॥

६ अहमपो अपि वमुक्षमाणा, धारय दिव सदन ऋतस्य। ४।४२।४॥

७ यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभ समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस् तस्मादापो अनु ष्ठन॥ ३।१३।२॥

८ द्र निरुक्तम् ९।२६ आप आप्नोते।

९ द्र उणादि सूत्र २१६ (२।५९) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च।

१० द्र दी एटिमॉलाजीज् आफ् यास्क, पृष्ठ २२ तथा ८५।

११ द्र वही पृष्ठ २२ आप Lit that which is obtained'। वर्मा जी का यह अर्थ राजवाडे पर आधारित है पानी को अप् कहने का कारण (यह है कि) पानी लोगों को मिलना है (द्र निरुक्तार्थ भाषान्तर, पृष्ठ ६६४)। पर यह अर्थ परम्परा विरुद्ध है सेद सवमाप्नोद् यदिद किञ्च यदाप्नोत्तस्मादाप (शतपथ ब्रा ६।१।१।९)। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिद सवमाप्स्यामि यदिद किं चेति, तस्मादापोऽभवन् (गोपथ ब्रा १।२) आप ता पुनरेता आप्नोते —सवमाभिराप्तमिति (दुग ९।२६)। आप कस्मात् ? आप्नोते —कृत्स्न ताभिर्व्याप्तम् (वही स्कन्द)

१२ द्र पृष्ठ ५९ ६।

१३ घृतेन पात्रमभि धारयैतत्। १२।३।७३॥ तु १०।९।२५॥

होता है। सम्भवत इस व्युत्पत्ति पर कम काण्ड हावी हो गया है। माध्यन्दिन
संहिता मे इस आशय के लिये 'घृत (करण) के साथ सम्+अञ्ज का प्रयोग किया
गया है[1]।

४ दामन् यह शब्द व्-चनार्थक √दा स निष्पन्न है[2]। अथर्व-वेद म इस
सम्बन्ध को स्पष्टतर कर के कहा गया है[3]।

५ राजन् यह शब्द ऋग्वेद म शासन (ऐश्वर्य)' अर्थ वाली √राज् से
अभिप्रेत है[4]। अथर्व वेद म इसी आशय को तनिक भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया
गया है राजाओ पर शासन करने वाला अधि राज[5]। सायण ने सम्भवत धातु
पाठ के अर्थ कथन[6] से प्रभावित हो कर यहाँ √राजय का अर्थ प्रकाशित करना'
दिया है[7]। पर 'राजसु की सप्तमी ऐश्वर्य अर्थ म है न कि 'मध्य (मे) अर्थ मे।
इस से अगले मन्त्र के 'तू (इन्द्र) इन देवना प्रजाओ का शासन कर।'[8] कथन मे
√राज् का 'शासन' अर्थ ही सङ्गत होता है, 'दीप्ति अर्थ नहीं। सायण भी इस से
सहमत हैं[9]।

(ख) माध्यन्दिन तथा आथर्वण संहिताओं म मिलने वाले निर्वचन इन
दोनो संहिताओ म मिलने वाले छह पदो के निर्वचन समान ही हैं। एक शब्द 'यव'
का निर्वचन देखने योग्य है। मा स १ मे 'यव शब्द कर्म-काण्ड की परम्परा के
अनुसार 'जौ' का वाचक है तथा शत्रु अथवा दुर्भाग्य आदि को अपनी पवित्रता के
कारण ऋत्विज अथवा यजमान से पृथक करने के कारण पार्थक्य अर्थ वाली √यु

---

१ अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त उप देवाँ ऋतुश पाथ एतु। २९।१०॥

२ द्र पृष्ठ ८०-१। ३ द्र ६।१०३।१ ३ स दानम्, दाम्ना स द्या।

४ द्र पृष्ठ ९९, टि २।

५ इन्द्रो जयाति, न परा जयाता अधि राजो राजसु राजयात। ६।९८।१॥

६ द्र माधवीय धातु-वृत्ति १।८०७ राज दीप्तौ।

७ द्र सायण भाष्य अधिको राजा=अधि राज, सर्वेषा राज्ञामधि पति

रिन्द्र। राजसु=अन्येषु भू पालेषु, राजयात=अस्मान् राजयतु=प्र काशयतु

दीप्यवत्तया प्र-ख्यापयतु।

८ त्वमिन्द्राधि राज, श्रवस्युस, त्व भूरभि भूतिजनानाम्।

त्व दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत्क्षत्रमजर ते अस्तु॥ ६।९८।२॥

९ द्र अथर्व भाष्य दैवीर=देव सम्बन्धिनीर् इमा विश =प्रजास्त्व वि

राज=ईशिष्व। राजतिरैश्वर्य कर्मा।

१० यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातो। मा स ५।२६॥ द्र महीधर

यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य' (कात्यायन श्रौत सूत्रम् ६।२।१५) इति यव वक्तव्यम्। हे

धान्य विशेष, त्व यवोऽसि। यौति=पृथक्करोतीति यव। अस्मद् द्वेषो=द्वेष्टन् शत्रून्

द्वेषो=दौर्भाग्य वा अस्मद्=अस्मत्तो यवय=पृथक्कुरु। तयाऽरातीर=अदानानि च

=पृथक्कुरु।

के व्यत्यत रूप से निष्पन्न है। यह निवचन स्पष्ट ही धार्मिक विश्वास पर आधारित है। अथर्व-संहिता में 'यव' अग्नि, इन्द्र और सोम देवताओं के विशेषण के रूप में शत्रु को भगाने के कारण पापवयावक √यु के व्यत्यत रूप से ही व्युत्पादित है[1]। वैयाकरण भी इसे √यु से मानते हैं कि इस में पानी मिलाया जाता है[2]।

(ग) तीनों संहिताओं में मिलने वाले निवचन य निवचन यत्र तत्र मामूली से अन्तर को छोड कर समान हैं प्रकृति सवत्र एक ही बताई है, कारक आदि का कहीं-कहीं मामूली अन्तर हो सकता है। १६ निवचनों मे से निम्न एक निवचन में प्रकृति के ऊह का अन्तर है

समिध् ऋग्वेद मे भरद्वाज बार्हस्पत्य ने इसे सम्+√इन्ध से निष्पन्न तथा अग्नि के विशेषण 'समिद्ध' (प्रदीप्त) के करण के रूप मे प्रयुक्त समिध' के प्रयोग से 'समिध<सम्+√इन्ध' व्युत्पत्ति को सूचित किया है[3]। अथर्ववेद म तीन स्थलो पर[4] तथा यजुर्वेद म एक स्थल मे[5] यही व्युत्पत्ति दी है। पर अथर्ववेद में एक स्थल में[6] इसे सम्+√एध से व्युत्पन्न के रूप म सूचित किया गया है। यजुर्वेद संहिता में इसी से मिलते जुलते मन्त्र म 'समिध्' की व्युत्पत्ति का सूचक यह अंश छोड दिया गया है[7]।

निष्कर्ष व्याकरण की दृष्टि से यद्यपि इन संहिताओं के निवचनो मे कोई विशेष अन्तर नजर नहीं आता है, तथापि शैली की दृष्टि से निवचन की तकनीक में एक बडा स्पष्ट अन्तर दिखलाई दिया है पिछली दो संहिताओं म प्रकृति और विकृति के युगपत् प्रयोग से ही दोनो का सम्बन्ध सूचित होता है अनुमान किया

---

१ अग्निर्यव इन्द्रो यव, सोमो यव। यव यावानो देवा यावयन्त्वेनम्॥ ६।२।१३॥ इस से अगले मन्त्र मे द्वेष्य (प्र ए व) की चर्चा है असव वीरश्चरति प्रयुक्तो द्वेष्यो मित्राणाम् परि वर्ग्य स्वानाम् (१४)। अत यहाँ 'एनम्' से 'द्वेष्य' ही लिया जाना चाहिये।

२ द्र काशिका ३।३।५७ 'ऋदोरप।' उवर्णान्तेभ्य—यव स्तव, लव, पव'। शब्द कल्पद्रुम कोष यूयते अम्भसा इति। यु मिश्रणे+अप।

३ समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे। ६।१५।७॥ यहाँ 'समिधा पद 'समिद्ध' तथा 'गिरा' दोनो से सम्बद्ध प्रतीत होता है इधन से प्रदीप्त अग्नि की प्रशसा मैं दीप्त करने वाली स्तुति से करता हूँ।

४ समिद्धो अग्ने, समिधा समिध्यस्व। ११।१।४॥ ब्रह्म चार्येति समिधा समिद्ध। ५।६॥ एतास्ते अग्ने, समिधस, त्वमिद्ध समिद् भव। १९।६४।४॥

५ समिद्धो अग्नि समिधा सु समिद्धो वरेण्य। २१।१२॥

६ एधोऽस्येधिषीय, समिदसि, समेधिषीय। तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि॥७।८९।४॥ सायण ने 'एधिषीय' की दो व्युत्पत्तियाँ दी हैं सम्+√इन्ध् से व्यत्यय से अथवा सम्+√एध से।

७ एधोऽस्येधिषीमहि, समिदसि, तेजोऽसि, तेजो मयि धेहि। २०।२३॥

जाता है, पर अथर्व संहिता में इस सम्बन्ध को हेतु बना कर स्पष्ट रूप से शब्द की व्युत्पत्ति दी जाने लगी है—'प्राज्य और आज्य' के निवचन इस शैली विकास के उदाहरण हैं।

अथर्व वेद के अपने निवचन लगभग १८१ शब्दों का ब्योरा यों है (१) कृदन्त ६७ (२) समास ८५, (३) तद्धित १५ (४) प्रकीर्ण १५ (क) धातुओं में सम्बन्ध की सूचना ८ (ग) नाम धातु निवचन २ (ग) प्रत्ययान्त धातु निवचन १, (घ) धात्वथ निवचन १ (ङ) नामाथ निवचन १ (च) स्त्री प्रत्ययान्त निवचन १ (छ) उपसर्ग-योग में शब्द भेद १

निवचन शैली में व्याकरण दृष्टि से इस संहिता के निवचनों में पिछली संहिताओं के निवचनों से कोई विशेष अन्तर नहीं है हाँ निवचन की तकनीक की दृष्टि से जिस विकास की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं वह इन निवचनों में भी बहुत स्पष्ट दिखलाई देता है। निम्न निवचन व्याकरण तथा तकनीकी विकास की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है

१ अधि + √इ = अधि + √गा भृग्वङ्गिरस् न अधि + √इ से निवचन 'अधीति' के साथ अधि + √गा के प्रयोग[1] से यह सूचित किया है कि उस काल में 'अधि' के साथ √इ और √गा समानार्थक तो मानी ही जाती थी बल्कि कुछ रूपों में √इ की अपेक्षा √गा का प्रयोग अधिक होता था। पाणिनि ने भी इस स्थिति का उल्लेख किया है[2]।

२ अपामार्ग < अप + √मृज अपामार्ग 'ऊँगा' नामक एक छोटे से पौधे का नाम है। इस का उपयोग दर्भ के समान कुछ धार्मिक क्रियाओं में कृत्या के प्रयोग से उत्पन्न अनिष्टों के निवारण के निमित्त किया जाता था। इस विशेषता को दृष्टि में रख कर इस की व्युत्पत्ति 'अप + √मृज' से दी है[3]। यहाँ उपसर्ग के अन्त्य स्वर को दीर्घ धातु में उपधा वृद्धि तथा अन्तिम 'ज' का 'ग' में विपरिणाम, ये सब वही प्रवृत्तियाँ विदित हैं जो ऋग्वेदीय ऋषियों को विदित थीं। यहाँ तो व्युत्पत्ति इस की धार्मिक पृष्ठ भूमि के आधार पर की गई है,' यही द्रष्टव्य है।

३ √अस — √भू ये दोनों धातु समानार्थक तो हैं ही बाद में चल कर कुछ प्रयोगों में √अस का प्रचलन बन्द हो गया था, तथा उस के स्थान में √भू का प्रयोग किया जाने लगा था। पाणिनि[4] ने अन्तिम अवस्था का निरूपण किया

---

१ अधीतीरध्यगादयमधि जीव पुरा अगन्। २।९।३॥

२ द्र अष्टा २।४।४५ इणो गा लुङि। ४६ ५१ गाङ् लिटि, विभाषा लुङ् लङो, णौ च सञ्चङो।

३ क्षुधा मार तृष्णा मारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वय सर्वं तदप मृज्महे॥ ४।१७।६।
द्र ७ ८ १८।७ ८, ७।६५।२ ३ भी।

४ द्र अष्टाध्यायी २।४।५२ अस्तेर्भूः (आर्ध धातुके)।

है। अथर्व वेद में प्रथम स्थिति भी है अभि + √भू के साथ इसी अर्थ में अभि + √अस का प्रयोग किया गया है[1]

४ इन्द्र जाल यह शब्द आज 'जादू' आदि माया के लिये प्रयुक्त होता है। भृगु आङ्गिरस से इस की व्युत्पत्ति यों दी है कि यह सारा जगत् महान् इन्द्र का महान् जाल था, उस ने इसके द्वारा बाँध कर शत्रुओं की सेना को काट डाला था, मैं उसी इन्द्र जाल रूप अन्धकार से अपने सभी शत्रुओं को बाँधता हूँ[2]।

५ उदक < उद् + √अन् भृगु ने यह व्युत्पत्ति हेतु कथन पूर्वक स्पष्टतः दी है[3]। ऋग्वेदीय ऋषि तथा परवर्ती परम्परा इसे √उन्द् से मानते हैं, यह हम पीछे[4] कह आए हैं। अ स का निर्वचन तकनीकी विकास को प्रकट करता है।

६ ख 'इन्द्रिय' के पर्याय 'ख' की व्युत्पत्ति यास्क ने √खन् से दी है[5]। इन से पूर्व यह व्युत्पत्ति कठोपनिषद् में √खन् के स्थान में इसी अर्थ में √तृद् के प्रयोग से सूचित की गई है[6]। इस से पूर्व अथर्व संहिता में भी 'ख' का यह निर्वचन √तृद् के प्रयोग से ही दिया है[7]। ऋग्वेद संहिता में 'छिद्र' अर्थ में 'ख' का सङ्केत कदाचित् गातु आत्रेय ने दिया है[8]। यों, 'ख' का 'इन्द्रिय' अर्थ 'छिद्र' अर्थ से विकसित हुआ है।

७ दित्स > √दा वसिष्ठ ने 'देना' अर्थ वाली √दा से निष्पन्न दो प्रत्ययान्त धातुओं √दित्स और √दापि का प्रयोग युगपत् किया है[9]। इन में √दापि में तो √दा स्पष्ट दिखाई देती है पर √दित्स का √दा से सम्बन्ध जानना तनिक कठिन है। पर इस प्रयोग से √दित्स की √दा से निष्पन्नता का ज्ञान वसिष्ठ को

---

१ अभि भूयज्ञो, अभि भूरग्निरभि भू सोमो अभि भूरिन्द्र।
अभ्यहं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥६।९७।१॥
अग्ने, सहस्वानभि भूरभीदसि, नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्। ११।१।६॥

२ अन्तरिक्षं जालमासीज्, जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥ ८।८।५॥
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्र जालेनामूंस्तमसाऽभिदधामि सर्वान्॥ ८॥

३ एको वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथा वशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ ३।१३।४।

४ द्र पृष्ठ ३६ '२१ उरस < उदन् < √उन्द्'।

५ द्र निरुक्तम् ३।१३ खं पुनः खनतेः। निरुक्त के पाँच अध्याय पृ ५५।

६ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।२।१।१।

७ कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि—कर्णाविमौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्। १०।२।६॥

८ अददरुत्समसृजो वि खानि, त्वमर्णवान् बद्बधानां अरम्णाः। ऋ ५।३२।१॥

९ उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ॥ ३।२०।८॥

√दा + सन् √दिस् + स √दित्स

है यह स्पष्ट सूचित होता है। पाणिनि ने √दा+सन्√दिस्+स√दित्स व्युत्पत्ति दी है[१]।

८ धन-पाल अङ्गिरस ने धन + √पाल् से निष्पन्न इस शब्द की व्युत्पत्ति धन + √रक्ष् के प्रयोग से स्पष्ट की है[२], अर्थात् यह अर्थ निर्वचन है।

९ नक्षत्र √न + क्षत्र नारायण ने 'सत्क्षत्र' के साथ 'नक्षत्र' के प्रयोग से इस व्युत्पत्ति को सूचित किया है[३]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रसङ्गान्तर में प्रयुक्त 'नक्षत्र' की इस व्युत्पत्ति की यह व्याख्या की गई है कि प्राचीन काल में क्षत्रिय लोग (क्षत्र) बहुत तप करते थे। तपस्या में लगे हुए उन के बल (क्षत्र) को इन्द्र ने ले लिया। बल रहित होने के कारण ये 'नक्षत्र' कहलाये[४]। यास्क ने तारक वाची 'नक्षत्र' की व्युत्पत्ति 'गति' अर्थ वाली √नक्ष् से बताई है तथा उपर्युक्त व्युत्पत्ति को ब्राह्मण' के प्रमाण से दिया है[५]। पाणिनि ने 'न-क्षत्र' ही बताया है। टीका कारों के अनुसार यह(१) न + √क्षर् से, या (२) √क्षि से निष्पन्न है[६]। शाक टायन के अनुसार क्षत्र < √क्षद् + त्र है[७]। शतपथ में 'क्षत्र < √ क्षण् व्युत्पत्ति दी

---

१ द्र अष्टा ७।४।५४ सनि मी मा घु रभ लभ शक पत पदामच इस।

२ स नो रक्षतु जङ्गिडो धन पालो धनेव। १६।३५।२ ॥

३ केन देवाँ अनु क्षियति? केन दैव जनीर्विश? केनेदमन्यन्नक्षत्र? केन सत्क्षत्रमुच्यते? १०।२।२२ ॥

४ द्र २।७।१८।३ प्र-बाहुग्वा अग्रे क्षत्राण्यातेपु। तेषामिन्द्र क्षत्राण्यादत्त —न वा इमानि क्षत्राण्यभूव॑न्निति। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। सायण भाष्य देखें।

५ द्र निरुक्तम् ३।२० 'ऋक्षा, स्तृभिर' (निघण्टु ३।२०।९-१०) इति नक्षत्राणाम्। नक्षत्राणि नक्षतेर्गति कर्मणः। नेमानि क्षत्राणि इति च ब्राह्मणम्। 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पृष्ठ ४११ देखें।

६ द्र अष्टा ६।३।७५ नभ्राण्-नपान् नवेदा-नासत्या नमुचि नकुल नख नपुं-सक नक्षत्र-नक्र-नाकेषु प्रकृत्या। काशिका नक्षत्र—न क्षीयत इति वा। ...क्षिय, क्षरतेर्वा क्षत्रमिति निपात्यते।

७ द्र उणादि सूत्र ६०६ (४।१६६) गु धृ-वी-पचि वचि-यमि सदि-क्षदिभ्यस् त्र। √क्षद् धातु पाठ तथा निघण्टु में अनुपलब्ध है। ऋग्वेद (१।२५।१७, ११६।१६, ११७।१८, १०।७९।७) तथा अथर्व वेद (शौनकीय १०।६।५, पैप्पलाद १६।४२।५) में यह 'देना' अर्थ में निश्चित रूप से प्रयुक्त हुई है। कक्षीवत् दैर्घ-तमस ने 'शत मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।' (ऋ १।११६।१६) में प्रयुक्त √क्षद् से निष्पन्न 'चक्षदान' का आशय 'शत मेषान्वृक्ये मामहानम्' (११७।१७) में √मह् से निष्पन्न 'मामहान' के प्रयोग से दिया है। अतः कक्षीवत् के मत में √क्षद् तथा √मह् समानार्थक हैं। √मह् का अर्थ 'देना' है यह हम पीछे (पृष्ठ २५ पर) कह आये हैं। 'तरम धन सुरां मध्व नमन्न क्षदामहे।' (अ सं १०।६।५) में भी यह इसी अर्थ में है। तुलना करें शुन शेप आजीगर्ति 'स नु वोचामहे

है[1]। कालिदास ने भी यही व्युत्पत्ति दी है[2]।

१० नदी< √नद् भृगु ने बताया है कि बहते समय शोर करने के कारण नदियां 'नदी' कहलाती हैं[3]। ऋग्वेद में 'नदी' की व्युत्पत्ति तो नहीं दी है, पर 'नदी के पुल्लिङ्ग 'नद' के साथ 'नाद' के प्रयोग से यह व्युत्पत्ति सूचित अवश्य की है[4]। यास्क ने 'नदी' की यही व्युत्पत्ति दी है[5]। अथर्व संहिता में 'नदी' की व्युत्पत्ति निर्वचन के ढंग से विकसित पद्धति से की गई है, ऋग्वेद में 'नद' की व्युत्पत्ति जब कि व्यञ्जना का विषय है।

११ बलीयस्< √बल पीछे हम देख चुके हैं कि ऋग्वेदीय ऋषियों को 'इष्ठ तथा 'ईयस' प्रत्यय धातु से ही विहित अभिप्रेत हैं तथा कर्तृ' कारक तथा 'तुलना' अर्थ इन्हीं का अर्थ है। पाणिनि ने कत्रर्थक 'तृ प्रत्यय से निष्पन्न शब्दों से 'इष्ठ तथा 'ईयस् का विधान कर के 'तृ' के लोप का विधान किया है[6]। उद्दालक ने 'अ-बल' के साथ 'बलीयस' (बलवत्तर) के प्रयोग[7] से यह सूचित किया है कि इस काल तक ईयस' प्रत्यय का प्रयोग उस पद्धति से होने लगा था, जिस का विधान पाणिनि ने किया है। अर्थात् उन्होंने (१) 'बलवत् के अर्थ में विद्यमान 'बल' शब्द से

पुनर्यतो मे मध्वामृतम्। हातेव क्षदसे प्रियम्॥ (ऋ १।२५।१७)। भरद्वाज बार्हस्पत्य के अग्ने मित्रो न बृहत ऋतस्यासि क्षत्ता वामस्य देव, भूरे॥' (६।१३।२) कथन का क्षत्ता भी इसी अर्थ का पोषक है। तुलना करें इन्हीं के वाममद्य सवितर् वाममु श्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्य सावीः' (६।७१।६) तथा अग्नि पावक के 'राति वामस्य'। क्षदन्' में √क्षद् का अर्थ 'देना > फेंकना > मारना' प्रतीत होता है— परुच्छेप दैवोदासि ने इस के साथ 'तीखा' (तिग्म) तथा फेंकना (असनाय, तुलना अस्त्र) का और भूतांश काश्यप ने 'मरायु' के प्रयोग से इस अर्थ को पुष्ट किया है वाहृहाणो वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यद्, अहिहत्याय सं श्यत् (ऋ १।१३०।४) तथा पद्येव चचर, जार मरायु क्षद्मेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा (ऋ १०।१०६।७)। अतः √क्षद् का अर्थ देना' तथा मारना (हिंसा) प्रतीत होता है। भूत लिङ्ग, रोथ तथा ह्विटनी ने इसका अर्थ 'बांटना' (divide) बताया है।

१ द्र १४।८।१४।४ प्राणो वै क्षत्रम्। प्राणो हि वै क्षत्रम्—त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः।

२ क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। रघुवंश २।५३॥

३ यदद सम्प्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो नाम स्थ, ता वो नामानि सिन्धवः॥ ३।१३।१॥

४ रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः॥१०।११।२॥

५ द्र निरुक्तम् २।२४ नद्यः कस्मात्? नदना भवन्ति=शब्दवत्यः। 'निरुक्त के पांच अध्याय, पृष्ठ २४९ ५०।

६ द्र पृष्ठ ७१, टि ६।

७ स नाक्रमम्या रोहति, यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे॥३।२९।३॥

मात्र रह गया है।

'ईयस्' का विधान किया है, (२) 'ईयस्' का अर्थ 'तुलना दो हैं (१) आशु
१२ रक्षस्< √रक्ष वैदिक भाषा में 'रक्षस्' शब्द अथर्व संहिता में अध्यो
दात्त तथा (२) मध्योदात्त। अर्थ दोनों का समान ही है। अतः यह स्पष्ट है यह दी गई
दान 'रक्षस्' की व्युत्पत्ति इस से रक्षा की जाती है, पर उस का अर्थ 'रोकना'
है[1]। शतपथ में इस की व्युत्पत्ति √रक्ष से ही बताई है और कई व्युत्पत्तियाँ दी हैं, पर ये सब
दिए हैं[2]। यास्क ने इस की इस के साथ मन की उपज है[3]। आथर्वण व्युत्पत्ति उचित है।
वानिक नहीं हैं अन्तरिक्षवासी ऋग्वेद में वामदेव गौतम ने 'सिन्धु' की उपयुक्त
१३ सिन्धु< √स्यन्द् हम पीछे कह चुके हैं[4]। अथर्व-संहिता में भृगु ने यह
व्युत्पत्ति सूचित की है पर हम सिन्धु के साथ √'स्यन्द्' के प्रयोग से[5] तथा दूसरी बार परोक्ष
व्युत्पत्ति एक बार सिन्धु के साथ √स्यन्द् के प्रयोग से) सूचित की है[6]।
रूप में (नदी के साथ √स्यन्द् के दोनों धातु पर्याय हैं तथा संहिताओं में
१४ √स्कभ—√स्तम्भ ये (ब्रह्मन्) की महिमा बताते हुए उसके अर्थ की
सुप्रयुक्त हैं। अथर्वन् ने 'स्कम्भ' भी है[7]। इस से √स्कम्भ् का अर्थ निर्वचन तो
व्याख्या √स्तम्भ के प्रयोग से की लोकप्रियता पर भी प्रकाश पड़ता है।
होता ही है, कदाचित् √स्तम्भ् की शब्द प्रत्यक्ष-वृत्ति है पर अथर्व-संहिता में
१५ स्मर< √स्मृ यों तो यह (१) यह शब्द पुराणों में काम
दी गई इसकी व्युत्पत्ति का महत्त्व दो दृष्टियों से है (२) इस का निर्वचन हेतु-कथन-पूर्वक—
देव के प्रसिद्ध नाम 'स्मर' से अभिन्न है

---

१ या ओषधयो, या नद्यो, यानि क्षेत्राणि या वना।
तास्त्वा वधु, प्रजावती पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ १४।२।७ ॥
आपस्तम्ब-मन्त्र-पाठ (१।७।६) में चौथा पाद 'प्र त्ये मुञ्चन्त्वंहस ॥' है।
२ द्र १।१।१।१६ देवा ह वै यज्ञेन यजमानांस्तानसुर रक्षसानि ररक्षुः,
'न यक्ष्यध्व' इति। तद् यदरक्षस्, तस्माद्रक्षांसि।
३ द्र निरुक्तम् ४।१८ रक्षो (१) रक्षितव्यमस्मात्, (२) रहसि क्षणोतीति
वा, (३) रात्रौ नक्षत इति वा। 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पृष्ठ ४८१, ४८४।
४ द्र पृष्ठ १०५। ५ भृगु ने जल के कुछ पर्यायों की व्युत्पत्ति बताते
हुए जल के लिये सामान्य संज्ञा 'सिन्धव', का तथा दो बार 'स्यन्दमाना' का
प्रयोग किया है ता वो नामानि सिन्धव (३।१३।१) ॥ अपकाम स्यन्दमाना
अवीवरत वो हि कम्। इन्द्रो व शक्तिभिर्देवीस तस्माद्वार्नाम वो हितम् (३) ॥
एको हि वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथा वशम्।
उदानिषुमहीरिति, तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥
६ उत्तिष्ठता, प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्। १२।२।२७॥
७ यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्सर्वां अधारयत्।
स्कम्भं त ब्रूहि कतम स्विदेव सः ॥ १०।७।७ ॥
स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठत। ८।२ ॥

निवचन करने की मनसा से ही—किया गया है[1]।

निष्कर्ष जैसे कि हम पीछे कह चुके हैं ऋक् तथा शुक्ल यजु संहिताओं के निवचनों से अथर्व-वेदीय निवचनों में व्याकरण की दृष्टि से भले ही कोई विकास न हो—इन संहिताओं में व्युत्पत्ति का व्याकरण पक्ष पहले ही पूर्णत विकसित हो चुका था, तकनीक की दृष्टि से ये निवचन एक निश्चित विकास की स्थिति में हैं। डा सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार ये वैदिक निवचन सही मायनों में निवचन नहीं हैं केवल निवचन की तरफ रुझान को सूचित करने वाले सम्बद्ध शब्दों के प्रयोग हैं[2]। पर डा वर्मा, हमारा विश्वास है, उपर्युक्त अथर्व-वेदीय निवचनों को निवचन की रुझान सूचित करने वाले प्रयोग मात्र नहीं कह सकेंगे।

अथर्व वेद के निवचनों में शब्द के प्रयोग क्षेत्र को—प्रकरण को—पूरी तरह ध्यान में रखा गया है। अपा भाग, इन्द्र-जाल, रक्षस के निवचन इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। व्याकरण की दृष्टि से विकास का उदाहरण 'बलीयस' का निवचन कहा जा सकता है पिछली संहिताओं में ईयस' कृत्प्रत्यय के रूप में ही आया लगता है, पर यहाँ यह तद्धित है। बाद में यह तद्धित ही माना जाने लगा है।

कृष्ण-यजुर्वेद[3] मे निवचन

पीछे के पृष्ठों में चर्चित व्युत्पत्ति चिन्तन के आधार पर हम वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध निवचनों को दो भागों में बाँट सकते हैं

---

१ रथ जितां राथ जितेयीनामप्सरसामय स्मर । ६।१३०।१ ॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति ।
देवा प्र हिणुत स्मरम्, असौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

२ द्र विश्वेश्वरानन्द इण्डालाजिकल् जर्नल्, Vol VIII (१९७०), Literary Reviews, में हमारी 'निरुक्त मीमांसा' की समीक्षा, पृष्ठ १२ From page 4 ff* the author takes up a magnificent description of etymologies attempted in the whole field of Vedic literature, These may not be called etymologies proper, but setting up of associated words together indicate a notable etymological trend even among the earliest vedic poets * प्रतीत होता है कि डा वर्मा ने सङ्क्षेप में हमारे आशय से पाठक को परिचित कराने को 'पृष्ठ ४' का सन्दर्भ दिया है, वस्तुत हमने इस विषय का निरूपण १७ वें अध्याय में 'वैदिक साहित्य में निवचन' शीर्षक से २०२ से २२० पृष्ठ तक किया है।

३ विविध प्रकार की व्यस्तताओं तथा कुछ अपरिहरणीय विवशताओं के कारण से हम कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध सब संहिताओं का आलोडन नहीं कर सके हैं। प्रकृत अध्ययन में कृष्ण यजुर्वेद के प्रतिनिधि के रूप में तैत्तिरीय संहिता तथा कपिष्ठल-कठ-संहिता के निवचनों का ही विवरण दिया जा रहा है। 'वैदिक वाङ्

(१) परोक्ष निर्वचन इस वर्ग के अन्तर्गत वे निर्वचन आते हैं, जिनमें शब्द की प्रकृति और विकृति के मध्य विद्यमान सम्बन्ध इन दोनों के युगपत् प्रयोग से अनुमित होता है, इस सम्बन्ध का साक्षात् कथन नहीं किया जाता है। ऋग्वेद संहिता तथा माध्यन्दिन संहिता के सब निर्वचन इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अथर्व संहिता के भी अधिकांश निर्वचन इसी वर्ग में आने योग्य हैं।

(२) प्रत्यक्ष निर्वचन शब्द की प्रकृति और विकृति में सम्बन्ध का प्रतिपादन हेतुपूर्वक जहाँ किया गया है वे निर्वचन इस वर्ग में आते हैं। अथर्व संहिता में उपलब्ध कुछ[1] निर्वचन इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तैत्तिरीय संहिता में निर्वचन इस संहिता में भी ये दोनों ही प्रकार के निर्वचन मिलते हैं। इस में कुल मिला कर १२७ शब्दों के निर्वचन १३५ प्रयोगों के माध्यम से किये गये हैं। इन में (१) परोक्ष निर्वचन ५४ शब्दों के, (२) प्रत्यक्ष निर्वचन ६६ शब्दों के, (३) परोक्ष प्रत्यक्षोभय निर्वचन ३ शब्दों के तथा (४) मध्य निर्वचन ४ शब्दों के हैं।

इस संहिता में उपलब्ध निर्वचनों के बारे में एक यह तथ्य भी ध्यान रखने योग्य है कि पिछली संहिताएँ मन्त्र रूप में हैं, उन में शब्दों की व्युत्पत्ति आदि बतलाना न प्रकृत था, और न उचित ही। इस में ब्राह्मण भी सम्मिलित है तथा इसमें मन्त्रों और कर्म काण्ड की व्याख्या अभिप्रेत[2] होने से मन्त्रगत महत्त्व-पूर्ण शब्दों की तथा कर्म काण्ड में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना प्रकृत तथा उचित था। इस संहिता में मिलने वाले निर्वचन प्रायेण ब्राह्मण भाग में ही उपलब्ध हुए हैं, मन्त्रों में मिलने वाले निर्वचन इने गिने हैं तथा सभी परोक्ष निर्वचन हैं। ब्राह्मण-भागों में मिलने वाले निर्वचनों में प्रत्यक्ष निर्वचन की संख्या अधिक है।

मध्य में भाषा चिन्तन की प्रतिज्ञा कर के भी समूचे संहिता साहित्य का अध्ययन न कर पाने पर हमें खेद है, तथा अपने कृपालु पाठकों से हम क्षमा की प्रार्थना करते हैं।

प्रकृत अध्ययन में सातवलेकर जी के वि. सं. २०१३ (१९५७ ई.) में प्रकाशित द्वितीय संस्करण का उपयोग किया गया है। इस के सन्दर्भ सङ्केत का ब्यौरा यों है प्रथम संख्या काण्ड की द्वितीय संख्या प्रपाठक की तृतीय संख्या कण्डिका की तथा अन्तिम संख्या इस संस्करण में कण्डिकागत वाक्यों पर छोटे (सुपीरियर) टाइप् में दी संख्या की सूचक है। ग्रन्थ नाम रहित सन्दर्भाङ्क इसी संहिता के अभिप्रेत हैं।

१ द्र. अथर्व सं. ३।१३ में उपलब्ध आप, उदक, नदी, वार के तथा अन्यत्र उपलब्ध आज्य और स्मर के निर्वचन।

२ ब्रह्म=वेद तस्य व्याख्यानम्=ब्राह्मणम्। द्र. अष्टाध्यायी ४।३।६६ तस्य व्याख्यान इति व्याख्यातव्य नाम्न। सायण(तैत्तिरीय-ब्राह्मण भाष्य १।३।१०।३, पृष्ठ १७५) 'एतद् ब्राह्मणम्'—'सोमाय पितृपीताय इति मन्त्रस्य व्याख्यानरूपमेतद् ब्राह्मणम्।

(१) परोक्ष निर्वचन

१ अक्ष< √अञ्ज भाषा शास्त्रियों में इस शब्द की व्युत्पत्ति पर मत-भेद हैं यास्क ने[१] वाहन के धुर के वाचक 'अक्ष' की व्युत्पत्ति √अञ्ज् स (सम्भवत तेल आदि चिकनाई से) लिप्त होने के कारण बताई है। जुआ खेलने के साधन 'अक्ष' को उन्हा ने यान के 'अक्ष' के घूमने की क्रिया से समानता के कारण[२] अर्थान्तर में प्रयुक्त माना है। शाकटायन ने जुआ खेलने के साधन 'अक्ष' को √अश् (टीकाआ के अनुसार व्याप्त्यथक) से बताया है[३]। तै स म यान साधन 'अक्ष' को √अञ्ज् से व्युत्पन्न सूचित किया गया है[४]।

२ √अरातीय 'शत्रु के पर्याय 'अराति' के प्रयोग के साथ इस के नाम धातुज नाम 'अरातीयत्' का तथा 'सेना' के वाचक 'पृतना' के साथ उस के नाम धातुज नाम 'पृतन्यत्' का युगपत् प्रयोग कर के इन के वैयुत्पत्तिक सम्बन्ध का ज्ञान सूचित किया गया है[५]। इस स्थल मे छह बार √सह् के प्रयोग के बाद उपयुक्त सभी छह सहन क्रियाओं के समुच्चित पराक्रम को 'सहस्र-वीय' शब्द के प्रयोग से सूचित किया है। यहा 'सहस्र' सङ्ख्या वाचक ही नहीं है अपितु 'सहन समथ' अथ मे यौगिक प्रतीत होता है इस से 'सहस्र< √सह्' व्युत्पत्ति सूचित की है[६]।

३ आर्ति< √ऋ √ऋच्छ 'आर्ति' शब्द 'दुख पीडा, दुगति' का वाचक है। इस सहिता में इस का प्रयोग कभी √ऋ के साथ तो कभी √ऋच्छ् के साथ किया गया है[७]। पाणिनीय तन्त्र म ये दोनों धातु परस्पर सम्बद्ध मानी

---

१ द्र निरुक्तम १३।१२ अक्षो यानस्याञ्जनात्। तत्प्रकृतीतरद्, वतन सामान्यात्।

२ यान के पहिये के घूमने की विशेषता बहुधा वर्णित है वि वर्तेते अहनी चक्रियेव (ऋ १।१८५।१)। कालक्रमेण जगत परि वतमाना चक्रार पङ्क्तिरिव गच्छति भाग्य पङ्क्ति (स्वप्न-वासवदत्तम् १।४)। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण। कवष ऐलूष ने भी पाँसों के परिवर्तन का वर्णन किया है

नीचा वतन्त, उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्त सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्तो हृदय निर्दहन्ति॥ ऋ १०।३४।९॥

३ द्र उणादि सूत्र ३४५ (३।६५) अशेर्देवने। तत्त्व बोधिनी अशू व्याप्तौ (मा धा वृ ५।१८) अस्माद् देवने वाच्ये स स्यात्।

४ द्र २।६।३।५ यथाऽक्षोऽनुपाक्तोऽवाच्छति।

५ सहोऽसि, सहमानमसि, सहस्वारातीः, सहस्वारातीयत, सहस्व पृतना सहस्व पृतन्यत। सहस्रवीर्यमसि। १।६।१।२। ६ पष्ठ १०५ भी देखें।

७ आर्तिमार्च्छति (२।६।६।१, ८।११, ६।२।८।६)। आर्तिमापद्यति (३।२।५।१३)। आर्तिमाच्छेयु (३।१।३।५)। आर्तिमाच्छति (३।२।४।१३)। आर्तिमाच्छति (३।१।२।५)।

जाती हैं[1]। यहाँ भी यही अभिप्रेत प्रतीत होता है।

४ उदक< √उ द 'जल' का पर्याय उदन् तथा उस का परिवर्धित रूप 'उदक' शब्द √उद् से व्युत्पन्न है इस की चर्चा हम पीछे[2] कर चुके हैं। त स मे जीवन के लिये जल उदन करे।'[3] कथन मे आप' के साथ √उन्द के प्रयोग से जल की इस विशिष्टता को उभारने के साथ आप' पद का अर्थ निर्वचन किया गया है।

५ पङ्क्ति<पञ्चन् पञ्चन्' शब्द 'पाँच' का वाचक है तथा 'पङक्ति' शब्द पाँच के समूह का वाचक है और व्युत्पत्ति की दृष्टि से पञ्चन् का समान धर्मा है एवं विंशति' षष्टि, 'सप्तति' आदि की श्रेणी का शब्द है[4]। पाश्चात्य विद्वानो ने पञ्चन् के च कार के स्थान मे क कार (तालव्य) की मौलिकता की (penque की) कल्पना की है।

६ पेरु< √पा मन्त्र मे प्रयुक्त पेरु' की व्याख्या √पा (पीना) से निष्पन्न धातु से की गई है[5]। शाकटायन ने इस √पी (पीना) से बताया है। भट्टोजि-दीक्षित ने √पा (पीना) से बाहुलक से बताया है[6]। 'पेरु' शब्द 'एरु' प्रत्यय से निष्पन्न है। इस प्रत्यय वाले शब्द कम ही हैं। तु मदेरु, सनेरु।

७ रज्जु< √सृज 'रज्जु की व्युत्पत्ति पर तनिक विचार हम पीछे कर चुके हैं कि दीर्घतमस औपचय को यह कदाचिद् √रश से अभिप्रेत है[7]। इस संहिता मे यह √सृज (बनाना >बटना) से व्युत्पन्न अभिप्रेत है[8]। पर वर्ती भाषा-शास्त्रियो ने त स की व्युत्पत्ति ही मानी है[9]।

८ √लभ—लम्भ् √रम् धातु दो रूपों √रभ और √रम्भ् मे उप

---

१ द्र अष्टा ७।३।७८ पा घ्रा . र्ति —सर्ति पिब जिघ्र —ऋच्छ-— सीदा। धातु-पाठ १।६१८ ऋ गति प्रापणयो। ६।१६ ऋच्छ गतीन्द्रिय प्रलय मूर्ति भावेषु। २ पृष्ठ ३६। ३ आप उन्दन्तु जीवसे (१।२।१।१)।

४ पङ्क्ति प्रायणो च यस:, पञ्चर्त्युदयन। पञ्च प्रयाजा इज्यन्ते—चत्वार पत्नी-सयाजा, समिष्ट-यजु पञ्चमम्। पङ्क्तिमेवानु प्रयन्ति, पङ्क्तिमनूद्यन्ति (२। ६।१०।७)।

५ 'अपां पेरुरसि इत्याहैप ह्यपां पाता यो मेधायारभ्यते (६।३।६।१४)। यहाँ 'पेरु=धारक' है। ऋ सं म भी इस (मन्तोदात्त) पेरु का यही अर्थ है।

६ द्र उणादि सूत्र ५४१ (४।१०१) मि-पीभ्यां रु। सिद्धान्त-कौमुदी पेरु सूप। बाहुलकात्पिबतेरपि। वासुदेव दीक्षित के ग्रन्थ में सूत्र मि पिभ्यां रु।' लगता है उन्होने पी' के स्थान मे "पि, पि गतौ, मा धा व (६।१२० १) इत्यत्र पठित पि धातुग्रहणम्।' कहा है। ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने " पीङ पाने' (मा धा व ४।३३। । पीयते रसानिति पेरु।" व्याख्या की है।

७ द्र पृष्ठ १८, टि ५। ८ या रज्जुं सृजति, तस्या उन्मुक्त। २।५।१।७।

९ द्र निरुक्तम् २।१, उणादि-सूत्र १५ सृजेरसुम च।

लब्ध होती है। उसी प्रकार √रभ् से विकसित[1] √लभ् भी दो रूपों में मिलती है। दूसरा रूप √लम्भ् है। आ' उपसर्ग के साथ यह पशु मेध के प्रसङ्ग मे आती है। तै स मे इस के दोनो रूपो का प्रयोग[2] इस के इस सम्बन्ध का सूचक है। पाणिनि ने √लभ को प्रकृति मान कर उस मे नासिक्य ध्वनि के आगम से √लम्भ् की निष्पत्ति बताई है[3]।

(२) प्रत्यक्ष निर्वचन

तै स मे इस श्रेणी के निर्वचनो की सङ्ख्या ही सर्वाधिक (६६/४५) है।

१ अति-ग्राह्या यह कर्म-काण्ड का एक पारिभाषिक शब्द है। तै स मे इस की व्याख्या यो की गई है देवताओं ने इन्द्र के पराक्रम का विभाजन किया। जो बच रहा, वह अति ग्राह्या हो गइ। वह अति ग्राह्याओं का अति ग्राह्यापन है। जो अति ग्राह्याये ग्रहण की जाती हैं, तब यजमान इन्द्र के ही पराक्रम को अपने मे धारण करता है[4]। यहाँ 'अति ग्राह्या' नाम पढने के दो कारण (क) अति-शेषण तथा (२) ग्रहण न केवल हेतु कथन पूर्वक बताए गये हैं, बल्कि इस व्युत्पत्ति कथन के बाद वह अति ग्राह्याओ का अतिग्राह्यापन है।' कह कर निर्वचन को पुष्ट भी किया गया है।

२ अश्व< √श्वि 'घोडे' के वाचक 'अश्व' की व्युत्पत्ति यों बताई है प्रजापति की (बाइ) आँख फूल गई, वह गिर पडी, वह अश्व हो गई। जो फूला, वह अश्व का अश्वपना है। उसे देवताओ ने अश्वमेध के द्वारा ही वापिस

---

१ पशु मेध के प्रकरण मे दोनो का प्रयोग उपलब्ध होता है मेधायालभन्त (६।३।५।१), मेधायारभ्यते (६।१४)।

२ सेऽग्निमेवालभ्ये मेधायालभन्त। न ह्यग्यदालम्भ्यमविन्दन्।—यत्पशुमालम्भ (६।३।८।१ २)।

३ द्र अष्टा ७।१।६४ लभेश्च। ६५ आङो यि। तथा ६६ ६९।

४ द्र ६।६।८।१ देवा वा इन्द्रिय वीर्य व्यभजन्त। ततो यदत्यशिष्यत, तदति ग्राह्या अभवन्। तदतिग्राह्याणामति ग्राह्यत्वम्*। यदति-ग्राह्या गृह्यन्त, इन्द्रियमेव तद्वीर्य यजमान आत्मन्धत्त। * आगे स्त्री लिङ्ग का प्रयोग किया गया है यन्ति ग्राह्याश्चक्रे (३) यहाँ तद्धित 'त्व' से पूर्व 'ग्राह्या' के 'आ' को ह्रस्व कर दिया गया है। तुलना के लिये देखें अमावास्यत्वम् (२।५।३।१३), पृथिवित्वम (७।१।५।१) वसतो वरित्वम (६।४।२।१), वेदित्वम (६।२।४।६ आगे उद्धत) तथा स यानित्वम (५।३।१०।४)। यह व्याकरण लगणोप पन है। द्र अष्टा ६।३।६४ त्वे च। काशिका सञ्ज्ञायामसम्भवाच्चत्वेश्रोदाहरणानि भवति। इन प्रयोगो से विदित होता है कि उस काल म स्त्री लिङ्ग तथा उसके वाचक प्रत्ययादि को शब्द म आगन्तुक माना जाता था। मै स तथा काठक परम्परा म यह विशेषता उपलब्ध नही है वहाँ दीर्घ ही मिलता है।

स्थापित किया[1]।

३ श्रा पूय < श्रा+ √पृ यह भी कर्म काण्ड में प्रयुक्त किसी पदार्थ की गुणाभिधान संज्ञा है। इस के बारे में कहा गया है तुम श्रा पूय हो, मुझे सन्तान और धन से भली भाँति पूर्ण करो[2]। यहाँ व्युत्पत्ति तो साफ साफ दे दी पर पिछले निवचनों वाला ब्यौरा नहीं दिया गया है।

४ क्रोश यह भी पारिभाषिक शब्द है। इस की व्याख्या में कहा गया है अन्न न होते हुए देवताओं का इन्द्र-सम्बन्धी परा प्रेम निकल गया। उस क्रोश के द्वारा रोका। वह क्रोश की क्रोशता है[3]। यहाँ 'क्रोश' की कर्म-काण्ड गत महत्ता तो बताई है पर इस की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं की है।

५ नव नीत < √नव+ √इ ६ सर्पिष < √सृप यज्ञ में प्रयुक्त 'घी' के इन पर्यायों की व्याख्या निम्न लिखित प्रकार से की गई है जो नया (ताजा) श्राया, वह नव नीत हो गया। जो बह चला, वह सर्पिष हो गया[4]। जो धारण किया (लीपा) गया वह घृत हो गया[5]। यहाँ हेतु कथन के साथ नाम की प्रवृत्ति तो बताई है, पर फिर त्व का प्रयोग करते हुए उसे पुष्ट नहीं किया गया है।

७ वेदी < √विद् (लाभ) 'वेदी' शब्द भी पारिभाषिक शब्द है। ग्रन्थ भेद से इस की दो व्याख्याएँ एक ही धातु से की गई हैं (१) सात पहाड़ों के पार वराह के द्वारा धृत असुरों के धन (वित्त) को इन्द्र ने उन पहाड़ों को तोड़ कर तथा वराह को मार कर प्राप्त किया। वेदी के वेदी पने का एक कारण यह है। (२) पृथ्वी पर असुरों का प्रभुत्व था। देवताओं का आधि-पत्य तो केवल उतने पर था जितना कि बैठे को दिखाई देता है। देवताओं ने असुरों से हिस्सा माँगा तो शर्त लगी कि सलावृकी तीन बार जितनी धरती की परिक्रमा करे, उतना देवताओं का। इन्द्र ने

---

१ ते ब्रा ५।२।१२।१ प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्पराऽपतत्। तदश्वोऽभवत्। यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम। तद्देवा अश्व-मेधेनैव प्रत्यदधु।

२ ते ब्रा ३।२।५।१४ श्रा-पूर्या स्थाऽऽमा पूरयत प्रजया च धनेन च।

३ ते ब्रा ७।५।८।१ देवानां वा अन्नं जग्मुष्णामिन्द्रिय वीर्यमपाक्रामत्। तत् क्रोशेनावारुन्धत। तत् क्रोशस्य क्रोशत्वम्।

४ ते ब्रा २।३।१०।१ यन्नवमैत्तन्नवनीतमभवत्। यदसर्पत्तत्सर्पिरभवत्।

५ तै स (२।३।१०।१) में धारणार्थक तवर्ग चतुर्थादि √धृ का प्रयोग किया गया है यदध्रियत, तद् घृतमभवत्। मैत्रायणी (२।३।४।१३, ५।२०) तथा काठक (११।७।१३) संहिताओं में कवर्ग चतुर्थादि √घृ का ही प्रयोग किया गया है यदघ्रियत, तद् घृतमभवत् (म स), यदघ्रियथास, तद् घृतमभव (का स)। अतः त स का पाठ या तो भ्रष्ट प्रतीत होता है या √घृ (कवर्गवान्) का अथ निर्वचन √ध (तवर्गवान्) से किया गया है। कवर्गादि के साथ घृत' के पिछली संहिताओं में भी स्थापित सम्बन्ध को देखने हुए हम प्रथम विकल्प पुष्ट लगता है। तत्त्व वेत्ति महेश्वर।

सलावृकी बन कर सारी धरती की परिक्रमा तीन बार कर के इसे पा लिया। यही कारण है कि यह पृथ्वी वेदी कहलाती है[1]।

(३) परोक्ष प्रत्यक्षोभय विध निर्वचन

१ ग्रमा वास्या < ग्रमा + √वस इस शब्द का निर्वचन दो प्रकार से किया मिलता है (क) हम देवताओं का धन आज साथ बसता है।—वह ग्रमा वास्या का ग्रमा वास्यापन है[2]। (ख) 'इकट्ठे रहते देवताओं ने हे ग्रमा वास्या, तुम्हारी महिमा से हिस्स को स्थापित किया[3]।' कथन म ग्रमा वास्या के साथ 'स + √वस' के प्रयोग से परोक्ष रूप से इस का अर्थ स्पष्ट किया लगता है।

हमारे विचार मे इस शब्द का मूल रूप 'ग्रमा' था तथा 'वस्या' या 'वास्या' ग्रश इस म बाद म जुडा है। 'ग्रमा शब्द 'ग्र+मास' स विकसित ग्रभिप्रेत है, 'साथ' ('सचा, तु 'सचिव, 'ग्रमात्य') के पर्याय 'ग्रमा' से नही। मास यहाँ 'चन्द्र' ग्रर्थ म है। इस ग्रर्थ मे 'मास' का प्रयोग वैदिक वाङ्मय मे संहिताओं मे कई बार हुआ है। 'सूर्य ग्रौर चन्द्र' ग्रर्थ मे जहाँ 'सूर्या चन्द्रमस' योग का प्रयोग ऋग्वेद मे कुल तीन बार हुआ है, वहीं 'सूर्या मास' का प्रयोग पाँच बार

---

१ द्र ।६।२।४।५-६ स (विष्णु) ग्रब्रवीत्— ...वराहोऽयं वाममोष सप्तानां गिरीणां परस्ताद्वित्त वेद्यमसुराणां बिभर्ति। तं जहि । स दर्भपुञ्जील मुद्वृह्य सप्त गिरीन् भित्वा तमहन्। सोऽब्रवीद् एतमाहरेति। तमेभ्यो यज्ञ एव यज्ञमाहरत्। यत्तद्वित्त वेद्यमसुराणामविन्दत, तदेक वेद्य वेदित्वम्॥ असुराणां वा इयमग्र ग्रासीत्। यावदासीन परा पश्यति, तावद्देवानाम। ते देवा ग्रब्रुवन्— ग्रस्त्वेव नोऽस्यामपीति। कियद्वो दास्याम? इति, यावदियं सलावृकी त्रि परि क्रामति, तावन्नो दत्तेति। स इन्द्र सलावृकी* रूप कृत्वेमां त्रि सवत पर्यक्रामत्। तदिमामविन्दन्त। यदिमामविन्दन्त तद् वेद्य वेदित्वम्। * यहाँ ग्रपेक्षित तो समास है, पर मुद्रित संहिता में दोनो पृथक पद हैं दोनो उदात्तवान् (ग्रन्तोदात्त) हैं।

२ द्र २।५।३।१२ १३ इन्द्रो वृत्र हत्वा परां परावतमगच्छद् 'ग्रपाराधम' इति मन्यमान । त देवता प्रैषमच्छन्। सोऽब्रवीत्—प्रजा पतिय प्रथमोऽनु वि दति तस्य प्रथम भाग धेयमिति। सोऽमा वास्या प्रत्याऽगच्छत्। त देवा ग्रभिसमग च्छन्त—ग्रमा व नोऽद्य वसु वसतीति। इन्द्रो हि देवानां वसु। तदमावास्याया ग्रमा वास्यत्वम।

३ यत्ते देवा ग्रदधुर्भाग धेयममा वास्ये स वसन्तो महित्वा। ३।५।१।२॥ यह मन्त्र ग्रथव संहिता (७।७९।१) में कुछ पाठ भेद के साथ ग्राया है। मानव श्रौत सूत्र (६।२।३) म 'सन्वसन्त' के स्थान म सविशन्त' पाठ है। पिप्पली टिप्पणी मे उद्धृत तै स की कथा के कुछ ग्रौर सूत्र ग्रथव स के उपयुक्त सूक्त मे हैं। वहाँ भी ग्रमा वास्या की यही व्युत्पत्ति ग्रर्थ प्रत्यक्ष रूप से दी गई है

ग्रहमेवास्म्यमावास्या—माऽमा वसन्ति सु कृतो मयीमे।

संहिताओं में इस का निवचन धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है (क) अच्छे कम करने वाले तथा देवता इस में बसते हैं। (ख) वसु इस में बसता है। आथवण संहिता में तो 'अमा वास्या' का धार्मिक महत्त्व इतना बढा कि उस की स्तुति एक सम्पूर्ण सूक्त में तो की ही गई, ऋग्वेद के प्रसिद्ध दार्शनिक परम तत्त्व हिरण्य गर्भ प्रजापति का स्थान भी उसे दे दिया गया है[1]। अतः 'अमा वास्या' का वैदिक निवचन कर्म काण्ड के प्रभाव के कारण यदि इस के मौलिक स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर पाता है तो कोई आश्चर्य नहीं है।

यास्क ने अमा की व्याख्या अ + √मा (मापना) से की है[2]। पाणिनीय तन्त्र में अमा अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना जाता है तथा अमा + √वस से अमा वस्या और अमा वास्या शब्द व्युत्पादित किये गये हैं[3]।

२ पृथिवी < √प्रथ इस शब्द की व्युत्पत्ति भी दो प्रकार से दी गई है (क) धरती छोटी थी। देवों ने भेड की बलि आदित्यों के लिये दी। धरती विस्तृत हो गई। (ख) सृष्टि से पूर्व जल ही जल था। प्रजा पति वायु बन कर जल में घुस गया। उस ने वहाँ धरती को देखा उसे वराह बन कर ले आया। वह फैली। वह पृथिवी हो गई। यह पृथिवी का पृथिवीपना है[4]। प्रथम वचन में यह व्युत्पत्ति अनुमेय है, द्वितीय में स्पष्ट प्रतिपादित है, यह स्पष्ट है।

३ शर < √शृ इस का निवचन भी दो प्रकार से मिलता है (क) दम दारमय होता है। इस तोडता है। (ख) इन्द्र ने वृत्र को वज्र मारा। वह तीन चीजें बन गया यज्ञ में प्रयुक्त हस्ताकार चम्मच जैसा एक पात्र रथ और यूप। जो बीच में टुकडे टूट कर गिरे, वे शर हो गये। वह शरों का शरपना है[5]।

(४) अथ निवचन

१ आप—उदक उदक शब्द गीला करने के कारण √उ द से निष्पन्न

---

१ तु ऋ १०।१२१।१० तथा अ स ७।८४।४।

२ द्र निरुक्तम् ५।१ अमात्रम्=पात्रम्। अमा अस्मिन्नदन्ति। अमा पुन रनिर्मित भवति। ६।२३ अमत्रोऽमात्रो महान्भवति।

३ द्र अष्टा ३।१।१२२ अमा-वस्यद न्यतरस्याम्। काशिका सह वसतोऽस्मिन्काले सूर्या चन्द्रमसाविति अमा वस्या, अमा वास्या।

४ द्र २।१।२।४ अग्र वा इयं तह्रस्वा पृथिव्यासीत्। तामवि कनामा दिरदेभ्य कामायाऽलमन्त। ततो वा अप्रथत पृथिवी। ७।१।५।१ आपो वा इद मग्र सलिलमासीत्। तस्मिन्प्रजा पतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्। स इमामपश्यत्। तां वराहो भूत्वाऽहरत्। तां विश्व-कर्मा भूत्वा व्यमार्ट। साऽप्रथत। सा पृथिव्यभवत्। तत् पृथिव्यै पृथिवित्वम्।

५ द्र ७।१।५।१५ शरमयं बर्हि, शणारयेवनम्। ६।१।३।११ इन्द्रो वृत्राय वज्र प्राहरत्। स त्रेधा व्यभवत्—स्फ्यस्तृतीयम्, रथस्तृतीयम्। यूपस्तृतीयम्। येऽन्त शरा अशीर्यन्त ते शरा अभवन्। तच्छराणां शरत्वम्।

है, यह पीछे बताया जा चुका है[1]। तै स मे एक मन्त्र मे इस विशेषता के साथ 'आप' का प्रयोग मन्त्र म किया है[2]। अर्थात् यहाँ 'उदक' की आधार भूत क्रिया का प्रयोग उसके पर्याय 'आप' के लिये कर के इस का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

२ ओजस्विन् इन्द्र को 'ओजस्विन्' नाम से सम्बोधित कर के कहा गया है कि तुम ओज पाये हुए हो[3]। इस कथन मे 'ओजस्विन्' के प्रत्ययान्त 'विन्' की व्याख्या √विद् (लाभ) से निष्पन्न 'विद्' उत्तर पद से की गई है। अत यह 'विद्' के अर्थ को स्पष्ट करने वाला प्रयोग होने से अर्थ निर्वचन है।

३ तेजस्विन् इस शब्द की व्याख्या भी इस से पूर्व या ही की गई है[4]।

४ यज्ञ < कृष्णाजिन यास्क ने यज्ञ की पाँच व्युत्पत्तियाँ दी हैं। उन में से औपमन्यव के नाम से एक व्युत्पत्ति दी है कि यज्ञ म काले मृग के चर्म का बहुत उपयोग होता है, अत अजिनवान् होने से 'अजिन > यज्ञ है[5]। औपमन्यव ने यह निर्वचन सम्भवत तै स के कथन से लिया है कि यज्ञ निश्चय ही कृष्ण मृग चर्म होता है[6]। इस प्रकार यहाँ कृष्णाजिन और यज्ञ मे सम्बन्ध बताया गया है, जो परवर्ती काल म एक आचार्य को निर्वचन की प्रेरणा देने वाला सिद्ध हुआ।

निष्कर्ष तैत्तिरीय सहिता के निर्वचनो मे ये प्रवृत्तियाँ दिखलाई देती हैं

(क) इन म शब्द के भाषिक स्वरूप को स्पष्ट करने की तरफ स्पष्ट रूप से ध्यान दिया गया है।

(ख) कर्म काण्ड की रहस्य मय वर्णन शैली सर्वत्र प्रभावशील है। अर्थात् शब्द के कर्म काण्ड से सम्बद्ध महत्त्व को निर्वचन के द्वारा बतलाने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

(ग) निर्वचन की तकनीक पिछली सहिताओ के निर्वचनो की तकनीक से पर्याप्त विकसित है १ निर्वचन को शब्द का भाषिक स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से अपनाया गया है। २ यह कार्य शब्द और उसके अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध का हेतु पूर्वक बतला कर किया गया है। ३ बहुधा निर्वचन बतला कर अमुक

---

१ द्र पृष्ठ ३९। २ द्र १।२।१।१ आप उन्दन्तु जीवसे।-का-स २।१।

३ द्र ३।३।१।३ ४ इन्द्रौजस्विन् ओजस्वी त्वम देवेषु भूया। ब्रह्मणश्च त्वा क्षत्रस्य चौजसे जुहोमि—ओजोविदसि।

४ द्र ३।३।१।१-२ अग्ने, तेजस्विन्, ...तेजो विदसि।

५ द्र निरुक्तम् ३।१९ यज्ञ कस्मात् ? प्रख्यात यजतिकर्मेति नैरुक्ता। याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यव। यजूंष्येन नयन्तीति वा। औपमन्यव के निर्वचन पर दुर्ग का कथन है यद्-यदत्र दृश्यते प्रतिविशिष्ट साधन किञ्चित् तत्तत्कृष्णाजिनमिति यज्ञ—सोमे तावदजिन-द्वयम, यजमानेऽप्यजिन द्वयम, अव-हन्यमानेषु हि हविष्ष्वजिनम। धर्म पात्रेऽप्यजिनम एव बहु कृष्णाजिनम।

६ यज्ञो व कृष्णाजिनम्। यज्ञेनैव यज्ञ स सृजति (५।१।६।९)।

नाम पड़ने का यही कारण है', इस प्रकार कहा गया है। ४ निवचन भाषा चिन्तन की चेतना से युक्त हैं।

(घ) भाषा चिन्तन ऋग्वेदीय चिन्तन से इस दृष्टि से विकसित है कि ऋग्वेद में भाषा चिन्तन का उद्देश्य प्रयोगों को देख कर किया जाता है, यहाँ यह स्पष्ट रूप से किया गया है। यों, सैद्धान्तिक—ध्वनि विज्ञान तथा व्युत्पत्ति विज्ञान की—दृष्टि से कोई विकास हुआ हो ऐसा नहीं प्रतीत होता।

व्युत्पत्ति चिन्तन की दृष्टि से तो यह संहिता भरी पूरी है ही, भाषा दर्शन की दृष्टि से भी कुछ बातें इस में अच्छी कही गई हैं

(१) वाच अक्षर के रूप में है इस में कहा गया है कि अग्नि ने एक अक्षर से वाक् को जीत लिया। उस के बाद अन्य देवताओं ने अधिक अक्षरों से अन्य पदार्थों को जीता[1]। इस का आशय यह है कि वाक् की सूक्ष्मतम इकाई अक्षर है।

(२) वाच और मन का सम्बन्ध मनुष्य के मन के तीन कार्य हैं चेतना, अभिगमन अर्थात् चाहना तथा ध्यान। चेतना और ध्यान इन दोनों का सीधा सम्बन्ध वाक् से है मनुष्य जो कुछ चेतता तथा ध्याता है, उसे वाक् से प्रकट करता है। इच्छा का सम्बन्ध वाक् और क्रिया से है मनुष्य जो कुछ चाहता है उसे वह या तो वाक् से प्रकट करता है या क्रिया रूप में लाता है[2]।

(३) वाक् का व्याकरण वाक् इन्द्र (आत्मा) और वायु (प्राण) की साझी रचना है। इन्द्र ने देवों की प्रार्थना पर वाक् का व्याकरण उसे मध्य में अव क्रमण कर के किया तथा मनुष्य व्याकृत वाणी बोलते हैं[3]।

कपिष्ठल-कठ संहिता में व्युत्पत्ति चिन्तन

उपलब्ध कपिष्ठल-कठ-संहिता में १५६ प्रयोगों के द्वारा १२५ शब्दों के निवचन किये मिलते हैं। इन में से ८० शब्द वे हैं, जिन के निवचन पिछली किसी एक या एकाधिक संहिताओं में आ चुके हैं। ४६ शब्दों के निवचन इस संहिता के अपने हैं। उदाहरणार्थ कुछ मिले जुले शब्दों के निवचन प्रस्तुत हैं

---

१ द्र १।७।११।१ अग्निरेकाक्षरेण वाचमुदजयत्। अश्विनौ द्व्यक्षरेण प्राणापानावुदजयताम्। विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्।

२ द्र ५।१।३।५ यद्धृदयेन मनसा मि गच्छति, तद्वाचा वदति। ६।१।७।६ यद्धि मनसा जयते, तद्वाचा वदति।...मनसा हि वाग्धृता। ६ यद्धि मनसा चेत यते, तद्वाचा वदति।...यद्धि मनसाऽभिगच्छति तत्करोति।...यद्धि मनसा ध्यायति, तद्वाचा वदति। ६।४।३।७ 'अप इन्द्र होतर,' इत्याह। इषितं हि कर्म क्रियते।

३ द्र ६।४।७।१ वाग्वा एषा यदैन्द्रवायव। यदैन्द्रवायवाग्रा ग्रहा गृह्यन्ते वाचमेवानु प्रयन्ति। ५ वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।

१ अदिति< आ+√दा 'आदान क्रिया के कारण धरती का नाम 'अदिति' पड़ा है', यह स्पष्ट निवचन एक स्थल मे दिया गया है[१]। नरुक्त लोग दार्शनिक तत्त्व विशेष परक 'अदिति' को क्षयायक √दी से 'अक्षीण' अथ मे[२], वैयाकरण लोग अव-खण्डनार्थक √दा से 'अ खण्डता' अथ मे[३], मक्डानल 'अ-बद्धता, स्व-तन्त्रता' अथ मे मानते हैं[४]। ऋग्वेद म वसिष्ठ मैत्रा वरुण के हम ने जो अप राध किया हो, उस अयमन्, अदिति (तथा अग्नि, मित्र वरुण और इन्द्र) शिथिल करें। अर्थात् अप-राध के प्रायश्चित्त के रूप म वरुण जो अपने पाश से अप राधी को बाँधा करते हैं उस से हम ये देवता मुक्ति दिलायें[५]।' कथन म अदिति' के साथ √श्रथ् का प्रयोग 'मुक्ति के सन्दभ मे हुआ है तथा यह कदा चिद् मैक्डा नल के आशय का पोषक है।

२ अध्वर< न+√ध्वर् इस शब्द का निवचन तै स म भी किया गया है देवता यज्ञ मे जो किया करते थे वही असुर भी किया करते थे। देवो ने महा यज्ञ को देखा। उन के इस यज्ञ को असुरों ने हथियाना चाहा पर हथिया नही पाये। वे बोले, 'ये देवता तो निश्चय ही काबू मे नही आने वाले हो गए हैं—अ ध्वरणीय हैं।' वह अध्वर का अध्वर-पना है[६]। कपिष्ठल कठ सहिता मे इस व्यु त्पत्ति को स्पष्टतर रूप से—निषेध को असमस्त रूप म कहते हुए—दिया है[७]।

३ अमा वस्या< अमा+वसु इस शब्द का निवचन 'अमा वास्या' के रूप म अथव और तत्तिरीय सहिताओ मे भी किया गया है। वहां यह 'अमा+√वस' (साथ रहने) से बताया है[८]। प्रकृत सहिता मे यह तनिक भिन्न रूप म 'अमा+वसु से बताया है देवा ने[९] कहा कि हमारा धन (वसु) इकट्ठा (अमा) हो गया,

---

१ द्र कपिष्ठल कठ सहिता ६।७ यत्तदादत्त तददिति।
आगे इस प्रकरण मे ग्र थ-नाम रहित सन्दभ इस ग्रन्थ के होंगे।

२ द्र निरुक्तम् ४।२२ अदितिर दीना। निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ ५०५ ७।

३ द्र अष्टा ७।४।४० द्यति-स्यति मा स्थाम् इत् ति किति। द्यति' में विक रण दो अव खण्डने (दिवादि ४२) के ग्रहण के लिए दिया है।

४ द्र डा सूय कान्त, वैदिक देव शास्त्र, पृष्ठ ३२०।

५ सो अग्न, एना नमसा समिद्धोऽच्छा मित्र वरुणमिन्द्र वोचे।
यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ, तदर्यमाऽदिति शिश्रथन्तु॥ ऋ ७।९३।७॥

६ द्र तै स ३।२।२।१ ४ देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदसुरा अकुर्वत। ते देवा एत महा-यज्ञमपश्यन्। तमत न्वत। तमेषामसुरा यज्ञम वाजिगांसन्। त ना न्ववायन्। तेऽब्रुवन्—अ ध्वतव्या वा इमे देवा अभूवन्निति। तदध्वरस्याध्वरत्वम्।

७ द्र ३६।४ तेऽसुरा अप-क्रामन्तो अब्रुवन् वा इमे ध्वतवा अभवन्निति। तदध्वरस्याध्वरत्वम्। ८ द्र पृष्ठ १३६।

९ द ५।९ ते देवा अब्रुवन्नमा वै नो वस्वभूदिति। साऽमावस्या।

इस लिये यह तिथि अमा-वस्या है। अर्थात् इस संहिता के अनुसार इस शब्द का उत्तर पद (वस्या) कृदन्त नहीं है, अपितु तद्धित है।

४ अहन् < √हन् 'अहन्' वेद में प्रातः से रात्रि तक दिन रात-व्यापी समय अर्थ में आया है, तथा 'दिन' मात्र अर्थ में भी आया है[1]। इस संहिता में 'दिन' अर्थ में इस की व्युत्पत्ति का सङ्केत करते हुए √हन् से ही किया है कि अहन् से राक्षसों को मार भगाया[2]। संहिता में इस के लिये निर् + √हन् का प्रयोग किया गया है। यहाँ सम्भवतः 'निर्' इस शब्द के अ की व्याख्या के लिये 'आ' के स्थान में दिया गया है। आ + √हन् का प्रयोग इकट्ठा करना, बोलना आदि कई अर्थों में होता है। अतः यहाँ यह 'समन्तात् = पूर्णतया' अर्थ में है। इस बात के लिये 'निर्' का प्रयोग किया गया है।

५ आज्य < अज इस शब्द का निर्वचन ऋग्वेद और अथर्व-वेद संहिताओं में √अञ्ज से किया गया है[3]। प्रकृत संहिता में इस का निर्वचन कर्म काण्ड गत परिवेश विशेष में 'अज ने इस पाया इस लिये आज्य कहलाया' कह कर दिया है[4]।

६ घृत < घृङ् 'आज्य' के ही पर्याय 'घृत' का निर्वचन ऋ., अ. मा. और तै. संहिताओं में √घृ से कहीं परोक्ष रूप में तो कहीं प्रत्यक्ष रूप से किया गया है[5]। यहाँ इस का निर्वचन 'घृङ् करने से घृत कहलाया' कह कर किया गया है[6]। 'घृङ्' से यहाँ छौंकते समय होने वाला शब्द अभिप्रेत है या और कुछ, यह स्पष्ट नहीं है। यह निर्वचन काठक संहिता में भी है। वहाँ बतलाया है कि अज ने 'घृङ्' (ध्वनि) की। इस लिये यह घृत है। इसी लिये अज घृङ् घृङ् करता हुआ चरता (खाता, या विचरता) है[7]।

७ जिह्वा < √ह्वे इस शब्द के बारे में मा. सं. तथा प्रकृत संहिता में कहा गया है कि 'तू जिह्वा है देवताओं के लिए अच्छा बुलाने वाली (सुहू) है'[8]। यहाँ 'सुहू' शब्द 'सु + √ह्वे' से करण में निष्पन्न है। कारक भेद से इस योग से निष्पन्न दूसरा शब्द है 'सुहवा'। इस व्युत्पत्ति का प्रवृत्ति निमित्त यह है कि जिह्वा नाम बुलाने का करण होने से पड़ा है।

८ जुहू यज्ञ में प्रयुक्त एक पात्र का वाचक यह शब्द ऋग्वेद में गृत्समद

---

१ द्र. 'निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २२३-४।

२ द्र. ५।१६ देवा वा अह्नो रक्षांसि निरघ्नन्।

३ द्र. पृष्ठ ३५, १२४। ४ द्र. ३७।८ यदजोऽविन्दत तदाज्यस्याज्यत्वम्। काठक-सं. २४।७।१७। ५ द्र. पृष्ठ ५८, ११८, १२५, १३८ टि. ५।

६ द्र. ३७।८ स घृङकरोत्। तद् घृतस्य घृतत्वम्।

७ द्र. २४।७।१७ स (अज) घृङकरोत्। तद् घृतस्य घृतत्वम्। तस्मादजो घृङ् करिक्रच्चरति।

८ द्र. मा. सं. १।३०, क. क. सं. १।१० अग्नेर्जिह्वाऽसि, सुहूर्देवेभ्यः।

तथा उनके पुत्र धूम के द्वारा 'होम' अर्थ वाली √हु से करण मे व्युत्पादित है[1]। मैत्रायणी संहिता मे इस का प्रत्यक्ष निर्वचन √ह्वे से करण मे तथा परोक्ष निर्वचन √हु से करण मे दिया है। प्रकृत संहिता म दोनो ही √ह्वे से हैं। काठक में प्रत्यक्ष निर्वचन √ह्वे से ही दिया है[2]। कात्यायन ने इस √हु से ही बताया है[3]। इस के अर्थ (यज्ञ पात्र विशेष) को दृष्टि में रखते हुए यही निर्वचन उचित है।

९ जू< √जव् इस शब्द का निर्वचन परोक्ष रूप से काठक परम्परा में √जव् (गति) से किया मिलता है तथा मैत्रायणी संहिता मे इस का प्रत्यक्ष निर्वचन √जव से दिया है[4]। व्याकरण परम्परा मे भी यही व्युत्पत्ति मानी गई है[5]।

१० पशु< √पश्य प्रकृत संहिता म 'देखना' अर्थ वाली √पश्य (पाणिनीय तन्त्र मे √दृश के आदेश) से कर्म म पशु की व्युत्पत्ति दी गई है। यही व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण मे भी दी गई है। यास्क ने भी कारक न बतलाते हुए √पश्य से ही 'पशु' बताया है। शाकटायन ने इसे कत्रर्थक प्रत्ययो के प्रकरण म √दृश से उसे √पश आदेश करते हुए दिया है[6]।

११ भूमि इस संहिता मे इस शब्द के दो निर्वचन मिलते हैं एक मे इस का सम्बन्ध 'भूमन् से स्पष्ट किया है, तथा दूसरी जगह √भू से हेतु पूर्वक बताया है[7]। 'भूमन् का प्रयोग वैदिक वाङ्मय मे दो अर्थों मे मिलता है (१) बहुतायत, अधिकता, विस्तार, श्रेष्ठता, तथा (२) भूमि। प्रथम अर्थ मे इस का प्रयोग

---

१ अग्नूनमग्नि जुह्वा वचस्या मधु पृच घन सा जोहवीमि ॥ ऋ २।१०।६ ॥ इमा गिर आदित्येभ्यो धृत स्नू सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि । २७।१॥

२ द्र म स ३।१।१ काठक स १८।१६, कपिष्ठल कठ संहिता २६।७ जुह्वा वै देवा वि राजमह्वय त । तज्जुह्वा जुहुत्वम । तै स म 'त्व' से पूर्व दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है। पर यहाँ नही हुआ है, यह बात ध्यान देने योग्य है। मै स ३।१।१ यज्जुह्वा जुहोति । क क स १।१२ जुह्वे हि अग्निस्त्वा ह्वयतु ।

३ द्र अष्टा ३।२।१७८ पर वार्तिक जुहोतेर्दीर्घश्च ।

४ द्र काठक स २४।३, ३७।४ 'जूरसी ति—वाग्वै सोम क्रयणी। जवते हि वाचा। मै स ३।७।५ 'जूरसी'ति—यद्वाव जवत इत्यमसावित्यमसादिति जूरथम।

५ द्र अष्टा ३।२।१७७ भ्राज भास धुर्वि द्युतोर्जि प जु ग्रावस्तुव क्विप।

६ द्र ५।२।६ ते राध्यां भूतायां पशूनापश्यन्। सावेन्न वै पश्य तीति । श ब्रा ६।२।१।२ स (अग्नि-कुमार) एतान्पञ्च पशूनपश्यत्—पुरुषम् अश्व, गाम्, अविम्, अजम्। यदपश्यत्तस्मादेते पशव । ४ यदपश्यत्तस्मादेते पशव । तेव्वेतमपश्यत्। तस्माद्वेवते पशव । निरुक्तम् ३।१६ पशु पश्यते । उणादि सूत्र २७ अजि दृशि कमि अमि-पशि-बाधाम् ऋजि-पशि-तुग धुग् दीर्घ हकाराश्च । सिद्धान्त कौमुदी, सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशु ।

७ द्र ६।४ भौमह्यासि । भूमिभूम्ना । ७ यदभवत्, तद् भूमि ।

ऋग्वेद में कवष ऐलूष के द्वारा किया गया है[१]। अन्य प्रसङ्गों में कुत्स आङ्गिरस की ऋभुओं की इस प्रार्थना में किया 'भूमना' का प्रयोग लिया जा सकता है हे सुधन्वन् के पुत्रो, अपने चरितों की महिमा से सोमाभिषव करने वाले यजमान के घर में आओ[२]। द्वितीय अर्थ में इस का प्रयोग ऋग्वेद में गोतम राहूगण[३] और कवष ऐलूष के द्वारा किया गया है[४]। कवष ऐलूष के आशय को तनिक से अन्तर के साथ तथा ऋग्वेदीय भूमन् के स्थान में 'भूमि' का प्रयोग करते हुए अथर्वसं. में भी व्यक्त किया गया है[५]। इसी प्रकार ऋग्वेदीय वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि के आशय को मै. सं. में तनिक से अन्तर के साथ भूमि का प्रयोग करते हुए व्यक्त किया है[६]।

इस विवरण से सिद्ध होता है कि 'भूमन् और भूमि' की प्रवृत्ति और व्युत्पत्ति का निमित्त एक ही है। प्रकृत संहिता के अनुसार 'भूमि' शब्द सत्तार्थक √भू से निष्पन्न है, यह अभी पीछे कहा जा चुका है। पाणिनि ने बहुत के वाचक 'बहु' के स्थान में कुछ परिस्थितियों में 'भू' का आदेश बतलाया है[७]। यहाँ इस 'भू' का व्युत्पत्ति निमित्त क्या है? यह स्पष्ट नहीं किया गया है। यह बहु > ब्हू > भू' भी अपेक्षित हो सकता है तथा √भू भी। शाकटायन ने 'भूमि' की व्युत्पत्ति √भू से दी है[८]। अतः उन्हें भूमन् भी √भू से ही निष्पन्न अभिप्रेत हो सकता है। विश्वबन्धु जी ने यही व्युत्पत्ति मानी है[९]। हमारा इस पर यह विचार है कि 'बहुत अर्थ वाला बहु' √भू का कृत द्वित्व रूप—भूभू > बभू > बहु—है तथा 'भू' साधारण। √'भू' से सत्ता = महत्त्व पूर्णसत्ता = बाहुल्य = अधिकता अर्थ तो एक तरफ विकसित हुआ, तथा सत्ता एवं 'बाहुल्य' अर्थ से ही पृथ्वी अर्थ विकसित हो गया है। इस निष्कर्ष के प्रमाण के रूप में कवष का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि इस (देव गण) की ही यह सु मति महिमा से प्रथित होती हुई तथा गति शील हो गई[१०]।

१२ रुद्र तै. सं. में इस शब्द का प्रत्यक्ष निर्वचन √रुद् से कथ्य में बताया है[११]। काठक परम्परा में इसे √रुज् से कथ्य में प्रत्यक्ष निर्वचन से ही

---

१ अस्येदेवा सु मतिः पप्रथानाऽभवत्पूर्व्या भूमना गौः। ऋ. १०।३१।६॥

२ सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनाऽगच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम् ॥१।११०।२॥

३ उतारवस्य वि ष्यन्ति धाराश्चर्मेवोदभिर्व्युन्दन्ति भूम॥ ऋ. १।८५।५॥

४ स्तेगो न क्षामत्येति पृथ्वीं, मिहं न वातो वि ह वाति भूम। १०।३१।९॥

५ स्तेगो न क्षामत्येति पृथिवीं, मही नो वाता इह वान्तु भूमौ। १८।१।३९॥

६ उदस्य शुष्माद् भानुर्नार्त बिभर्ति भारं पृथिवी न भूम॥ ऋ. ७।३४।७॥
तु. उदस्य भानोर्नार्थ्या भूमौ। मै. स. ४।९।१४॥

७ द्र. अष्टा. ६।४।१५८ बहोर्लोपो, भू च बहोः।

८ द्र. उणादि सूत्र ४८५ (४।४५) भुवः कित्।

९ द्र. वैदिक पदानुक्रम-कोष, १।४, पृष्ठ २३६५ टि. ०।

१० अस्येदेवा सु मतिः पप्रथानाऽभवत्पूर्व्या भूमना गौः ॥ १०।३१।६॥

११ द्र. १।५।१।१ सोऽरोदीत्। यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्।

निष्पादित किया है[१]। बृहदारण्यक उपनिषद् मे 'रुलाने वाला' अर्थ में 'रुद्र' शब्द √रोदि (< √रुद्+इ< णिच्) स प्राण के लिये प्रयुक्त बताया है[२]। यास्क ने इस की तीन व्युत्पत्तियाँ दी हैं (क) √रु से, (ख) √रु+ √द्रु से कि यह खूब शब्द करता हुआ दौडता है, (ग) √रोदि से[३]।

१३ (सु) शमी 'शमी' शब्द के ऋग्वेद सहिता और माध्यन्दिन सहिता में अभिप्रेत निवचन की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं[४]। मैत्रायणी स म यह 'ठण्डा करना' अर्थ वाली √शम् से उष्णता के विपरीत अर्थ मे √शम् के करण के रूप म बताया है[५]। काठक-सं मे यह उसी धातु से 'शान्त करना के करण के रूप मे व्युत्पादित है[६]। कपिष्ठल कठ सहिता मे उस के अलावा यह हिंसार्थक √शम् से भी व्युत्पादित है। मा स के निवचन की अपेक्षा अधिक व्याकरण लक्षणोपपन्न विकरण से युक्त क्रिया रूप का प्रयोग यहाँ किया गया है[७]।

निष्कर्ष तकनीक की दृष्टि से इस संहिता के निवचना म तै स के निर्वचनो की तकनीक से कोई विकास हुआ नही प्रतीत होता। भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस सहिता के निवचन कुछ कमजोर पडते हैं अदिति, आज्य, घृत, जुहू रुद्र। कुछ निवचन अच्छे हैं अध्वर, जिह्वा, जू पशु, भूमि, शमी।

कृष्ण-यजुर्वेदीय परम्परा के सभी निवचनो के बारे मे एक बात सामान्य रूप से कही जा सकती है कि इन के पीछे कम काण्ड के महत्त्व से सम्बद्ध प्राचीन अनुश्रुतियो अव दानो कुछ रहस्यमय मान्यताओं का कुछ ऐसा आवरण-सा रहता है कि उस का भेदन न हो पाने के कारण आज के चिन्तक को ये बहुत विचित्र, कहीं कहीं तो वे तुके से प्रतीत होते है। तथापि तक्नीकी विकास की दृष्टि से निवचन शास्त्र के इतिहास मे इनका अविस्मरणीय महत्त्व है। जहाँ अस्पष्टता है, वह अपन अज्ञान के कारण है—हम जब उस वाङमय को पूरी तरह समझ ही नही पाते हैं

---

१ का स २५।१ क क स ३८।४ रुद्र ताम् (इषु) व्यसृजत्। तया पुरस्समरुजत्। यत्समरुजत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। यास्क ने काठक के नाम से √रुद् वाला पाठ उद्धत किया गया है जो वतमान सहिताओं म नही मिलता। दुर्ग तथा स्कन्द ने इस प्रसङ्ग में जो कथा बताई है वह श ब्रा मे अप्राप्त है।

२ द्र ३।९।४ दशेमे पुरुषे प्राणा, आत्मैकादश। ते यदाऽस्माच्छरीरान् मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद् यद्रोदयन्ति, तस्माद्रुद्रा।

३ द्र निरुक्तम् १०।५ रुद्रो (१) रौतीति सत। (२) रोरूयमाणो द्रवतीति वा। (३) रोदयतेर्वा। ४ द्र पृष्ठ ११६।

५ द्र ४।१।१ वनस्पतीन्वा उग्रो देव उदीपत्। त शम्या अध्यशमयत तच्छम्या शमीत्वम। १।६।५ भी द्र।

६ द्र ३०।१० प्रजापति पशूनसृजत। तानय देवोऽभ्यमन्यत। त शम्याऽशमयत्। तच्छम्या शमीत्वम्। क क स ४५।८।

७ द्र १।५ सु शमि, शम्नीष्व। मा स म शमीत्व है।

तो वाङमय को दोष क्स दें ?

ब्राह्मणों मे व्युत्पत्ति-चिंतन

ब्राह्मण वाङमय म निवचन की वे सब विधाए तो मिलनी ही हैं जिन का विकास हम अब तक देख चुके हैं उन के अतिरिक्त तकनीक म विकास के दो कदम और दिखलाई देते हैं।

(१) निवचनीय शब्द को ऐसा क्या कहा जाता है ? इस प्रकार पहले प्रश्न कर के फिर उस का निवचन कहिं कही किया मिलता है। तद्यथा— किस लिय उसे 'होता' कहते हैं ? जो कि वह यथोचित रूप म देवो को अमुक को बुला अमुक को बुला, इम प्रकार बुलाता है वही होतृ का होतृ पना है। '[1] इस शली का पल्ल वन यास्कीय निरुक्त म मिलता है वहाँ बहुत सी बार निघण्टु क्स ?, वाक क्स ?' नदियाँ कैसे ?' 'कम क्स ?[3] इत्यादि प्रश्न कर के प्रश्न के उत्तर के रूप मे निवचन किया गया है।

(२) नरुक्त परम्परा के जानकार जानते हैं कि टीका कारो ने निवचनीय शब्दो के तीन भेद किय हैं (क) प्रत्यक्ष-वृत्ति अथवा प्रत्यक्ष क्रिय (ख) पराक्ष वृत्ति, अथवा परोक्ष क्रिय (ग) अति परोक्ष वृत्ति, अथवा अति परोक्ष क्रिय[3]। ब्राह्मणो म अन्तिम दो श्रेणियो म आने योग्य शब्दो के परोक्ष-कथन की चर्चा मिलती है। अर्थात् शब्द पहले किसी ऐस रूप म रहता है जिसे सब समझते हैं फिर धीरे धीरे उस शब्द म कुछ ऐसे विकार आ जात हैं कि नव विकसित रूप मे उस का पुराना रूप ओझल—परोक्ष—हो जाता है। जसे—

१ मा दुष > मानुष जो यह कहा कि प्रजा पति का वीय दूषित न हो (मा दुषत्), वह मादुष हो गया। वह मादुष का मादुष पना, है। मादुष' ही यह है, जो मानुष है। (मादुष) होते हुए को ही परोक्ष रूप से मानुष' कहते हैं[4]।

२ अग्नि-स्तोम > अग्नि ष्टोम यह अग्नि ही है, जो अग्नि ष्टोम है, उस का जो स्तुति की, इस कारण (वह) अग्निस्तोम (है)। 'अग्निस्तोम' होते हुए उसे

---

१ द्र ऐतरेय ब्राह्मण १।२ कस्मात्त होतेत्याचक्षत इति। यद्धाव स तत्र यथा भाजन देवता अमुमा वहामुमा वहे'त्या वाहयति तदेव होतुर्होतृ वम्।

२ द्र निरुक्तम् १।१ निघण्टवः कस्मात् ? २।२३ वाक कस्मात ? २४ नद्य कस्मात् ? ३।१ कम कस्मात ?

३ द्र दुग टीका १।१ त्रि विधा हि शब्द व्यवस्था—प्रत्यक्ष-वृत्तय, परोक्ष वृत्तयोऽति परोक्ष-वृत्तयश्च। तत्रोत्कट क्रिया प्रत्यक्ष वृत्तय। अन्तर्लीन क्रिया परोक्ष-वृत्तय।

४ द्र ऐतरेय ब्रा ,।३३ यदब्रुवन् मेद प्रजा पते रेतो दुषद्' इति, तन्मा॰ दुष मभवन्। तन्मादुषस्य मादुषत्वम्। मादुष ह व नामतद् यन्मानुष सन्मानुषमि त्याचक्षते परोक्षेण।

परोक्ष रूप से 'अग्नि ष्टोम' कहते हैं[1]।

३ न्यग्रोह > न्यग्रोध व (यज्ञ पात्र) जो नीचे की ओर उगे, इस लिये न्यग्रोह नीचे की ओर उगता है। न्यग्रोह नामक है वह। न्यग्रोह होते हुए को परोक्ष रूप से न्यग्रोध कहते हैं[2]।

४ इन्ध > इन्द्र वह बोला, 'इन्ध नामक ही यह है, जो यह दाहिनी आँख मे पुरुष है। उसे 'इन्ध (इस रूप मे, होते हुए को परोक्ष रूप से इन्द्र इस रूप मे कहते हैं[3]।

५ मखवत् > मघवत् वही मख (है), वह विष्णु (है) इस लिये इन्द्र मखवान् (मख वाला) हो गया। मखवान् को ही परोक्ष रूप से 'मघवान्' इस रूप में कहते हैं[4]।

ब्राह्मणो के निवचनो में संहिताओ के निवचनों से एक अंतर और दिखाई देता है संहिताओ मे केवल प्रसक्त शब्द की ही व्याख्या निवचन के द्वारा की जाती है, ब्राह्मणो मे जब कि प्रसक्तानु प्रसक्त पद की व्याख्या भी की मिलती है। जैसे महा-नाम्नी' कुछ ऋचाओ की[5] पारिभाषिक सञ्ज्ञा है। 'सिमा' उन का ही नामान्तर है। ऐतरेय ब्राह्मण मे महा नाम्नी' शब्द का निवचन किया, तो उसके बाद सिमा' का भी निवचन दिया है[6]। इस प्रवृत्ति का उपबृहण यास्कीय निरुक्त में बहुत मिलता है।

ब्राह्मण ग्रन्थो के तीन विषय हैं (क) अधि भूत (ख) अध्यात्म तथा (ग) अधि देव। कई शब्दो के निवचन इन तीन दृष्टियो से किये गये हैं। जैसे—शतपथ ब्राह्मण मे 'यजु' शब्द की व्याख्या 'वायु', 'आकाश', 'प्राण और अन्न' अर्थों मे √इ + √जन् यत् + जु तथा √जन् + √जु स की है[7]।

---

१ द्र ऐ ब्रा ३।४३ स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोम। त यदस्तुवस तस्मादग्निस्तोम। तमग्निस्तोम स तमग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण।

२ द्र ऐ ब्रा ७।३० ते न्यञ्चोऽरोहस,। तस्मान्न्यङ् रोहति न्यग्रोह। न्यग्रोहो वै नाम तत। न्यग्रोह सन्त न्यग्रोध इत्याचक्षते परोक्षेण।

३ द्र शतपथ ब्रा १४।६।११।१ स होवाच—इन्धो व नामय, योऽयम् दक्षिणेऽक्षन्पुरुष। त वा एतमिन्ध सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणेव।

४ द्र श ब्रा १४।१।१।१३ स उ एव मख, स विष्णु। तत इन्द्रो मखवानभवत। मखवान् वै त मघवानित्याचक्षते परोक्षम्।

५ ये ऋचायें ६ हैं तथा ऐतरेयारण्यक (४।१) मे विदा मघवन् से गुन त अद्रया' तक दी है।

६ द्र ऐ ब्रा ५।७ (२२।२) इन्द्रो वा एतामिमहानात्मान निरमिमीत। तस्मा महा नाम्न्य। ता ऊर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत। यदूर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत तत्सिमा अभवन्। तत्सिमानां सिमात्वम्।

७ द्र श ब्रा १०।३।५।१ २,४ ६ अय वाव यजुर्योऽय पवते। एष हि

निष्कर्ष ब्राह्मणों में उपलब्ध निवचनों के आधार पर निम्न सिद्धान्त निकलते हैं

(१) प्रकृति के साथ ही विकृति (नाम) का प्रयोग कर के उन दोनों के सम्बन्ध को सूचित किया जाता है[१] ।

(२) नाम पड़ने के कारण को भली भाँति कथा वर्णन आदि की अपेक्षा होने पर उस के साथ, स्पष्ट कर के हेतु वाचक शब्द का प्रयोग करते हुए निवचन के साथ निवचनीय पद दिया जाता है[२] ।

(३) पूर्वोक्त प्रकार से शब्द या निवचन कर के अन्त म निवचनीय पद को षष्ठी म दे कर त्व प्रत्यय के साथ भी दिया जाता है[३] ।

(४) निवचन हेतु-कथन पूवक दे कर लोग बाग ऐसा कहते हैं' इस रूप म लोक मत बता दिया जाता है[४] ।

(५) प्रसक्तानुप्रसक्त शब्दों का निवचन भी कर दिया जाता है सिमा' ।

(६) इस वाङ्मय म शब्द के मूल अथ की चिन्ता न कर के अपने प्रतिपाद्य के अनुकूल अथ मे निवचन कर दिये जाते हैं 'मघवान्, 'यजु' ।

यन्नेवेद सव जनयति । एत यन्तमिदमनु प्रजायते । तस्माद् वायुरेव यजु (१) । अयमेवाकाशो जू । यदिदमन्तरिक्षम् । एत ह्याकाशमनु जवते । तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षञ्च यच्च जूश्च, तस्माद् यजु (२) । अथाध्यात्मम्—प्राण एव यजु । प्राणो हि य नेवेद जनयति । प्राण यन्तमिदमनु जवते । तदेतद् यजु (४) । अयमेवाकाशो जू । योऽयमन्तरात्मन्नाकाश । ..प्राणश्चाकाशश्च, यच्च जूश्च, तस्माद् यजु प्राण एव, यत्प्राणो ह्य ति (५) । अन्नमेव यजु । अन्नेन हि जायते, अन्नेन जवते । तदेतद् यजु (६) ।

१ द्र तैत्तिरीय ब्रा १।१।६।३ यदाज्यमुच्छिष्यते, तेन समिधोऽभ्यज्याद धाति । यहाँ 'आज्य' और 'अभ्यज्य' के युगपद् प्रयोग से 'आज्य< $\sqrt{}$अञ्ज' व्युत्पत्ति को सूचित किया है ।

२ द्र श ब्रा १।१।३।४ वृत्रो ह वा इद सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावा-पृथिवी । स यदिद सव वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ।

३ द्र तै ब्रा १।१।५।४ सोऽश्व पूव वाड भूत्वा प्राङव पूवमुदवहत । तत्पूव-वाह' पूव वाटत्वम् ।

४ द्र अग्निष्टोम, इन्द्र न्यग्रोध, मानुष के निवचन ।

निघण्टु और उसका भाषा-चिन्तन में योग-दान

ऋग्वेद मे निवचन ऋपियो के अभिव्यक्ति-कौशल के अङ्ग के रूप मे उपलब्ध होता है, तो मा स मे वह शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने की विधा के रूप मे अपनाया गया मिलता है[1]। अथव सहिता में तो शब्दो की व्युत्पत्ति बताने की विधा के रूप मे वह और भी स्पष्ट रूप से अपनाया गया है। अन्तत कृष्ण यजुर्वेद सहितान्तगत ब्राह्मणों मे उस का विकास पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या करने वाले एक समय साधन के रूप मे मिलता है। इस पद्धति का और भी विकास ब्राह्मण वाङमय मे मिलता है। इस प्रकार वैदिक वाङमय में भाषा चिन्तन की यह धारा आचार्यों के भगीरथ प्रयासो से भव्य विस्तार वाली निवचन भागीरथी के रूप म परिणत हो गई है। अभिव्यक्ति कौशल के रूप मे स्वीकृत हुई यह विधा कालान्तर मे चल कर एक आवश्यकता बन गई। वैदिक भाषा के शब्द कुछ दुरूह प्रतीत होने लगे, तथा उन की व्याख्या के लिए निवचन विधा का आश्रय उपादेय प्रतीत होने लगा।

इसी काल म भाषा के अध्ययन मे एक नई विधा ने जन्म लिया वैदिक वाङमय से शब्दों को चुन-चुन कर सङ्कलित किया जाने लगा तथा उनकी व्याख्या की जाने लगी। प्रारम्भ मे लगता है कि पर्याय वाची शब्दो का सङ्कलन ही किया गया था ऐसा करने से भी भाषा के बहुत-से शब्दो का अथ सहज ही मालूम हो जाता है। माध्यन्दिन तथा तत्तिरीय सहिताओं में और कुछ श्रौत-सूत्रो मे उपलब्ध 'अघ्न्या' के दस नामों का सङ्कलन सम्भवत इस दिशा के प्रयास का ही प्राचीनतम अवशेष है[2]। इसी प्रकार कृष्ण-यजु परा मे सङ्कलित जल के कुछ पर्याय भी इसी दिशा मे सङ्केत करते हैं[3]।

---

१ 'धान्यमसि, धिनुहि देवान्।' (१।२०) आदि इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं।

२ इडे, रन्ते, हव्ये, काम्ये चन्द्रे, ज्योतेऽदिते, सरस्वति महि, विश्रुति। एता ते अघ्न्ये, नामानि। मा स ८।४३॥

तै स ७।१।६।१८ इडे, रन्तेऽदिते, सरस्वति, प्रिये प्रेयसि महि, विश्रुतेत्येतानि ते अघ्निये, नामानि। लाटयायन श्रौत-सूत्र ३।६।३ हव्ये, काम्ये, चन्द्रे, ज्योत, इळे, रन्ते, जुष्टे सूनरि। पञ्चविंश ब्रा २०।१५।१५ तथा मानव श्रौत-सूत्र ६।४।१ भी देखें।

३ मान्दा, वाशा, शुन्ध्यूरजिरा। ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुन्दती सुफेना। तै स २।४।७।११॥ 'मान्दा, वाशा' इति स यौति। नाम धेयरेवैना अच्छैति। अथो यथा ब्रूयादसावेहीति, एवमेना नाम धेयराच्यावयति (६।१०)। का स ११।६

वदिक नामो के सङ्कलन की इस परम्परा का विकसित रूप हम उपयुक्त वाङ्मय से पर्याप्त बाद में 'निघण्टु' ग्रन्थो की परम्परा के रूप में उपलब्ध होता है जिन में बहुत बाद का 'निघण्टु' वह ग्रन्थ है जिस की व्याख्या आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त के रूप में की है।

निघण्टुओं के सङ्कलन का विस्तृत ब्योरा आज हम कुछ भी विदित नही है। हाँ इतना अवश्य कहा जाता है कि यास्कीय निघण्टु से पूर्व कई निघण्टु लिखे जा चुके थे तथा उनमे शाकपूणि का निघण्टु बहुत सुघड तथा प्रसिद्ध था। उस निघण्टु का कुछ परिचय यह है

दुर्ग स्कन्द स्वामी, आत्मानन्द के कथनो से विदित होता है कि—

(१) शाकपूणि ने एक निघण्टु का प्रणयन कर के उस पर भाष्य भी लिखा था। यह भाष्य निरुक्त के नाम से परिचित था[1]।

(२) उनके निघण्टु में यास्कीय निघण्टु के समान अव्यक्त तथा व्यक्त दोनों प्रकार के शब्द सङ्कलित थे[2]।

(३) उनके निघण्टु में कुछ ऐसे शब्द भी थे जो यास्कीय निघण्टु में नहीं हैं[3]। यास्कीय निघण्टु में सङ्कलित सब शब्द उस में थे कि नही इस पर कुछ नही कहा जा सकता।

(४) उसमे कई वदिक शब्दों के अर्थ उपलब्ध यास्कीय निघण्टु में दिए अर्थों से भिन्न भी बताए गए थे[4]।

(५) उनके निघण्टु में शब्दों का क्रम किसी सिद्धान्त पर आधारित था। सम्भवत उस सिद्धान्त के आधार पर अपने सङ्कलित शब्दों के क्रम की अर्थवत्ता[5] की

मा दा, वशाश्शुध्युवोऽजिरा, उन्दतीस्सु फेना ज्योतिष्मतीस्तमस्वती । १० 'मान्दा वशा इत्येतानि वा अपां नाम धेयानि। मै स २।४।७ मा दा वना ज्योतिष्मतीरमस्वरी शुन्धो अच्छा उन्ती सु फेना । ८ मान्दा, वना ज्योतिष्मतीर अमस्वरीर इत्येतानि वा अपां नाम धेयानि।

१ द्र ऋ १।१६४।१४ पर आत्मानन्द चक्र=जगच्चक्रम्। भ्रमतीति वा चरतीति वा चक्रमिति शाकपूणि । ४० उदकमिति सुखनामेति शाकपूणि । ५२ शाकपूणि-यास्कादि निरुक्तेष्वपि व्याख्या भेद एव।

२ द्र स्कन्द महेश्वर टीका निरुक्तम् १।४, भाग १, पृष्ठ ४६ दाश्वानिति यजमान नाम शाकपूणिना पठितम्। ऋ भा ६।६२।२ तथा च शाकपूणिना नद्यभि धायिन सरस्वती शब्दस्य परि गणने ।

३ द्र निरुक्तम् ३।१० (निघण्टु २।१८) पर स्कन्द स्वामी शाकपूणेरति रिक्ता एते—विव्याक, विव्याच उरुव्यचा, विव्रं।

४ द्र आत्मानन्द, ऋ भा १।१६४।४० उदकम इति सुख नामेति शाक पूणि। यास्कीय निघण्टु तथा निरुक्त मे 'उदक जल वाचक ही है।

५ द्र दुर्ग-टीका ८।५ म उद्धत वार्तिक कार

व्याख्या उन्होने अपने निरुक्त मे की होगी।

(६) दवत काण्ड के भाष्य म उन्होने छोटे मोटे देवताओ के मन्त्रो की सङ्ख्या बताने का प्रयास भी किया लगता है[1]।

(७) उनके निघण्टु का प्रारम्भ भी 'पृथिवी' आदि शब्दो से ही होता था[2]। शायद उनके निघण्टु मे भी नैघण्टुक आदि तीन काण्ड थे। नघण्टुक और दवत काण्ड तो अवश्य रहे होगे—सम्भवत नैघण्टुक पहले और दैवत काण्ड अन्त मे।

इस समूचे निघण्टु साहित्य के अवशेष के रूप मे आज दो ही ग्रन्थ बचे हैं (१) आचाय यास्क के द्वारा व्याख्यात निघण्टु तथा (२) कौत्स्य आचाय के द्वारा प्रणीत अथव वेदीय निघण्टु। यास्क व्याख्यात निघण्टु का विवरण तथा भाषा चिन्तन को उसके योग दान का मूल्याङ्कन प्रकृत स्थल मे प्रस्तुत है

१ नाम विश्व मे उपलब्ध वाङ्मय मे प्राचीनतम कोष होने का गौरव आज जिस ग्रन्थ को प्राप्त है उस का प्रसिद्ध नाम 'निघण्टु' है। 'यास्क ने इस का नाम 'समाम्नाय' दिया है[3]। प्राचीन लोग इस प्रकार के 'समाम्नाय' को 'निघण्टवः' कहा करत थे[4]। निघण्टु शब्द का प्रयोग वास्तव मे तो इन कोषो मे सङ्कलित पदो के लिये हुआ करता था। वेदो से कठिन शब्दा को उन पर कुछ प्रकाश डालने के लिये अलग कर लिया जाता था। अत 'नि गमन' के कारण इन्हे 'निघण्टु' कहा जाता था[5]।

इस से विदित होता है कि 'समाम्नाय' तथा 'निघण्टु' किसी खास ग्रन्थ के नाम ही नही हैं, अपितु 'शब्द कोष' अथ मे ही इन का प्रयोग हुआ करता था। 'समाम्नाय' नाम इस प्रकार के ग्रन्थों क सङ्कलनात्मक स्वरूप को स्पष्ट करता है।

क्रम प्रयोजन नाम्ना शाकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेदपदवि, न प्रज्ञामवसादयेत ॥

१ द्र स्कन्द, ऋ भा ६।६१।२ तथा च शाकपूणिना नद्यभिधायिन सरस्वतीशब्दस्य परिगणने 'अम्बया नदी। चत्वार एव तस्या निगदा भवन्ति— इयद्दस्या .' (ऋ ३।२३।४) 'चित्र इद्राजा ' (८।२१।१८), सरस्वती सरण्यू ' (१०।६४।६), इम मे गङ्गे (७५।५)। पञ्चममप्युदाहरन्ति— अम्बितमे...' (२।४१।१६)। अत्राय न षष्ठ परि गणित इति।

२ द्र दुग टीका ८।५ शाकपूणिस्तु पथिवी नामस्य एषोप क्रम्य स्वयमेव सवत्र क्रम प्रयोजनमाह।

३ द्र निरुक्तम् १।१ समाम्नाय समाम्नात। स व्याख्यातव्य।

४ द्र वही तमिम समाम्नाय निघण्टव इत्याचक्षत।

५ द्र वही निघण्टव कस्मात्? निगमा इमे भवन्ति—छन्दोभ्य समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्नघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यव।

इस प्रकार के अधिक क्लिष्ट नामों को 'निगम' तथा इन के प्रकरण को 'नैगम काण्ड' कहना भी इस व्युत्पत्ति को पुष्ट करता है।

अर्थात् यह एक तरह से 'शब्द कोष' का पर्याय है। निघण्टव नाम इस 'समाम्नाय' अथवा 'कोष' में सङ्कलित पदों के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। आज की भाषाओं में इस का पर्याय क्या होगा, यह हम कह नहीं सकते।

निघण्टु' नाम के विषय में निम्न बातें और ज्ञातव्य हैं

(१) यास्क से पूर्व यह शब्द बहु-वचन में (क) इस प्रकार के ग्रन्थ और (ख) इस में सङ्कलित पदों के लिये प्रयुक्त होता था।

(२) (क) प्रारम्भ में यह शब्द पदों के लिये ही प्रचलित था, किन्तु (ख) बाद में इन पदों वाले कोष के लिये भी चल पड़ा।

(३) यास्क के बाद यह शब्द ग्रन्थ के लिये एक वचन में ही रूढ हो गया। इस ग्रन्थ के हस्त-लेखों की पुष्पिकाओं में तथा अन्य ग्रन्थों में इस के उद्धरणों में एक वचनान्त ही प्रयुक्त मिलता है।

(४) कालान्तर में यह नाम 'शब्द कोष' का सामान्य पर्याय बन जाने के कारण अन्य विषयों के शब्द कोषों के लिये भी काम में आने लगा। ऐसी स्थिति में यह जिस विषय के शब्दों का, या जिस ग्रन्थ के शब्दों का, कोष है, वह विषय, या ग्रन्थ इस के पूर्व पद के रूप में प्रयुक्त होने लगा[1]। प्रकृत ग्रन्थ को वैदिक निघण्टु कहा गया है[2]।

२ विषय विवेचन यह ग्रन्थ (१) नैघण्टुक, (२) नैगम अथवा ऐकपदिक, (३) दैवत नाम वाले तीन काण्डों में विभक्त है। (१) नैघण्टुक काण्ड सब से बड़ा है (क) इस में तीन अध्याय हैं (ख) प्रत्येक अध्याय में एक अर्थ के वाचक शब्दों (पर्यायों) वाले कई-कई खण्ड हैं, (ग) इस में सर्वाधिक पद (१३४१) सङ्कलित हैं। (२) नैगम काण्ड में तीन खण्डों वाले एक ही अध्याय में अनेकार्थक अथवा अज्ञात व्युत्पत्ति वाले २७९ पद सङ्कलित हैं। (३) दैवत काण्ड में भी छह खण्डों वाले एक अध्याय में १५१ देवता नाम सङ्कलित हैं। तीन काण्डों में कुल मिला कर १७७१[3] पद हैं। इन में से १४१६ नाम, ३१३ आख्यात, ३९ निपात और ३ उपसर्ग हैं[4]।

---

१ द्र 'आयुर्वेद निघण्टु', नाम निघण्टु अथवा 'नाम लिङ्गानुशासन', अथवा 'अमर कोष', भाव प्रकाश-निघण्टु, अर्थात् भावमिश्र के 'भाव प्रकाश' नामक आयुर्वेद ग्रन्थ में सङ्कलित ओषधि-नामों का कोष।

२ द्र तत्त्व बोधिनी, उणादि सूत्र ४८ वैदिक निघण्टौ 'ओज पाज' (निघण्टु २।९।१-२) इत्यादिषु बल नामसु तविषी' (निघण्टु २।९।१०) शब्दस्य पाठान्चेह मूलमिति बोध्यम्।

३ वस्तुत यह सङ्ख्या १७७० ही उचित प्रतीत होती है नू च (४।१।३१) तथा इत (४।२।३) नहीं होने चाहियें और ५।३।२६ में एक शब्द इळा अधिक होना चाहिये। द्र पृष्ठ १५७, टि २ ३, पृ १५८ टि १ तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४२५, टि १० एवं निरुक्त-मीमांसा', पृष्ठ १६।

४ विस्तारार्थ 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १८ २०, देखें।

३ पद सङ्कुलन मे बरता सिद्धान्त आज अनुपलब्ध 'निरुक्त वार्तिक' के अनुसार यास्क से प्राचीन आचार्य शाकपूणि ने अपने निघण्टु मे शब्दो के सङ्कुलन के साथ साथ उस का प्रयोजन भी बताया था[1]। प्रकृत निघण्टु मे इस तरफ न जाने क्यो ध्यान नहीं दिया गया है। दुग ने इस कमी को पूरा करने का *प्रयत्न अवश्य किया* है। इस निघण्टु म पदो का सङ्कलन किन सिद्धान्तो पर किया गया है इस विषय म दुग के उपयुक्त प्रयास से आगे विचार अभी नही हो पाया है। अत विश्वस्त तथा पर्याप्त विश्लेषण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। तथापि विद्वानों के विचार के लिये हम निम्न सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं

(१) प्रथम अध्याय मे पृथ्वी से आरम्भ कर के अन्तरिक्ष दिशा मेघ, रश्मि जल नदी आदि भौतिक वस्तु तथा उन से सम्बद्ध क्रियाएँ—इन के वाचक ४१५ पद दिए गए हैं।

(२) द्वितीय अध्याय मे 'मनुष्य' से प्रारम्भ कर के उस के अङ्गो उस के उपयोग की वस्तुओ, कम और विविध क्रियाओ से सम्बद्ध कुल ५१६ पद हैं।

(३) तृतीय अध्याय मे 'बहुत से प्रारम्भ कर के छोटा, 'बडा' आदि विशेषण 'सुख' आदि भाव 'प्रज्ञा', उस से सम्बद्ध विविध क्रियाओ के वाचक कुल ४१० पद हैं।

(४) चतुथ अध्याय मे (क) व्युत्पत्ति की दृष्टि से कठिन और (ख) अनवगत थक २७९ पद तीन खण्डों मे (क्रमश ६२[2], ८४[3], १३३) दिए गए हैं। इन मे से प्रत्येक का अध्ययन तो अभी नही हो पाया है, पर प्रथम खण्ड के ६२ पदो मे से कुछ (२१) के अध्ययन स हम निम्न निष्कष पर पहुँचे हैं (क) बारह पद तो ऋग्वेद सहिता मे उन रूपो के अधिक प्रयोग के कारण लिये गये हैं। (ख) तीन पद इन रूपो मे ही अथ की विशिष्टता के कारण (ग) दो पद अनवगम के कारण लिये हैं। (घ) दो पद दो रूपो के ऋग्वेद-सहिता मे समान सङ्ख्या म प्रयुक्त होने से औत्सर्गिक विभक्ति और वचन (प्रथमा, ए व) म बदल कर सङ्कुलित किय गये हैं। (ङ) एक पद विभक्ति वचन म सन्देह के कारण, और (च) एक उस पद[4]

---

१ द्र दुग टीका ८।४ (आनन्दाश्रम-स पृष्ठ ७४०) शाकपूणिस्तु पृथिवी सामम्य एवोप क्रम्य स्वयमेव सवत्र क्रम प्रयोजन माह। तदुक्त वार्तिक कारेण
क्रम प्रयोजन नाम्नां शकपूण्युपलक्षितम्।
प्रकल्पयेद्यदपि म प्रज्ञामव सादयेत॥

२ वस्तुत इस खण्ड में एक शब्द (नू च ४।१।३१) यहाँ निरुक्त स प्रक्षिप्त हो गया लगता है। अत वास्तविक सङ्ख्या ६१ कदाचित् रही हो। द्र निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ ४२५ टि १०।

३ इस खण्ड मे भी एक शब्द (दूत ४।२।३) यहाँ वस्तुत नहीं है, गलती स समझ लिया गया है। *अत इस खण्ड की सङ्ख्या वस्तुत ८३ प्रतीत होती है।* द्र आगे सातवें प्रकरण मे 'दूत पर टि।

४ द्र इस विषय में विस्ताराथ आगे निघण्टु ४।१ में कुछ पदों

पर व्याख्या भेद दर्शाने के लिए लिए गये हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि इस अध्याय के एक पद भी किसी श्रुति के होते ही लिये गए होंगे।

(५) पांचवें अध्याय में १५१[1] देवता नामों का सङ्कलन कतिपय आधार पर किया गया है इन में (क) पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में निवास के आधार पर (ख) वहाँ प्रधान देवता (ग) फिर गौण देवता, (घ) फिर देवता के रूप में स्तुत अन्य पदार्थ तथा अचेतन पदार्थों के नाम पृथक् पृथक् (क्रम) से इन में सङ्कलित किये गए हैं[2]। इस अध्याय में नामों के सङ्कलन के बारे में यास्क का कथन है कि प्राचीन आचार्य अनेक निघण्टुओं में देवताओं के विशेषणों का भी पृथक् से सङ्कलन किया करते थे। परिणामतः उनका आकार बहुत विशाल हो जाता था। इस प्रकार के पदों का सङ्कलन बढ़ता ही है जैसे कोई 'स्नात ब्राह्मण को अनुलेपन भूखे को भोजन प्यासे को पानी दो।' वाक्य में 'स्नात' 'भूखा' और 'प्यासा' शब्दों को भी ब्राह्मण का सम स्थानी मान लें। पर मैं ने इस विभाग में इन नामों का सङ्कलन नहीं किया है, मैं ने तो वे ही नाम सङ्कलित किये हैं जिन से देवताओं का प्रमुखता से अभिधान होता है[3]। उन्हों ने अपने निघण्टु में देवता नामों के सङ्कलन में प्राथमिकता का आधार यह बताया है (१) सब से पहले सूक्तों में वर्णित देवता, (२) फिर कर्म काण्ड में आहुति के अधिकारी देवता (३) फिर कुछ ऋचाओं में वर्णित देवता, (४) और अन्त में अन्य देवताओं के साथ गौण रूप में स्तुत देवता सङ्कलित किये गये हैं[4]।

और निरुक्त (अध्याय ४) में उन पर तत्तत् मन्त्रों के उद्धरण के प्रयोजन।' अध्याय।

१ पांचवें अध्याय के तीसरे खण्ड में वस्तुतः एक शब्द ५।३।२६ के रूप में श्रद्धा और पृथिवी के मध्य और होना चाहिए। अतः इस अध्याय की वास्तविक सङ्ख्या १५२ उचित प्रतीत होती है। द्र 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १६।

२ द्र निरुक्तम् ७।१४ अग्निः पृथिवी-स्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। ९।१ अथ यानि पृथिव्यायतनानि सत्त्वानि स्तुतिं लभन्ते, तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः। १०।१ अथातो मध्यस्थाना देवताः। तासां वायुः प्रथमागामी भवति। १२।१ अथातो द्युस्थाना देवताः। तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतः। इस विषय में दुर्ग टीका (८।४) भी देखिये।

३ द्र निरुक्तम ७।१३ अथोत अभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—'इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्रायांहोमुचे' (मैत्रायणी संहिता २।२।१०) इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति, तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति—'वृत्रहा, पुरन्दर' इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। व्यञ्जनमात्रं तु तत्तस्याभिधानस्य भवति। यथा—'ब्राह्मणाय बुभुक्षिताय ओदनं देहि। स्नातायानुलेपनम्। पिपासते पानीयम्।' इति।

४ द्र वही इतीमा देवता अनुक्रान्ताः सूक्तभाजो, हविर्भाजः, ऋग्भाजश्च भूयिष्ठाः, काश्चिन्निपातभाजः।

इस विवरण के आधार पर साधारणतया यह कहा जा सकता है कि निघण्टु में पदों का सङ्कलन एक व्यवस्थित और वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। विशेष रूप से इस पर कुछ तभी कहा जा सकेगा, जब अकेले इस विषय पर ही कोई विद्वान् अपना श्रम अर्पित करेगा।

४ पद सङ्कलन की त्रुटियाँ इस व्यवस्था के बावजूद निघण्टु में कुछ त्रुटियाँ भी आपातत प्रतीत होती हैं (१) कुछ खण्डों (जैसे १।१६, २।६, २।१८ १६, ३।११ १४, २१) में आख्यातों में ही नाम पद भी सङ्कलित हैं। (२) एक खण्ड (३।२९) में नामों में आख्यात पद दिये गये हैं। (३) एक ही धातु के एक ही लकार और पुरुष के विविध रूप भी कुछ खण्डों (२। ८ और १८) में पृथक पृथक पदों के रूप में सङ्कलित हैं। (४) एक ही धातु के अलग अलग लकारों के (२।१८) तथा विकरणों के (१।१६) रूप भी पृथक पृथक पदों के रूप में सङ्कलित हैं। (५) एक खण्ड (३।११) में तो एक आख्यात पद को निरुपसर्ग (चष्टे) और सोपसर्ग (वि चष्टे) रूप में अलग अलग दिया गया है।

५ निघण्टु के रचयिता निघण्टु के प्रणेता कौन हैं इस बारे में प्राचीन काल से दो मत चल आ रहे हैं

(१) निघण्टु कई लोगों की रचना है (अ) आचार्य दुर्ग का मत है कि निघण्टु को ऋषियों ने सङ्कलित किया है। उन के निष्कर्ष का आधार (१) यास्क का यह कहना है कि मन्त्रों को मौखिक रूप से पढ़ाने में आलस करते हुए अवरों (अगली पीढ़ी के लोगों) ने स्पष्ट रूप से समझने के लिये इस ग्रन्थ का सङ्कलन किया, और वेद का तथा वेदाङ्गों का सङ्कलन किया)[1]।' दुर्ग ने इस ग्रन्थ से 'निघण्टु' को लिया है[2]। (२) 'दावने अकूपारस्य'[3] की व्याख्या में उद्धृत मन्त्र[4] में इन शब्दों का क्रम उलट गया है। यदि 'निघण्टु' के रचयिता भी यास्क ही होते तो एक ही व्यक्ति मूल तथा व्याख्या में अकारण यह विपर्यय नहीं होने देता। अतः निघण्टु और निरुक्त भिन्न भिन्न व्यक्तियों की कृति हैं[5]।

ऋग्वेद संहिता में दावने ३० बार और अकूपारस्य पद १ बार आया है।

---

१ द्र निरुक्तम् १।२० साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवु । तऽवरेभ्योऽसा क्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादु । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणायेम ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेद च वेदाङ्गानि च।

२ द्र दुर्ग टीका १।२० इम ग्रन्थ=गवादि देवपत्न्यन्त समाम्नातवन्त ।

३ द्र निघण्टु ४।१।३२ ३३।

४ विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावने। ५।३९।२॥

५ द्र दुर्ग-टीका ४।१८ एतस्मिन् मन्त्रे अकूपारस्य दावने' इत्ययमनयो पदयोरनुक्रम, समाम्नाये पुनर 'दावने, अकूपारस्य' इति मन्त्र पाठ-व्यतिक्रमेणानुक्रम । तेन नायतेऽपरेवायमृषिभि समाम्नाय समाम्नातोऽन्य एव चाय भाष्य कार इति, एको हि समाम्नान भाष्य च कुर्वन्न प्रयोजनाभावादेक मन्त्र-गतयो पाठानुक्रम नाभङ्क्ष्यत ।

इस रूप के अतिरिक्त यह अकूपार के रूप म भी ऋ १०।१०६।१ म ही एक बार आया है। ऐसी स्थिति म यदि इन दोनों पदों को साथ साथ लिया जाता है, तो ऋ ५।३६।२ से ही लिया जा सकता है। निघण्टु म इन पदों का सङ्कलन करने वाले आचार्य ने इन्हे साथ-साथ ही रखा है, अत उन की दृष्टि म यह मन्त्र नहीं हो, ऐसा नही कह सकते। तब यास्क स भिन्न व्यक्ति इस मन्त्र का दृष्टि म रख कर भी यदि क्रम तोड सकते हैं, तो यास्क ने ही क्रम तोड दिया, तब क्या अन्तर आ गया? यह भी हो सकता है कि निघण्टु म क्रम मन्त्र के अनुकूल ही रहा हो पर दुर्गाचार्य तक आते आते लेखकों के प्रमाद म बदल गया हो।

(आ) श्री आर् डी कमकर[1] का कथन है कि

(१) नघण्टुक काण्ड के रचयिता से नगम काण्ड के द्वितीय खण्ड का रचयिता भिन्न है। इस म १ अग्न (४।२।६), २ वराह (२१) ३ स्वसराणि (२२) ४ नाम (२३), ५ सिनम् (२८), ६ वयुनम (४८) पद क्रमश २।७।१, १।१०।१३, १।६।५ २।५।५, २।७।८, ३।६।१० म आ चुके हैं। यदि रचयिता एक ही होता तो वह पीछे दिये जा चुके पदों को पुन क्यो देता?

इस पौनरुक्त्य को आचार्य दुग ने उचित माना है नैघण्टुक काण्ड म पर्याय के रूप मे होने मात्र से शब्द को सङ्कलित करने का प्रयोजन नही सिद्ध हो जाता। अनेकार्थक अथवा अनवगत-संस्कार होने से भी ऐक पदिक काण्ड म वही शब्द पुन दिया जा सकता है। नघण्टुक के ही नहीं, दैवत काण्ड के भी कई शब्द इन दो हेतुओ मे स अन्यतर के कारण इस काण्ड में समाम्नात हैं। अत काण्डा की प्रकृति मे भेद होने से भिन्न कारणों से एक ही शब्द भिन्न भिन्न काण्डो में लिया गया है।

(२) प्रथम खण्ड में १ विद्रधे, द्रुपदे (१८ १६) २ वावने अकूपारस्य (३२ ३३)—ये दो जोडे एकेक मन्त्र मे ही आये हैं तथा निघण्टु मे यथा-श्रुत विभक्ति वचनान्त ही समाम्नात हैं। द्वितीय खण्ड में १ वाहिष्ठ दूत (२ ३), २ कुटस्य चर्षणि (७० ७१) जोडो म से पहले की मन्त्र गत सन्धि तोड कर उसे विसर्गान्त बना दिया है[2], जब कि दूसरा जोडा यथा श्रुत विभक्त्यन्त है। तीसरे खण्ड के १ अनवाय, किमीदिने (४३ ४४) और २ चन, पचता (६४ ६५) युगल तो यथा श्रुत हैं, पर ३ श्रुष्टी पुरन्धि (५० ५१) और ४ सदान्वे गिरिम्बिठ (१२०-१२१) की मन्त्र-गत (क्रमेण) द्वितीया ए व, और षष्ठी, ए व, विभक्तियो को प्रथमा में बदल दिया गया है। यदि प्रथम खण्ड के युगलो को यथा श्रुत विभक्ति में रखा जा सकता है तो शेष दो खण्डो के युगलो को भी यथा-श्रुत विभक्ति मे क्यो नही रखा जा सकता? इस से सिद्ध होता है कि इस काण्ड के प्रथम और ततीय खण्ड एक ही व्यक्ति की कृति नही है।

---

१ द्र श्री विष्णुपद भट्टाचार्य, यास्क ज निरुक्त पृष्ठ २७ २६ मे उद्धत।

२ वस्तुत सन्ध्यभाव ही उचित है। द्र आगे पृष्ठ १६६ पर टि २।

इस पर हमारा यह प्रश्न है कि तीसरे खण्ड का सङ्कलयिता ही यदि दो युगलो को यथा-श्रुत विभक्ति मे देता है, तो उस ने शेष दो म ही विभक्ति क्यों बदली ? अत जसे तीसरे खण्ड में यथा श्रुत विभक्ति मे समाम्नान मे अपवाद के होते हुए भी वह खण्ड एक ही व्यक्ति की कृति है, वैसे ही शेष खण्डा म भी मामूली बदलाव के होने या न होने से उन का सङ्कलयिता भिन्न नही हो जाता।

(इ) डा लक्ष्मणस्वरूप ने[1] निघण्टु को 'एक पूरी पीढी या सम्भवत अनेक पीढियो के सयुक्त परिणामो का प्रयास' माना है। उन्हो ने इसके लिये कोई युक्ति देने का कष्ट नही किया है।

(ई) श्री वैजनाथ काशिनाथ राजवाडे ने भी श्री कमकर जी की तरह की ही युक्तियो के बल पर इस के भिन्न भिन्न भागो को भिन्न भिन्न लोगो का हस्त कौशल माना है[2]।

(ख) निघण्टु यास्क कृत है (अ) आचाय मधु सूदन सरस्वती ने 'प्रस्थान भेद' मे इसे यास्क कृत बताया है[3]।

(आ) वेङ्कट माधव ने भी इसे यास्क पठित बतलाया है[4]।

(इ) आधुनिको म प सीताराम शास्त्री ने (हिन्दी निरुक्त[5], भूमिका मे) इसे यास्क कृत ही सिद्ध किया है। उन की युक्तियों का सार यह है

(१) जिस प्रकार 'क्त्वा प्रत्ययान्त पद का और उस के साथ प्रयुक्त अन्य किसी क्रिया-पद का कर्ता एक ही होता है, वैसे ही **समाम्नाय समाम्नात । स व्याख्यातव्य** (निरुक्त १।१)।' वाक्य के 'क्त' प्रत्ययान्त 'समाम्नात' और 'तव्य-प्रत्ययान्त 'व्याख्यातव्य' का कर्ता अभिन्न ही होना चाहिये। स्वोपज्ञ व्याख्यान की महत्ता को बतलाने के लिये तो पहले निघण्टु का सङ्कलन हो गया है। अब उसकी व्याख्या करनी चाहिये।' यह कहना बनता है, पर 'और लोग निघण्टु का सङ्कलन कर चुके हैं। अब उस की व्याख्या करनी चाहिये।' यह कहना बडा अटपटा लगता है। आज तक तो सस्कृत के विशाल वाङमय में तथा अन्य भाषाओ के हमारे ज्ञान की परिधि में आये वाङमय म इस प्रकार व्याख्या का आरम्भ किसी ने नहीं किया है। अत यहा पूव वाक्य '**समाम्नाय समाम्नात** ।' यास्क द्वारा निघण्टु की समाप्ति को और अगला वाक्य '**स व्याख्यातव्य** । उस के भाष्य के आरम्भ को सूचित करता है।

---

१ द्र अनुवाद, पृष्ठ १४। २ द्र यास्क ज् निरुक्त, पृष्ठ २१५।

३ तत्रापि निघण्टु सञ्ज्ञक पञ्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केन कृत ।

४ द्र ऋग्वेद भाष्य ७।८७।४ तत्र क विंशति नामानि काचिद् गोर्बिभर्तीति पृथिवीमाह। तस्या हि यास्क पठितान्येक विंशतिर्नामानि।

सायण ने इस उक्ति को 'अपर आह—' कह कर सङ्क्षेप से दिया है।

५ श्री हरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचार्याश्रम, भिवानी, जि हिसार, से १९१६ ई मे प्रकाशित।

(२) पीछे[1] उद्धृत निरुक्त के एक अनुच्छेद में यास्क ने अन्य आचार्यों के समाम्नान में दोष दिखलाते हुए अपने समाम्नान का सिद्धान्त बनाया है। इस से सिद्ध होता है कि भाष्य व निघण्टु के सङ्कलयिता यास्क ही हैं।

इस युक्ति के बारे में कुछ और चर्चा करना आवश्यक है

(i) डा लक्ष्मणस्वरूप ने सम्भवत निघण्टु की यास्कारचितता के अपने पूर्वाग्रह के कारण निरुक्त के स्कन्द भाष्य के अपने संस्करण[2] में मूल के उपयुक्त स्थल में 'तत्समामने' के स्थान में न केवल 'समामनेत्' पाठ ही सुझाया है, अपितु भाष्य धृत इस वाक्य में 'तत्समामनेत्=पठविषय ।' का परिवर्तन भी कर दिया है। यह पाठ स्कन्द के इस से पूर्व के 'अथोत=उत शब्दश्चार्थे। अनन्तर च परेषामति प्रसङ्गमात्मनश्च व्युदासं दर्शयितुमिदमुच्यते। वाक्य के आत्मनश्च व्युदास से स्पष्टत विरुद्ध है 'आत्मन' कहना तभी सार्थक हो सकता है जब वे उत्तम पुरुष की समामने' क्रिया की व्याख्या कर रहे हो।

यहाँ समामने ही है यह दुर्ग की व्याख्या से भी सूचित होता है[3]।

निरुक्त और दुर्ग टीका के सभी कोषों में, स्कन्द भाष्य धृत निरुक्त के कोषों में भी, सर्वत्र 'समामने ही है। अत डा लक्ष्मणस्वरूप ने अपने पूर्वाग्रह के कारण बिना किसी युक्ति के ही पाठ में उपयुक्त छेड़ छाड़ की लगती है।

(ii) डा मधुकर अनन्त मेहदले के मत में इस वचन से इतना ही सिद्ध होता है कि दैवत-काण्ड मात्र यास्कीय है पूरा निरुक्त नहीं। वे दुर्ग को प्रमाण मान कर निरुक्त १।१ और १।२० के 'तमिम' से यास्क द्वारा व्याख्यात निघण्टु को लेते हैं तथा दुर्ग के समान इस निघण्टु को यास्केतर लोगों की कृति मानते हैं[4]।

पर यह कथन ठीक नहीं है निघण्टु के लिये समाम्नात ताच्छब्द्ये के समामनन्ति समामने के रूप में सम+आ+√म्ना के विविध प्रकार के प्रयोगों से सूचित होता है कि यह योग उन के पूर्व काल से ही इस प्रकार के पद-सङ्कलन के लिये रूढ था। समाम्नाय शब्द किसी खास ग्रन्थ के लिये नहीं, अपितु 'सङ्कलन अर्थ में भी प्रचलित था[5]। अत निरुक्त (१।१ २०) में तमिम विशेषण से निघण्टु सामान्य अभिप्रेत है निघण्टु विशेष नहीं। केवल पाँचवें अध्याय को यास्कीय मानना हम तो अर्ध जरतीय (आधा तीतर आधा बटेर) न्याय ही लगता है। जिस

---

१ पृष्ठ १५८, टि ३। २ द्र स्कन्द महेश्वर-टीका, भाग ३, पृष्ठ ७१ टि १५।

३ द्र दुर्ग टीका अह तु न समामने। तथा च तेषां शास्त्रेऽपरि समाप्ति। तन्ममापि मा भूद्, इत्यतो यत्तु सविज्ञान भूत स्यात् प्राधान्य स्तुति तत्समामने। इति। तस्मान्तताऽह समामने।

४ द्र इण्डियन् लिङ्ग्विष्टिक्स वा ३१ अङ्क १-२ जनवरी जून, १९७० पृष्ठ ५८ ५९ में हमारी निरुक्त मीमांसा की उनके द्वारा की गई समीक्षा।

५ द्र वाजसनेयि प्रातिशाख्य ८।१ तथा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य १।१ वर्ण समाम्नाय। अनुवाकानुक्रमणी १।६ पदाक्षर समाम्नाय' शब्द।

प्रकार दवत काण्ड के सङ्कलन मे यास्क के समय तक प्राचीन आचार्यों के सङ्कलन सिद्धान्त म विकास हो गया था, क्या वसे ही निरुक्त के शेष भाग के सङ्कलन के सिद्धान्तो मे विकास नही हुआ होगा कि यास्क ने सिद्धान्त विकास के कारण दवत काण्ड का तो नय सिरे से सङ्कलन किया, पर शेष दो काण्डो को ज्यो का त्यो स्वीकार कर लिया ? इस के अतिरिक्त निघण्टु ४।१ के पदो एवम् उन पर उद्धत मन्त्रो के सङ्कलन म एक अद्भुत सामञ्जस्य है अधिकाश शब्दो के वे ही रूप सङ्कलित किये गये हैं, जो वाङमय म सर्वाधिक उपयुक्त थे[1]। इसी प्रकार उन रूपो पर मन्त्र भी व ही उद्धत किये गये हैं, जिनम व शब्द रूप सर्वाधिक उपयुक्त रूप मे आये है, अर्थात् जो मन्त्र सर्वाधिक उपयुक्त हैं[2], वे ही इन पदो पर लिये गये हैं। ये दोनो बातें परस्पर सम्बद्ध हैं, तथा तब तक सम्भव नही हैं, जब तक दोनो काय एक ही व्यक्ति के न हो[3]।

निष्कर्ष यास्क के साक्षात् कथन को तथा विपक्ष की युक्तियो की दुर्बलता को ध्यान मे रखते हुए हम निघण्टु यास्क की कृति ही प्रतीत होता है।

६ निघण्टु के दो पाठ कोषो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर विदित हुआ है कि उपलब्ध निघण्टु के दो पाठ हैं। डा लक्ष्मणस्वरूप ने इन्हें 'शार्टर रिसेंसन् और लाङ्गर रिसेंसन्' नाम दिया है[4]। इन दोनो पाठो मे अन्तर निम्न लिखित प्रकार स है।

(१) शब्दों की दृष्टि से अन्तर (क) वृहत्पाठ (लॉङ्गर रिसेंसन्) म उपलब्ध १६ पद लघु पाठ (शार्टर रिसेंसन्) मे नही हैं। (ख) लघु पाठ मे उपलब्ध १५ शब्द बृहत् पाठ मे नही हैं[5]। (ग) २।१४ के दोनों पाठो मे पद सख्या तो समान ही है, पर (अ) ३४ शब्द लघु पाठ मे हैं बृहत्पाठ मे नही, (आ) २५ पद बृहत्पाठ म हैं लघुपाठ म नही हैं[6]। एक पद लघु पाठ मे सोपसग और निरुपसग रूप मे

---

१ इस विषय म चर्चा हम पीछे पृष्ठ १५७ पर कर चुके हैं।

२ द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', चतुथ अध्याय तथा पृष्ठ १५७, टि ४ मे उल्लिखित अध्याय। इस बारे म चर्चा हम आगे निरुक्त' पर विचार करते समय भी करेंगे।

३ इस विषय में हमारे 'निरुक्त मीमांसा (पृष्ठ २३-३०) तथा 'निरुक्त के पाँच अध्याय' (पृष्ठ ८ १४ तथा सातवें अध्याय का चौदहवाँ खण्ड) भी देखें।

४ द दी निघण्टु ऐण्ड दी निरुक्त, भूमिका, पृष्ठ ६ दी मैनुस्क्रिप्ट्स फाल् इन्टु टू डिस्ट्रिक्ट ग्रुप्स M 2, M 3 W 1, W 2, W 3, and ग फाम वन् फमिली ग्रुप्, ऐण्ड M 1, M 4 C 1, C 2, C 3, C 4, S, W 4, A, B E, क ख, ग, घ, ड ऐण्ड च दी अदर्। दी फॉमर् मे बी काल्ड दी शॉर्टर रिसेंसन् दी लटर् दी लॉङ्गर्।

५ इन दोनों प्रकार के पदो की सूची 'निरुक्त-मीमांसा', पृष्ठ ११, में देखें।

६ इन की सूची भी यद्यपि 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ १२, म दी हुई है, तथापि

दो बार आया है[९]। (ङ) ३।१४ के लघु पाठ में बृहत्पाठ की अपेक्षा दस शब्द कम हैं। अर्थात् उस में निघण्टु प्रोक्त संख्या की अपेक्षा ही दस शब्द कम है। (ई) जितने हैं उनमें भी आठ पद बृहत्पाठ म नहीं हैं।

(२) शैली की दृष्टि से अन्तर (क) बृहत्पाठ म चौथे अध्याय म तीन खण्ड हैं, जब कि लघु पाठ म चार। लघु पाठ म तीसरे खण्ड का अन्तिम पद दान दान (७०) है तथा बृहत्पाठ के उस के बाद के ६३ पदों का लघु पाठ म एक अलग चौथा खण्ड बना दिया गया है। (ग) पाँचवें अध्याय के बृहत्पाठ म छह खण्ड हैं, लघु पाठ में बृहत्पाठ के पहले और दूसरे खण्ड को मिला कर एक कर दिया गया है। अत उस मे पाँच ही खण्ड हैं। (ग) अध्यायान्तगत खण्डो म उन का विवरण बृहत्पाठ की तुलना म सङ्क्षिप्त है। जसे—१।१ का पाठ लघु पाठ म गौ । ग्मा।

निरुक्त के पाँच अध्याय पर काम करते समय उस म कुछ परिवर्तन करना पड़ा है, अत हम नई सूचियाँ नीचे क्रमश दे रहे हैं

(अ) १ अचति ३४। १० जगति ८३। १९ भ्रुवति ८९। २८ वस्नुवति ९०।
२ अययति ९१। ११ जगन्ति ८१। २० नश्यति ५८। २९ व्रजति ११९।
३ अयुधु १२२। १२ जगाति ८२। २१ नेदति ५७। ३० थ कति ९९।
४ अरयति ६३। १३ जायति १०५। २२ पतयति १०६। ३१ सस्रति ७०।
५ अलयति ६४। १४ दघ्नोति ९०। २३ मिनति ८४। ३२ सिस्रति ७१।
६ ईहते ९२। १५ दध्यति ५९। २४ मियक्षति ३२। ३३ ह्म्मति ७४।
७ ऋर्णति ५४। १६ द्रुम्मति ११८। २५ रान्ति ९५। ३४ हयति ७५।
८ क्णाति ९६। १७ घवति ७२। २६ रूळहति ९६।
९ क्षिणोति ४८। १८ धावति ७३। २७ वदति ४।

(आ) १ अनति १०७। १० जमति १०४। १९ ब्रूळति १०२। २८ यतते ४४।
२ अयुधु १२२। ११ जङ्गति ८५। २० धमति ५०। २९ रयपति ९३।
३ अरयति ६५। १२ जवति १०५। २१ नक्षति ३१। ३० रेजति ६०।
४ अवति ७३। १३ जसति ८७। २२ नवते २९। ३१ वहते ९२।
५ आयति ६६। १४ जिन्वति ८६। २३ नसते ७६। ३२ सयृते ७५।
६ इयति १००। १५ दघ्यति ६१। २४ फणति ७१। ३३ स्वरति ५४।
७ ईङ्खते ८०। १६ दम्नोति ९२। २५ मर्दति ७४। ३४ हनति ७२।
८ ऋणोति ५३। १७ द्रमति ११६। २६ मिनाति ५१। ३५ हयति ७७।
९ एति १२०। १८ द्राति १०१। २७ म्यक्षति ३३।

इन सूचियो मे प्रथम अनुक्रमाङ्क हैं, उस के बाद पद है तथा उसके बाद की सङ्ख्या उपयुक्त खण्ड मे उसके अनुक्रमाङ्क की सूचक है। इन पर विशेष विचार निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ ३१९ ३२४, मे देखें।

७ इ गनीगन्ति (८०) तथा आ गनीगन्ति (११२)।

८ इ १ कल्पते (१३), २ पिपृक्षा (२३) ३ मणति (२०) ४ मणायत (२१), ५ मन्त्रयते (१५), ६ वन्दते (३४), ७ स्वदति (२७), ८ स्वपिति (२२)।

गोत्रति पृथिव्या ।' इस रूप म है और बृहत्पाठ मे 'गौ । ग्मा ।— गोत्रेत्येकविंशति पृथिवी नामधेयानि । इस रूप मे है । बृहत्पाठ के कुछ कोषो मे 'गौ । ग्मा । गोत्रेति पृथिव्या ॥२१॥' इस प्रकार पाठ मिलता है । (घ) बृहत्पाठ के कोषों मे प्रत्येक अध्याय के अन्त मे उस मे आये खण्डो के पहले शब्दो को खण्ड सूत्र के रूप मे दे कर उस मे आये खण्डो की सङ्ख्या भी बतला दी गई है । जैसे प्रथम अध्याय के अन्त मे 'गौर्हेमाम्बर स्व खेदय आता श्यावी विभावरी वस्तोरद्रि श्लोकोर्णोऽवनयोऽत्यो हरीद्रस्य भ्राजते जमदिति सप्त दश । पाठ अधिक है । अर्थात् इस अध्याय म गौ, हेम, अम्बर, स्व आदि शब्दो से प्रारम्भ होने वाले सत्रह खण्ड हैं । ये खण्ड सूत्र लघु पाठ मे नहीं मिलते ।

डा लक्ष्मणसरूप के उपयु क्त ब्यौरे (२ ग घ) के आधार पर ये निष्कष हैं (क) प्रारम्भ म निघण्टु लघु पाठ के रूप मे ही था, (ख) फिर उस मे खण्ड गत पदों की सङ्ख्या अङ्को मे दी जाने लगी और (ग) उस के बाद सङ्ख्या के अङ्को का स्थान सङ्ख्या शब्द ने ले लिया है तथा (घ) सब से अन्त मे अध्याय के अन्त में खण्ड सूत्र भी जोडे जाने लगे[1] ।

७ यास्क ने किस पाठ की व्याख्या की है ? डा लक्ष्मणसरूप का भूमिका, (पृष्ठ १०) मे मत है कि यास्क ने नघण्टुक काण्ड की व्याख्या मे कई स्थलो पर निघण्टु के पदों की व्याख्या न कर के बाद म अमुक शब्द के इतने पयाय हैं ।' इतना ही बताया है निघण्टु २।११ पर 'गो नामान्युत्तराणि नव ।' (निरुक्त ३।९) यह कथन 'अघ्या, उस्रिया ...शक्वरीति गवाम् ।' (लघुपाठ) की व्याख्या मे तो अपक्षित है, परन्तु अघ्या, उस्रिया शक्वरीति नव गो नामानि ।' (बृहत्पाठ) की व्याख्या मे तो पिष्ट पेषण ही है । अत निघण्टु का यास्क कृत वणन लघु पाठ के अधिक उपयुक्त है । पर यह निष्कष जल्द बाजी म निकाला गया लगता है । क्योंकि

(१) निघण्टु के चौथे अध्याय मे बृहत् पाठ म तीन खण्ड हैं तथा लघु पाठ मे चार, यह हम अभी (पृष्ठ १६४ म) कह आये हैं । यास्क ने इस अध्याय की व्याख्या तीन अध्यायो (४ ६) मे की है । इस से सूचित होता है कि उन के समक्ष यह अध्याय तीन खण्डो मे ही था । (२) दवत काण्ड के बृहत्पाठ मे छह अध्याय हैं तथा लघु पाठ म पाँच । यास्क ने इस काण्ड की व्याख्या छह (७ १२) अध्यायो में ही की है । (३) निघण्टु ३।१४ के बृहत्पाठ मे ४४ पद हैं और लघु-पाठ मे ३४ । यास्क ने इस खण्ड में ४४ सङ्ख्या ही बताई है अर्चति-कर्माण उत्तरे धातवश्चतुश्चत्वारिंशत् (निरुक्त ३।१९) । (४) निघण्टु ४।१।७ के लघु पाठ मे द्रविर है और बृहत्पाठ म द्रविरेण । यास्क ने द्रविरेण की व्याख्या (४।७ मे) की है । (५) लघु पाठ मे अनुपलब्ध किन्तु बहत्पाठ मे उपलब्ध गिरिम्बिठ (४।३।१२१) की व्याख्या यास्क ने (६।३० में) की है । (६) निम्रे (४।३।७३) लघु-पाठ मे है, बृहत्पाठ के कुछ कोषो में नहीं है । यह ४।१।११ मे भी दोनो पाठो मे आया है । उस स्थल (निरुक्त ४।१०)

---

१ द्र 'दी निघण्टु ऐण्ड दी निरुक्त', भूमिका, पृष्ठ ९-१० ।

मे 'इस की व्याख्या याग म करेंगे।' यह कर इस की व्याख्या नहीं की गई है। निघण्टु ४।३ में शिप्र ग पूव सु शिप्र (७२) है। उस की व्याख्या म इस की व्याख्या होगी ही, पर शिप्रे की व्याख्या पहले स्थल म नहीं की गई। सु शिप्र की व्याख्या के याग शिप्रे की व्याख्या (६।१७) म जिस ढग स की गई है उस स लगता है कि उस की व्याख्या सु शिप्र का उत्तर पद होने स ही की गई है। दुग भी शिप्रे की व्याख्या को सु शिप्र की व्याख्या म उपयोगी होन स प्रसङ्ग प्राप्त मान कर की हुई मानते हैं[1]। इस से प्रतीत होता है कि यह शब्द यहाँ (४।३) म सन्दिग्ध है। नघण्टुक काण्ड मे दिये पद अनेकार्थक अथवा अनिश्चित व्युत्पत्ति होने के कारण दिये जा सकते हैं। पर इस प्रकार के शब्दों के लिये ही बनाये ऐक पदिक काण्ड म एक बार आ चुके पद का दुबारा पाठ प्रमाद ही है[2]। अत इसे यहाँ प्रमाद-पाठ मानने की

---

१ द्र तत्पुनरेतेनव सुप्र शब्देन व्याख्यातम्। शिप्रे=हनू नासिके वा। ते सस्य प्रनस्ते स सु शिप्र।

२ उपलब्ध निघण्टु म इस प्रकार के दो पद (शिप्र तथा दूत) हैं, जो एक पदिक काण्ड म दो बार मिलते हैं। हमारे विचार मे दोनों का पौनरुक्त्य अप्रामाणिक है। ४।३ म शिप्रे का खण्डन हम कर ही चुके हैं, दूत (८।२।३ ४।३।१००) पद भी दूसरे खण्ड मे वस्तुत नहीं होना चाहिए (क) यास्क ने (निरुक्त ६।२२) मे दूतो व्याख्यात। कहा है। इस से सूचित होता है कि निघण्टु के पदों के क्रम म अब दूत की व्याख्या का क्रम था। अर्थात् यह पद निघण्टु के इस स्थल म था जिस पर यास्क 'इस की व्याख्या की जा चुकी है। कह रहे हैं। अत यास्क के प्रमाण पर ४।३ मे दूत का पाठ प्रामाणिक है। (ख) दूसरे खण्ड में किन्तु यह पद (अ) वाहिष्ठ (४।२।२) पर उद्धृत मन्त्र मे आगत पद के नाते भी व्याख्यात हो सकता है और (आ) स्वतन्त्र पद के नाते भी। (अ) प्रथम विकल्प से यदि व्याख्यात है तो इस मे कोई दोष नहीं है। टीकाकारों की सम्भवत यही मान्यता रही है (ग) दुग ने इस की व्याख्या निगम प्रसक्तमुच्यते।' कह कर मन्त्र म आने के कारण व्याख्यात शब्दों म की है। निघण्टु म आये पदों की व्याख्या इत्यनव गतम।' कह कर की है। इस से आगे पीछे के पदों पर तो उन्होंने ऐसा कहा है पर इस पद पर नहीं। अत यह पद उन के मत मे यहाँ निघण्टु में नहीं है। हाँ ४।३ पर निरुक्त (६।२२) मे 'दूत इत्यनवगतम।' कहा है। अत उन के मत मे यह इस खण्ड म निघण्टु गत है। (घ) स्कन्द की ४।२।३ पर की निरुक्त-व्याख्या तो खण्डित होने से अप्राप्त है। अत वहाँ उन्होंने इसे निघण्टु-द्वितीय खण्ड गत स्वतन्त्र पद माना है या दुग के समान प्रसङ्ग प्राप्त, यह असन्दिग्ध रूप से कहना सम्भव नहीं है। किन्तु आगे ४।३ म वे इस निघण्टु गत मानते हैं तथा यहाँ ४।२।२ पर प्रासङ्गिक होने से व्याख्यात है, यही मानते प्रतीत होते हैं दूत इत्यनवगतम। तत्पुन 'वाहिष्ठो वां हवानाम्।' (ऋ ८।२६।१६) इत्यत्र दूतो जवतेर्वा' इत्येव व्याख्यातम्। (ङ) देवराज म भी दूसरे खण्ड में इस की व्याख्या नहीं की है तीसरे खण्ड म की है। अत व

अपेक्षा उपयुक्त हेतुओं से न मानना ही उचित है। (७) बृहत्पाठ में उपलब्ध किन्तु भी इसे ४।३ में ही सङ्कलित मानते हैं, ४।२ में नहीं, यह सिद्ध होता है। (आ) द्वितीय विकल्प मानने पर यह दोष आता है कि (च) यास्क ने इस का सङ्कलन निष्प्रयोजन क्यों किया ? जब तक इस दोष का कोई समाधान नहीं हो जाता तब तक निर्दोष विकल्प को मानना ही उचित प्रतीत होता है।

निघण्टु ४।२।३ में यह क्यों, कैसे आया ? इस प्रश्न पर हमारा यह विचार है कि वाहिष्ठ पद ऋग्वेद संहिता में पांच बार आया है

(१) अस्माकमिन्द्र भूतु ते स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः ।
अस्मान् राये महे हिनु ॥ ६।४५।३०॥

(२) आ वां वाहिष्ठो वहतु स्तवध्यै रथो वाजा ऋभुक्षणो अमृक्तः ।
अभि त्रिपृष्ठैः सवनेषु सोमैर्मदे सुशिप्रा महभिः पृणध्वम् ॥ ७।३७।१ ॥

(३) अस्माकमद्य वामयं स्तोमो वाहिष्ठो अन्तमः ।
युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥ ८।५।१८ ॥

(४) आ वां वाहिष्ठो अश्विना रथो यातु श्रुतो नरा ।
उप स्तोमान्तुरस्य दर्शथः श्रिये ॥ ८।२६।४ ॥

(५) वाहिष्ठो वां हवानां स्तोमो दूतो हुवन्नरा । युवाभ्यां भूत्वश्विना ॥१६॥

इन में दो मन्त्रों (२, ४) में यह पद √वाहि (√वह् के ण्यन्त) से निष्पन्न शब्द के रूप में यौगिक अर्थ में रथ के विशेषण के रूप में आया है। अतः यह न व्युत्पत्ति की दृष्टि से अनवगत है न अर्थ की दृष्टि से अनवगत अथवा अनकाथक। इस लिये निघण्टु ४।२।३ में इन (रथ के विशेषणों) में से कोई-सा वाहिष्ठ सङ्कलित होने योग्य नहीं है। शेष तीन मन्त्रों में यह पद स्तोम के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। दो (१, ३) मन्त्रों में इस का प्रयोग वहन करने वाले स्तोम के लिये बहुत साधारण से ढंग से हुआ है किन्तु अन्तिम मन्त्र में हवानां वाहिष्ठः दूतः स्तोमः।' कहा गया है। अर्थात् (क) देवताओं की अभिवहन-स्तुतियों में प्रयुक्त य० स्तोम जितने देवताओं को बुलाने वाले (हव) स्तोम हैं उन में अश्विनों को लाने वाला सब से श्रेष्ठ स्तोम है। (ख) यह इस कार्य में अच्छे दूत के समान समर्थ है। वाहिष्ठ शब्द वाहस' के समकक्ष √वाहि से निष्पन्न है। 'वाहस' के यास्क ने कर्मकाण्ड से सम्बद्ध दो अर्थ (निरुक्त ४।१६ में) बताये हैं (१) अभिवहन-स्तुति, अर्थात् देवता को यज्ञ में लाने को की जाने वाली स्तुति, (२) अधिपवण प्रवादा स्तुति, अर्थात् देवता को सोम से पूर्ण पात्र अर्पित करते समय बोली जाने वाली स्तुति। 'वाहिष्ठ' का अर्थ यहाँ अधिपवण प्रवादा स्तुति नहीं हो सकता। वह तो हव' (आह्वान) है अतः अभिवहन-स्तुति अर्थ है। इस प्रकार यह विशेष अर्थ इस मन्त्र में ही है। परिणामतः इस 'वाहिष्ठ' का ही सङ्कलन यहाँ अभिप्रेत है यह बताने को निघण्टु में इस व्यवच्छेदेन 'दूत' पद के साथ 'वाहिष्ठ दूत' के रूप में सङ्कलित किया गया है तथा 'दूत' की व्याख्या प्रसक्त पद होने के कारण ही की

लघु-पाठ म अनुपलब्ध ऋजुनीति (निघण्टु ४।३।६३), वुञ्जति (३।२०।९), यथा (२।३।३) पद निरुक्त (क्रमश ६।२१,१७ और ३।१५) म उसी ग्रथ म हैं, जिन म वे समाम्नात हैं। (८) लघु पाठ म उपलब्ध किन्तु बृहत्पाठ म अनुपलब्ध पदो की सूची म एक रोधसी पद ही रोदसी (३।३०।४ और ४।५।३६) की व्याख्या (रोदसी =रोधसी द्यावा पृथिव्यौ ६।१) में मिला है। पर यह शब्द स्पष्ट ही रोधसी का शब्द निर्वचन देने को व्याख्या मे आया है। रोधसी पद संहिताओ म अनुपलब्ध है। रोदसी सु बहुश प्रयुक्त है। अत यहाँ इस शब्द से यास्क का लघु पाठ स परिचय सिद्ध नही होता। (९) बृहत्पाठ मे मिलने वाला अप्नरम् (१।१२।३२) पद इसी ग्रथ मे निरुक्त ११।४१ म मिलता है, परन्तु लघु पाठ का 'अक्षरा' कही भी नही मिलता।

इस विवरण के आधार पर हमारा यह निष्कर्ष है कि लघु पाठ से यास्क का परिचय सूचित करने वाली साक्षात् या परोक्ष एक भी युक्ति उपलब्ध नही है जब कि यास्क ने बृहत्पाठ की व्याख्या की है इस बात को सिद्ध करने को बहुत सी सामग्री उपलब्ध है[1]। अत बृहत्पाठ ही मौलिक है। इस विषय मे हम यास्क के एक साक्षात् कथन को प्रमाण रूप मे दे कर डा लक्ष्मणसरूप की युक्ति पर विचार करेंगे

निघण्टु का विषय विवेचन करते समय यास्क ने निघण्टु मे सङ्कलित[2] नामो

गई है। स्वतन्त्र पद होने से नही। मन्त्र मे व्यवहित पद का ही सङ्कलन दर्शाने के लिये 'वाहिष्ठ' की 'दूत' से सन्धि नही की है। अत कमकर जी का यहाँ निष्प्रयोजन सन्धि तोड दी है। (द्र पृष्ठ १६०) कहना भ्रान्त आधार पर है। कालान्तर मे लोगो ने इस प्रयोजन के दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण यहाँ दो पदो को घृत मान लिया। परिणाम यह हुआ कि इस खण्ड की पद सङ्ख्या जो वस्तुत ८३ थी वह अब ८४ हो गई।

१ यही कारण प्रतीत होता है कि डा लक्ष्मणसरूप ने निघण्टु के पाठ की प्रामाणिकता पर अध जरतीय न्याय का अवलम्बन ले कर (पृष्ठ १२ पर) खण्डो के अन्त के आस पास पाठय का मूल लघु पाठ म सुरक्षित है। माना है तथा निघण्टु के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्याय पर यास्क ने बृहत्पाठ का अनुसरण किया है।' माना है। परन्तु ऊपर के विवरण से सिद्ध होता है कि प्रथम काण्ड का भी बृहत्पाठ ही यास्क सम्मत है। अत डा लक्ष्मणसरूप का निष्कर्ष सु विचारित नहीं है।

२ द्र निरुक्तम् १।२० *(क) एतावन्त समान-कर्माणो धातव । एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि। (ख) एतावतामर्थानामिदमभिधानम्। (ग) नैघण्टुकमिद देवता नाम, प्राधान्येनेदमिति। यहाँ एतावत से सङ्ख्या ही अभिप्रेत है। अन्यथा यास्क 'एतत' का ही प्रयोग करते। *(क), (ख) (ग) म विभाजन काण्ड क्रम का सूचक है (क) मे नैघण्टुक काण्ड के (ख) म नैगम काण्ड के, और (ग) मे दैवत काण्ड के पद-सङ्कलन का वर्णन किया गया है।

तथा धातुओं की सङ्ख्या भी निघण्टु मे दी हुई है यह बतलाया है ।

निघण्टु मे सङ्ख्या बतलाई होने पर भी निरुक्त मे यदि किसी खण्ड के पदो की अधिक व्याख्या नही करनी है, तो अगर यास्क ने जितना परिचय अमुक खण्ड का 'इस के बाद अगले इतने नाम अमुक के पर्याय हैं' कह कर दिया है वह भी नही देते तो क्या आज हम यह भी कहने की स्थिति मे होते कि अमुक खण्ड निघण्टु म था कि नही ? अत ग्र थ की सु रक्षा की दृष्टि से इतना कहने स लाभ हुआ है, हानि कोई नही ।

८ लघु पाठ बनने का कारण तथा समय हमारे विचार में अ ध्ययन अर्थात् श दो को कण्ठ स्थ करने मे सुविधा के लिये लघु पाठ का विकास हुआ है सब से पहले बृहत्पाठ से सङ्ख्या सूचक परिचय हटाया गया, उस के स्थान पर कोषो मे सङ्ख्या का निर्देश खण्ड के अन्त म दो-दो लम्ब दण्डो (।। ।।) के मध्य मे रख दिया गया । पर ऐसा करने पर भी उस सङ्ख्या को ध्यान मे तो रखना ही पडता था । अत सङ्ख्या के अङ्को को अकिञ्चित्कर ही नही, एक बोझ समझ कर कालान्तर म अङ्को को भी छोड दिया गया[1] । अस्तु सङ्ख्या निर्देश से छुट्टी पाने के साथ साथ वाच्य पद को पष्ठी मे रख कर सङ्क्षिप्त पाठ तैयार किया गया । ऐसा करने से विद्यार्थियो को सङ्ख्या और सङ्ख्यक 'नामानि' या 'धातव' जसे शब्द नही रटने पडे । निघण्टु ४।३ के लम्बे (१३३ पद) पाठ को रटने से घबरा कर ही सम्भवत उसे दो हिस्सो म बाट दिया गया । पाँचवें अध्याय के पहले दो खण्डो की पद सङ्ख्या (३/१३) मे असन्तुलन देख कर अथवा सम्भवत दूसरे खण्डो की तरह पृथिवी स्थानीय प्रमुख देवताओ को एकत्र करने के लिये, इ ह मिला कर एक ही खण्ड बना दिया गया ।

दुग ने कई स्थलों में लघु पाठ को ही उद्धत किया है तथा उसी की व्याख्या भी कई स्थलो म की है[2] । इस आधार पर हमारा विचार है कि उन से पूव अर्थात् ईसवी प्रथम शताब्दी से पहले[3] ही लघु-पाठ बन चुका था तथा वह कुछ पदो

---

[1] सम्भवत यही कारण प्रतीत होता है कि निरुक्त में प्रोक्त सङ्ख्या से कम या अधिक सङ्ख्या म पद लघु पाठ म ही मिलते हैं बृहत्पाठ मे नही । इस विषय म 'निरुक्त के पाँच अध्याय' मे सम्पादित निघण्टु का पाठ तथा उस पर टिप्पणियाँ देखें ।

[2] द्र 'निरुक्त के पाँच अध्याय', प्रस्तावना ।

[3] अपने देश की सास्कृतिक ज्ञान निधि पुराणो से परिचय न होने के कारण डा लक्ष्मणसरूप ने पहले तो दुग को तेरहवी सदी मे 'जम्मू के समीप एक आश्रम (जम्बू मार्गाश्रम) म रहने वाला बताया । द्र निघण्टु तथा निरुक्त भूमिका, पृष्ठ ४६ । बाद मे पुराणो से परिचय होने पर उन्हे भृगु कच्छ (भडोच भरुच) के निकट (जम्बूसर) म प्रथम शताब्दी ईसवी म हुआ बतलाया है। द्र श्रीस्कन्द-स्वामि महेश्वर विरचिता निरुक्त भाष्य टीका ३ ४ भाग, पृष्ठ ८१-१०१ ।

विलष्ट पद, फिर विशेष रूप से क्लिष्ट और फिर वग विशेष से सम्बद्ध पद इस में दिये गये हैं। अत हम इसे छोटे पैमाने पर वदिक साहित्य, विशेष कर ऋग्वेद सहिता, की वर्गीकृत चुनिंदा पद सूची (classified selected word index) कह सकते हैं।

इस के विशिष्ट योग-दान का मूल्याङ्कन करना अभी सम्भव भी नही है, क्योकि अभी निघण्टु का अध्ययन भली भाँति हो नही पाया है। यह अध्ययन निम्न दृष्टियो से अपेक्षित है

(१) सव प्रथम तो निघण्टु के पाठ का निर्धारण हस्त लेखो और व्याख्याओं तथा उद्धरणो मे अपनाये पाठो की तुलना के आधार पर किया जाना चाहिये[१]।

(२) निघण्टु मे सङ्कलित पद वदिक वाङमय के किस ग्रन्थ से लिये गये हैं, अर्थात् ये पद प्रधान रूप से किस सहिता से लिये गय हैं इस का निर्धारण किया जाना अपेक्षित है[२]।

(३) अमुक शब्द के अमुक रूप को ही क्यो लिया गया ? इस पर विचार होना चाहिये।[३]

(४) यह सब करने के बाद ही सङ्कलन-शैली के सिद्धान्तो पर विचार अपेक्षित तथा सम्भव है।

निष्कर्ष (अ) बिना व्याख्या किये भी निघण्टु के चार अध्यायो का वेदार्थ ज्ञान में महत्त्व पूर्ण योग दान है। (आ) कोष कला का प्राचीनतम उदाहरण होने से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। (इ) योग दान का विशेष मूल्याङ्कन विविध दृष्टियो से इस का अध्ययन न हो पाने से अभी सम्भव नही है।

---

१ निघण्टु के १-३ अध्यायो तथा ४।१ और ७।१ भाग का इस दृष्टि से सम्पादन हमने निरुक्त के पाँच अध्याय में अपने सीमित साधनो से करने का प्रयास किया है। विद्वज्जन उस का मूल्याङ्कन करने की कृपा करें।

२ इस विषय मे आम राय यह है कि ये पद प्रायेण ऋग्वेद-सहिता से लिये गये हैं। द्र डा लक्ष्मणसरूप भूमिका, पृष्ठ १४।

३ इस विषय मे कुछ विचार के लिये हमारी 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पुस्तक का चौथा अध्याय तथा आगे 'निघण्टु ४।१ मे पद सङ्कलन के प्रयोजन...' अध्याय देखें।

निरुक्त और उसका भाषा-चिन्तन को योग-दान

१ 'निरुक्त और निर्वचन' शब्दों का इतिहास ये दोनो शब्द 'भाषा शास्त्र की एक विशिष्ट शाखा अर्थ मे मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद मे अनुपलब्ध हैं। ये दोनो निर्+√वच के योग से निष्पन्न हैं। यह योग अथर्व-संहिता मे निरवोचम् के रूप मे आया है[1]। इसी से मिलते से एक अन्य प्रसङ्ग[2] मे सायण ने इस की व्याख्या 'मन्त्र बोल कर विष को निस्तेज करता हूँ। अथवा विष को निकला हुआ बोलता हूँ। की है।[3] इस का आशय यह है कि इस संहिता मे यह योग अपने यौगिक अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है तथा यहाँ निर्=बाहर अर्थ में है।

यजुर्वेद की काठक और मैत्रायणी संहिताओं मे 'निरुक्त' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से निरूपित अर्थ में देवता या सामन् आदि के विशेषण के रूप मे पाँच बार[4] हुआ है। इस अर्थ मे यह कर्मणि शानजन्त (निरुच्यमान) के रूप मे भी काठक संहिता[5] में आया है। शाङ्खायन[6] आदि मे भी यह शब्द इसी अर्थ मे इसी प्रकार प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् यह योग इस वाङ्मय मे निर्=स्पष्टतया, पूर्णतया+√वच=कहना='व्याख्या करना' अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा था।

भाषा शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ मे इस का सब प्रथम प्रयोग मुण्डक उपनिषद्[7] मे अपरा विद्या के प्रसङ्ग मे वेदों के बाद शिक्षा आदि वेदाङ्गो मे चौथे वेदाङ्ग के स्थान मे 'निरुक्तम्' के रूप में हुआ है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्[8] मे हृदय के निर्वचन (हृद्ययम्=हृदयम्) को निरुक्त कहा गया है। अर्थात् उपनिषद् वाङ्मयमे 'निरुक्त' शब्द न केवल 'शास्त्र विशेष' अर्थ मे ही प्रसिद्ध हो गया था, अपितु इस पद्धति से की जाने वाली शब्द की व्याख्या के लिये भी प्रसिद्ध हो गया था।

निष्कर्ष निर् के दो अर्थों के कारण इस योग के दो अर्थ प्रकरण के अनुसार रहे हैं। याजुष परम्परा और ब्राह्मणो मे इस का प्रयोग 'व्याख्या करना' अर्थ मे हुआ। पर यहाँ व्याख्या की कोई विशेष पद्धति अभिप्रेत नही है। उपनिषदों मे 'निरुक्त' शब्द 'शास्त्र विशेष' तथा 'शब्द की व्याख्या की एक विशिष्ट पद्धति' अर्थ मे रूढ हो गया है।

---

१ यस्माणां सर्वेषां विष निरवोचमह त्वत् । ६।१३।१० ॥

२ अप स्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमह विषम् । अ स ४ ६।४ ॥

३ मन्त्रेण निर्वीर्य करोमि । यद्वा तदीय विष निर्गत ब्रवीमीत्यर्थ ।

४ द्र का स ६।५, ३२।१, मै स १।११।६, ३।८।६ १० ।

५ द्र ६।१९ । ६ द्र ८।३ ११।१ । ७ द्र १।५ । ८ द्र ८।३।३ ।

निर्वचन' शब्द मन्त्र वाङ्मय में अनुपलब्ध है। ब्राह्मणों में यह 'देवताध्याय ब्राह्मण'[१] में ही आया है और आया भी पारिभाषिक अर्थ में है। यह समूचा प्रकरण निरुक्त ७।१२।१३ से मिलता है, अन्तर बहुत मामूली है[२]। अन्य ब्राह्मणों में 'निर्वचन' शब्द तो क्या, इस योग के ही पारिभाषिक अर्थ में न मिलने के कारण हमारा विचार है कि यह ब्राह्मण समय की दृष्टि से अन्य ब्राह्मणों की कोटि का नहीं है। निरुक्त से प्राचीनता या अर्वाचीनता के विषय में कोई निर्भ्रान्त प्रमाण नहीं है। पर लगता है यहाँ उपलब्ध निर्वचनों के लिये निरुक्त ही उप-जीव्य है[३]।

२. निरुक्त क्या है? जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं निरुक्त उस शास्त्र का नाम है जो शब्दों की व्याख्या करता है, तथा इस प्रकार की जाने वाली व्याख्या भी निरुक्त कहलाती थी[४]। देवताध्याय ब्राह्मण में दूसरे अर्थ में निर्वचन शब्द का प्रयोग किया गया है। यास्क ने भी शब्द की व्याख्या की इस पद्धति के लिये 'निर्वचन' शब्द का ही प्रयोग किया है[५]। यास्क ने स्थान स्थान पर 'इति नैरुक्ताः।' कह कर कुछ आचार्यों का उल्लेख किया है। इस प्रकार के कुछ अन्य उल्लेख हैं इति ऐतिहासिकाः[६], नैदानाः[७], पूर्वे याज्ञिकाः[८], याज्ञिकाः[९], वैयाकरणाः[१०]। इन सब से यास्क को तत्तद् शास्त्रों के वेत्ता आचार्य अभिप्रेत हैं। फलतः 'इति नैरुक्ताः' से भी निरुक्त शास्त्र के वेत्ता आचार्य ही अभिप्रेत हैं, यह स्पष्ट है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि यास्क के समय 'निरुक्त' शब्द किसी खास शास्त्र के लिये प्रसिद्ध था। यास्क वेदाङ्गों से परिचित हैं[११]। वेदाङ्गों में प्रकृत निरुक्त शास्त्र भी एक था यह हम मुण्डकोपनिषद्[१२] के प्रमाण से देख चुके हैं। अतः यास्क के समय भी यह वेदाङ्ग माना जाता होगा, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। जिस प्रकार 'शब्दानुशासन'[१३] नाम व्याकरण शास्त्र और उसके एक ग्रन्थ पाणिनीय अष्टक के लिये प्रसिद्ध रहा है, वैसे ही 'निरुक्त' शब्द इस नाम के एक वेदाङ्ग शास्त्र और

---

१ द्र० ३।११। २ द्र० निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ ८।

३ युक्तियों के लिये द्र० निरुक्त मीमांसा, पृष्ठ ८-९।

४ द्र० क्रमशः मुण्डकोपनिषद् १।५ तत्रापरा—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषमिति। तथा छान्दोग्योपनिषद् ८।३।३ स वा एष आत्मा हृदि। तस्यैतदेव निरुक्तं 'हृद्ययम्' इति। तस्माद् हृदयम्। ५ द्र० निरुक्तम् २।१ अथ निर्वचनम्।

६ द्र० निरुक्तम् १२।१।१०। ७ द्र० वही ६।६, ७।१२।

८ द्र० ६।४, २३। ९ द्र० वही ५।११, ११।२६, ३१, ४२।३, १३।९।

१० द्र० वही १।१२, ९।५, १३।९।

११ द्र० निरुक्तम् १।२० उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च। १२ द्र० ऊपर टि० ४ में उद्धृत १।५।

१३ द्र० पतञ्जलि, महाभाष्य पस्पशा 'अथ शब्दानुशासनम्।' अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

उस के ग्रन्थो के लिये प्रयुक्त होता था। अत यास्क से पूर्व के इस विषय के ग्रन्थ भी निरुक्त' कहलाते थे, तथा यास्क का ग्रन्थ भी अपने समय म 'निरुक्त' ही कहलाया। किन्तु कालान्तर मे भाषा के विशेष व्याख्याता व्याकरण शास्त्र के विकास के बढते चरणो के साथ साथ भाषा के सामान्य व्याख्याता निरुक्त शास्त्र का ह्रास होता गया। अन्तत यह समूचा शास्त्र अपने अन्तिम दो ग्रन्थो यास्क के निघण्टु और निरुक्त मे ही सीमित रह गया [1]। परिणामत कालान्तर मे निरुक्त नामक वेदाङ्ग के रूप मे यास्क का प्रकृत ग्रन्थ ही उसी प्रकार रह गया, जिस प्रकार व्याकरण नामक वेदाङ्ग की लम्बी परम्परा का एक मात्र अवशिष्ट उत्तराधिकारी पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रन्थ ही व्याकरण नामक वेदाङ्ग के रूप में बच रहा है, तथा आज व्याकरण नामक वेदाङ्ग कहने से उसी को समझा जाता है।

३ निरुक्त शास्त्र का विषय छान्दोग्य उपनिषद्[2] मे नारद ने उन्ह आती विद्याओ मे एक विद्या 'देव विद्या बताई है। शङ्कराचार्य ने इस से 'निरुक्त' का लिया है। इसी उपनिषद् म आगे[3] 'हृदय' शब्द के निर्वचन को निरुक्त' कहा गया है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि निरुक्त शास्त्र के दो विषय हैं (क) देवताओ के स्वरूप को स्पष्ट करना (ख) निर्वचन के द्वारा शब्दो को स्पष्ट करना।

(अ) याजुष सहिताओ म किसी देवता के लिये निरुक्त या अनिरुक्त विशेषण के प्रयोग स भी उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की पुष्टि होती है। (आ) ब्राह्मणो मे कई स्थानो पर देवताओ के नामो के निर्वचन से उन का स्वरूप स्पष्ट किया भी गया है, यह हम पीछे[4] दिखला चुके हैं। (इ) प्राचीन नरुक्तो म सर्वाधिक प्रसिद्ध शाक पूणि के मत का उल्लेख भी यास्क ने पन्द्रह बार[5] देव विद्या के प्रसङ्ग मे और केवल आठ[6] बार निर्वचन के सन्दर्भ मे किया है। इस स विदित होता है कि उन के निरुक्त मे 'देव विद्या' ही प्रधान थी। (इ) यास्क के पीछे[7] उद्धृत कथन स भी विदित होता है कि प्राचीन निरुक्तो में देवताओं के पर्यायो तथा गुणाभिधानो की भर मार होती थी। अर्थात् उन म देव विद्या' ही प्रधान होती थी। (उ) यास्क के निरुक्त म भी आधे से अधिक भाग (७ १३ अध्यायो[8]) मे देव विद्या का प्रति

---

१ निघण्टु यद्यपि एक और—कौत्सव्य रचित—भी उपलब्ध है तथापि उसे विद्वानो ने अधिक आदर नही दिया है। उस का परिचय आगे देखें।

२ द्र ७।१।२। ३ द्र ८।३।३, पृष्ठ १७४ पर टि ४ मे उद्धृत।

४ द्र पृष्ठ १७३। ५ द्र निरुक्त २।८, ७।१४, २३, २८, ८।२, ५ ७ १० १४ १७ १८ १२।१६, ४०, १३।१०।

६ द्र निरुक्त ३।११, १३, १६, ४।३, १५ ५।३, १३, २८।

७ पृष्ठ १५८, टि ३ मे उद्धृत निरुक्तम् ७।१३।

८ निरुक्त के चौदह अध्यायो म से अन्तिम अध्याय तो विषय की दृष्टि से सर्वथा और ही तरह का है। अत तेरह अध्यायो की दृष्टि से सात अध्यायो वाले इस भाग को अधिक कहा गया है।

पादन है। अत उन के निरुक्त मे भी देव विद्या ही प्रधान है।

इस विवरण से विदित होता है कि निरुक्त शास्त्र का प्रधान विषय देवताओ के स्वरूप को स्पष्ट करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन देवताओ का वर्णन जिन शब्दो म किया गया है, उन की व्याख्या को चुना गया। अर्थात् देवता नामों की व्युत्पत्ति तथा उनके अर्थ को स्पष्ट कर के देवता के तात्विक स्वरूप तक पहुँचने का प्रयास इस शास्त्र का सब प्रथम प्रति पाद्य था।

वदिक देवताओ की इस प्रकार की व्याख्या तब तक सम्भव नहीं थी, जब तक मन्त्रो का अर्थ भली भाँति स्पष्ट न हो। परिणामत उसे स्पष्ट करने के लिये देवेतर पदों को स्पष्ट करना आवश्यक हुआ और निघण्टुओ म नैघण्टुक और नगम काण्डो का अविर्भाव हुआ। इन काण्डो के सङ्कलन का प्रमुख उद्देश्य मन्त्रो को ठीक से समझना था। परिणामत निरुक्त शास्त्र का दूसरा विषय मन्त्रों को स्पष्ट करना हुआ[1]। यास्क के निरुक्त से भी इस विषय की पुष्टि होती है उन्हों ने न केवल निघण्टु मे सङ्कलित पदो की व्याख्या की है, अपितु मन्त्र गत अन्य पदो की उन से मिलते जुलते अथवा साक्षात् या परम्परया सम्बन्धित किन्तु मन्त्र मे अप्रयुक्त पदो की सङ्कलित पदो से भी इसी प्रकार मिलत जुलते और साक्षात् या परम्परया सम्बद्ध पदो की व्याख्या भी प्रचुर (निघण्टु के व्याख्यात पदो के लगभग बराबर) मात्रा मे की है।

इन दोनों विषयो का प्रतिपादन करने के लिये निवचन को साधन के रूप में चुना गया है। अत शब्दों का भाषा शास्त्रीय विवेचन इस का तीसरा विषय है

कालान्तर मे भाष्य की अपेक्षा साधन पर ही अधिक बल दिये जाने से देव-विद्या तथा मन्त्राथ की अपेक्षा निवचन को ही निरुक्त का प्रमुख विषय समझा जाने लगा। आज निरुक्त को भाषा शास्त्र का ग्रन्थ ही आम तौर पर समझा जाता है। वस्तुत निरुक्त शास्त्र के दो उपेय विषय है (क) देव विद्या, (ख) मन्त्राथ ज्ञान। एक उपाय विषय है निवचन। उपाय होने के कारण यही निरुक्त (शास्त्र तथा यास्क के ग्रन्थ) का प्रधान विषय बन गया है।

४ निरुक्त विषय विवेचन इस प्रकरण मे हम यास्क के निरुक्त मे विषय का विवेचन क्या कहाँ है?' इस दृष्टि से न कर के क्या किस प्रकार से=किस दृष्टि से कहा गया है? इस दृष्टि से करेंगे। निरुक्त शास्त्र के पीछे बताये तीन विषयो म से हम मन्त्राथ ज्ञान का विवेचन पहले, फिर देव विद्या का और अन्त मे निवचन

---

१ तुलना करें निरुक्त १३।१२ अथ मन्त्राथ चिन्ताऽभ्यूहोऽभ्यूळ्होऽपि श्रुतितोऽपि तर्कत। मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्—'को न ऋषिर्भविष्यती' ति। तेभ्य एत तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्राथ चिन्ताऽभ्यूहमभ्यूळ्हम। वेदाथ के स्पष्टीकरण के लिये ही इस शास्त्र का आविर्भाव किया गया था उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्म ग्रहणायेम ग्रन्थ समाम्नासिषु।—बिल्म=भिल्म, भासनम् इति वा। (निरुक्तम् १।२०)

का विवचन करेंगे।

(१) म त्राथ ज्ञान अपने कथन की पुष्टि मे यास्क ने लगभग ८०० म त्र या म त्राश उद्धत किये हैं। उनम से लगभग ४४० पर उन्होने सङ्क्षिप्त टिप्पणी की है। (क) वे सरल शब्दो या वाक्यो को (अ) या तो ज्यो का त्यो रख देते हैं[1], या (आ) उन के वदिक रूप को लौकिक म बदल देत हैं[2]। (ख) कठिन शब्दो के (अ) या तो लौकिक पर्याय रख देते हैं[3], या (आ) उन का निवचन कर के अथ निर्धारित कर देते हैं[4]। (ग) अपेक्षित होन पर इतिहास[5] या किसी प्राचीन प्रथा[6] को भी दे दते हैं। (घ) म त्र गत पद के स्वरूप पर म त्राथ पर, या पद के निवचन पर मत भेद की स्थिति म वे या ता (अ) उस मत भेद को प्रस्तुत भर कर देते हैं[7], या उस की भली भाँति समीक्षा कर के तत्त्व निर्णय कर देते हैं। (ङ) दृष्टि भेद से अथ भेद होन पर वे उन दृष्टियो से म त्राथ भी कर दत हैं[8]। यास्क की अपनी दृष्टि, या वस्तुत नैरुक्तो की अपनी दृष्टि, अधि दवत दृष्टि है, जिसे आज की दृष्टि से अधि भूत दृष्टि कहा जा सकता है। अ य दृष्टियाँ हैं ऐतिहासिक[9] अधि-यज्ञ[10], अध्यात्म[11] तथा लोक की अर्थात् सामाजिक[12]।

किसी भी पद पर म त्र उद्धत करने के सिद्धान्त के बारे म तो अभी अनु सधान की अपेक्षा है। पर चौथे अध्याय के २० उद्धरणो के अध्ययन स विदित हुआ है कि ये म त्र उन पदो वाले म त्रो से अपनी किसी विशिष्टता के कारण ही उद्धत किय गये हैं। अर्थात् जो म त्र सामने आया है, वही उद्धत कर दिया हो, ऐसी बात नही है। इन म त्रो की विशेषतायें निम्न प्रकार की हैं (१) सात पदो पर म त्र के अथ की क्लिष्टता के कारण वह म त्र दिया गया है। (२) तीन पदो पर सव-

---

१ द्र निरुक्तम् १।४ वक्षस्य नु ते पुरु हूत, वया (ऋ ६।२४।३)= वृक्षस्येव ते पुरु हूत, शाखा ।

२ द्र वही २।२४ इय शुष्मेभि (ऋ ६।६।१।२)=इय शुष्म =शोषण ।

३ द्र वही, तविषेभिरूर्मिभि =महद्भिरूर्मिभि ।

४ द्र वहीं, 'पारावत घ्नीम्'=पारा-वार घातिनीम्। पार पर भवति। अवारमवरम्।

५ द्र निरुक्तम् २।१० तथा उस से अगले खण्डो में ऋ १०।९८।५ ७। तथा निरुक्तम् २।२४ तथा उस से आगे ऋ ३।३३।५-६ १०।

६ द्र निरुक्तम् ३।५ मे ऋ १।१।२४।७ के 'गर्तारुक की व्याख्या।

७ ३।८ मे ऋ १०।५३।४ के 'पञ्च जना' की व्याख्या।

८ द्र वही २।८ म ऋ १।१६४।३२ की परिव्राजको और नैरुक्तो की दृष्टि से दो व्याख्याएँ। ९ द्र निरुक्त २।२४ म विश्वामित्र और नदियो का सवाद।

१० द्र वही १३।७ म ऋ ४।५८।३ की व्याख्या।

११ द्र वही ३।१२ मे ऋ १।१६४।२१ की अधि-दैवत अध्यात्म व्याख्याए।

१२ द्र वही ३।५ म 'गर्तारुक की और ३।८ म पञ्च जना की व्याख्याएँ।

श्रेष्ठ काव्य सौंदर्य वाले मन्त्र दिये गये हैं। (३) तीन मन्त्रों में व्याख्येय पद अनेकार्थक हैं। (४) दो मन्त्रों में व्याख्येय पद प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है। (५) एक मन्त्र में व्याख्येय पद वाले सब मन्त्रों की देवता गत विशेषताओं का समाहार हुआ है। (६) एक मन्त्र में वह पद कर्म काण्ड से सम्बद्ध विशिष्ट अर्थ में आया है। (७) एक मन्त्र व्याख्येय पद के अतिरिक्त पदों की व्याख्या अभीष्ट होने से दिया गया है। (८) व्याख्येय पद वाले मन्त्रों में संहिता क्रम में पहला मन्त्र ही उद्धृत कर दिया गया है[१]।

(२) देव विद्या देवता तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये पहले इस के आधार भूत सिद्धान्तों की चर्चा दैवत-काण्ड के प्रथम अध्याय के पहले १३ खण्डों में की है। इन सिद्धान्तों में प्रमुख हैं १ मन्त्रों में देवता की पहचान (खण्ड १ ४), २ प्रतिपादन शैली के आधार पर मन्त्रों के भेद (खण्ड २), ३ मन्त्रों के विषय (खण्ड ३) ४ देवताओं की संख्या तथा उस का आधार (खण्ड ५), ५ देवताओं का आकार (खण्ड ६ ७), ६ प्रधान देवताओं के साथ स्तुत गौण देवता तथा उन से सम्बद्ध कुछ वस्तुएँ (खण्ड ८ ११), ७ प्राचीन निघण्टुओं के देवता पद-समाम्नान के सिद्धान्त और अपने सिद्धान्त में भेद तथा अपने सिद्धान्त का औचित्य (खण्ड १३)। इस अध्याय के शेष भाग में किसी एक भाग में प्रधान के रूप में स्तुत देवता की अन्यत्र गौण रूप से स्तुति की चर्चा अग्नि जात वेदस और वैश्वानर के सन्दर्भ में की गई है।

सातवें अध्याय के १४ वें खण्ड से ले कर १३ वें अध्याय के अन्त तक निघण्टु के दैवत काण्ड में सङ्कलित देवता-नामों की व्याख्या की गई है।

देवताओं का स्वरूप उन्होंने तीन तरह से स्पष्ट किया है १ नाम के निर्वचन से, २ आधि दैविक स्वरूप पर मत भेदों पर विचार कर के ३ अपने सिद्धान्त के पोषक मन्त्र उद्धृत कर के तथा उन की व्याख्या कर के। देवता के नाम निर्वचन में उस के आधि यज्ञिय आधि दैविक और आधि भौतिक रूप को दृष्टि में रखा है। जैसे—अग्नि (निघण्टु ५।१।१) के ७।१४ में पाँच निर्वचन किये गये हैं **१ अग्रणीर् भवति**। यह निर्वचन अग्नि के आधि-दैविक स्वरूप को दृष्टि में रख कर किया गया है कि यह सब देवताओं का अगुआ है, यही देवताओं को यज्ञ में लाता है, अत उन का नेता है। तुलना करें **अग्निं दूतं पुरो दधे, हव्य वाहमुप ब्रुवे। स देवाँ आसादयादिह** (ऋ ८।४४।३)। २ **अग्र यज्ञेषु प्रणीयते**। यह निर्वचन अग्नि के यज्ञिय स्वरूप को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में इस का प्र-णयन (उद्दीपन) किया जाता है। ३ **अङ्ग नयति सन्नममान**। ४ **अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीवि**। ये दो निर्वचन उसके भौतिक स्वरूप—३ जला कर आत्मसात् करने

---

१ द्र इस विषय पर विस्तार से विचार के लिये 'निरुक्त के पाँच अध्याय' में चतुर्थ अध्याय तथा प्रकृत ग्रन्थ में भाग 'निघण्टु ४।१ में पदों के सङ्कलन के और निरुक्त के चतुर्थ अध्याय में उन पर तत्तद् मन्त्रों को उद्धृत करने के प्रयोजन।' अध्याय देखें।

की प्रवृत्ति ४ सुखान के स्वभाव—को प्रकट करते हैं। ५ त्रिम्य म्राख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणि—१ इताद् २ म्रक्ताद् ३ दग्धाद्वा नीतात्। यह निवचन म्रग्नि के म्राधि भौतिक म्रौर म्राधि दविक स्वरूप को स्पष्ट करता है कि यह १ फैलता है २ प्रकाश करता है, ३ जलाता है।

यास्क के मत मे दवता म्राधि भौतिक तत्त्व हैं, कोई म्रलौकिक वस्तु नही। वस्तुत देवता एक म्रात्मा ही है, म्रलग म्रलग कार्यों के कारण से वही म्रग्नि म्रादि नामा स पुकारा जाता है[1]। उन के इन म्रलग म्रलग नामा के वणन मे काय, स्थान, कम, रूप तथा सह चारी देवता म्रादि म व्यभिचार दीखने के कारण उन के वास्त विक स्वरूप मे सशय हो जाता है। यास्क ने इस सन्देह का निराकरण करने के लिय युक्ति प्रतियुक्तियो से कुछ सिद्धान्त स्थापित किय हैं। इन म य तीन प्रमुख हैं (१) प्रत्येक दवता का एक म्राम चरित्र निर्धारित कर के कुछ म्रन्य गौण बातें तय की जायें। (२) स्तुति के गौण प्राधान्य भाव, या यज्ञिय कम काण्ड की पर म्परा मे प्रचलित गौण प्राधान्य भाव, के म्राधार पर देवता की गौणता या प्रधानता का निश्चय किया जाय[2]। (३) मनुष्य म्रत्युक्ति प्रिय होता है। म्रपने देवता का वणन ता वह पूण म्रत्युक्ति से करता है। म्रत स्तुति यदि देवता के म्रपने प्रधान गुण धम से भिन्न रूप मे, या म्रन्य किसी दवता के गुण धम से युक्त के रूप मे की जाती है, तो वहाँ कवि (ऋषि) का म्रभिप्राय देवता के स्वरूप को भ्रान्त करना नही है, म्रपितु इस प्रकार म्रति स्तुति के माध्यम से देवता के प्रति भक्ति के म्रति रेक को व्यक्त करना ही है[3]।

(३) निवचन म्राज के युग की दृष्टि से निरुक्त का सर्वाधिक महत्त्व पूण विषय यही है। इस विषय का प्रतिपादन भी देव विद्या के प्रतिपादन के समान ही दो *भागा मे किया गया है*

(क) निवचन के लिये म्रपेक्षित सिद्धा तो को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने म्रपने भाष्य के प्रारम्भ मे पूरे पहले म्रध्याय मे म्रौर दूसरे म्रध्याय के लगभग चौथाई हिस्से मे निवचन शास्त्र के लिये म्रपेक्षित कुछ म्रावश्यक चर्चा की है। इनमे पद विभाग (१।१) नाम म्रौर म्राख्यात पदा के लक्षण (१।१ २) उपसर्गों की निरथकता (१।३) निपता का वर्गीकरण (१।४ ११), नामों की म्राख्यातजता (१।१२ १४) तथा निव चन के सिद्धान्त (२।१ ७), विषय विशेष महत्त्व पूण हैं।

(ख) दूसरे म्रध्याय के पाँचवें खण्ड से १२ वें म्रध्याय के म्रन्त तक उन्हो

---

१ द्र निरुक्तम् ७।४ माहा-भाग्याद्देवताया एक म्रात्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति। म्रपि च सत्त्वानां प्रकृति भूमभिऋ षय स्तुवन्तीत्याहु, प्रकृति सावनाम्याच्च।

२ द्र वही ७।१८, २० म्रौर ३१ यस्तु सूक्त भजते निपातमेवते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते।

३ इस के लिये यास्क ने तेरहवाँ म्रध्याय लिखा है।

ने निघण्टु के पदों की व्याख्या की है। नैघण्टुक शब्द की व्याख्या जहाँ-जहाँ से पर्याय पदों का वाक्य तरह प । की व्याख्या के प्रारम्भ में तीसरे अध्याय के प्र त तक की है। शब्द का व्याख्या के प्रसङ्ग पद की व्याख्या करते उन पदों को छोड़ कर दी है, जिनकी व्याख्या (१) पिछले अध्यायों में आ जाने से, सङ्कलित होने से (२) प्रकट होने से, या (३) प्रमाणानुसार होने से की जा चुकी है। पीछे इन की व्याख्या की जा चुकी है। इस बात की सूचना उन्होंने स्थान स्थान पर दे दी है।

नैघण्टुक काण्ड के पर्याय शब्दों की व्याख्या में साधारण यास्क सब से पहले काण्ड के वाच्य शब्द का, फिर पर्यायों में विशिष्ट-व्याख्या-सापेक्ष शब्द का निर्वचन देते हैं। जब निघण्टु १.६ के क्रिया के वाचक पदों में सब से पहले क्रिया का निर्वचन (निरुक्त २.१५ में) फिर पाठ पदों में से व्याख्या का ही निर्वचन किया गया है। निघण्टु १.१ के पृथिवी के २१ पर्यायों में से केवल गो और 'निऋति' का निर्वचन किया गया है। 'पृथिवी' का निर्वचन निरुक्त (१.१३ १४ में) आ चुका है अत यहाँ नहीं किया सकता है।

निर्वचन करते समय यास्क निघण्टु के पदों तक ही सीमित नहीं रहते अपितु (१) निघण्टु-पठित पद के निर्वचन में आए पर्याय आदि प्रासङ्गिक पदों का[1] (२) निघण्टु-गत पद पर उद्धत मन्त्र में प्रयुक्त किन्तु निघण्टु में असङ्कलित कठिन पदों का[2] (३) इन पदों की व्याख्या में आए शब्दों का[3], (४) मन्त्र-गत पद से (क) ध्वनि (sound) अथवा अर्थ की दृष्टि से मिलते-जुलते पदों का[4], (ख) वर्ग की दृष्टि से समान पदों का[5] भी निर्वचन कर देते हैं[6]।

पद के दो अंश हैं (१) शब्द, अर्थात् ध्वनि और (२) अर्थ। यास्क ने

---

१ द्र निरुक्त २।५ गो' के प्रसङ्ग में 'पयस' और 'क्षीर' की व्याख्या।

२ द्र वही २।८ में 'निऋति' निघण्टु (१।१।१६) की व्याख्या में उद्धत ऋ १।१६४।३२ के मात' और योनि की व्याख्या।

३ द्र वही २।२५ में मन्त्र गत 'मुहूर्त' की व्याख्या में आये 'ऋतु', 'अभीक्षण' और 'क्षण' की व्याख्या।

४ द्र वही १।२० 'भीम' (ऋ १।१५४।२) से मिलते जुलते 'भीष्म' शब्द की व्याख्या।

५ द्र वहीं ३।२।१ में 'खले' (निघण्टु २।१७।३८) पर उद्धत ऋ १०।४८।७ के एक', 'द्वा' और त्रय का निर्वचन करने के बाद अन्य सङ्ख्या शब्दों— चतुर् 'अष्टन्' 'नवन' दशन विंशति 'शत' 'सहस्र' और 'अर्बुद' की व्याख्या।

६ हमारा निरुक्त के पाठ का सम्पादन पूरा न होने के कारण अभी हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि कितने निर्वचन यास्कीय हैं तथा कितने प्रक्षिप्त। अत इन प्रत्येक श्रेणियों के निर्वचनों की सङ्ख्या बतलाने में भी अभी असमर्थ हैं। निरुक्त के पाँच अध्याय' में उसके अन्तर्गत आये भाग के निर्वचनों का ब्यौरा हम इस दृष्टि से दे रहे हैं। विद्वज्जन यहाँ न दे पाने के लिए हमें क्षमा करेंगे।

निवचन मे (१) कही उस के शब्दांश की व्याख्या की है, (२) कही केवल अर्थांश की¹, तो (३) कही दोनो की समन्वित व्याख्या की है। इन्हे क्रमश (१) शब्द निर्वचन (२) अर्थ निवचन और (३) शब्दार्थ निवचन कह सकते हैं। उदाहरण (१) अश्व < √अश (१।१२), पुत्र < पुत् + √त्र (२।११), विंशति < द्विदशन् (१।१०), शत < दश दशत (३।१०) सहस्र < सहस (३।१०), कीकटा < किं कृता (६।३२), (२) कीकटा < किं क्रियाभि (६।३२), सेना < सेश्वरा, समान गतिर्वा (२।११), (३) अलातृण < अलमातदन (६।३२), समुद्र < समभि द्रवन्त्येनमाप (२।१०)। निरुक्त में प्रथम प्रकार के निवचन ही अधिक किये गये हैं तथा सम्भवत आज के भाषा शास्त्री इन्हे ही अधिक महत्त्व भी देते हैं।

निवचन म जहां उन्हें अथ की व्याख्या प्रमुखता से करनी होती है वहा वे (१) उस के ऐतिहासिक अन्तर को दष्टि म रखते हैं पहल वैदिक अथ की व्याख्या करते हैं फिर यदि उन का प्रयोग लोक म भी होता है, तो उन के लौकिक अथ की व्याख्या भी अथापीदमितरत् कह कर करते हैं। उदाहरण के लिय निरुक्त १।२० मे 'पवन्' २।१३ मे 'व्रत' २।१७ म अहि' २।२२ में 'अप्रुप की व्याख्या देखें। (२) यदि किसी शब्द के मूल म उन्हे कोई (अ) मनोवज्ञानिक (आ) धार्मिक या (इ) सामाजिक मान्यता प्रतीत होती है तो वे उस भी स्पष्ट करते हैं द्र (अ) निरुक्त ३।५ म गत' की रथ परक व्याख्या, (आ) निरुक्त २।२६ मे पाणि' की और (इ) निरुक्त ३।४ म 'दुहितृ की व्याख्या (३) सस्कृत म एक शब्द के अनेक अथ बहु तायत स होते हैं। यास्क उन के निवचन म उन के अलग अलग पहलुओ को ध्यान मे रख कर निवचन करते हैं। उदाहरण के लिय निरुक्त २।५ म 'गो' (निघण्टु १।१।१) तथा १।७ मे 'दक्षिणा के निवचन देखें। (४) एक ही अथ के पर्याया म थोडे से अन्तर के साथ समानता होती है। यास्क उस भी ध्यान मे रख कर निवचन करते हैं द्र अपत्य (३।१) पुत्र (२।११)।

५ यास्क के निवचन क सिद्धान्त मोटे तौर पर यास्क की निवचन विष यक आधार भूत दष्टिया पर विचार हम अभी कर चुके हैं। इस प्रसङ्ग मे हम उन के द्वारा साक्षात् प्रतिपादित निवचन के सिद्धान्तों को थोडे विवरण के साथ दे रहे हैं।

यास्क के अनुसार शब्द तीन प्रकार के होते हैं

(१) अथ के अनुकूल व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार प्रकृति प्रत्यय तथा उन के योग से होने वाले विकार आदि हो चुकने पर शब्द का जो रूप निष्पन्न होता है वह प्रथम वग मे आता है। इसे बाद के लोगो ने प्रत्यक्ष-वृत्ति या प्रत्यक्ष क्रिय कहा है। यास्क का कथन है कि इन की व्याख्या व्याकरण के अनुसार कर

---

१ द्र दुग ४।१ अत्रार्थस्याप्रतीयमानस्य पर्यायाभिधानेन विभज्य प्रतिपा दन व्याख्या। शब्दस्यापि व्युत्पादन व्याख्या। एवमेते द्वे व्याख्ये। तत्रार्थ-परिज्ञान मेकस्या कार्यम्, शब्द-परिज्ञानमेकस्या। तथा स्कन्द २।१५ (पृष्ठ ६०) रश्मिर यमनादित्यर्थ-कथनमेतद्, न धातु प्रदर्शनम्।

देनी चाहिए[1]। दुर्गाचार्य का यह कथन बहुत सही है कि इन की व्याख्या के लिये निरुक्त की आवश्यकता नहीं है[2]। व्याकरण की कृत्, तद्धित आदि वृत्तियों[3] से निष्पन्न पाचक, धार्मिक आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

(२) जिन का अर्थ और व्याकरण की प्रक्रिया परस्पर अनुकूल नहीं हैं अर्थात् शब्द में उसका मूल, अथवा उसकी व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं झलकती है। इन्हें बाद में परोक्ष वृत्ति या प्रकल्प्य क्रिय नाम दिया गया है। सम्भव होने पर इनकी व्याख्या भी व्याकरण की अनुकूलतर वृत्ति[3] से कर देनी चाहिये[4]। अर्थात् इन की व्याख्या में भी निर्वचन की कोई खास आवश्यकता नहीं है। दुर्बोध (वृत्ति अस्पष्ट) होने पर निरुक्त की सहायता लेनी चाहिये[5]। अक्षर तथा कण्टक (६। २), धिषणा (८।२), आग्नी (८।४) आदि को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

(३) जिन में व्युत्पत्ति बिलकुल अस्पष्ट है, अनुमान गम्य भी नहीं है[6]। इन्हें अति परोक्ष वृत्ति कहा गया है। इनकी व्याख्या निरुक्त से ही हो सकती है। इन का निर्वचन (१) इन से मिलते जुलते अक्षर (स्वर युक्त व्यञ्जन) या वर्णों वाले एवम् (२) इन के अर्थ से मिलते जुलते अर्थ वाले शब्दों के माध्यम से करना चाहिये। अर्थात् इनके निर्वचन में निर्वचनीय शब्द और उस के मूल के रूप में अभिव्यमाण शब्द या धातु की (अ) ध्वनियों और (आ) अर्थ की समानता पर ध्यान केंद्रित करना चाहिये। व्याकरण के अनुसार इन की सिद्धि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये, और न परिणामतः व्याकरण की प्रक्रिया को बहुत आदर ही देना चाहिये। उदा

---

१ द्र निरुक्तम् २।१ तद् येषु पदेषु स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। तुलना करें १।१४ यथो हि नु वा एतत् तद् यत्र स्वर संस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां सर्व प्रादेशिकमित्येवं सत्यनुपालम्भ एष भवति।

२ द्र दुर्ग-टीका २।१ राजवाडे-संस्करण पृष्ठ १२३ न च निरुच्यते कारक हारक-पाचकादि शब्दा व्युत्पाद्यन्ते, सुबोधैव हि तेषां व्युत्पत्ति, प्रसिद्धत्व च व्याकरण इति। ३ १ कृत्, २ तद्धित, ३ समास ४ एकशेष ५ सनाद्यन्त धातु—इन पाँच शब्द-व्युत्पादन की पद्धतियों में से अन्यतम।

४ द्र निरुक्तम् २।१ अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके, विकारेऽर्थ नित्यं परीक्षेत केनचिद् वृत्ति सामान्येन। पृषोदरादि (अष्टा) गण के शब्द इस के उदाहरण हैं। पाणिनि के निपातन प्राय इसी कोटि में प्राय शब्दों के साधन का प्रयास हैं।

५ द्र दुर्ग-टीका, पृष्ठ १२८ य एव तु दुर्बोधा परोक्षा तिपरोक्ष वृत्तयो विलम्ब-पृषोदर वतन-पत्र शब्दादयस्त एव व्युत्पाद्य निरुच्यन्ते। तेषु हि विशेषेण यत्नता निरुक्तस्य।

६ द्र निरुक्तम् २।१ अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर वर्ण-सामान्यान्निर्ब्रूयात्। न त्वेव न निर्ब्रूयात्। न संस्कारमाद्रियेत। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। यथार्थ विभक्तीः सन्नमयेत्। इस वाक्य के शब्दों के लिए सिद्धेश्वर टिप्पणी देखें।

हरण के लिये बाल (६।१०), रथ (६।११), शुतुद्री (६।२६), सिन्धु, (६।२६) के निर्वचन देखें।

संक्षेप मे इस विवरण का निष्कर्ष यह है (१) अस्पष्ट शब्द के लिये निर्वचन लाभ-कारी है। (२) ऐसे शब्दों का निर्वचन (क) अर्थ की, और (ख) ध्वनि की समानता के आधार पर किया जाना चाहिये

(क) अर्थ साम्य का निश्चय करने के लिये दो बातें आवश्यक हैं (अ) प्रसङ्ग से भ्रष्ट या अज्ञात सन्दर्भ वाले एकाकी शब्द का निर्वचन नही करना चाहिये। अर्थात् शब्द का अर्थ जानने के लिये उसके प्रकरण का ज्ञान आवश्यक है। (आ) निर्वचनीय शब्द आधार भूत शब्द के अर्थ की किसी विशेषता के अनुकरण से भी प्रचलित हुआ हो सकता है। जैसे—'पर्वन्' शब्द का एक अर्थ है 'उत्सव', अर्थात् 'त्योहार', और दूसरा अर्थ है 'जोड' (सन्धि, पोर, पोरी, पोरुवा)। मूलत इस का अर्थ है 'प्रसन्न करने वाला'। देवताओं तथा पितरो को प्रसन्न करने के लिये किये जाने वाले दर्श' और 'पौर्ण मास नामक कर्मों को पर्व' कहा जाता था। ये दोनो पर्व कृष्ण और शुक्ल पक्षो की सन्धि पर आते हैं 'दर्श' कृष्ण और शुक्ल पक्ष की सन्धि, अर्थात् अमावास्या पर और 'पौर्ण मास' शुक्ल तथा कृष्ण पक्षों की सन्धि अर्थात् पूर्णिमा पर। परिणामत प्रसन्न करने वाला अवसर होने से 'पर्व=त्योहार,' और इस के 'सन्धि' अर्थ के अनुकरण पर यह शब्द 'जोड' अर्थ मे प्रचलित हो गया। यह अर्थ 'सन्धि' के सामान्य अर्थ को छोड कर आज अगुलियो के जोड के लिये पोर, या पोरुवा के रूप में तथा गन्ने की दो जोडो के बीच के एक भाग के लिये 'पोरी' के रूप मे आज भी प्रचलित है। एक के बाद एक पत्थरों के जोड से बना होने से पहाड न जाने कब से पर्वत' कहलाता चला आ रहा है[1]। उत्सव वाला पर्व' भी दर्श और पौर्णमास के अनुकरण पर आज उत्सव के हर अवसर के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार पाद (निरुक्त २।७) के विभिन्न अर्थों की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

(ख) ध्वनि साम्य को खोजने के लिये आवश्यक है कि हम किसी भी शब्द की ध्वनियो के बदलने की विभिन्न दिशाओ का तथा उनके कारणो का अध्ययन करें। यास्क ने ध्वनियो मे विकार की निम्न दिशाएँ गिनाई हैं

(अ) लोप आधार शब्द म विद्यमान ध्वनि का निर्वचनीय शब्द मे न रहना लोप कहलाता है। इस की निम्न दिशायें हैं (१) आदि-शेष अर्थात् जिस मे आधार शब्द की ध्वनियों मे पहली ध्वनि ही बचती है, शेष नही रहती हैं। जसे—प्र+√दा+त>प्र+द्+त>प्रत्त। (२) आदि लोप अर्थात् पहली ध्वनि का लोप हो जाता है। जसे—√अस+तस>स्त। (३) अन्त लोप। जैसे—√गम्+त>गत। (४) उपधा लोप अर्थात् अन्तिम से पूर्व की ध्वनि का लोप हो जाता है। √हन्+

---

१ द्र निरुक्तम् १।२० पर्ववान् पर्वत। पर्व पुन पृणाते, प्रीणातेर्वा। अर्ध मास-पर्व, देवानस्मिन्प्रीणन्तीति। तत्प्रकृतीतरत्, सन्धि सामान्यात्।

अन्ति > हन् + अन्ति > ह् न् अन्ति > घ्नन्ति । जगम् + अतुस > जग्मतुः । (५) आद्यन्त उभय वर्णों का लोप हो जाना । जैसे—पाधामि > पाधामि > मामि । (६) एक साथ समान ध्वनियों के प्रयुक्त होने पर किसी ध्वनि का लोप हो जाता है । जैसे—त्रि + ऋच > तृ + ऋच > तृच[1] ।

(आ) विकार यह दो प्रकार का होता है (१) स्वर विकार । इस के अधीन स्वर की मात्रा में विकृति आ जाती है । जैसे—राजन् > राजा दण्डिन् > दण्डी । (२) व्यञ्जन विकार अर्थात् वर्णान्तर भाव । इस की निम्न स्थितियाँ हैं (i) आदि व्यञ्जन का वर्णान्तर भाव । जैसे—द्योतिष् > ज्योतिष् । (ii) अन्त्य व्यञ्जन का वर्णान्तर भाव । जैसे—√मिह् > मेघ । √दह् > दाघ > नाघ । (३) सम्प्रसारण अर्थात् य व र ल के स्थान में क्रमशः इ उ ऋ लृ का आना । जैसे—√यज् + त > इज > इट > इष्ट । यास्क का कथन है कि स्वरों की अपेक्षा अन्तस्थ ही भाषा में अधिक प्रयुक्त होते हैं ।

(इ) वर्ण विपर्यय अर्थात् शब्द में वर्णों के क्रम में उलट-फेर । कस्ला-चस्ली सिकता < √कस + इना । √कृत + उ > कर्तु > तर्कु ।

(ई) आगम सुख-सुभादि के लिए बहुधा शब्दों में अतिरिक्त स्वर अथवा व्यञ्जन जुड़ जाया करता है । जैसे—√भ्रस्ज > भज्जा > भर्जा > भदमा । √अस + अत् > आ + अस + य + अत् > आस्यत्[2] ।

ये ध्वनि प्रवृत्तियाँ ही वस्तुतः व्याकरण की शब्द-साधन-पद्धति का भी आधार हैं । तभी तो काशिका-कार (६।३।१०९) का कथन है

वर्णागमो, वर्ण विपर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्ण विकार नाशौ ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्च विध निरुक्तम् ॥

शब्दों के निर्वचन में (क) ऐतिहासिक तथा (ख) भौगोलिक सम्बन्धी तथा विशेषताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए ।

(क) ऐतिहासिक दृष्टि से शब्दों में सम्बन्ध की ये दो स्थितियाँ हैं (१)

---

१ द्र निरुक्तम् २।१ (१) अस्तमवस्तमिति धात्वादी एव शिष्येते । (२) अथाप्यस्तेर्निवृत्ति-स्थानेष्वादि लोपो भवति—स्त, सन्तीति । (३) अथाप्यन्त लोपो भवति—गत्वा गतमिति । (४) अथाप्युपधा लोपो भवति—जग्मतुर, जग्मुरिति । (६) अथापि वर्ण लोपो भवति—तत्वा यामीति । (७) अथापि द्वि वर्ण-लोपस—तृच इति । २ द्र निरुक्तम् २।१ २ (५) अथाप्युपधा विकारो भवति—राजा, दण्डीति । (८) अथाप्यादि व्यापत्तिर्भवति—ज्योतिषनो विन्दुर्वाटय इति । (९) अथाप्याद्यन्त विपर्ययो भवति—स्तोका, रज्जू सिकतास, तर्क्विति । (१०) अथाप्यन्त व्यापत्तिर्भवति—ओघो मेघो, नाधो गाधो, वधूमध्विति । (११) अथापि वर्णोपजन—आस्थद्, द्वारो, भरूजेति । तद् यत्र स्वरादनन्तराऽन्तस्थाऽन्तर्धातु भवति, तद् द्वि प्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति । तत्र सिद्धायामनुप-पद्यमानायामितरयोप विपादयिषेत् । तत्राप्येकेऽल्प निष्पत्तयो भवन्ति । तद्यथतदूतिमृदु पृथु पृषत , कुणारुमिति ।

पुराने नाम पदो का प्रचलन बन्द हो जाता है, जब कि उन की आधार भूत धातुओं के आख्यात रूप चालू रहते हैं। दमूनस' √दम् से है (द्र निरुक्त ४।४)। इस का प्रयोग लौकिक मे नही होता, √दम् का खूब होता है। (२) पुरानी धातुओं के आख्यात रूप चलने बन्द हो जाते हैं, पर उन स निष्पन्न नाम पद चालू रहते हैं। जैस दाहायक √उष का प्रयोग लौकिक म नही मिलता, पर 'उष्ण' आज भी चालू है। √घृ क्षरण तथा दीप्ति) अप्रचलित है, घृत लौकिक म प्रचलित रहा है। आज उस के ऋ की इ' स्वर भक्ति शेष रह गई है, रेफ सदृश ध्वनि भाग लुप्त हो कर यह शब्द घी' के रूप मे जमा हुआ है[1]।

(ख) भौगोलिक सम्बन्ध की यह स्थिति है कि देश के किसी भाग म आख्यात का सामान्य प्रयोग होता है, तो दूसरे भाग म उस से निष्पन्न नाम पद का अर्थ कौ कुछ विशिष्टता के साथ। जैसे—बलोचिस्तान (बह्लु च स्थान ?) म √शव √गम् की तरह 'जाना अर्थ मे प्रयुक्त होती रही है, तो आर्यों में इस का 'शव रूप अन्तिम प्रयाण करने वाले मुर्दे के लिये (अथवा वेगाथक शवस' रूप) प्रयुक्त होता रहा है[2]। नैरुक्त को निवचनीय शब्द पर इस दृष्टि से भी विचार कर लेना चाहिये।

यास्क ने ये सब बातें धातुज शब्दों के निवचन के बारे में बताई हैं[3]। तद्धित और समास शब्दों के बारे मे उनका सिद्धान्त यह है कि (क) पहले उन समाहृत अर्शो का समन्वित अर्थ विग्रह के द्वारा खोलना चाहिये, (ख) फिर प्रथम अंश की व्याख्या ऊपर बताये सिद्धान्तों के अनुसार करे (ग) उस के बाद पर वर्ती अंश की व्याख्या करे। जैसे—'कक्ष्या' एक तद्धित शब्द है। पहले तो इस का समन्वित अर्थ बताना चाहिये कि यह तंग (घोड़े की बगल से बाधी जाने वाली रस्सी) होती है क्यो कि यह कक्ष (काख) म पड़ी रहती है। इस से यह स्पष्ट हुआ कि इस शब्द मे दो अंश हैं कक्ष+य। 'य का अर्थ है 'पड़ा रहना। अब (तद्धिताथ बताने के बाद) कक्ष (पूर्वांश) का निवचन करना चाहिये। इसी प्रकार समास शब्दो मे (क) पहले समासार्थ बताना चाहिये फिर (ख) पहले पूर्व-पद का निवचन, और (ग) अन्त मे उत्तर पद का निवचन[4]। प्रत्येक पद का निवचन[5] उस पद के अर्थ की जो छायायें

---

१ द्र निरुक्तम् २।१ अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—दमूना, क्षेत्र साधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिका —उष्ण, घृतमिति।

२ द्र वही अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु। शवति गति कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिलवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। यहाँ बलार्थक 'शवस् भी अभिप्रेत हो सकता है।

३ द्र वहीं एवमेक पदानि निब्रूयात्।

४ द्र वही अथ तद्धित समासेष्वेक पर्वसु चानेक-पर्वसु च पूर्वम्पूर्वमपरमपर प्रविभज्य निब्रूयात्।

५ उदाहरण के लिए निरुक्त २।२ म दिये कक्ष' के तथा २।३ म दिये पुरुष के निवचन द्रष्टव्य हैं।

है उन्हें दृष्टि में रख कर करना चाहिये।

निर्वचन शब्द के निर्वचन में अर्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अर्थ को प्रधानता देते हुए ही शब्द के ध्वनि गत विकास को ध्वनि परिवर्तन की विविध दिशाओं की दृष्टि से समझने का प्रयास करना चाहिये। अर्थ निर्वचन में समानता (analogy) पर विशेष दृष्टि रखें।

६ निरुक्त के दो पाठ कोषों के तुलनात्मक सम्पादन के आधार पर डा लक्ष्मणसरूप का कथन है कि निघण्टु के समान ही निरुक्त के भी दो पाठ हैं। इन में निम्न अन्तर है

(१) लघु पाठ में बृहत्पाठ की अपेक्षा कुछ कम पाठ है। उदाहरण के लिये निरुक्त ५।२७ के पाठ को लें

लघु-पाठ सु देवस्त्व=कल्याण दानो यस्य तव देव, सप्त सिन्धवः प्राणानु-क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिवेत्यपि निगमो भवति।

बृहत्पाठ सु देवस्य=कल्याण-देव, कमनीयदेवो वा भवसि वरुण, यस्य ते सप्त सिन्धवः=सिन्धुः स्रवणात्, यस्य ते सप्त स्रोतांसि तानि ते काकुदमनुक्षरन्ति। सूर्मि=कल्याणोर्मि। स्रोत सुषिरमनु यथा कोरिट तटोकिरन्तरिक्षमेव माह—पूर्व वयतेरुत्तरमिरते वयांसीरन्त्यस्मिन् भासि वा। तदेतस्यामृच्युदाहरन्ति। अपि निगमो भवति[1]।

इन दोनों की तुलना करने से विदित होता है कि लघु-पाठ की अपेक्षा बृहत्पाठ में निर्वचन अधिक हैं।

(२) बृहत्पाठ में कहीं कहीं अप्रासङ्गिक बातें भी मिलती हैं जो लघु-पाठ में नहीं हैं। द्र 'उपल प्रक्षिणी' (निघण्टु ४।३।२३) की व्याख्या (निरुक्त ६।५)—

लघु पाठ यों है उपलप्रक्षिणी=उपलेषु प्रक्षिणाति। उपल प्रक्षेपिणी वा। कारुरहमस्मि=कर्ता स्तोमानाम् ।

बृहत्पाठ यों है उपल प्रक्षिणी=उपलेषु प्रक्षिणाति। उपल प्रक्षेपिणी वा। इन्द्र ऋषीन् पप्रच्छ—दुर्भिक्षे केन जीवति? इति। तेषामेक प्रत्युवाच—

शकट, शाकिनी गावो, जालम् अस्यन्दन वनम्।
उदधि, पर्वतो, राजा—दुर्भिक्षे नव वृत्तय ॥'

इति सा निगद व्याख्याता। 'कारुरह ततो परिस्रव। (ऋ ९।११२।३)। कारुरहमस्मि=कर्ता स्तोमानाम्।

यहाँ लघु-पाठ में उद्धृत मन्त्र की व्याख्या ही की गई है जब कि बृहत् पाठ में 'इन्द्र व्याख्याता।' अंश अप्रासङ्गिक है तथा 'इति व्याख्याता।' तो शकट

---

१ इस प्रकार के पाठों के प्रामाण्याप्रामाण्य पर विचार कर के हमने निरुक्त के पाँच अध्याय में निरुक्त १ ४ तथा ७ अध्यायों का यथा सम्भव प्रामाणिक पाठ स्थिर करने का प्रयास किया है।

... वसम ॥' की मन्त्र समझने के भ्रम पर ही स्पष्टतया आधारित है[1]।

(३) लघु-पाठ वतनी (spelling) तथा व्याकरण आदि की दृष्टि से बहुत अशुद्ध है[2]।

(४) लघु पाठ की सब पाण्डुलिपियों में निरुक्त के परिशिष्ट के दोनों (१३-१४) अध्याय एक अध्याय के रूप में समवेत मिलते हैं। अर्थात् सारा परिशिष्ट निघण्टु निरुक्त की समवेत अध्याय सङ्ख्या (५+१२+१) के साथ जुड़ कर १८वें अध्याय के रूप में तथा केवल निरुक्त के १२ अध्यायों से जुड़ कर १३वें अध्याय के रूप में परि-गणित है। 'परिशिष्ट' में मूल ५० खण्ड ४ पादों में बँटे हुए हैं। लघु पाठ में प्रथम २३ खण्डों को तेरहवें अध्याय का प्रथम पाद कहा गया है। शेष खण्डों में तत्तत् पाद में उन की अनुक्रम प्राप्त सङ्ख्या दी गई है। जैसे बृहत्पाठ में १४।१' को (नयो-दश के) द्वितीय पाद का प्रथम खण्ड कहा गया है। बृहत्पाठ के कोषों में जब कि इस '१४।१' के रूप में ही सूचित किया गया है[3]।

(५) लघु पाठ के अध्याय पादों और खण्डों में विभाजित हैं, जब कि बृहत् पाठ के अध्याय खण्डों में। बृहत्पाठ के कुछ कोषों में निरुक्त पूर्व षटक और उत्तर षटक के रूप में विभक्त मिलता है।

कोषों में उपलब्ध दोनों पाठों की सावधान आलोचना के बाद डा लक्ष्मण सरूप का यह निष्कर्ष है कि इन दोनों पाठों में से कोई सा एक पाठ पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है। दोनों में ही (क) या तो महत्त्व की कई बातें छूट गई हैं (ख) या प्रक्षेप के कारण नई सामग्री मूल में जुट आई है[4]।

दुर्ग की और स्कन्द महेश्वर की निरुक्त की टीकाओं में धृत तथा व्याख्यात पाठों और अन्यत्र उद्धृत पाठों की डा लक्ष्मणसरूप द्वारा कोषों की तुलना कर के सम्पादित पाठ से तुलना के द्वारा निरुक्त के पाँच (१-४ तथा ७) अध्यायों के पाठ का सम्पादन कर के हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

(१) दुर्ग ने जिस पाठ की व्याख्या की है वह लघु पाठ की अपेक्षा भी सङ्क्षिप्त है। जैसे—

(क) गिरो गृणाते (निरुक्त १।१०) पाठ दुर्ग में न उद्धृत है, न व्याख्यात ही है। स्कन्द में उभयथा है। दोनों पाठों में भी है।

(ख) दुर्ग ने २।७ में 'शृङ्ग' के तीन निर्वचन उद्धृत किये हैं तथा उन्हीं की व्याख्या की है। स्कन्द में दूसरे निर्वचन के बाद एक निर्वचन और (कुल ४) है। दोनों पाठों और सायण भाष्य (ऋ० १।१५४।६) में धृत पाठ में दो निर्वचन और

---

१ यह अतिरिक्त अंश बृहद्देवता (५।२३७) से प्रक्षिप्त हुआ है। द्र० मैक्डानल की इस पर टिप्पणी तथा 'निरुक्त मीमांसा', पृष्ठ ३२।

२ विवरणार्थ द्र० निरुक्त मीमांसा पृष्ठ ३२-३३ तथा स्कोल्ड का ग्रन्थ।

३ अधिक विचारार्थ द्र० '७ परिशिष्ट की प्रामाणिकता' प्रकरण पृष्ठ १८९।

४ इस विवरण का आधार डा लक्ष्मणसरूप के संस्करण की भूमिका है।

कथन से पूर्व उपोद्घात में निरुक्त की जो विषय सूची दी है, उस में आज के तेरहवें अध्याय के विषय भी बताये गये हैं[१]। (२) 'आह (यास्क)' कहेंगे' कह कर तेरहवें अध्याय से एक वाक्य उद्धृत किया है तथा और दो बार उसी वाक्य का आशय 'आगम प्रमाण से सिद्ध' कह कर दिया गया है[२]। (३) त्रयोदश ही नहीं चतुर्दश अध्याय के भी कुछ वाक्यों को दो स्थानों पर '(यास्क) कहेंगे', 'सो कहा है' कह कर उद्धृत किया है[३]।

इन कथनों को देखते हुए भी आधुनिक बारहवें अध्याय तक ही निरुक्त का विस्तार दुर्ग ने बताया है', यह कहना उचित नहीं है। दुर्गोक्त 'द्वादशाध्यायी' का आशय यह प्रतीत होता है (१) निरुक्त के विषय से सीधा सम्बन्ध होने के कारण[४] आज का त्रयोदश अध्याय दुर्ग के समय में द्वादश के अन्तर्गत ही माना जाता था। अर्थात् द्वादश अध्याय 'ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति।' (१३।१३) पर ही समाप्त होता था। (२) निरुक्त के विषय से भिन्न (जीव की ऊर्ध्व-गति) विषय होने के कारण आज के चतुर्दश अध्याय को अन्य अध्यायों के समान निरुक्त के अन्तर्गत नहीं समझा जाता था, अपितु परिशिष्ट के रूप में ही लिया जाता था।

इस आशय की पुष्टि अन्य आचार्यों के वचनों तथा उनके द्वारा दिये निरुक्त के उद्धरणों से भली भाँति होती है

(१) सायणाचार्य[५] ने निरुक्त को बारह अध्यायों वाला तथा वर्तमान १३।

---

१ द्र उपोद्घात अथास्यवर्मखिल पुरुषार्थोपकार समयस्य सङ्ग्रह। (३६) विद्या पार प्राप्त्युपायोपदेशो मन्त्राय निर्वचन द्वारेण। देवताऽभिधान निर्वचन फल देवता ताद्भाव्यम्। इत्येवसमा सतो निरुक्त शास्त्र चिन्ता विषय।

२ द्र दुर्ग टीका १।२० वक्ष्यति हि 'यां-यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनु भवति (निरुक्तम् १३।१३)। ७।१४ तन्निर्वचनादागम प्रामाणिक देवता ताद्भाव्यमनु भवतीत्यवेत्य।... निरुच्य विभूति ताद्भाव्यमनु भवतीति सब पद व्युत्पत्ति प्रयोजनम्।

३ द्र दुर्ग टीका ७।४ वक्ष्यति हि 'स एष महानात्मा सत्ता लक्षण। तत्पर ब्रह्म। स भूतात्मा। सवा भूत प्रकृति (निरुक्तम् १४।३)। ७।६ तदुक्तम् 'दक्षिणायनात्पितृ लोकम् (१४।८)'।

४ द्र दुर्ग-टीका १३।१ 'अथेमा अति स्तुतय इत्याचक्षते। इत्येवमादि वक्त् प्रकृत शेषमनुवर्ण्यते। किं चात्र प्रकृतम्? स्तुति लक्ष्या देवतेति। 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थ पत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते।' (निरुक्तम् ७।१) इत्यत्र ता स्तुतय कर्माधिकार निरता। स्व कर्माधिकाराति क्रमेण स्व गुणाति नयेन च यास्ता उपप्रदर्श्या।

५ द्र ऋग्वेद भाष्य उपोद्घात पृष्ठ २१ तद्व्याख्यान च 'समाम्नाय समाम्नात'। (निरुक्तम् १।१) इत्यारभ्य 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवति।' (निरुक्तम् १३।१३) इत्यन्तद्वांदशाभिरध्यायैर्यास्काचार्यो निममे।

१३ के अन्तिम वाक्य पर समाप्त होने वाला बताया है। सायण ने इस तथा अगले अध्यायों से उद्धरण भी पर्याप्त मात्रा में यत्र तत्र दिये हैं[1]।

यह परि शिष्ट को यास्कीय मानने की निचली सीमा है[2]।

(२) बृहद्देवता मे निरुक्त के तेरहवें अध्याय के एक प्रयोग का समाहार किया गया है[3]।

(३) कात्यायन की सर्वानुक्रमणी मे निरुक्त के १४ वें अध्याय के एक स्थल का परामर्श उपलब्ध होता है[4]।

(४) स्कन्द द्वारा नामोल्लेख किये बिना चर्चित वररुचि ने तेरहवें अध्याय के अन्तिम दो खण्डों से एकैक वाक्य 'भाष्यकार का वचन' तथा 'शास्त्र के अन्त में' कह कर उद्धृत किया है[5]।

(५) स्कन्द ने प्रथम अध्याय मे त्रयोदश अध्याय के अन्तिम खण्ड से तथा सातवें अध्याय में १४।८ को उद्धृत किया है। त्रयोदश अध्याय पर स्कन्द की टीका भी उपलब्ध है तथा इसमे उन्होंने मूल के एक स्थल की चर्चा 'भाष्य-कार' के नाम से की है[6]।

(६-१०) कुमारिल भट्ट, उद्गीथ शाङ्खायन श्रौत सूत्र पर आनर्तीय भाष्य के प्रणेता जमिनीय सूत्रार्थ सङ्ग्रह कार परमेश्वर तथा माध्यंदिन संहिता के भाष्य

---

१ द्र ऋ भा १।१६४।२० मे निरुक्त १४।३०, ऋ भा ३६ मे नि १३। १०, ऋ भा ४५ मे नि १३।६, ऋ भा ४।५८।३ मे नि १३।७ ऋ भा १०। ७१।८ मे नि १३।१३ तथा ताण्ड्य ब्राह्मण भाष्य ४।८।३ मे नि १४।६।

२ डा लक्ष्मणस्वरूप की मान्यता का आधार कोष लगभग सायण का समकालिक है, सायण का आधार कोष उन से कुछ सौ बरस पुरानी परम्परा पर तो आधारित होगा ही। अत डा लक्ष्मणस्वरूप का निष्कर्ष तो सायण के इन निर्देशो से ही खण्डित सिद्ध हो जाती है तथापि 'परि शिष्ट' की प्राचीनता के साधक प्रमाण आगे दिये हैं।

३ द्र निरुक्तम् १३।१२ न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। बृहद्देवता ८।१२६ न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्।

४ निरुक्तम् (१४।३०) मे अग्नि को ओङ्कार मान कर व्याख्या की गई है तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी (१।२।११) मे मन्त्र का देवता ओङ्कार सभी देवताओं के स्थान में होता है यह बताया है।

५ द्र निरुक्त-समुच्चय, पृष्ठ २ तथा च प्रकरणश एव निर्वक्तव्या।' (निरुक्तम् १३।१२) इति भाष्य कार वचनम्। ३० शास्त्रान्ते च यां यां देवता... मनुभवति।' (नि १३।१३) इति च।

६ द्र स्कन्द-महेश्वर टीका १।२० पर उद्धृत निरुक्त १३।१३ तथा ७।६ पर नि १४।८। १३।४ तदेतद् भाष्य कारानुरोधेन व्याख्यायते। यतो भाष्य-कार आह, ये न सलायस्तै सहेति वा।' (निरुक्तम् १३।६)।

कार उव्वट ने अपनी अपनी कृतियों में तेरहवें अध्याय को उद्धृत किया है[1] ।

(११ १३) याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने १४ वें अध्याय के एक वाक्य को, तथा साम विवरण के प्रणेता माधव ने इसी अध्याय के एक अन्य प्रसङ्ग को तथा गीता भाष्य के रचयिता शङ्करानन्द ने इस अध्याय में उत्तरायण और दक्षिणायन का प्रकरण उद्धृत किया है[2] ।

कोषों के साक्ष्य से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। निरुक्त के उपलब्ध कोषों में प्राचीनतम (१४७६ ई० के) लघु पाठ वाले कोष में वर्तमान १३ १४ अध्याय चार पादों वाले एक ही अध्याय के रूप में सङ्कलित हैं। इसमें तथा लघु पाठ के अन्य कोषों में 'अनुक्रमति' को सर्वत्र दुहराया गया है। यह इन १३ शब्दों की पृथगध्यायता में ही उपपन्न हो सकता है। विद्वानों ने भी आज के त्रयोदश अध्याय के उदाहरणों को 'शास्त्रान्त' कह कर बारहवें से ही उद्धृत किया है। आज के चतुर्दश को 'अष्टादश' (निघण्टु के पाँच अध्याय, निरुक्त के बारह तथा यह) कह दिया गया है। अतः लघुपाठ के कोषों और आचार्यों के वचनों में परिशिष्ट के बारे में पूर्ण सामञ्जस्य है।

निश्चय, दुर्ग की टीका में कई बार परिशिष्ट से उदाहरण दिये गये हैं। उन के मत में आज का त्रयोदश अध्याय द्वादश के अन्तर्गत ही है। अन्य लोग भी आज के त्रयोदश अध्याय पर शास्त्र का अन्त मानते हैं। आज का चतुर्दश अध्याय तेरहवाँ अध्याय माना जाता था। पूरा परिशिष्ट कोषों में त्रयोदश अध्याय के रूप में मिलता है। दुर्ग और स्कन्द ने वर्तमान चतुर्दश से पाठ उद्धृत कर के भी टीका वर्तमान त्रयोदशान्त तक ही लिखी है। अतः परिशिष्ट सब प्रमाणों से प्रमाणित है तथा निरुक्त का 'प्रकृत शेष' होने से परिशिष्ट कहा गया है। सायणाचार्य ने बृहत्पाठ को सर्वात्मना अपनाते हुए भी इस बारे में प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुसार ही

---

१ द्र० तन्त्र वार्तिक १।३।७, पूना सं० पृष्ठ १२८ 'यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति (निरुक्तम् १३।१२)। उद्गीथ, ऋ० भा० १०।७१।५ में नि० १३।१३। शाङ्खायन श्रौत सूत्र भाष्य ५।१।१ में उद्धृत 'को न ऋषिर्भविष्यति ?' (निरुक्तम् १३।१२) इत्यादि प्रकरण। परमेश्वर-कृत भी सू० सं० में धृत नि० १३।७। उव्वट मा० सं० भा० १८।७७ 'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।' (नि० १३।१२) इत्युपक्रम्य 'भूयो विद्यः प्रशस्यो भवती'ति चाभिधाय 'तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति।' इति।

२ याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा ३।८३ 'जातः स वायुना स्पृष्टो न स्मरति पूर्व जन्म, मरणं, कर्म च शुभाशुभम्।' (तुलना करें निरुक्तम् १४।६ 'जातश्च वायुना स्पृष्टो न स्मरति जन्म, मरणम् अन्ते च शुभाशुभं कर्म।') इति निरुक्तस्याष्टादशोऽभिधानात्। द्र० शङ्करानन्द, गीता भाष्य (८।२७) में उद्धृत निरुक्तम् १४।६।

नदस्त के परिमाण का वर्णन किया है[1]।

८ यास्क का स्थान निरुक्त परिशिष्ट के अन्त में ब्रह्म को नमस्कार। महान् भूत को नमस्कार। पारस्कर को नमस्कार। यास्क को नमस्कार[2]। —वाक्य में उल्लिखित पारस्कर और यास्क एक ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं। जैसे अष्टाध्यायी कार का उल्लेख 'दाक्षी पुत्र पाणिनि' कह कर होता है, वैसे ही यहां यास्क का उल्लेख उन के स्थान नाम और वैयक्तिक या गोत्र-नाम—दोनों—से किसी श्रद्धालु ने किया लगता है। यास्क के परिचय का इतना सा सूत्र ही हमें उपलब्ध है।

'पारस्कर' एक सञ्ज्ञा है। पतञ्जलि ने इस किसी देश (इलाके) का नाम बताया है। जिनेन्द्र बुद्धि ने इस पार करने को कुछ क्लिष्ट तथा विशिष्ट कार्य मान कर इस की व्याख्या पार करता है इस लिये पारस्कर[3]। की है। इस से विदित होता है कि यह कोई ऐसा प्रदेश है जिसे पार करना कठिन है। वर्तमान में इस प्रकार की विशिष्टता और नाम-सादृश्य से युक्त एक प्रदेश है थर पारकर' (२५ उत्तर, ७०° पूर्व)। यह प्रदेश भारतीय महा मरु कान्तार के दक्षिणी छोर पर है, जिसे पार करना कठिन है तथा उस के पार होने से सारा रेगिस्तान पार हो जाता है। इस के और भी दक्षिण पूर्व की ओर आज नगर पारकर' नामक एक बस्ती है। हमारे विचार में आचार्य यास्क इसी पारकर देश के निवासी थे।

इस विवरण की पुष्टि में निम्न तथ्य भी सहायक हैं (१) यास्क उस देश की सांस्कृतिक परिधि में थे जहाँ मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से और अन्त कृष्ण पक्ष से होता था[4]। पारकर देश में आज यह व्यवस्था है कि नहीं, यह तो हमें ज्ञात नहीं है किन्तु इस प्रदेश से लगे हुए गुजरात में आज भी यही व्यवस्था चालू है। उन की और गुजरात की पक्ष व्यवस्था में समानता से विदित होता है कि वे इस से बहुत दूर के नहीं हैं। (२) निरुक्त की प्रथम शताब्दी ई०[5] की दुर्ग की टीका भी पारकर से अनति दूर जम्बूसर (पुराना नाम जम्बूमार्गाश्रम २५ उत्तर ७३° पूर्व के लगभग) में लिखी गई और पांचवीं सदी के अन्त या छठी सदी के शुरु में स्कन्द स्वामी ने भी पारकर से अनति दूर वलभी में लिखी थी। अतः इस क्षेत्र से निरुक्त का कोई

---

१ विशेषार्थ 'निरुक्त मीमांसा' पृष्ठ ४७-५६ देखें।

२ नमो ब्रह्मणे। नमो महते भूताय। नमः पारस्कराय। नमो यास्काय।

३ द्र अष्टाध्यायी ६।१।१५७ पारस्कर प्रभृतीनि च सञ्ज्ञायाम्। इस पर महा भाष्य, झज्झर स भाग ४, पृष्ठ ४८३ पारस्करो देशः। तथा यही काशिका पर न्यास तथा पद मञ्जरी।

४ द्र निरुक्तम् ५।११ त्रिंशदपर पक्षस्याहो रात्राः। त्रिंशत्पूर्व पक्षस्येति नैरुक्ताः। त पूर्व पक्ष प्राप्यायन्ति। ११।६ नवो नवो भवति जायमान' इति पूर्व पक्षादिमभिप्रेत्य। 'अह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्' इत्यपर पक्षान्तमभिप्रेत्य।

५ द्र डा लक्ष्मणसरूप, कमेण्टरी आफ स्कन्दस्वामिन् ऐण्ड महेश्वर आन् दी निरुक्त, भाग ३ ४, भूमिका, पृष्ठ ६७ ६८।

विशेष सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। हमारे विचार मे वह सम्बन्ध यही है कि यास्क इस क्षेत्र के आज के 'पारकर' और पुराने 'पारस्कर' प्रदेश के निवासी हैं।

६ यास्क का समय यास्क के समय के बारे मे विद्वानों में बहुत मत भेद है। कुछ लोग उन्हे पाणिनि से अर्वाचीन मानते हैं तो कुछ प्राचीन। हमारे विचार म ये न केवल पाणिनि से प्राचीन हैं अपितु पर्याप्त प्राचीन हैं। इस विषय म उपलब्ध प्रमाणों को हम चार भागो मे प्रस्तुत कर रहे हैं

(अ) भाषा शास्त्रीय सङ्केतो के आधार पर यास्क का काल निर्णय

(क) निरुक्त मे उपलब्ध व्याकरण की पारिभाषिक सञ्ज्ञायें भाव तथा सरचना की दृष्टि से पाणिनि की सञ्ज्ञाओ से बहुत भिन्न हैं और उनसे प्राचीन स्वरूप को प्रकट करती हैं

(१) पाणिनि ने शब्द के दो भेद सुबन्त और तिङन्त माने हैं। यास्क नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात मानते हैं[१]। इन मे से दो उपसर्ग और निपात तो पाणिनि-तन्त्र में सु-बहु प्रयुक्त हैं, किन्तु 'नाम और आख्यात' शब्द कतिपय बार ही प्रयुक्त हुए हैं। *प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय यह वर्गीकरण प्रचलन से बाहर* होने के लगभग की स्थिति मे आ चुका था।

(२) यास्क ने उपसर्गों को अविशेषेण नाम तथा आख्यातो से युक्त होने वाला बताया है जबकि पाणिनि ने केवल क्रिया-योगी। पाणिनि ने उनके निपात, गति और कर्म प्रवचनीय आदि भेद भी किये हैं, यास्क ने नही। द्योतकता और वाचकता के विषय म यास्क ने क्रमश शाकटायन और गार्ग्य के मत उपस्थित कर के गार्ग्याभि मत वाचकता का समर्थन किया है[२]। यदि ये पाणिनि से अर्वाचीन होते, तो इन के सिद्धान्तो की कुछ तो प्रतिक्रिया यास्क के ग्रन्थ म दिखलाई पडती।

(३) पाणिनि ने एक खास प्रकरण म विहित द्वित्व के पहले अश को ही 'अभ्यास तथा दोनो को 'अभ्यस्त कहा है। किन्तु निरुक्त म ये दोनो शब्द व्याकरण के सदर्भ मे भी क्रमश आवृत्ति मात्र तथा आवृत्ति किया हुआ अर्थ[३] में ही

---

१ द्र अष्टाध्यायी १।४।१४ सुप्तिङन्त पदम्। निरुक्तम् १।१ तद्यानि चत्वारि पद-जातानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च, तानीमानि भवन्ति। तथा १।१२ इतीमानि चत्वारि पद जातान्यनुक्रान्तानि नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च। १।३।६ नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्चेति वैयाकरणा।

२ द्र निरुक्तम् १।३ न निबद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायन। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोग-द्योतका भवन्ति। उच्चा-वचा पदार्था भवन्तीति गार्ग्य। तद् य एषु पदार्थ, प्राहुरिमे त नामाख्यातयोरर्थ विकरणम्। आ इत्यर्वागर्थे। एवमुच्चावचानर्थान्प्राहु। अष्टाध्यायी १।४।५८ ६० प्रादय उपसर्गा क्रियायोगे, गतिश्च। ८४ ६८ कर्म प्रवचनीया। इत्यादि।

३ द्र अष्टा ६।१।४५ पूर्वोऽभ्यास, उभे अभ्यस्तम्। निरुक्त म पारि

प्रयुक्त हुए हैं। यास्क की सञ्ज्ञायें यौगिकता के निकट हैं, जब कि पाणिनि की पारिभाषिक ही हैं।

(४) गुण-वृद्धि के निषेध स्थलों के लिये यास्क ने निवृत्ति स्थान (२।१) जैसी महा सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है और पाणिनि ने क्ति, गित (१।१।५) आदि याहच्छिक सञ्ज्ञाओं का। पाणिनि की सञ्ज्ञायें याहच्छिक और अधिक व्यापक हैं। यह शैली अपेक्षा कृत अर्वाचीन है।

(५) प्रत्यय शब्द पाणिनि द्वारा पारि भाषिक अर्थ में प्रयुक्त है, जब कि यास्क ने यौगिक (ज्ञान) अर्थ में प्रयुक्त किया है[1]। पारि भाषिक अर्थ में प्रत्यय के विभिन्न स्वरूपों को प्रकट करने वाली कई अन्वर्थक महा सञ्ज्ञायें— अन्त करण[2] 'उप-बन्ध[3]' तथा 'नाम करण[4]'—दी हैं। ये सञ्ज्ञायें पाणिनि की 'प्रत्यय' सञ्ज्ञा की अपेक्षा प्राचीन प्रतीत होती हैं।

(६) निरुक्त में उप-लब्ध 'कारित[5]', 'चर्करीत[6]', चिकीर्षित[7]' सञ्ज्ञायें पाणिनि के तन्त्र में क्रमशः ण्यन्त, यङ्लुगन्त और सन्नन्त के लिये प्रयुक्त प्राचीन सञ्ज्ञायें मानी जाती हैं[8]। ये सब निरुक्त में बहुत सामान्य सञ्ज्ञाओं की तरह प्रयुक्त हुई हैं। हाँ, 'चर्करीत' सञ्ज्ञा निरुक्त में पाणिनि के तन्त्र के यङन्त के लिये[9] और यङन्त और यङ्लुगन्त दोनों के लिये[10] प्रयुक्त हुई हैं। पाणिनीय तन्त्र में यह सञ्ज्ञा यङ्लुगन्त के लिये ही प्रयुक्त होती है। पाणिनि की कृत्[11] और 'कृत्य (कृतों का एक भेद, निरुक्त में अप्रयुक्त) सञ्ज्ञायें इसी परम्परा की हैं। पाणिनीय तन्त्र में इन सब सञ्ज्ञाओं में से कृत् और कृत्य सञ्ज्ञायें ही चालू रही हैं, अन्य सब सञ्ज्ञायें तो प्राचीन वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त सञ्ज्ञायें (प्राचां सञ्ज्ञा) मानी जाती हैं। अतः इन सञ्ज्ञाओं का निस्सङ्कोच प्रयोग करने वाला निरुक्त ग्रन्थ अष्टाध्यायी से निश्चित रूप से प्राचीन है।

(ख) निरुक्त में भाषा में प्रत्ययों के अध्ययन की पाणिनि से सुतराम् प्राचीन स्थिति मिलती है। तथाहि—

भाषिक अर्थ में 'अभ्यास' के लिये २।२ ३, ५।१२ तथा आवृत्ति सामान्य अर्थ में १०।४२ देखें। 'अभ्यस्त' पारि भाषिक अर्थ में २।१२, ४।२३ २५ ६।, में तथा 'गुणित अर्थ में २।१० में द्रष्टव्य है।

१ द्र अष्टा ३।१।१ तथा निरुक्तम् १।१५। २ द्र निरुक्तम् १।१३।
३ द्र वही १।७ ८, ६।१६।
४ द्र वही १।१७, २।२, ५, ६।२२, ७।२६, १०।१७।
५ द्र निरुक्तम् १।१३। ६ द्र वही २।२८, ६।२२। ७ द्र वही ६।१।
८ द्र धातु-पाठ, अदादि गण, १०८१ चर्करीत च। महा भाष्य ६।१।६ कैयट-सं भाग ४, पृष्ठ ३०८ में 'चर्करीतम् पर प्रदीप चर्करीतमिति यङ्लुगन्तस्य पूर्वाचार्य-सञ्ज्ञा। महा भाष्य ७।४।९२ भी देखें।

(१) यास्क ने 'श्रा दध्नास'[1] की व्याख्या मे 'दध्न' को √दघ (य वि करण) से निष्पन्न नाम-पद बताया है[2]। पाणिनि 'दघ्न' (दघ्नच्) को प्रत्यय मानते हैं[3]। इसी प्रकार 'प्र वत, नि-वत', 'उद्वत' श्रादि पदो म विद्यमान 'वत् को यास्क ने √श्रव स निष्पन्न बताया है श्रौर पाणिनि ने वदिक शब्दो म ही सीमित वति' प्रत्यय बताया है[4]। 'ऋजूयत्' श्रौर 'नीचायमान' को यास्क ने क्रमश ऋजु+यत् (< √इ)' श्रौर 'नीच +श्रयमान (< √श्रय)' नामो का समन्वित रूप माना है[5]। पाणिनि इन्हे 'ऋजु श्रौर नीच नामो की नाम धातु ही बतला येंगे। 'श्रपत्य' को यास्क श्रौर पाणिनि दोनो 'श्रप+त्य' से निष्पन्न मानते हैं, किन्तु यास्क त्य को √तन् मे निष्पन्न मानते हैं[6] जब कि पाणिनि इसे तद्धित प्रत्यय मानते हैं[7]। इस ब्यौरे से सूचित होता है कि यास्क ने भाषा के श्रध्ययन की उस स्थिति को प्रस्तुत किया है जब भाषा शास्त्रियो मे बहुत से प्रत्यय नाम पद ही माने जाते थे। पाणिनि ने इस से विकसित स्थिति को प्रतिनिधित्व दिया है।

(२) श्रध्वयु' को यास्क ने 'श्रध्वर+यु मे तोड कर 'यु' को √युज से या 'तत्कामयते' श्रथवा 'तदधीते' श्रथ मे 'यु उप बन्ध (प्रत्यय) से निष्पन्न बताया है[8]। इस से पीछे कही यह बात ही पुष्ट होती है कि प्राचीन काल मे बहुत से प्रत्यय धातु निष्पन्न नाम पद माने जाते थे। 'यु नाम श्रौर प्रत्यय के बीच झूल रहा था। 'इद यु' (६।३१) पर यास्क ने 'यु' के दो श्रथ बताये हैं 'कामयमान' तथा तद्वान्'। इस के श्रतिरिक्त यहाँ यास्क का यह कथन भी ध्यान देने योग्य है कि 'तद्वत् श्रथ म यु उस समय व्यवहृत होता था[9]।

यु' प्रत्यय के बारे मे समुच्चित सूचना यह है कि इस के (क) तदधीते (ख) कामयमान श्रौर (ग) तद्वान् ये तीन श्रथ थे। इन म सर्वाधिक प्रचलित श्रथ था तद्वान्, उस म कम प्रचलित था कामयमान, श्रौर सब से कम प्रचलित श्रथ था 'तदधीन। पाणिनि स विदित होता है कि (क) यह प्रत्यय श्राम व्यवहृत तो

---

१ द्र ऋ १०।७१।७। २ द्र निरुक्तम् १।६।

३ द्र श्रष्टा ५।२।३७ प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच।

४ द्र निरुक्तम् १०।२० तथा श्रष्टाध्यायी ५।१।११८।

५ द्र निरुक्तम् ४।१४ तथा १२।३६।

६ द्र ३।७। ७ द्र श्रष्टाध्यायी ४।२।१०४।

८ द्र निरुक्तम् १।८। ६ द्र ६।३१ इदयुर=इद कामयमान। श्रथापि तद्वदर्थे भाष्यते*—वसुयुरिन्द्रो=वसुमानित्यय। * श्रपने समय म बोल चाल की विशेषताश्रो को निरुक्त म √भाष के कतरि या कमणि वतमान काल क प्रयाग से कम स कम श्राधी दरजन वार कहा गया है '(१) श्रभि भाषन्ते २।२, (२) भाष्यते २।२ ३ ६।३० ,१ (३) भाष्यन्ते २।२। इन सब का श्रथ यास्क क समय ऐसा 'बोलते हैं' या बोला जाता है यदि नहीं किया जाये, तो वाक्यो की सङ्गति नहीं हो पायगी।

था ही नही (ख) 'कामयमान' अर्थ मे क्यच्प्रत्ययान्त नाम धातु से वैदिक पदो मे ताच्छीलिक 'उ' प्रत्यय[1] से यु रूप निष्पन्न था, (ग) तद्वान् अर्थ मे 'यु प्रत्यय लौकिक मे १ 'क्यु', २ शयु ३ 'अहयु और ४ शुभयु पदो मे ही सीमित था[2]। 'ऊर्णायु' का प्रयोग वैदिक मे ही होता था, न कि लौकिक मे[3]। अर्थात् पाणिनि के समय यह प्रत्यय न केवल प्रयोग की मात्रा की दृष्टि से ही यास्क के समय से सीमित हो गया था अपितु अर्थ की दृष्टि से भी मत्वर्थ मात्र मे केवल ४ प्रयोगों मे सीमित रह गया था। 'तदधीते' और 'तत्कामयते' अर्थों मे यह अष्टाध्यायी मे है ही नहीं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पाणिनि यास्क से इतना बाद मे हुए कि (क) यास्क के समय इस के जहाँ तीन अर्थ थे वहाँ पाणिनि के समय एक (तद्वान्) ही रह गया था। (ख) यास्क के समय आम भाषा मे प्रयुक्त प्रत्यय पाणिनि के समय केवल चार शब्दो मे सीमित रह गया था। भाषा मे इस विकास के लिये पर्याप्त काल के अन्तर की अपेक्षा है।

(३) यास्क ने आविष्ट्य' की व्याख्या मे 'तत् पद से 'त्य' का प्रयोग किया है[4]। इसी प्रकार सत्य की व्याख्या मे भी सत्+त्य के त्य' की व्याख्या √तन् से की है या इसे 'तत्र भव' अर्थ मे तद्धित प्रत्यय मान कर की लगती है[5]। इस से सूचित होता है कि वे 'त्य' को किन्ही खास प्रयोगो तक ही सीमित नहीं मानते। पाणिनि ने इसे कुछ प्रयोगो तक सीमित बताया है यह दक्षिणा, पश्चात्, पुरस पदो से तथा अव्ययो से त्यक् अथवा त्यप् के रूप मे विहित है[6]। पाणिनि के बाद तो यह और भी सीमित हो गया मिलता है भाषा में केवल १ अमा, २ इह, ३ क्व, ४ नि और ५ निस पदो से वदिक मे आविस से तथा 'तस' और 'त्र' प्रत्ययान्त पदों से भाषा मे यह प्रत्यय विहित है[7]। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि 'त्य' का प्रयोग क्रमश सीमित होता गया है। पर निरुक्त में उस का प्रयोग इन सीमाओं की परिधि से बाहर मिलता है। अत यास्क पाणिनि से उसी प्रकार प्राचीन हैं, जिस प्रकार पाणिनि 'त्य' के और भी अधिक सीमित प्रयोगों की सूचना देने वाले वार्तिक कार से प्राचीन हैं।

(ग) शब्दो के विकास की दृष्टि से निरुक्त मे प्राचीनतर सरल पद्धति पर विचार किया गया है

(१) पाणिनीय तन्त्र मे √चक्ष और √ख्या स्वतन्त्र धातु नहीं हैं, कुछ प्रयोगो मे √चक्ष का प्रयोग विहित है, तो कुछ में √ख्या का[8]। यास्क के समय

---

१ द्र अष्टा ३।२।१७०। २ द्र अष्टा ५।२।१३८ ४०।
३ द्र अष्टा ५।२।१२३।
४ द्र निरुक्तम् ८।१५ ऋ १।१६५।१५ की व्याख्या आविरावेदनात्। तत्य
५ द्र वही ३।१३ सत्सु तायते। सत्प्रभव भवतीति वा।
६ द्र अष्टा ४।२।९८ १०४।
७ द्र महाभाष्य ४।२।१०४ पृष्ठ ६७२। ८ द्र अष्टा २।४।५४ ८।

मे दोनो ही धातुओं का प्रयोग अविभागेण होता था। निरुक्त में चक्षु का निर्वचन √ख्या से, या √चक्ष् से कह कर किया है[1]। इसी प्रकार 'घोर चक्षसे'[2] के 'चक्षस' की व्याख्या √ख्या से की है[3]। इस से सिद्ध होता है कि √ख्या √चक्ष् की समानार्थक है पर √चक्ष् का आदेश नहीं है जैसा कि पाणिनि ने बताया है। यास्क के समय भी अगर दोनो धातुओं में कोई ऐसा सम्बन्ध हुआ होता कोई एक धातु का प्रयोग ही अगर सीमित रहा होता, तो उन्हों ने 'चक्षु' की व्याख्या किसी एक धातु से ही बताई होती। अतः इस विषय में भी यास्क ने पाणिनि से प्राचीन स्थिति को प्रस्तुत किया है।

(२) पाणिनि ने 'अयम्' को 'इदम्' के 'इद' के स्थान में 'अय' आदेश से निष्पन्न बताया है। यास्क ने इसे √इ से निष्पन्न बताया है। वैदिक भाषा के 'ईम्', 'अया' आदि रूप यास्क की व्याख्या की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार पाणिनि ने 'असौ' को 'अदस्' से निष्पन्न बताया है। यास्क ने इसे √अस (फेंकना) से निष्पन्न बताया है। यह व्याख्या भाषा के व्याकरण के प्राचीन रूप को अधिक निकट से प्रस्तुत करती है[4]।

(३) 'अहन्' और अहर् प्रकृतियों में पाणिनि ने उपजीव्योपजीवक भाव सम्बन्ध स्थापित किया है 'अहन्' के 'न्' को रेफादेश का विधान किया है। यास्क ने अहर को 'आ + √हृ' से स्वतन्त्र रूप से निष्पन्न बताया है[5]।

(घ) सन्धि की दृष्टि से भी यास्क भाषा चिन्तन की पाणिनि से प्राचीन स्थिति को प्रस्तुत करते हैं

(१) पाणिनि का कथन है कि प्राचीन आचार्य शाकल्य के समय अश्[6] प्रत्याहार से पूर्ववर्ती पदान्तीय 'य' 'व' का लोप होता था। अर्थात् पाणिनि के समय इस मे विकल्प हो गया था। निरुक्त में, जहाँ तक हम देख पाये हैं ऐसे स्थलों मे सर्वत्र लोप ही उपलब्ध होता है। यास्क ने एक स्थल मे शाकल्य का नाम ले कर उन के पद-पाठ की आलोचना की है तथा दूसरी जगह शाकल्य का उल्लेख किये बिना ही उन के पद पाठ से भिन्न पद पाठ दिया है[7]। इस से सूचित होता है कि यास्क शाकल्य से बहुत दूर बाद के नहीं हैं, पर पाणिनि से पर्याप्त प्राचीन हैं।

(२) यास्क ने 'पृथु-ष्टुके'[8] की व्याख्या 'पृथु ष्टुते'[9] की है। पाणिनि[10] के

---

१ द्र निरुक्तम् ४।३ चक्षुः ख्यातेर्वा। चष्टेर्वा।

२ द्र ऋ ७।१०४।२। ३ द्र निरुक्तम् ४।३ घोर ख्यानाय।

४ द्र पृष्ठ ३६ तथा अ स ६।२।७ सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम्।

५ द्र अष्टा ८।२।६८ ६९ अहन् रोऽसुपि। निरुक्तम् २।२० अहः कस्मात्? उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। द्र निरुक्त के पाँच अध्याय पृष्ठ २३४।

६ अर्थात् स्वर, अन्तस्थ ह तथा घोष स्पर्श यानी प्रत्येक वर्ग के तीसरे तथा पाँचवें व्यञ्जन। ७ द्र निरुक्तम् ६।२८ तथा ५।२१। ८ द्र ऋ २।३२।६।

९ द्र निरुक्तम् ११।३२। १० द्र अष्टा ८।३।१०३।

अनुसार यहाँ मूर्धन्यादेश वैदिक प्रयोगों में ही एकीय मत से प्राप्त है। पर निरुक्त में यह सन्धि बहुत ग्राम की गई है (क) 'ग्रभी षाट' की व्याख्या 'ग्रभि षहमाण' की गई है[1]। पाणिनि ने √सह के 'स' के मूर्धन्यादेश का विधान किया है, पर केवल १ 'परि', २ नि' ३ वि', ४ 'पृतना' और ५ ऋत शब्दों के बाद तथा ण्यन्त के लुङ् में किसी भी उपसर्ग के बाद में स्थित होने पर ही[2]। (ख) निरुक्त में 'निमिष्टवा' की व्याख्या 'तष्टवा' की गई है[3]। पाणिनि ने इस स्थिति में षत्व का विधान ही नहीं किया है। यास्क के थोड़ा बाद तक इस प्रकार की सन्धियाँ 'गविष्ठिर', 'युधिष्ठिर' आदि शब्दों में प्रयुक्त हुई हैं। पाणिनि के समय तक यह अपवाद की कोटि में पहुँच चुकी थी। 'युधिष्ठिर' शब्द वाङ्मय में सर्व प्रथम अष्टाध्यायी तथा उस के गण पाठ में ही मिलता है[4]।

इस प्रकार भाषा शास्त्र के विकास की दृष्टि से यास्क के निरुक्त में पाणिनि के पूर्व तन्त्र से प्राचीन स्थिति के दर्शन प्रचुर मात्रा में होते हैं। उन के काल में अन्तर का मोटा अन्दाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि (क) इस दौरान बहुत-से शब्द प्रत्यय के रूप में परिणत हो गये थे, (ख) बहुत से प्रत्यय पाणिनि के समय तक लगभग अप्रचलित से हो हो गये थे, (ग) यास्क के समय की बहुत सी सन्धियाँ अप्रचलित हो गई थीं, (घ) प्राचीन पारिभाषिक सञ्ज्ञायें अप्रचलित हो गई थीं, (ङ) यास्क के समय अन्वर्थक सञ्ज्ञायें (अन्तःकरण, उपबन्ध, नामकरण, निवृत्ति स्थान) अधिक प्रचलित थीं पाणिनि ने याद‍ृच्छिक (टि, घु, भ, कित्, गित् आदि) सञ्ज्ञाओं का अधिक उपयोग किया है।

(आ) ऐतिहासिक सङ्केतों के आधार पर यास्क का काल निर्णय

(१) पाणिनि यास्क से तो परिचित हैं ही[5] भिक्षु सूत्र प्रणेता पाराशर्य[6], युधिष्ठिर[7], अर्जुन, उन के प्रपौत्र जनमेजय कृष्ण साम्ब गद, प्रद्युम्न तथा राम[8] से वे केवल परिचित ही नहीं हैं अपितु उन के समय तक वासुदेव कृष्ण और अर्जुन की लो भक्ति भी प्रचलित हो गई थी[9]।

यास्क अन्धक वृष्णियों के प्रसिद्ध पुरुष अक्रूर से बाद के किसी भी व्यक्ति से परिचित नहीं हैं। अक्रूर जनमेजय के प्रपितामह के काल में भी वृद्धों में ही गिने जाते थे। यास्क के समय में लगता है, वासुदेव कृष्ण भी बहुत महत्त्व नहीं पा पाये थे, अन्यथा वे उन के नामकरण के आधार काल वर्ण के वाचक 'कृष्ण'

---

१ द्र निरुक्तम् ३।३ में ऋ ७।४।८ की व्याख्या।

२ द्र अष्टा ८।३।७०, १०७, ११४।

३ द्र निरुक्तम् ६।३० में ऋ १०।१५५।२ की व्याख्या।

४ द्र अष्टा ८।३।९५ तथा गण पाठ ४।१।९६। ५ द्र अष्टा २।४।६३।

६ द्र ४।३।११०। ७ द्र ८।३।९५। ८ द्र गण पाठ ४।१।९६।

९ द्र अष्टाध्यायी ४।३।९८।

को 'नीच कोटि का वर्ण'[1] कहने का साहस नहीं कर पाते। अतः यास्क न केवल पाणिनि से प्राचीन हैं, अपितु बहुत प्राचीन हैं।

(२) निरुक्त में यास्क ने 'लोग बाग ऐसा कहते हैं' कह कर इतिहास में वर्णित एक घटना को पुष्ट किया है कि मणि अक्रूर के पास है[2]। श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में वर्णित इतिहास से विदित होता है कि अक्रूर और कृत वर्मा के षड्यन्त्र से श्री कृष्ण के ससुर सत्रा जित् को मार कर चुराई गई स्यमन्तक मणि को कुछ दिनों तक अक्रूर ने अपने पास छुपा कर रखा था। भेद खुलने के डर से वे देश छोड़ कर भाग गये थे। उन के पीछे लोगों में काना फूसी होने लगी कि मणि अक्रूर के पास है[3]। निरुक्त का अज्ञात मूल यह श्लोकांश इसी काना फूसी को व्यक्त करता लगता है। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यास्क के समय यह घटना ताजा-ताजा थी। यास्क का पारस्कर देश इस घटना के स्थल द्वारका से बहुत दूर नहीं था। अतः उन का इस घटना से परिचय असम्भव नहीं है न ही इस घटना पर अफवाहों, या काना फूसी का होना ही असम्भव है। अतः इस घटना के समय यास्क निरुक्त लिख रहे थे यह सूचित होता है।

(३) निरुक्त (२।१०) में देवापि और शान्तनु नामक दो कौरव्य भाइयों को इतिहास में हुआ बताया है। इन से सम्बद्ध एक घटना का वर्णन यास्क ने किया है कि छोटे शान्तनु ने बड़े भाई देवापि की उपेक्षा कर के अपना राज तिलक करवा लिया। देवापि वन में भाग गये। इस के बाद उन के राज्य में बहुत समय तक वर्षा नहीं हुई, तब ब्राह्मणों ने इस का कारण अधर्म पूर्वक तरत पर कब्जे को बताया[4]। यह घटना शौनकीय बृहद्देवता[5] में और महा भारत[6] में और तरह से वर्णित है कि देवापि को चर्म रोग के कारण ब्राह्मणों द्वारा राज गद्दी का अनधिकारी घोषित कर दिये जाने पर शान्तनु[7] को गद्दी पर बैठाया गया तथा उन का राज्य प्रजा के लिये बहुत सुख समृद्धि कारक था। इन वर्णनों में हमें यही अन्तर

---

१ द्र निरुक्तम् २।२० कृष्णो नि कृष्टो वर्णः।

२ द्र निरुक्तम् २।२ अक्रूरो ददते मणिम्' इत्यभि भाषन्ते।

३ द्र श्रीमद्भागवत १०।५७।३ ६ १० १५ १८ २३, २६ ३४ ३८।

४ द्र निरुक्तम् २।१० तत्रेति हासमा चक्षते—देवापिश्चार्ष्टि षेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः। स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे। देवापिस्तपः प्रपेदे। ततः शन्तनो राज्ये द्वादश वर्षाणि देवो न ववर्ष। तमूचुर्ब्राह्मणाः 'अधर्मस्त्वया चरित —ज्येष्ठं भ्रातरमन्तरित्याभि षेचितम् तस्मात्ते देवो न वर्षती ति। स शन्तनुर्देवापिं शिशिक्ष राज्येन। व्याख्याय द्र निरुक्त के पाँच अध्याय', पृष्ठ २०३ ५। तुलना करें श्रीमद्भागवत ६।२२।११ १६।

५ बृहद्देवता ७।१५५ ८।६। ६ आदि पर्व ६४।६१ २ ६५।४५ ६ उद्योग-पर्व १४६।१७ २८ शल्य पर्व ३६।३६ ७।

७ महा भारत में यही वर्तनी प्रयुक्त है।

प्रतीत होता है कि निरुक्त का वर्णन अन्य वर्णनों की अपेक्षा तटस्थ तथा सचाई के अधिक निकट का है जब कि बृहद्देवता और महाभारत के वर्णन सत्ताधिकारी के अनुकूल हैं। यास्क का वर्णन इस घटना से अनति दूर का वर्णन है। अतः यास्क देवापि और शन्तनु के बाद के हैं। यह यास्क के समय की ऊपर की सीमा है।

इस विवरण से विदित होता है कि यास्क महाभारत युद्ध के नेताओं से तीन पीढ़ी पहले के लोगों (पाण्डव>पाण्डु>विचित्रवीर्य>शन्तनु) के बाद तथा बाद की चौथी पीढ़ी के लोगों के बचपन के समय वृद्धों में गिने जाने वाले अक्रूर के समय में विद्यमान थे।

(इ) सांस्कृतिक प्रथा के आधार पर यास्क का काल निर्णय

यास्क ने 'श्मशान' की व्याख्या जिस प्रकार की है[१], उस से विदित होता है कि उन के समय तक आर्यों में 'श्मशान' का अर्थ 'कब्रगाह' समझा जाता था, तथा आर्यों में शव को दफनाने की प्रथा विद्यमान थी। अपनी व्याख्या की पुष्टि में उन्होंने किसी (सम्भवतः याजुष) संहिता से निगम वाक्य उद्धृत किया है[२]। यह प्रथा ऋग्वेद संहिता[३], मैत्रायणी-संहिता[४], काठक-संहिता[५], अथर्व संहिता[६], शतपथ-ब्राह्मण[७] में विद्यमान है। आर्यों में अति दूर काल में विद्यमान इस प्रथा से परिचय यास्क की अत्यन्त प्राचीनता का सूचक है।

(ई) बाह्य प्रमाणों के आधार पर यास्क का काल निर्णय

के प्रशिष्य है। शतपथ में यास्क की गुरु-परम्परा का निर्देश नहीं है। इस वश के अनुसार यास्क पाराशर्य के पर-शिष्य हुए हैं और पाराशर्य के एक अन्य पर-शिष्य गुरु आसुरायण के सम-कालिक हैं जो आसुरि के पुत्र शिष्य हैं। अतः यास्क पाराशर्य से पूर्व और आसुरि के पश्चात् हुए। जातूकर्ण्य ने पहले भारद्वाज से पढ़ा, उन के गुरु भारद्वाज ने अपने ही सगोत्र एक आचार्य आसुरायण से और (फिर) यास्क से पढ़ा। अतः जातूकर्ण्य को पढ़ाते समय तक यास्क पुरानी पीढ़ी में गिने जाते रहे होंगे। उन के शिष्य जातूकर्ण्य के गुरु भारद्वाज भी उस समय तक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः जातूकर्ण्य को पढ़ाते समय यास्क अवश्य वृद्ध हो चुके होंगे। जब जातूकर्ण्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हो कर पाराशर्य को पढ़ा रहे होंगे, तब यास्क या तो बहुत वृद्ध हो चुके होंगे या पाराशर्य के समय यास्क नहीं रहे होंगे।

संस्कृत वाङमय में पाराशर्य के नाम से कृष्ण द्वैपायन व्यास और एक अन्य मुनि ज्ञात हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास शान्तनु की प्रौढ़ अवस्था में लगभग में पराशर से सत्यवती में हुए थे। अतः ये यास्क के प्र-प्रशिष्य तो क्या, शिष्य भी नहीं हो सकते। दूसरे पाराशर्य महाभारत में युधिष्ठिर के सम-कालिक बताये हैं[1]। अतः यास्क के प्र-प्रशिष्य वही पाराशर्य होंगे तथा यास्क की चौथी पीढ़ी के शिष्य पाराशर्य जब युधिष्ठिर के समय मुनि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे तब यास्क या तो अत्यन्त वृद्ध हो चुके होंगे, या नहीं ही रहे होंगे। ऐसी स्थिति में यास्क का समय युधिष्ठिर से प्राचीन है। यह यास्क की अवर-सीमा है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि यास्क कौरवों की शन्तनु की पीढ़ी के बाद तथा युधिष्ठिर की पीढ़ी के पूर्व, अर्थात् धृतराष्ट्र और पाण्डु के आसपास के समय में रहे होंगे।

(२) जैसा कि पीछे बताया है, यास्क आसुरि के प्रशिष्य के शिष्य आसुरायण के सम-कालिक हैं अतः यास्क भी आसुरि के पश्चाद्भावी हैं। ये आसुरि हमारे विचार में साङ्ख्याचार्य आसुरि ही हैं उन के अलावा और किसी आसुरि का परिचय हमारे साहित्य में नहीं है। दर्शन के क्षेत्र में तो यास्क आसुरि के अनुयायी हैं। आसुरि के सिद्धान्त यद्यपि आज अविद्या ग्रस्त हो हैं तथापि हमारे सौभाग्य से उन का एक सिद्धान्त दर्शन ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है और यास्क के निरुक्त में भी वह सिद्धान्त प्रतिपादित है

पुरुष असङ्ग (विविक्त) है। मन और इन्द्रिय के द्वारा विषय से सम्पर्क कर के बुद्धि दृष्टि (रस रूप आदि के ज्ञान) के रूप में अध्यवसित (परिणत) हो जाती है। असङ्ग होने के कारण स्वच्छ पुरुष में तब वह बुद्धि उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो जाती है जिस प्रकार स्वच्छ जल में चन्द्र बिम्ब प्रतिबिम्बित हो जाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि का जो विषयों का भोग है, वह भी पुरुष में आरोपित हो जाता है

---

१ द्र सभा-पर्व ४।१३।

और इस प्रकार असङ्ग पुरुष कर्तृत्व भोक्तृत्व के आसङ्ग से युक्त हो जाता है[1]।

इसके विपरीत आचार्य विन्ध्य वासी का यह सिद्धान्त है कि पुरुष असङ्ग (अविकृतात्मा) ही है। उसकी उपस्थिति में अचेतन चेतन सा (स्व-निर्भास) उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार उपाधि (बिम्ब) की उपस्थिति में पारदर्शी वस्तु (स्फटिक) उपाधि जैसी हो जाती है। अर्थात् अपने में चेतन के प्रति बिम्बन से अचेतन बुद्धि (मन) चेतन-सी हो जाती है[2]।

इन दोनों मतों में यह अन्तर है आसुरि पुरुष में बुद्धि को प्रतिबिम्बित मानते हैं तथा विन्ध्य वासी बुद्धि में पुरुष को प्रतिबिम्बित मानते हैं। ईश्वरकृष्ण और वाचस्पतिमिश्र विन्ध्यवासी के मत को मानते हैं[3]। यास्क[4] ने आसुरि के

---

१ विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे* यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

गुण रत्न के अनुसार यह श्लोक आसुरि का है। द्र हरि भद्र सूरि षड् दर्शन समुच्चय, की गुण रत्न-कृत रहस्य दीपिका टीका पृष्ठ १०४ तथा स्याद्वाद-मञ्जरी १५, वाद महार्णव आदि ग्रन्थ। स्वच्छे' उचिततर है।* कुछ ग्रन्थों में स्वच्छ पाठ मिलता है। तुलना करें महा भारत शान्ति २१८।१२ ३
पुरुषावस्थमव्यक्त परमार्थ न्यवेदयत्॥ इष्ट सत्रेण स सिद्धो भूयश्च तपसाऽऽसुरि।
तथा यथा जले च द्रमस कम्पादिस्तत्कृतो गुण।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टुरात्मनोऽनात्मनो गुण॥ श्रीमद्भागवत ३।७।११॥

२ पुरुषोऽविकृतात्मैव स्व निर्भासमचेतनम्।
मन करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिक यथा॥

गुण रत्न के अनुसार यह श्लोक विन्ध्य वासी का है उन्होंने विन्ध्य वासी त्वेव भोगमा चष्टे। कह कर यह श्लोक उद्धृत किया है।

३ तस्मात्तत्संयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीन॥ साङ्ख्य-कारिका २०॥

वाचस्पति तत्संयोग =तत्सन्निधानम्। कारिका ३७ पर वाचस्पति बुद्धिर्हि पुरुष सन्निधानात्तच्छायाऽऽपत्त्या तद्रूपेव सर्व विषयोपभोग 'पुरुषस्य साध यति'। सुख दुखानुभवो हि भोग। स च बुद्धौ। बुद्धिश्च पुरुष रूपवेति सा पुरुषमुप-भोजयति। श्री उदय वीर शास्त्री, साङ्ख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४७७ 'ईश्वर कृष्ण ने ३७वी कारिका में आसुरि के मत का आश्रय लिया है। परन्तु २० वी कारिका (ऊपर उद्धृत) में स्पष्ट रूप से पुरुष के संयोग से अचेतन लिङ्ग को चेतना वाला जैसा बताया है। यह कथन विन्ध्यवासी के कथन के अनुकूल है, न कि आसुरि के। अत ३७वी कारिका में भी यही सिद्धान्त मानना उचित है तथा ३७वी कारिका में वाचस्पति ने ही ईश्वरकृष्ण के आशय को ठीक समझा है।

४ द्र निरुक्तम् १४।१३ गृभ्णानीन्द्रियाणि गृह्यतेज्ञान कमण, यत एत स्मिंस्तिष्ठन्ति। स्वपितिवनानामिति—अयमपि स्वय कर्माण्यात्मनि धत्ते वनानां= वनन कमणामिन्द्रियाणाम्। इति ता यस्मिन्नात्मन्येक भवन्ति।

से भी नही चूकते हैं।

अग्नि (७।१४), गो (२।५) और निऋ्ति (२।७) आदि शब्दो की व्याख्या मे उन्होने अपनी व्यापक और बहु मुखी दृष्टि का परिचय दिया है। वज्र, देवताओ की आकारवत्ता आदि के विवेचन मे उन्होने अपनी रूढियो से मुक्त वस्तु निष्ठ दृष्टि का परिचय दिया है। वे याज्ञिको की परम्परा को यथार्थ पर आधारित न मान कर कल्पना पर अधिक आधारित मानते हैं, यह उन की ब्राह्मणों मे अर्थ वाद के प्रति दृष्टि से भली भाँति विदित होता है। अपने सिद्धान्त को वे प्रत्यक्ष पर आधारित बताते हैं (७।४ ७)।

उनकी दृष्टि बहुत सजग है अपने आस पास के जगत् की प्रवत्तियो से वे स्वय को काट नही लेते हैं कि उनके समय मे क्या लोक प्रसिद्धियाँ, भाषा मे क्या विशिष्टतायें, चालू हैं। देश काल की दृष्टि से भाषा मे तथा रीति रिवाजो में क्या प्रवत्तियाँ काम कर रही हैं इन सब बातो को उन्हो ने दृष्टि से ओझल नही होने दिया है।

पदे पदे उपयुक्ततम मन्त्रों तथा अन्य प्रमाणो को उद्धत करने से प्रतीत होता है कि उनका स्वाध्याय बहुत गहरा तथा बहु क्षेत्रीय है। वे अपने समय के कर्म काण्ड से तथा वेद की व्याख्या की विभिन्न दृष्टियो से सुतराम् परिचित हैं। प्राचीन परम्परा मे खामी होने पर वे उस का प्रबलता से सयुक्तिक निरा करण कर के अपना मार्ग स्वय बनाने मे भी सङ्कोची नही हैं। उनकी दृष्टि बहुत मंघी हुई निष्पक्ष तथा ज्ञान के प्रसार पर ही केन्द्रित है। अत यास्क एक मेधावी परिश्रमी, उदार तथा स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी थे, यह निरुक्त मे उनकी झाँकी देख कर कहा जा सकता है।

११ यास्क का योग दान यास्क ने निरुक्त के पाँच प्रयोजन बताये हैं[१] (१) निघण्टु का व्याख्यान (१।१) (२) मन्त्रार्थ ज्ञान (१।१५), (३) पद विभाग ज्ञान (१।१७), (४) देवता ज्ञान (१।१७) और (५) ज्ञान का प्रसार (१।१७)। यास्क के योग दान की परीक्षा भी हम इन्ही बातो को दृष्टि मे रख कर करेंगे

(१) निघण्टु के योग दान की चर्चा के प्रसङ्ग मे हम देख चुके हैं कि बिना व्याख्या के निघण्टु का योग-दान सीमित ही है। उस की व्याख्या का तो मन्त्रार्थ, निर्वचन शास्त्र तथा देवता तत्त्व के विवेचन मे अत्यन्त महत्त्व पूर्ण योग-दान स्वाभाविक ही है। शास्त्र के मूल का सोप पत्तिक विवेचन कर के यास्क ने इन तीनों उद्देश्यों को बहुत निर्भ्रान्त रूप से पूरा किया है। प्रत्येक काण्ड की व्याख्या उन्होने उस काण्ड के लिये अपेक्षित सिद्धान्तो का पृथक्-पृथक् स्वय विकास कर के की है। स्वोपज्ञ व्याख्या की कुछ अच्छाइयाँ होती हैं तो कुछ कमजोरियाँ भी। अच्छाइयाँ तो

---

१ इन पर विस्तरेण विचार के लिए निरुक्त मीमांसा,' पृष्ठ ८० ८७, तथा निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ १७ २०, देखें।

ये हैं कि ग्रंथ के बारे मे, या ग्रन्थ के प्रमुख विवादास्पद विषय पर, हमे ग्रन्थ कार का स्वय का विचार मिल जाता है। ग्रन्थ व्याख्या-कार तो जो कुछ भी कहेगा, अपने मह तथा अपनी दृष्टि से ही अथवा वस्तुत तो अपनी दृष्टि की ही व्याख्या करेगा। ब्रह्म सूत्र की अनेक परस्पर विरोधी व्याख्यायें इस कथन को प्रमाणित करती हैं। स्वोपज्ञ व्याख्या म हम लेखक की दृष्टि ही मिलती है। कमजोरी यह है कि लेखक अपने युग की कुछ बाता को निगद व्याख्यात मानता है, पर आगे चल कर वे ही बातें व्याख्या सापेक्ष हो जाती हैं। स्वोपज्ञ व्याख्या ऐसे स्थलो म सहायक नही हो पाती। कुछ बातें लेखक की दृष्टि म अपने ग्रन्थ के बारे मे आ ही नही सकती। जैसे—अपनी मातृ भाषा हमे बडी सरल लगती है। पर जब उसी के बारे मे कोई विदेशी बहुत साधारण-सी बातें पूछता है, तब हम लगता है कि उन पर न हमारा ध्यान गया होता है और न जाना सम्भव ही होता है। वैसे ही ग्रन्थ व्याख्या कार की कठिनाइयो का समाधान तो दूर, हमे उनका अहसास भी स्वोपज्ञ व्याख्या म नही मिल सकता। अत इन अच्छाइयो और कमजोरियो के बा वजूद निघण्टु की स्वोपज्ञ व्याख्या निरुक्त मे यास्क का महत्त्व-पूर्ण योग दान है। ऐक पदिक काण्ड के अनेका थक पदो का अमुक मन्त्रो मे क्या अर्थ उचित है, इस को व्याख्या तथा इन अति परोक्ष-वृत्ति पदो का निवचन ये दोनो बातें भाषा के विकास को समझने मे तथा मन्त्राथ को स्पष्ट करने मे बहुत उप-योगी हैं। निघण्टु की व्याख्या की उनकी शैली का अध्ययन हमे उस नितान्त प्राचीन काल के बौद्धिक विकास तथा प्रक्रिया का सुदर चित्र उपस्थित करने मे समर्थ होगा।

(२) भाषा की दिन दिन बढती कठिनाई के समाधान के लिये छह वेदाङ्गों का आविष्कार हुआ। वेदाङ्गो की आवश्यकता के दबाव को हम आधुनिक युग के वैदिक साहित्याध्ययन के पुनर्जागरण की प्रक्रिया से भली भाँति समझ सकते हैं वेद को भली भाँति समझने के लिये ही रोथ् तथा अन्यो ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान के इस विषय मे योग दान पर प्रबल बल दिया। रोथ का सस्कृत जर्मन् महा कोष तथा ग्रास्मान् का वैदिक कोष युगानुकूल तारतम्य के साथ हमे निघण्टु के सङ्कलन तथा उस पर निरुक्त नामक व्याख्या के सदृश ही लगता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान तथा देव शास्त्र वस्तुत आधुनिक निरुक्त शास्त्र ही तो हैं। ह्विटनी, मैकडानल् और वाकरनागल न भी अपने अपने व्याकरण आखिर वेदार्थ को स्पष्ट करने के लिये ही लिखे हैं। वेबर और आर्नाल्ड का छदो पर सारा काम क्या वेदाङ्ग (वेदा को समझने के लिये) नही है? इसी प्रकार 'वेदिक मॉइथालाजी' आदि ग्रन्थ दैवत निर्णय के लिये नहीं लिखे गये क्या? 'वेदिशे रितुआल लितरातुर्' उसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये लिखा गया है, जिस के लिये प्राचीन काल मे कल्प के अधीन श्रौत तथा गृह्य सूत्र लिखे गये थे। अन्तर केवल दो युगों की आवश्यकताओ में भेद का है एक युग म ये शास्त्र हमे विकास के लिए प्रयत्न शील अवस्थाओ मे मिलते हैं तो दूसरे युग में हम आज तक हो चुके विकास को सजाने अपने उपयोग के अनुकूल सवारने की स्थिति म मिलते हैं। अन्य ये छह दृष्टियाँ हैं, किन्हीं खास

ग्रन्थो का नाम ही नही है। जब भी वैदिक अध्ययन म रुचि होगी ये छह दृष्टियाँ हमे नितान्त उपयोगी होगी। इसी दृष्टि से यास्क ने भी वेदार्थ को स्पष्ट करने मे अपना योगदान किया है।

छह वेदाङ्गो मे से कुछ तो वेदार्थ ज्ञान मे साक्षात् उपयोगी हैं, कुछ परोक्ष रूप से। निरुक्त और व्याकरण प्रथम कोटि के वेदाङ्ग हैं। निरुक्त व्याकरण की अपेक्षा भी अधिक साक्षात् उपयोगी है व्याकरण भाषा (के शब्दो) की व्याख्या करने के माध्यम से वेदार्थ को स्पष्ट करने मे तनिक परोक्ष रूपेण उपयोगी है। पर निरुक्त का इस दिशा म साक्षात् तथा दुहरा योग दान है इस म यास्क ने (१) वेद से पद चुन कर उन की व्याख्या म त्रो मे इन के अर्थ की दष्टि से की है। (२) म त्रो पर भाष्य कर के साक्षात् वेदार्थ किया है तथा इस के द्वारा आने वाली पीढियो को इस विषय मे दिशा दी है। आज वेदार्थ पर हमारे पास प्रकृत निरुक्त के अतिरिक्त और कोई टीका या भाष्य उस प्राचीन युग का नही है। यही कारण है कि पर वर्ती भाष्य यास्क की पद्धति को ही प्रमुख आधार बना कर लिखे गये हैं। अत अस्पष्ट होते हुए वेदार्थ को कुछ सौ मन्त्रो पर सङक्षिप्त व्याख्या के द्वारा ही सही स्पष्ट कर के यास्क ने वाङमय को एक बहुत बडा योग दान किया है।

(३) भाषा शास्त्र के विकास मे अपनी पद्धति के प्रतिपादन के द्वारा आगामी विद्वानो को मार्ग दर्शन तथा महत्त्व पूर्ण सामग्री प्रदान कर के भी यास्क ने एक बडा योग दान किया है। निरुक्त मे प्राचीन भाषा शास्त्रियो के नाम मात्र ही विदित हैं। यास्क ने भाषा के घटक शब्दो का वर्गीकरण करने वाले आचार्यों के रूप म वैयाकरणो का नाम लिया है। परन्तु शेष ऊहापोह उन का अपना है। उन के द्वारा किये नाम और भाव के लक्षण आज भी उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस रूप म यास्क ने निरुक्त मे उन्हे निश्चित किया था। भाव की दो अवस्थाओ— पूर्वापरी भूतता और सत्त्व भूतता—का वर्णन ही परवर्ती वैयाकरणो के इस विषय के प्रतिपादन का आधार है। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि भी उपसर्ग के यास्क के बताये लक्षण म तनिक हेर फेर कर के भी वस्तुत उसे निबाह नही सके। आज भी उपसर्ग का यास्क कृत लक्षण ही सर्वाधिक वैज्ञानिक है। नामो की आख्यातजता का उन का सिद्धान्त भाषा विज्ञान के क्षेत्र म एक क्रान्ति कर ही चुका है। आज भी यास्क के ग्रन्थ की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है पद-साधुत्वाख्यान की प्रानिशाख्यों की प्राचीन परिपाटी से भाषा का व्याकरण भली भाँति नही हो पाता। उस कमी को पूरा करने के लिये आपिशलि, शाकटायन आदि आचार्यों ने व्याकरण में निरुक्त का सहारा लिया और अपने व्याकरण लिखे। पाणिनि के व्याकरण म इन दोनो का चरम समन्वय किया हुआ है। इस म शब्द के अर्थ की व्याख्या प्रधान तथा निरुक्त का विषय है शब्द की व्युत्पत्ति बतलाना व्याकरण का। शाकटायन आदि के ग्रन्थों में निरुक्त गौण और व्याकरण प्रधान बन गया था। यास्क¹ ने

---

१ द्र निरुक्तम् १।१५ तदिद विद्या स्थान व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्, स्वार्थ

शास्त्र नैरुक्त को किसी भी शब्द के भिन्न भिन्न प्रदेशों में किये जाने वाले प्रयोगों का ज्ञान होना चाहिये। इसी प्रकार शब्दों के पुरातन और नये रूपों में पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। √शव्<गव के अर्थों में देश भेद से अन्तर और √उप्<उप्त में काल भेद से प्रयोग की मात्रा का अन्तर उन्होंने उदाहरण के रूप में बताया है।

(ख) संस्कृत में शब्दों में ध्वनि विकार का वैज्ञानिक अध्ययन यास्क ने सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत किया है। उन के मद्ग (२।२८) मध (१।६) मर (५।४), कण्टक (६।३२) जरिता=गरिता (१।७), दूती (५।२३), प्रथम (२।२२) मधा (३।१६) विंशति (३।१०), शत (३।१०) सहस्र (३।१०) पदों के निर्वचन आधुनिक भाषा विज्ञानियों को भी आश्चर्य में डालने वाले हैं। ये संस्कृत में ध्वनि विकार की प्रवृत्तियों को भाषा शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों परिप्रेक्ष्यों में जाते हैं।

(ग) बहुत से संस्कृत शब्दों पर संस्कृत के साथ बोली जाने वाली प्राकृतों का प्रभाव भी पड़ा है यह वे जानते हैं। उदाहरण—मयूर<मयूख (६।८), कीकटा<किं कृता (६।३२), किनव<कृत वान् (५।२२) आदि के निर्वचन द्रष्टव्य हैं।

(घ) वे निर्वचन पद्धति को शब्दों की व्याख्या का एक साधन मात्र मानते हैं। उन्हें अपने किसी भी निर्वचन का दुराग्रह नहीं है। यही कारण है कि वे एक तरह से अर्थ स्पष्ट न होने पर दूसरी तरह से निर्वचन करते हैं। अर्थात् वे अडियल नहीं हैं।

(ङ) किसी भी शब्द के मूल में कोई क्रिया होती है यह उनका प्रमुख सिद्धान्त है। किसी एक क्रिया से पदार्थ का सम्बन्ध कई प्रकार से हो सकता है। उन्होंने किसी शब्द के मूल में स्थित क्रिया के विभिन्न पहलुओं (aspects) को दृष्टि में रख कर भी विभिन्न व्याख्यायें देना उचित समझा है। उदाहरण के लिये 'गो' के तथा 'आदित्य' और 'द्यौ' के साधारण नामों के निर्वचन लिये जा सकते हैं।

(च) कई शब्दों के एक दूसरे में घुस जाने (contamination) से भी कई बार नये शब्द बन जाते हैं। यास्क उन के भिन्न भिन्न अवयवों को पहचानने में समर्थ हुए हैं। असुर (३।८) ऋत्विज् (३।१९), किमीदिन् (६।२), कीकट (६।३२) श्मश्रु (३।५) और स्याल (६।९) के निर्वचन देखें।

(४) वेदार्थ ज्ञान भली भाँति तब तक नहीं हो सकता, जब तक हमें वैदिक देवताओं का स्वरूप स्पष्ट न हो। इस दिशा में हम यास्क का ऋण नहीं चुका सकते। आज की वैदिक थियोलाजी तथा माइथालाजी का कुछ (देवता-तत्त्व वर्णन परक) भाग अपने उद्भव और विकास के लिये निरुक्त के दैवत काण्ड का अधमर्ण है। इस बारे में उन का योग दान प्रमुख रूप से मन्त्र में देवता की पहचान देवताओं के वर्गीकरण का आधार उन की संख्या और प्रत्येक का स्वरूप बतलाना आदि के द्वारा हुआ है। इस क्षेत्र में उन का सब से महत्त्व पूर्ण कार्य देवताओं के प्राकृतिक स्वरूप का निर्धारण करने में निहित है। ब्राह्मणों में वैदिक देवताओं पर

रहस्य की एक काफी मोटी पत चढ चुकी थी। उन के द्वारा हम वैदिक देवता के स्वरूप की असलियत को ठीक तरह से नही समझ सकते हैं। इतिहास पुराण म आते तक तो वदिक देवताग्रा का स्वरूप बिल्कुल ही भिन्न हो गया है। इस साहित्य के विष्णु रुद्र वरुण, इन्द्र, अश्विनौ, पूषा, सरस्वती आदि देवताग्रा का वैदिक साहित्य (प्रमुख रूप से ऋग्वेद सहिता) के इन दवताग्रो स साम्य नाम मात्र का ही है। स्वरूप गत समानता नही के बराबर है। ऋग्वेदीय वृत्र का स्वरूप लौकिक साहित्य मे ग्रा कर ग्रामूल चूल वदल गया है। यानवल्क्य बेचारे बहुत कह कह कर थक गय कि दवताग्रा तथा असुरो का कथाग्रो तथा इतिहास में वर्णित युद्ध वास्तविक नही है[1]।

वदिक और लौकिक साहित्य के देवताग्रो के मध्य की यह चौडी खाई नही भरती, अगर यास्क ने वदिक दवताग्रा के स्वरूप को स्पष्ट नही किया होता। यास्क के पश्चात् बहद्देवता कार शौनक आदि न इस विषय म जो कुछ भी प्रामाण विचार किया है उस का आधार यास्क का प्रतिपादन ही है। यास्क ने अपने ग्रन्थ के आधे से अधिक भाग मे वदिक देवताओं के स्वरूप का वैज्ञानिक ढग मे तथा भाषा के माध्यम (निवचन) से सम्यक निरूपण कर के अपने इस योग दान को बहुत प्रामाणिकता और स्पष्टता प्रदान की है। अत यास्क का यह योग दान उन के अन्य योग-दाना से कथमपि कम महत्त्व पूर्ण नही है। बल्कि एक दृष्टि से तो उन मे अधिक हो महत्त्व पूर्ण है अब तक यास्क का महत्त्व आम तौर पर निवचन के रूप मे उन की भाषा शास्त्र को देन के कारण ही आंका जाता रहा है। पर इस विषय म तो प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी आदि स भी बहुत कुछ प्राचीन स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। निवचन के सिद्धा त आदि के रूप म यास्क का जो योग दान है, वह मोटे तौर पर पर वर्ती व्याकरण शास्त्र मे समाहित हो चुका है। परन्तु देवताओं के स्वरूप के विषय मे और किसी प्राचीन ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण तथा मात्रा और गुणवत्ता की दृष्टि से इस प्रकार की सामग्री के अन्य किसी ग्रन्थ मे न मिल पाने के कारण यास्क का निरुक्त ही एक मात्र स्रोत हैं। यही कारण है कि अन्य ग्रन्थ जहाँ अपनी शाखा के एक अङ्ग ग्रन्थ हैं, वहा यास्क का निरुक्त तो पूरी शाखा ही अपने आप मे समाहित किय हुए है। अत निरुक्त का महत्त्व अन्य ग्रन्थो स अधिक है।

(५) वाङमय ज्ञान राशि को धारण करने वाली शब्द मयी मञ्जूषा होता है। उस मे मनुष्य जाति की सहस्र पीढियो के श्रम, अनुभव और चिन्तन का वैभव शब्दो में सजो कर रखा हुआ होता है। यह उस ज्ञान की ही महिमा है कि वह रत्न जिस मञ्जूषा मे रखा होता है वह वाक् रूपी मञ्जूषा ही इतना महत्त्व पा लेती है कि लोग उस का दूर स या निकट से दरस परस कर के ही अपने आप को पुण्य

---

१ श ब्रा ११।१।६।९ तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्देवासुर, यदिदमन्वाख्याने त्वदु द्यत, इतिहासे त्वत्।

वान् और कृतकृत्य समझते हैं। सैकड़ों वर्षों से वेद, पुराण, रामायण, गीता, भागवत आदि का प्रातःकाल दैनिक 'पाठ' कर के पुण्यार्जन करने की लालसा भारतीय जनता में रही है। यही स्थिति अन्य देशों के वाङ्मय की है। जब पाठ-मात्र से पुण्य होता है, तब उसे समझने से होने वाले पुण्य की मात्रा का तो कहना ही क्या ? ऐसी स्थिति में यास्क का निरुक्त में उद्धृत यह कथन कि 'वेद को कण्ठस्थ कर के उस के अर्थ को नहीं समझने वाला व्यक्ति तो गधे के समान बोझ ही ढोता है। अर्थ को समझने वाला उस की सब अच्छाइयों का फल पाता है'[1]।' ज्ञान के प्रसार में नितान्त प्रेरक है। ये केवल ज्ञान के प्रसार का महत्त्व बतला कर ही रह गये हों, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य पाठ मात्र से अपने को कृतकृत्य समझता है, तो इस में उस की अर्थ समझ पाने में असमर्थता ही उत्तरदायी है। यास्क ने मनुष्य की उस सामर्थ्य को बढ़ाने वाला शास्त्र लिख कर ज्ञान के प्रसार में योग दिया है। उनका यह प्रयास एकाङ्गी न हो कर बहु-देशीय है (क) उन के बाद की पीढ़ियों में होने वाले वैदिक विद्वान् उन के ऋणी हैं। व्याख्या करने की उनकी पद्धति युगों से भाष्यकारों को प्रेरणा और आधार देती आई है। (ख) भारतवर्ष के वेद शास्त्र की लम्बी एवं घनी परम्परा को समझने में यास्क ने वैदिक और लौकिक साहित्य की दो धाराओं के मध्य अनन्य सेतु का काम किया है यह हम अभी ऊपर कह ही चुके हैं। (ग) शब्द शास्त्र में प्राचीन दृष्टि से उन का जो महत्त्व आँका गया है वह निरुक्त को छह वेदाङ्गों में शामिल करने से तो सूचित होता ही है उससे वेदाङ्गों की मनुष्यों के अङ्गों के नाम दे कर जो समानता बताई है वह उस के महत्त्व के स्वरूप को और भी अच्छी तरह से स्पष्ट करती है व्याकरण मुख है, निरुक्त कान। अर्थात् व्याकरण शब्दानुशासन का शास्त्र है। वह व्यवहार निष्पादन के लिये मनुष्य को शब्द की सिद्धि कर के देता है। अतः वह उसे भाषा देता है और इस कारण वह वेद शरीर का मुख है। मुख यदि न हो तो मनुष्य बोलेगा कहाँ से ? व्याकरण यदि नहीं हो तो मनुष्य शुद्ध तथा अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ भाषा बोलेगा कैसे ? अतः व्याकरण को मुख कहना उचित है। परन्तु क्या बोलने मात्र से मनुष्य का उद्देश्य पूरा हो जाता है ? वह तो तब पूरा होता है, जब वह किसी के कानों में पड़े। और कानों में भी उन में पड़े। जिनमें उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य हो। वाक का ग्रहण केवल आवाज सुनने से नहीं हो जाता। अपितु उस के अर्थावबोध से होता है। तभी तो यास्क ने उद्धृत किया है—'कोई वाणी को (लिखित रूप में) देखता हुआ भी नहीं देखता, और कोई उसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता। किसी को यह अपना पूर्ण समर्पण उसी प्रकार कर देती है, जिस

---

1 द्र निरुक्तम् १।१७ अथापि ज्ञान प्रशंसा भवत्यज्ञान निन्दा च—
स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञान विधूत पाप्मा ॥ मूल अनात ॥

प्रकार पति के प्रेम में पगी पत्नी पति को पूर्ण आत्म समर्पण कर देती है[1]।' निरुक्त इस उद्देश्य को पूरा करता है। परम्परा ने निरुक्त को 'शब्दार्थ निर्वचन शास्त्र' नाम दिया है, अर्थात् इस के द्वारा शब्द के अर्थ का स्पष्टी करण किया जाता है। निरुक्त शब्द को सुनता है, गुनता है और उसका अर्थ स्पष्ट कर के रख देता है। अत इसे 'कान' कहा गया है। यही कारण है कि यास्क ने व्याकरण के अधूरे कार्य की पूर्णता निरुक्त से ही बताई है। (घ) पश्चिम म भाषा विज्ञान का जन्म होना ही असम्भव था, यदि उसका परिचय संस्कृत से न हुआ होता। उस का सही दिशा म विकास ही नहीं हो पाता, यदि पश्चिम को यास्क और पाणिनि के ग्रन्थ नहीं मिलते। भाषा विज्ञान की एटिमालाजी शाखा निरुक्त के एक विषय के एक अङ्ग (शब्द निर्वचन) का और सिमैण्टिक्स शाखा उस के दूसरे अङ्ग (अर्थ निर्वचन) का ही विस्तार है। भाषा विज्ञान के विविध ध्वनि नियम (फोनेटिक लाज) यास्क के वर्णागम, वर्ण विकार आदि ध्वनि नियमों का आज के युग के अनुरूप व्यापक स्तर पर विस्तार ही हैं।

निष्कर्ष इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क के निरुक्त का मानवीय ज्ञान की अनेक शाखाओं को विविध रूपों में महत्त्व पूर्ण योग दान है। उन के अधिक मूल्याङ्कन के लिये अभी यास्क के दोनों ग्रन्थों म और परिश्रम आवश्यक है।

१२ निरुक्त के अध्ययन की समस्याएँ यास्क के कार्य के मूल्याङ्कन की यह स्थिति तो तब है जब कि अभी न निघण्टु पर विविध दृष्टियों से विचार हुआ है और न निरुक्त पर हो। निघण्टु के विषय म चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। निरुक्त पर विचार की दृष्टियाँ तथा समस्याएँ क्या हैं, इस विषय मे हम प्रसङ्ग प्राप्त होने से आगे विचार कर रहे हैं।

निरुक्त पर विविध दृष्टियों से विचार का अर्थ है निरुक्त का जो भी प्रति पाद्य है उस का आज के युग की उपयोगिता तथा आवश्यकता की दृष्टि मे अवबोध, विश्लेषण और मूल्याङ्कन किया जाना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ महत्त्व पूर्ण मुद्दों पर विचार आवश्यक है

(क) सब से प्रथम तो निरुक्त का प्रामाणिक पाठ निश्चित करना बहुत आव श्यक है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, निरुक्त के आज दो पाठ मिलते हैं। विद्वानों की मोटे तौर यह धारणा है कि इन मे बृहत्पाठ पर वर्ती विकास अर्थात् प्रक्षेपों से बना है। निष्कर्षों मे नितान्त प्रामाणिकता लाने के लिये हम दोनों पाठों पर भली भांति विचार कर के शुद्धतम पाठ निर्धारित करना चाहिये। पाठ सम्पादन की दो विधियाँ होती हैं

(अ) यावत् मात्र उपलब्ध कोषों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर शुद्ध पाठ निश्चित करना। अधिकांश ग्रन्थों का पाठ सम्पादन इसी पद्धति पर किया

---

१ द्र १।२० उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्व शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥ऋ १०।७१।४॥

जाता है। हमारे लिये बड़े हर्ष का विषय है कि इस पद्धति से निरुक्त का बहुत सुन्दर संस्करण डा० लक्ष्मणस्वरूप के द्वारा पहले प्रकाश में आ चुका है।

(आ) संस्कृत-साहित्य में टीकाओं और भाष्यों की बड़ी प्राचीन परम्परा है। इन में भी उनके अपने समय में उपलब्ध पाठ की ही व्याख्या की जाती है। अतः वस्तुतः टीकाओं में धृत, उद्धृत तथा व्याख्यात पाठ की पूर्वोक्त पद्धति से तैयार हुए पाठ से तुलना कर के हस्त लेखों से पर्याप्त प्राचीन तथा प्रामाणिक पाठ तक पहुँचा जा सकता है। यह निरुक्त शास्त्र के अध्येताओं के लिये परम सौभाग्य की बात है कि निरुक्त को दुर्ग जैसे सावधान व्याख्याकार मिले। उन्होंने (क) अपने समय के उपलब्ध कोषों के आधार पर पाठ सम्पादित कर के (ख) अपनी टीका में मन्त्र व्याख्या परक अंशों को छोड़ कर शेष को अक्षरशः उद्धृत कर के (ग) उस की अक्षरशः—पाठ के प्रत्येक अक्षर की—व्याख्या की, (घ) यत्र तत्र मत भेद भी दिये। परिणाम यह है कि आज हमें मन्त्र व्याख्यांश को छोड़ कर निरुक्त का शेष भाग (क) टीका में पूरी तरह धृत मिलता है, (ख) उसकी पूरी व्याख्या की हुई मिलती है। मन्त्रांश की भी व्याख्या में उन्होंने (क) निरुक्त के सिद्धान्त के अनुकूल तो व्याख्या की ही है, (ख) प्रायेण निरुक्त के शब्द प्रयुक्त करते हुए ही व्याख्या की है। अतः दुर्ग की टीका हमें एक प्राचीन, अच्छी तरह सम्पादित, ऐतिहासिक महत्त्व के संस्करण का काम देती है। इसी प्रकार स्कन्द यद्यपि दुर्ग की अपेक्षा तो पाठ-सुरक्षा के प्रति कम सावधान हैं, तथापि सामान्य से पर्याप्त अधिक सावधान हैं। निरुक्त अपने विषय का अकेला ग्रन्थ है। यही कारण है कि विभिन्न आचार्यों ने मौके मौके पर इससे उद्धरण पर्याप्त मात्रा में दिये हैं। अतः कोषों के आधार पर तैयार पाठ की तुलनात्मक विवेचना टीकाओं में धृत, उद्धृत और व्याख्यात पाठ तथा विविध ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के पाठ से कर के एक प्राचीनतम तथा प्रामाणिकतम पाठ तैयार किया जाना चाहिये।

पहली पद्धति से पाठ सम्पादन तो आम है, परन्तु दूसरी पद्धति से पाठ सम्पादन, जहाँ तक हम ज्ञात है, अभी किसी ग्रन्थ का नहीं हुआ है। इस कमी को पूरा करने के लिये हमने अपने भर पूर परिश्रम स्वल्प बुद्धि-बल स्वल्पतर ग्रन्थादि साधनों तथा स्वल्पतम विद्वज्जन-कृत मार्ग दर्शन, प्रोत्साहन आदि के द्वारा 'निरुक्त के पाँच अध्याय' नामक ग्रन्थ में पाठ सम्पादन का प्रयास किया है।

(ख) इन दोनों पद्धतियों को मिला कर पाठ तैयार करने के पश्चात् निरुक्त में किस ग्रन्थ से अमुक मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, तथा वे ही क्यों उद्धृत किये हैं? अर्थात् अमुक मन्त्र का ही उद्धृत करना सप्रयोजन हुआ है या निष्प्रयोजन? इस दृष्टि से विचार करना चाहिये[1]।

(ग) निरुक्त में किए गए निर्वचनों में से कितने उस से पूर्व के वाङ्मय में मिलते हैं तथा कितने यास्क के अपने किये हुए हैं? इस का विश्लेषण ब्यौरे से

[1] इस विषय में दिङ् निर्देश के लिये अगला अध्याय देखें।

किया जाना चाहिये।

(घ) प्राचीन वाङमय मे उपलब्ध तथा निरुक्त मे भी दिये गए निवचनो के आधार भूत सिद्धा तो का ऊ न किया जाना चाहिए।

(ङ) यास्कीय निवचना का उन के निवचन सिद्धान्तो की तथा आधुनिक भाषा विज्ञान के सिद्धा तो की दृष्टि से अध्ययन व्यापक दृष्टि से किया जाना चाहिए।

(च) निरुक्त म प्रति बिम्बित समाज, यास्क के दाशनिक विचार, उनके विविध ज्ञान शाखाओ क ज्ञान आदि का अ ययन भी किया जाना चाहिए।

(छ) अपक्षित समग्र दृष्टियो स निरुक्त की प्रामाणिक व्याख्या भी करनी चाहिए।

इस अत्य त महत्वाकाङक्षी काय के निर्वाह के लिए (क) वदिक साहित्य मे अबाध गति, (ख) व्याकरण का उत्कृष्ट ज्ञान, पर तु उसके प्रभाव से मुक्तता, (ग) भाषा विज्ञान म स्वच्छ वज्ञानिक दृष्टि से अभिनिवश, (घ) भारोपीय परिवार की भाषाओ के प्राचीन रूप से तथा वाङमय से विवेक युक्त परिचय (ङ) अपनी पर म्पराओ का अच्छा ज्ञान, (च) पाठ निर्धारण के लिए अपक्षित समय, सावधान, निष्पक्ष दृष्टि तथा (छ) अनवरत श्रम परायणता—इन गुणो की अनिवाय आवश्यकता है। मानव सामथ्य को देखते हुए इन सब गुणो से युक्त किसी महा मानव का ज म तो मानव जाति के बहुत पुण्यो क उदय से ही होता है। उस के अभाव मे इनमे स जितने भी अधिक से अधिक गुणा से कोई व्यक्ति स नद्ध हो उसका वा काय उतना ही अच्छा होगा।

शिक्षा ग्रन्थ

संस्कृत के शिक्षा ग्रन्थ विश्व साहित्य में ध्वनिविज्ञान के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। अन्य देशों के भाषाशास्त्री उच्चारण विषयक जिन अनेक बातों की जानकारी अब कर पाए हैं उनमें कई ऐसी हैं जो शिक्षा ग्रन्थों में बहुत पहले से मिलती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय ध्वनिशास्त्री उन बातों का पता आज से प्राय ढाई हजार वर्ष पूर्व ही लगा चुके थे। हमारे यहाँ व्यवस्थित अध्ययन पर इतना बल दिया जाता था कि अत्यन्त प्राचीन काल में ही छः वेदांगों का विकास किया जा चुका था। ये वेदांग थे शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष। शिक्षा का सम्बन्ध शुद्ध उच्चारण से था। वेदों के उच्चारण में अशुद्धि न होने देने के लिए शिक्षा ग्रन्थों की आवश्यकता का अनुभव हुआ था और परिणाम स्वरूप इनकी रचना की गई थी। शिक्षा ग्रन्थ कुल कितने थे यह कहना तो कठिन है किन्तु आजकल लगभग ८० शिक्षा ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें से कुछ हैं अमरेश शिक्षा, काल शिक्षा मनस्स्वार शिक्षा लोमशी शिक्षा प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा माडुक्य शिक्षा कौहली शिक्षा याज्ञवल्क्य शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा नारदीया शिक्षा अमोघानन्दिनी शिक्षा, लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा माध्यन्दिन शिक्षा लघुमाध्यन्दिन शिक्षा तैत्तिरीय शिक्षा कात्यायनी शिक्षा गौतमी शिक्षा केशवी शिक्षा केशवी पद्यात्मिका शिक्षा स्वराङ्कुश शिक्षा स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा स्वराष्टक शिक्षा पाडन्तलाकी शिक्षा मल्लशर्मा शिक्षा क्रमसंधान शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा गहलक शिक्षा शाम्भवि शिक्षा कालनिर्णय शिक्षा पाराशरी शिक्षा भारद्वाज शिक्षा शौनकीया शिक्षा वासिष्ठी शिक्षा, वसिष्ठ शिक्षा माडवी शिक्षा अवसाननिर्णय शिक्षा पाणिनीया शिक्षा पारि शिक्षा सर्वसम्मत शिक्षा व्यास शिक्षा चारायणीय शिक्षा समान शिक्षा विलघ्य्म् शिक्षा आरण्य शिक्षा पदकारिकारत्नमाला शिक्षा सिद्धांत शिक्षा स्वरव्यंजन शिक्षा कण्व शिक्षा बायायन शिक्षा हारीत शिक्षा वाल्मीकि शिक्षा गालव शिक्षा तथा वर्णोच्चार शिक्षा आदि। इनमें से कई शिक्षाग्रन्थों के एकाधिक नाम भी मिलते हैं। जैसे लामग शिक्षा—लामगी शिक्षा—लामगीय शिक्षा वर्णरत्नदीपिका—वर्णरत्नप्रदीपिका गौतमाया शिक्षा—गौतमी शिक्षा माण्डव्य शिक्षा—माडवी शिक्षा आदि।

शिक्षा ग्रन्थों का प्रारम्भ उस समय हुआ होगा जब वैदिक संस्कृत बोलचाल की भाषा नहीं रह गई होगी तथा ठीक से पाठ करने में लोगों को कठिनाई होने लगी होगी। ऐसा अनेक संस्कृत ग्रन्थों में आता है कि वेदों का अशुद्ध पाठ करने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। इन्द्रशत्रु की कथा प्रसिद्ध ही है। इस सबको बचाने के लिए ही शिक्षा (और प्रातिशाख्य) ग्रन्थ लिखे गए। एक अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन

तम शिक्षा के लेखक बाभ्रव्य थे। महाभारत के शाति पर्व (३४२।१०४) में गालवद्वत एक प्राचीन शिक्षाग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। धन्वन्तरि के एक शिक्षाग्रन्थ का नाम पाचाल बाभ्रव्य गालव मिलता है। इस आधार पर कुछ लोग गालवशिक्षा को ही वह प्राचीन शिक्षा मानते हैं किन्तु यह शिक्षा वस्तुत उतनी प्राचीन नही है। इसी प्रकार कुछ लोग पाणिनि शिक्षा को ही मूल मानते हैं।

ऐसी मान्यता है कि शिक्षा ग्रथ प्रारम्भ मे लिखे गए तथा प्रातिशाख्य उसके बाद। इस मान्यता के कई आधार हैं। एक मुख्य आधार तो यह है कि शिक्षा ग्रथ मूलत उच्चारण या ध्वनिविज्ञानविषयक सैद्धान्तिक ग्रथ (General Phonetics) हैं तथा प्रातिशाख्य प्रायोगिक ग्रथ (Applied phonetics) हैं, और सिद्धान्ता के विकास के बाद ही उनका प्रयोग होता है अत शिक्षा पूर्ववर्ती हैं तथा प्रातिशाख्य परवर्ती। दूसरे, सर्वसम्मत शिक्षा में एक श्लोक आता है

शिक्षा च प्रातिशाख्यं च विरुध्येते परस्परम्।
शिक्षेव दुर्बलेत्याहु सिंहस्येव मृगी यथा॥ ४६॥

अर्थात् यदि किसी विषय मे शिक्षा तथा प्रातिशाख्य मे विरोध हो तो शिक्षा कम प्रामाणिक मानी जानी चाहिए। इस आधार पर भी कुछ लोगा का कहना है कि शिक्षाग्रथ पुराने है इसलिए प्रातिशाख्य जो अपेक्षाकृत अधिक विकसित भाषा-चिंतन का प्रतिनिधित्व करते हैं अधिक प्रामाणिक मान गए है। तीसरे कुछ प्राति-शाख्या म शिक्षा ग्रथो का उल्लेख है। ऐसे ही शैली, पारिभाषिक शब्दावली या उद्धत नामा के आधार पर भी इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं।

इन आधारा पर क्रमश विचार किया जा सकता है। जहा तक सिद्धान्त और प्रयोग का सम्बन्ध है सिद्धान्ता के आधार पर प्रयोग किए जाते हैं और प्रयोगा से सिद्धान्त विकसित होते है। हर क्षेत्र म यही होता है। अत यह तो हो सकता है कि एक दो शिक्षा ग्रथ पहले लिखे गए हो और फिर उनके आधार पर कुछ प्रातिशाख्या की रचना हुई हो। किन्तु ऐसा नही माना जा सकता कि सारे के सारे प्राप्त शिक्षा ग्रथ पहले लिख लिए गए और फिर प्रातिशाख्या की रचना हुई। दूसरे तर्क की व्याख्या एकाधिक प्रकार से हो सकती है। मैं इस बात से बहुत सहमत नही हूँ कि उक्त श्लोक से इस बात का समर्थन होता है कि शिक्षा ग्रथ पुराने है। प्रातिशाख्या का सम्बन्ध विशिष्ट शाखाओ से अपेक्षाकृत अधिक है अत वेदा के उच्चारण सम्बन्धी विवादो म प्रातिशाख्या का अधिक प्रामाणिक माना जाना स्वाभाविक है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली या उद्धत नामा का प्रश्न है शिक्षा ग्रन्था के पाठ इतने विकृत है उनमे इतने प्रक्षेप एव परिवर्तन हैं कि उनके आधार पर कोई भी निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन रहा है। वस्तुत आज जो शिक्षाएँ उपलब्ध हैं भाषा और शैली दोना ही दृष्टियो से न तो बहुत प्राचीन हैं और न किसी एक काल की ही है। ऐसी स्थिति मे वर्मा या ऐलेन का शिक्षा ग्रन्था का ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू० के बीच का मानना बहुत उपयुक्त नही लगता। किसी बहुत प्रौढ आधार के अभाव में कुछ निश्चित बात तो नहीं कही जा सकती किन्तु पूरी स्थिति

पर विचार करने पर मैं निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ। वेदांगों में शिक्षा का नाम आता है प्रातिशाख्यों का नहीं। साथ ही वैदिक साहित्य में (उदाहरण के लिए तैत्तिरीय आरण्यक में आता है 'ओं शिक्षां व्याख्यास्यामः'।) शिक्षा का उल्लेख है प्रातिशाख्यों का नहीं अतः शिक्षा ग्रन्थों की परम्परा निश्चित रूप से प्रातिशाख्यों से पुरानी है। स्पष्ट ही छहों वेदांग वस्तुतः छह विषय या शास्त्र हैं, तत्तत् कोई वेदांग या शास्त्र के एक दो या अधिक निश्चित ग्रन्थ नहीं हैं। आगे चलकर इन विषयों में ग्रन्थों की रचना हुई। कहने का आशय यह है कि शिक्षा मूलतः वेदांग का एक विषय या शास्त्र है — ध्वनियों के उच्चारण की शिक्षा या ध्वनियों के उच्चारण का शास्त्र। ऋक्प्रातिशाख्य की विष्णुमित्र कृत व्याख्या में आता है 'शिक्षा स्वरवर्णोपदेशकं शास्त्रम्'। यह शिक्षा प्रारम्भ में केवल अध्यापन द्वारा दी जाती थी किंतु आगे चलकर इसके लिए कुछ ग्रन्थ भी लिखे गए और वे ही प्रारम्भिक या प्राचीन शिक्षा ग्रन्थ थे किन्तु आज जो शिक्षा ग्रन्थ हैं वे वे पुराने ग्रन्थ नहीं हैं। सम्भव है जो शिक्षा ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं उनमें कुछ पुराने शिक्षा ग्रन्थों पर आधृत या उनके परिवर्तित रूप हों। यों आज प्राप्त शिक्षाओं में बहुत से लोग पाणिनि शिक्षा को सबसे पुरानी मानते हैं। इससे भी आजकल प्राप्त शिक्षा ग्रन्थों की परम्परा ५वीं सदी ई० पू० से पहले की नहीं सिद्ध होती। साथ ही यह शिक्षा पाणिनि द्वारा लिखित शिक्षा का कदाचित् परिवर्तित परिवर्धित रूप है। एक टीका शिक्षा प्रकाश के अनुसार पाणिनि शिक्षा उनके छोटे भाई पिंगल द्वारा लिखी गई थी। पाणिनि के मतानुकूल होने से यह पाणिनि शिक्षा कहलाई। वस्तुतः आज प्राप्त सारे शिक्षा ग्रन्थ प्रातिशाख्यों के बाद के हैं।

पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि शिक्षा शब्द तथा शिक्षा ग्रन्थों का विकास पाँच चरणों में हुआ माना जा सकता है। पहले चरण में शिक्षा शब्द एक सामान्य शब्द के रूप में प्रयुक्त होता रहा होगा, और तब वेदाध्यायियों की उच्चारण शिक्षा के लिए ध्वनिशिक्षा या वेदशिक्षा जैसा कोई शब्द प्रयोग में रहा होगा जिसमें शिक्षा एक सहशब्द रहा होगा। दूसरे चरण में शिक्षा पर बल के कारण इसके साथ के शब्द का लोप हो गया होगा और पाठशालाओं आदि में उच्चारण विषयक सामान्य शिक्षा के लिए इस का प्रयोग होने लगा होगा। तैत्तरीय उपनिषद् (१।२) में तथा अन्यत्र प्राप्त कुछ प्रयोगों से इस बात के संकेत मिलते हैं। तीसरे चरण में शिक्षा शब्द सामान्य ध्वनिविज्ञान का पर्याय हो गया। पारस्कर गृह्यसूत्र की भूमिका में रामकृष्ण ने शिक्षा को मूलागम अर्थात् आधारभूत शास्त्र इसी अर्थ में कदाचित् कहा है। इस काल में आकर हो कदाचित् वे शिक्षा-ग्रन्थ लिखे गए जो प्रातिशाख्यों के लेखन में सिद्धान्त ग्रन्थ सिद्ध हुए तथा जो अब प्राप्त नहीं हैं—कम से कम अपने मूल रूप में। और आगे चलकर इन शिक्षा-ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर जब प्रातिशाख्यों की रचना हुई तो सिद्धान्तों के प्रयोग में आने पर इस ओर भी विकास होने लगा और तब चौथे चरण में सैद्धान्तिक दृष्टि से कुछ फिर विकसित शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में कुछ

इसी परम्परा के हैं। यह बात वल देन की है कि चौथे चरण मे रचित ये शिक्षा ग्रथ सैद्धान्तिक दृष्टि से कई बाता म पूर्वरचित शिक्षा ग्रन्था एव प्रातिशाख्या स आगे थे। इनम प्रातिशाख्या म विकसित सिद्धान्तो का भी आधार लिया गया है। वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा मे एक स्थान पर कहा गया है कि शिक्षा के आधार प्रातिशाख्य हैं। इनम एसी काफी बातें मिलती हैं जो पूर्वरचित शिक्षा ग्रन्था म कदाचित् नहीं थी और इसीलिए प्रायोगिक ध्वनिविज्ञान के ग्रन्थो—प्रातिशाख्या—म भी उनका प्रयोग प्राय नहीं हो पाया। पाचवें चरण म कुछ परवर्ती शिक्षा ग्रन्था की रचना हुई जो सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक बातें—दोना के मिश्रण थे। इस तरह वे शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्था के बीच म थे। स्वभावत इनकी प्रायोगिक बातें प्राय विशिष्ट वेदा या वेदशाखाओ से सम्बद्ध थी अत ये शिक्षा ग्रन्थ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रन्था की तरह वेदो स असबद्ध न होकर विशिष्ट विशिष्ट वेदा से सबद्ध हो गए। इसी परम्परा म कदाचित् कुछ पूर्ववर्ती शिक्षा ग्रन्थ भी आग चलकर कुछ परिवर्तन-परिवर्धन करके विशिष्ट वेदो या वेदशाखाओ स सबधित कर दिए गए। स्पष्ट ही इस काल म शिक्षा तथा प्रातिशाख्या म सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक का मूल अन्तर नहा रह पाया और इसी परपरा म कुछ प्रातिशाख्या का भी शिक्षा ग्रथ कहा गया। 'अथ आचार्यो भग वान् शौनक शिक्षाशास्त्र कृतवान्। म विष्णुमित्र न ऋक्प्रातिशाख्य को शौनक द्वारा रचित शिक्षाशास्त्र कहा है। आज उपलब्ध शिक्षा ग्रथा म कुछ ग्रथ कुछ वेदा या वेदशाखाओ से सबद्ध हैं। उदाहरणार्थ —

ऋग्वेद—स्वर व्यजन शिक्षा शमान शिक्षा। पाणिनि शिक्षा एसे तो किसी विशिष्ट वेद या वेदशाखा मे सबद्ध नही है किन्तु उसका एक पाठ (सस्करण) ऋग्वेद मे सबद्ध है। जसा कि मैं ऊपर सकेत कर चुका हूँ पाणिनि शिक्षा का यह पाठ बाद मे उस समय परिवतन परिवधन स बना होगा जब कुछ शिक्षा ग्रन्थ वेदा या वेदशाखाओ से सबद्ध बन रह थे।

सामवेद—लोमशी शिक्षा गौतमी शिक्षा, नारदीया शिक्षा।

यजुर्वेद—(क) कृष्ण—हारीत शिक्षा सवसम्मता शिक्षा, वाल्मीकि शिक्षा वसिष्ठ शिक्षा आरण्य शिक्षा, कौहलीया शिक्षा बोधायन शिक्षा चारायण शिक्षा आपिशलि शिक्षा, कालनिर्णय शिक्षा भारद्वाज शिक्षा, व्यास शिक्षा पारिशिक्षा, सिद्धात शिक्षा शम्भु शिक्षा। पाणिनि शिक्षा का भी एक पाठ यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बद्ध है।

(ख) शुक्ल—याज्ञवल्क्य शिक्षा कात्यायनी शिक्षा, माडवी शिक्षा पाराशरी शिक्षा वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा केशवी शिक्षा, अमोघा नन्दिनी शिक्षा माध्यदिनी शिक्षा।

अथर्ववेद—माडूकी।

प्राप्त शिक्षा ग्रथा को मोटे रूप स दो वर्गों म रखा जा सकता है। एक तो व

हैं जिनमे सद्धान्तिक सामग्री है दूसरे वे हैं जिनमे ऐसी सामग्री प्राय नहीं या कम है। कुछ मे तो केवल विशिष्ट प्रकार के शब्दों की सूचियां ही हैं। उदाहरण के लिए पूरी माडवी शिक्षा मे यजुर्वेद मे ओष्ठय वर्णों (प फ ब, भ, म, उ) के शब्दों की सूची है। भरद्वाज शिक्षा सिद्धान्त शिक्षा तथा समान शिक्षा आदि मे भी विभिन्न प्रकार की सूचियां है। या प्रातिशाख्यों मे भी यह बात मिलती है। उदाहरण के लिए ऋक्प्रातिशाख्य के कुछ अध्याय भी प्राय सूची ही हैं। जहां तक सद्धान्तिक सामग्री का प्रश्न है शिक्षा ग्रन्थों मे उच्चारण स्थान, करण, प्रयत्न—आभ्यंतर बाह्य तथा उनके भेदाभेद अल्पप्राण महाप्राण घोष अघोष मौखिक अनुनासिक स्वर व्यजन तथा उनके भेदाभेद, सयुक्त स्वर सयुक्त व्यजन (दो के तथा तीन के) मात्रा तथा उसके भेद (स्वर मात्रा व्यजन मात्रा ह्रस्व स्वर दीघ स्वर, गुरु स्वर) अवग्रह, विवृत्ति, विराम तथा उसके भेद सधि तथा उसके नियम एव भेद स्वराघात तथा उसके भेदाभेद अक्षर (अक्षर तथा अक्षर विभाजन आदि) ध्वनि आगम स्वरभक्ति तथा उसके भेद, वर्तनी से अलग उच्चारण स्वराघात के अनुसार हस्त सकेत, तथा उच्चारण के गुण दोष आदि विषयक प्रचुर सामग्री है। प्राचीन ग्रथो के अनुसार शिक्षा ग्रन्थों का विषय वर्ण (स्वर व्यजन) स्वर (स्वराघात), मात्रा बल (महाप्राण अल्पप्राण के लिए प्रयुक्त प्रयत्न, सायण ने इसे मुह मे करण तथा उच्चारण स्थान द्वारा उच्चारण-वायु के पथ मे लाए गए अवरोध की मात्रा कहा है) साम (लय, लहजा या Tempo, सामवेद का श्रुति मधुर वेद-पाठ भी कदाचित् यही है) तथा सतान (सधि) का विवेचन है। अनेक पश्चिमी विद्वानों ने इसे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि आधुनिक पश्चिमी भाषा मे ध्वनिविज्ञान विषयक उन्नति के मूल मे काफी बडी सीमा तक भारतीय शिक्षा एव प्रातिशाख्य ग्रथो का हाथ है। किंतु इसके साथ ही यह कह बिना नही रहा जा सकता कि आज जो शिक्षा ग्रंथ प्राप्त हैं उनके पाठ विभिन्न प्रकार के प्रक्षेपों एव परिवर्तनों आदि के कारण बहुत अधिक भ्रष्ट हैं इसी कारण उनसे आज उतना अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता, जितना उनके मूल रूप मे होने पर उठाया जा सकता था।

प्रातिशाख्य

भारतवर्ष में कई विद्याओं का आविर्भाव वेदों को समझने के लिए हुआ था। मोटे तौर पर वे विद्यायें इसी कारण 'वेदाङ्ग' कही जाती रही हैं। ये विद्याएँ अथवा 'वेदाङ्ग' छह हैं। इनमें से तीन वेदाङ्ग सीधे सीधे वेद की भाषा के अध्ययन से सम्बद्ध हैं (१) शिक्षा (२) निरुक्त तथा (३) व्याकरण। 'प्रातिशाख्य' भी प्रकारान्तर से वेदाङ्ग हैं विषय वस्तु की दृष्टि से ये शिक्षा तथा व्याकरण का काय करते हैं अतः कुछ लोग इन्हें शिक्षा तथा व्याकरण वेदाङ्गों के अन्तर्गत मानते हैं। शिक्षा-वेदाङ्ग के जो ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं वे विविध दृष्टियों से विचार करने पर बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होते अपितु बहुत कर के प्रातिशाख्यों पर ही आधारित हैं। उदाहरणार्थ 'प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा' का नाम लिया जा सकता है जो शुक्ल यजु प्रातिशाख्य पर आधारित है। अतः बहुत से लोग शिक्षा को अलग वेदाङ्ग न मान कर शिक्षा प्रातिशाख्य को छह में एक वेदाङ्ग मानते हैं[1]। कुछ लोग इसे वेदों का प्राचीन प्रति-पद-व्याख्या की पद्धति से लिखा व्याकरण मानते हैं। यों 'प्रातिशाख्य' नाम वेदाङ्ग के नामों का वर्णन करने वाले प्रसिद्ध श्लोक[2] में नहीं है। अतः कदाचित् वेदाङ्ग से इनका विशेष सम्बन्ध नहीं है।[3]

यास्क के 'सब चरणों के पार्षद[4]' कथन की व्याख्या में अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने 'पार्षदों' का अर्थ प्रातिशाख्य किया है[5]। कुछ भाष्य-कारों ने ऋक्प्रातिशाख्य' को पार्षद कहा भी है। इस से भी उपयुक्त व्याख्या की पुष्टि होती

---

१ द्र भारद्वाज शिक्षा १९३८ ई, पूना भूमिका पृष्ठ १।

२ शिक्षा, कल्पो, व्याकरण, निरुक्त, छन्दसां चय।
ज्योतिषामयन चैव वेदाङ्गानि षडेव तु॥

३ द्र गोवेन, दी हिस्ट्री आफ इण्डियन् लिट्रेचर न्यूयार्क पृष्ठ १५०।

४ द्र निरुक्त १।१७ पद प्रकृतीनि सर्व चरणानां पार्षदानि।

५ दुर्ग टीका १।१७ पार्षदानि=स्व चरणे पर्षद्येव य प्रतिशाखा नियम मेव पदावग्रह प्रगृह्याप्रगृह्य क्रम संहिता-स्वर लक्षणमुच्यते, तानीमानि=प्रातिशाख्या नीत्यर्थ। तथा जहाँगीरदार एन इण्ट्रोडक्शन टू दी कम्परेटिव फिलालोजी आफ इण्डो आयन लङ्ग्वेजेज पृष्ठ १५५, और डा सिद्धेश्वर वर्मा फानेटिक आब्जर्वेशंस। पृष्ठ २१ एवम् माण्डूकी शिक्षा (प्रथम संस्करण) भूमिका पृष्ठ ७।

व्याख्या को काटने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यह भी सम्भावित है कि अनेक प्राचीन भारतीय ग्रन्थों, या ग्रन्थांशों की भाँति ये भी नष्ट हो गये हैं।

प्रातिशाख्य' शब्द उपयुक्त अर्थ मे अधिक प्रचलित रहा है[1] किन्तु इसे पुष्ट प्रमाणो पर आधारित नही माना जा सकता। मुझे लगता है कि डा सिद्धेश्वर वर्मा तथा डॉ सूर्यकांत आदि विद्वानो ने माधव के उपयुक्त उद्धरण का जो अर्थ निकाला है कदाचित् वह ठीक नही है। यहा 'प्रति' का अर्थ 'एक एक' न हो कर 'प्रत्येक' है। इस प्रकार उपयुक्त उद्धरण के अनुसार प्रातिशाख्य का अर्थ हुआ 'वह जिसका सम्बन्ध एक वेद की प्रत्येक शाखा मे हो।' दूसरे शब्दो मे प्रातिशाख्य वह है 'जो प्रत्येक या सभी शाखाओं से सबद्ध हो।' गोपालयज्वन् ने तत्तिरीय प्रातिशाख्य के अपने वैदिकाभरण नामक भाष्य[2] मे प्रातिशाख्य के इस अर्थ की ओर सकेत किया है। अनन्तभट्ट ने कात्यायन कृत वाजसनेयीप्रातिशाख्य का भाष्य लिखते समय भूमिका मे इस प्रश्न को उठाया है और वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[3] उनके अनुसार कात्यायन के वाजसनेयीप्रातिशाख्य का सम्बन्ध एक शाखा से न हो कर शुक्ल यजुर्वेद की पद्रह शाखाओं से है। दुर्ग के निरुक्त के भाष्य[4] तथा उवट[5] आदि के सकेतो से भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। किन्तु इसका आशय यह नही है कि अब तक जितने भी प्रातिशाख्य प्राप्त हैं वे सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। पूरी स्थिति पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि जब प्रातिशाख्य बने, उस समय सम्बद्ध वेद की सभी शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते थे किन्तु प्रातिशाख्यों के बनने के बाद भी शाखाएँ और उपशाखाएँ विकसित होती रही। अतएव कुछ ऐसी शाखाओं का मिलना भी असम्भव नही है, जिन पर उन के वेद के सम्बन्ध मे लिखित प्रातिशाख्य की सभी बातें लागू न हो। ऐसी स्थिति मे आज अधिक से अधिक *यही कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद विशेष की सभी या* बहुत सी शाखाओं से होता है।

प्रातिशाख्य के वर्ण्य विषय को लेकर भी विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोग इन्हे प्रमुखत व्याकरण ग्रन्थ[6] कहते हैं और कुछ लोग ऐसा कहना बिल्कुल भ्रामक[7] मानते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग प्रातिशाख्यों का आधार व्याकरण मानते हैं और

---

१ द्र आप्टे सस्कृत इंग्लिश कोष प्रथम सस्करण तथा हिंदी शब्द सागर' प्रथम सस्करण, आदि मे प्रातिशाख्य शब्द।

२ द्र वैदिकाभरण ४।११ (हस्तलिखित प्रति)।

३ द्र वाजसनेयीप्रातिशाख्य स० वेंकटराम शर्मा मद्रास १९३४ पृ० २।

४ निरुक्त १।१७ पर दुर्ग-वृत्ति।

५ ऋग्वेद प्रातिशाख्य ७।३२।५४।

६ वैदिकाभरण तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य मे यह बात स्पष्ट रूप से कही है।

७ गोल्डस्टुकर पाणिनि हिज़ प्लेस इन सस्कृत लिटरेचर, १९१४ पृष्ठ १९५।

कुछ लोग शिक्षा ग्रन्थ। कुछ लोग दोनों को ही। तत्वत दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ के आधार पर लिखे गये हैं और इनमें व्याकरण और ध्वनि विज्ञान दोनों ही की बातें हैं। या वे प्रमुखत ध्वनि से ही सम्बन्धित हैं। सभी बातों पर विचार करने पर अनुमान लगता है कि ज्यों ज्यों आर्य दूर-दूर तक फैलते गये तथा उनकी भाषा विकसित हो कर वैदिक संस्कृत से दूर हटती गई वे वैदिक संहिताओं का पूर्व प्रचलित ढङ्ग से शुद्ध पाठ करने मे अपने को असमर्थ पाने लगे। किन्तु धार्मिक दृष्टि से यह असमर्थता पाप जैसी थी इसीलिए विद्वानों ने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि कुछ ऐसे नियम बना लिए जाएँ जिनके आधार पर लोग शुद्ध पाठ कर सकें। प्रातिशाख्य कदाचित् इसी के परिणाम थे।

प्रातिशाख्यों के समय के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। समवेतत विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन और महत्त्वपूर्ण प्रातिशाख्यों का काल ५०० ई० पू० और १५० ई० पू० के बीच मे है। इनमे ऋग्वेद प्रातिशाख्य सम्भवत सबसे पुराना है[1] और ऋक्तन्त्र सबसे बाद का।

कुछ लोगों[2] का यह भी विचार है कि आज जो प्रातिशाख्यों का उपलब्ध रूप है, वह मूल रूप नही है। यदि इसे माना जाए, तो मूल प्रातिशाख्यों का काल कुछ सदी और पीछे चला जाएगा।

प्रातिशाख्य शब्द के अर्थ पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इस मत के रहे हैं कि एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की किसी एक शाखा से है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रातिशाख्यों की संख्या १०० से भी ऊपर रही होगी। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद विशेष की प्राय एक से अधिक शाखाओं से रहा है। ऐसी स्थिति मे यह प्राय निश्चित है कि प्रातिशाख्यों की संख्या बहुत अधिक न रही होगी। इस समय केवल निम्नांकित प्रातिशाख्य ही प्रमुखत उपलब्ध हैं[3]।

(१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य (ऋग्वेद का) शौनक
(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (कृष्ण यजुर्वेद का)—
(३) वाजसनेयी प्रातिशाख्य (शुक्ल यजुर्वेद का)—कात्यायन
(४) सामवेद प्रातिशाख्य (सामवेद का)—पुष्पर्षि (या वररुचि)
(५) अथर्ववेद प्रातिशाख्य (अथर्ववेद का)[4]—

---

१ लूडर्स ने तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को प्राचीनतम माना है यद्यपि अब यह मत मान्य नहीं है।

२ सिस्टम आफ संस्कृत ग्रामर, बेल्वल्कर पूना १९१५ पृष्ठ ४।

३ सभी प्रातिशाख्यों के लेखकों के नाम ज्ञात नहीं हैं। जिनके ज्ञात हैं सामने दे दिये गये हैं। कुछ के आगे दो नाम दिए गए हैं। कोष्ठक के बाहर के नामों को लेखक अधिक प्रामाणिक मानता है।

४ इसके दो रूप उपलब्ध हैं। एक श्री विद्यार्थी द्वारा दूसरा डा सूर्यकान्त

पुराने ग्रथो से कुछ ग्रन्य प्रातिशाख्यो के नामो का भी पता चलता है यद्यपि वे उपलब्ध नही है अत उनके सम्बन्ध मे कुछ कहना कठिन है[1]।

उपर्युक्त सभी ग्रथो के नामो मे प्रातिशाख्य शब्द आया है किन्तु कुछ ग्रथ ऐसे भी मिले है जिनके नाम मे प्रातिशाख्य शब्द नही है यद्यपि विषय की दृष्टि से वे भी प्रातिशाख्य हैं। इनमे प्रमुख केवल दो है[2]—

(१) ऋक्तन्त्र (सामवेद का)—औदव्रजि

(२) चतुरध्यायिका (अथर्ववेद की)—कौत्स (या शौनक)

इन विभिन्न प्रातिशाख्यो का सम्बन्ध उनसे सम्बद्ध वेदो की किन किन शाखाओ से है, यह प्रश्न विवादास्पद है और विद्वानो द्वारा विरोधी मत भी प्रकट किए गए हैं[3]।

ध्वनि विज्ञान की दृष्टि से प्रातिशाख्यो मे प्रमुखत बोलने की प्रक्रिया, उच्चारण स्थान उच्चारणावयव, अक्षर और उसका आधार, ध्वनियो का वर्गीकरण वर्गीकरण के विभिन्न आधार (स्थान प्राणत्व, घोषत्व आदि) मात्राकाल स्वराघात स्वरसधि स्वरभक्ति, व्यञ्जनसन्धि व्यजनद्वित्व, ध्वनि परिवर्तन (आगम लोप तथा विकार आदि), वैदिक ऋचाओ के पढने का ढङ्ग तथा पढते समय उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अनुसार हस्त सचालन आदि का विवेचन मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक दृष्टि से ध्वनिविज्ञान के अन्तर्गत जो जो बातें आती हैं प्राय सभी न्यूनाधिक रूप मे प्रातिशाख्यो मे आ चुकी हैं। आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पहले इन सारी बातो का इतना सुदर विवेचन देखकर आश्चर्य होता है। यह वह समय था, जब विश्व के और किसी भी देश मे इस दिशा मे कुछ विशेष हुआ ही नही था। सच पूछा जाए, तो यूरोप और अमरीका मे १९वी सदी मे और उसके बाद ध्वनि के अध्ययन के क्षेत्र मे जो उन्नति हुई है, उसके पीछे भारत के इन पुराने कार्यों का बहुत बडा हाथ है। जब इनमे से कुछ के अनुवाद पाश्चात्य विद्वानो के सामने आए तो उनके लिए इस दिशा मे आगे सोचने समझने और बढने का अवकाश दिखाई पडा। मैक्डॉनेल ब्लूमफील्ड येस्पसन जोस तथा फर्थ आदि अनेक

शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। ह्विटनी ने चतुरध्यायिका को ही अथर्ववेदप्रातिशाख्य के नाम से १८६२ ई० मे प्रकाशित किया था।

१ आश्वलायन प्राति०, चारायणीय प्राति०, सात्यमुग्रि प्राति० गौतम प्राति०, तथा बाष्कल प्राति०।

२ अन्यो मे सामतत्र अक्षरतत्र, लघुऋक्तत्र, निदानसूत्र पचविधसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र तथा भाषिकसूत्र आदि के नाम लिए जा सकते है।

३ ऋग्वेदप्रातिशाख्य का सम्बन्ध कुछ लोग केवल 'शाकल' शाखा से मानते हैं और कुछ लोग शाकल तथा बाष्कल दोनो से। इसी प्रकार कुछ लोग वाजसनेयी प्रातिशाख्य का सम्बन्ध मात्र माध्यदिनी शाखा से मानते हैं, पर अनन्तभट्ट आदि कुछ लोग पद्रह शाखाओ से मानते हैं।

विद्वानो ने इसे स्वीकार किया है। *यहाँ तक कि रागात्मक तत्त्व(Prosodic features)* जैसी इस सदी की उपलब्धियो के सूत्र भी इनम मिले हैं। फय अथर्ववेद प्रातिशाख्य के सम्बन्ध मे लिखते हुए यहा तक कहते है कि यह ध्वनि विज्ञान की बहुत-सी आधुनिक पुस्तकों स कही अच्छा है[१]।

इस प्रकार प्रातिशाख्यो के काल तक भारत म ध्वनि विज्ञान का अध्ययन बहुत आगे बढ चुका था, इस म कोई भी सन्देह नहीं। साथ ही ऐसा भी अनुमान है *कि आधुनिक भाषा विज्ञान की तरह उस काल मे भी ध्वनि शास्त्रियो के कई सम्प्र*दाय (स्कूल) थे जो अनेक सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दृष्टियो स आपस मे मतभेद रखते थे। यहाँ तक कि उनके पारिभाषिक शब्दो म भी (आज ही की तरह) अन्तर था। उदाहरणार्थ अनुनासिक के लिए ऋग्वेद प्रातिशाख्य रक्त का प्रयोग करता है तो वाजसनेयी प्रातिशाख्य उत्तम का। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य म अक्षर का प्रयोग स्वर के लिए भी हुआ है। इसी प्रकार वाजसनेयी प्रातिशाख्य अघोष को जित्', घोष को धि और महाप्राण को सोष्मन् कहता है। इस प्रकार की विभिन्नताएँ इस क्षेत्र म उस काल के चिंतन की अनेक स्वतन्त्र परम्पराओ को प्रकट करती हैं जो अपने आप म ध्वनि अध्ययन के समुचित रूप स विकसित एव बहु चर्चित होने का प्रमाण है।

ध्वनि विवेचन की दृष्टि से प्रातिशाख्यो म ऋग्वेद प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा अथर्ववेद प्रातिशाख्य अधिक अच्छे हैं।

प्रातिशाख्यो पर प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानो न अनेक रूपो म काय किया है जिनमे ऋग्वेद प्रातिशाख्य पर उवट मक्समूलर रेगनियर पशुपति शास्त्री तथा मगलदेव शास्त्री तैत्तिरीय प्रातिशाख्य पर माहिषेय सोम भट्ट ह्विटनी राजेन्द्रलाल मित्र वी वी शर्मा, रगाचार्य तथा आर एस शास्त्री शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य पर उवट अनंत भट्ट रामचन्द्र बालकृष्ण वेबर तथा वी वी शर्मा, अथर्ववेद प्रातिशाख्य पर सायण राथ ह्विटनी लनमन लिंडनाउ सूर्यकान्त शास्त्री तथा वी वी वी शास्त्री और ऋक्तन्त्र व्याकरण पर बर्नेल और सूर्यकांत शास्त्री प्रमुख रूप से उल्लेख्य हैं। उवट और सायण आदि पुराने विद्वानो के काय भाष्य रूप म हैं और आधुनिक विद्वानो के काय ससम्पादन अनुवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन आदि रूपो म।

शिक्षा ग्रन्थो और प्रातिशाख्यो को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि दोनो मे कौन से प्राचीनतर हैं। इस क्षेत्र म काम करने वाले अनेक विद्वानो[२] का मत लगभग यही है कि शिक्षा ग्रन्थ प्राचीन हैं। साथ ही लोगो का यह भी अनुमान है कि शिक्षा ग्रन्थो के आधार पर ही प्राति-

१ Archivum Linguisticum वाल्यूम १ पृष्ठ १०८।

२ एलन फानेटिक्स इन एन्शेंट इण्डिया, पृष्ठ ५ सिद्धेश्वर वर्मा द फोनेटिक आब्ज पृष्ठ २१ मनमोहन घोष पाणिनीय शिक्षा पृष्ठ ३६ (भूमिका), दीक्षित तथा अय्यर भारद्वाज शिक्षा, पृष्ठ १ (भूमिका) भगवद्दत्त, माण्डूकी शिक्षा पृष्ठ १२ मिका)।

शास्य बन पर यथार्थता यह है कि प्रातिशाख्य और शिक्षा ग्रन्थ आज जिस रूप म उपलब्ध हैं, उनके आधार पर इस प्रकार के निष्कर्ष निकालना बहुत वैज्ञानिक नही कहा जा सकता। इनका पाठ इतना भ्रष्ट है और इनम इतन अधिक परिवर्तन परिवर्द्धन हुए हैं कि कही तो इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि शिक्षा के कुछ अंगा मे आधार प्रातिशाख्य हैं[1] और कही इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं कि प्रातिशाख्य का आधार शिक्षा है।[2] दूसर शब्दा म आज के उपलब्ध शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्थो मे मुक्त रूप से आदान प्रदान हुए हैं और कही कहा इसी कारण उनमे अंतर भी बहुत कम या प्राय नही के बराबर है। या यदि शिक्षा को 'सामान्य' ध्वनि विज्ञान (General Phonctics) और प्रातिशाख्य का प्रायोगिक ध्वनि विज्ञान' (Applied Phonetics) माना जाए, जसा कि उचित भी है, तो यह अनुमान लगाना असगत न होगा कि सिद्धात किसी न किसी रूप म आधार है और प्रयोग का स्थान काल की दृष्टि से बाद का है। सभव है पाठ विज्ञान के आधार पर सभी शिक्षा और प्रातिशाख्य ग्रन्था के अपेक्षाकृत शुद्ध सस्करण सामने आन पर इस प्रश्न पर कुछ और प्रकाश पड सके।

---

१ व्यास शिक्षा 'तत्तिरीय प्रातिशाख्य' का सक्षिप्त सस्करण सा है।

२ कात्यायन प्रातिशाख्य म कुछ बातें याज्ञवल्क्य शिक्षा स ली गई हैं।

महान् भाषाविद् शाकटायन

यास्क के परवर्ती भाषाविदों और वैयाकरणों में जिस प्रकार पाणिनि का नाम सर्वोच्च ठहरता है उसी प्रकार उसके पूर्ववर्ती भाषाविदों में शाकटायन को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। ऐसा कहने से हमारा अभिप्राय इन्द्र आपिशलि आदि अन्य अनेकानेक वैयाकरणों या शाकल्य कात्यायन, आदि नैरुक्तों के प्रति किसी प्रकार की अवमानना से नहीं है। सत्य तो यह है कि वैयाकरण सम्प्रदाय और नैरुक्त सम्प्रदाय में समान रूप से जो महत्त्व शाकटायन को प्राप्त है वह कदाचित् ही किसी अन्य प्राचीन भाषाविद् को प्राप्त रहा होगा। ऐसा इस कारण कि उन्हों ने निरुक्त और व्याकरण के क्षेत्र में ऐसी कई नवीनताओं को एक साथ ही जन्म दिया, जिन्हें अन्य विद्वान् इतने स्पष्ट रूप में सोच भी न सके थे।

किन्तु यह ही महाभाग भारतीय भाषाध्ययन के क्षेत्र मे सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति भी रहा है। यास्क एक स्थान पर कहते हैं 'किन्हीं अन्य पदों से दूसरे पदों के अंशों के निर्माण की जो बात शाकटायन ने कही और वैसा यत्न किया, तो इसमें ऐसा करने वाले व्यक्ति की त्रुटि है न कि नाम आख्यातज हैं' उसके द्वारा आविष्कृत इस सिद्धान्त की। यह व्यक्ति की निन्दा का विषय है शास्त्र निन्दा का नहीं।'[1] साथ ही दूसरी ओर पतजलि भी दो बातें ऐसी कहते हैं जिससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी दृष्टि मे शाकटायन कदाचित् अधिक समादृत नहीं थे। प्रथम 'अपने व्याकरण और निरुक्त में शकट के बेटे ने 'नाम' को धातुज कहा है।[2] इसमें उनका नाम शाकटायन न लेकर शकट का बेटा कहना और वह भी तोकम जैसे एक तुच्छार्थद्योतक शब्द के द्वारा, विद्वानों को इस संकेत का वाहक प्रतीत हुआ है कि कदाचित् पतजलि उनके प्रति आदरवान् नहीं थे। द्वितीय एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं ऐसा भी होता है कि कोई जागते हुए भी वर्तमान काल को नहीं उपलब्ध करता। जैसे कि वैयाकरणों मे से शाकटायन रथमार्ग पर बैठा हो कर भी जाते हुए कारवाँ को नहीं जान सका।[3] अर्थात् स्वयं महान् वैयाकरण होकर भी वह अपने साथियों की कृतियों या उनकी उपलब्धियों के प्रति जागरूक न रहा और अपनी ही मान्यताएं ले कर बढ़ता रहा।

पर सत्य यह है कि इन तीनों ही स्थलों पर कोई भी ऐसी बात नहीं कही गई है, जो इस रूप में अपमानजनक प्रतीत हो। इसके विपरीत तीनों ही जगह शाकटायन की मौलिकता को विविध उपलम्भनों मे बताया गया है। तथा यास्क

---

१ निरुक्त १।६।४। २ शकटस्य च तोकम् —म० ३।३।१।१।
३ 'अथा रथ मार्गे— म० ३।२।२।११५।

ने जिस प्रकार अन्य पदों से अन्य पदार्थों की निर्मिति की शाकटायन की मान्यता के विषय में 'पुन्यगहा' की बात कही है वह वास्तव में शाकटायन की निन्दा न हो कर उसकी व्याजस्तुति ही कही जा सकती है। यास्क यह कहना चाहते हैं कि तुम सिद्धान्त की निन्दा क्यों करते हो? यदि शाकटायन ने कोई गलती की है, तब उस दोषी ठहराओ।" स्पष्ट है कि यास्क स्वयं उन्हें दोषी नहीं मान रहे। अन्यथा, अग्नि, हिरण्य, हृत्य, नरक आदि शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति में वे स्वयं ही उस सरणि को न अपनाते, जिसे 'सत्य' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए अपनाने पर शाकटायन' की तथाकथित निन्दा का प्रश्न उठा। इतना ही नहीं उन्होंने शाकटायन के मतों का जिस आदर के साथ उल्लेख किया है और उनकी व्याख्या की है, वसा गार्ग्य आदि के मतों के लिए भी नहीं किया, यद्यपि गार्ग्य और शाकटायन को व समान महत्त्व के भाषाविद् मान कर चले हैं। दूसरी ओर, महाभाष्य के प्रकरण को देखते हुए पतञ्जलि का कथन तो स्पष्ट ही शाकटायन के वयक्तिक महत्त्व का द्योतक है।

पतञ्जलि का और यास्क का यही आशय था, यह बात काशिका की एक उक्ति या उदाहरण से भी पुष्ट होती है। उसमें पाणिनि के दो सूत्रों के उदाहरण देते हुए '**अनुशाकटायन वयाकरणा**' और '**उपशाकटायन वयाकरणा**' कहा गया है। इन दोनों का शाब्दिक अनुवाद ठहरता है—'अन्य सब वैयाकरण शाकटायन के अनुकारी या उससे लघु हैं'। काशिकाकार पतञ्जलि और उनके महाभाष्य के प्रति अत्यन्त आदरवान् रह कर चले हैं। अतः उनका वक्तव्य केवल निन्दनात्मक न हो कर वास्तविकता का उद्घोषक ही कहा जा सकता है।

प्रसिद्ध जैन वैयाकरणों में से एक अप्रतिम वयाकरण हुए हैं—पाल्यकीर्ति'। उन्होंने अपने व्याकरण की रचना करके उसका नाम 'शाकटायन व्याकरण' के रूप में प्रचलित किया। बाद में विद्वानों ने उन्हें भी जैन शाकटायन नाम दे दिया। परन्तु, वे पाणिनि से बहुत अधिक परवर्ती हैं। इनके ऐसा करने का एकमात्र कारण यह है कि या तो पाणिनि भिन्न शाकटायन के व्याकरण का पुनरुद्धार वे अपने ढंग से और अपनी समझ के अनुसार करना चाहते थे, या फिर वे शाकटायन के मतों से इतने चमत्कृत थे कि अपने व्याकरण को भी उनके नाम से ही प्रतिष्ठि और प्रचलन देने को उत्सुक थे। यह बात भी सगत दीखती है क्योंकि आचार्य देवन दी (जनाचार्य) ने भी अपना व्याकरण 'ऐन्द्र' या 'जनेन्द्र' *नाम से ख्यात किया था,* जिसका कारण एक ओर ऐन्द्र व्याकरण की नाम्ना प्रसिद्धि किन्तु व्यवहारतः अनुपलब्धि था दूसरी ओर अपने व्याकरण को पाणिनि भिन्न परम्परा का अनुयायी सिद्ध करने का था। अतः पाल्यकीर्ति के शाकटायन' नामकरण का अभिप्राय और 'शाकटायन' की वैयक्तिक लोकप्रियता इससे स्पष्ट है।

शाकटायन की इस प्रसिद्धि का आधार उनके नैरुक्त' और स्वरूपों को माना गया है, यह बात ऊपर कही गई है। उनके ...

सम्बन्ध म सूचना हम केवल यास्क से ही उपलब्ध होती है। सम्भवत उन्होंने या तो निवचनविषयक कुछ सिद्धातो को ही उद्घोषित किया था, या फिर उन्होंने कोई स्वतन्त्र निरक्त ग्रन्थ भी लिखा होगा। इस विषय के सिद्धान्तो की चर्चा हम अगले ही प्रकरण मे करेंगे। उनके वैयाकरण रूप का परिचय भी दो रूपा म मिलता है। *एक ओर 'ऋक्तन्त्र' और 'लघु ऋक्तन्त्र नामक प्रातिशाख्यो को उनकी कृति माना* जाता है और अन्य अनेकों प्रातिशाख्यों म उनक वदिक व्याकरण विषयक मत उद्धत मिलते हैं, दूसरी ओर पाणिनि ने उनके मतो को जिस तरह उद्घोषित किया है, उससे पता चलता है कि शाकटायन ने कोई लौकिक भाषा का व्याकरण भी लिखा था। पर यह व्याकरण आज भी, किसी भी रूप म अनुपलब्ध है। महान् वैयाकरण गोल्डस्टुकर ने यह बात विश्वास के साथ कही है कि उन्होने लन्दन की 'इण्डिया हाउस लाइब्रेरी' मे जिस शाकटायन व्याकरण' की एक प्रति को देखा था, वह मूलत शाकटायन की ही थी यद्यपि बहुत सूक्ष्माक्षरो म होने के कारण वे उसे तत्काल नकल न कर सके। उस काय को उन्होने भविष्य के लिए बचा रखा *था, जो काल को स्वीकृत न था। किन्तु तब से इस विषय की छानबीन का प्रयास* किसी ने नही किया। निश्चय ही यह जन शाकटायन व्याकरण नही रहा होगा। अन्यथा पाणिनि और भारतीय व्याकरण के अप्रतिम मनीषी गोल्डस्टुकर उसके आरम्भिक पृष्ठो के अध्ययन स ही इतना निष्कष तो निकाल ही लेते।

पर शाकटायन की कृतियो म ऋक्तन्त्र' और 'लघु ऋक्तन्त्र' की मान्यता भी विवादास्पद ही रही है। डा० सूयकान्त ने इन दोनो का प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया था। उनके समेत अन्य विद्वाना का भी यही कहना है कि ये दोनो कृतियाँ पाणिनि स परवर्ती प्रतीत होती हैं। ऐसा उन्होंने इन दोना की वस्तु परीक्षा के आधार पर कहा है। कारण यह है कि 'ऋक्तन्त्र और पाणिनीय व्याकरण *की समानता कई स्थलो पर आश्चयजनक लगती है। उनकी परिभाषाएँ भी* आश्चयमय रूप से समान हैं। किन्तु अन्यत्र हमने इस बात को अत्यधिक विस्तार और प्रामाण्य के साथ सिद्ध किया है कि ये दोनो ग्रन्थ मूलत प्रातिशाख्य ही हैं और इनकी सज्ञाए और उपलब्धियाँ अन्य प्रातिशाख्यो से किसी भी प्रकार अधिक आश्चयजनक रूप से भिन्न नही हैं। उनकी अनेक उपलब्धियो की चचा के बाद अब पाणिनि की हर उपलब्धि को उनकी ही मौलिकता नही माना जाता है। अब जो बात उसस समान दिखाई दे, उसे आख मूद कर पाणिनि का 'अनुकरण' मात्र ही घोषित नहा किया जा सकता। यह सम्भव है कि ऋक्तन्त्र' का वतमान सस्करण पाणिनि के बाद ही तयार हुआ हो, और उस पर बहुत कुछ परवर्ती छाप भी पड *गई हो, किन्तु उसकी अन्य अनेक मौलिकताओं को दृष्टि स ओझल नहा किया जा* सकता। लघु ऋक्तन्त्र को हमन भी परवर्ती रचना ही स्वीकार किया है।[1]

---

१ डा सत्यकाम वमा, सस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास', अध्याय ३।

अत स्पष्ट है कि शाकटायन की उपलब्ध कृति तो ऋक्तन्त्र ही है, यद्यपि निरुक्तकार और याकरणकार के रूप मे उनकी मान्यता किन्ही भिन्न ही सम्प्रति अनुपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर रही दीखती है। 'ऋक्तन्त्र' मूलत प्रातिशाख्य है। अत शाकटायन का महत्त्व तीन रूपो मे स्थापित है प्रातिशाख्यकार निरुक्तकार और वयाकरण। वास्तव म वतमान मे जिस भाषाशास्त्र या भाषाविज्ञान कहा जाता है, इन तीनो रूपा म न्यस्त शाकटायन के मत उसी प्रकृति के हैं। उनके इस भाषाविद् रूप को हम अगली पक्तियो म, उनकी उपलब्धियो की चर्चा के रूप म देखेंगे।

सब से प्रथम धारणा जो स्वय म उतनी ही महत्त्वपूर्ण भी है, और जो यास्क ने शाकटायन के नाम से दी है इस प्रकार है "निबद्ध या स्वतन्त्र रह कर उपसग किसी अर्थ को नही प्रकाशित करते[1]।" यद्यपि गार्ग्य ने इस का सबल प्रतिरोध किया पर पाणिनि ने उसे अपूर्व मान्यता प्रदान की। उनका सूत्र 'उपसर्गा क्रियायोगे[2] शाकटायन के यास्कप्रोक्त मत का ही पुनरनुवादमात्र है। बहुत अधिक सम्भव है कि यह सूत्र शाकटायन से ही पाणिनि ने लिया हो जसे कि अन्य अनेक सूत्र उन्होने अपने स पूववर्ती परम्परा स अपनाए हैं। वदिक भाषा म चाहे तो छन्दात्मकता के कारण या कदाचित् जन प्रयोग क भी कारण, उपसर्गों को क्रिया से वियुक्त रूप म रखकर एक मान्यता चल पडी थी कि उनका स्वतन्त्र रूप मे भी एक अर्थ होता है। शाकटायन ने इसका अर्थ 'अर्थात्मक' आधार पर सिद्ध किया था। उसका कहना था कि भले ही प्रत्यक्षत 'उपसग' स्वतन्त्र सत्ता क साथ दिखाई दें, किन्तु अर्थविचार की वेला म उनका उपयोग क्रिया से वियुक्त रह कर नही होता। अर्थात् अर्थ की दृष्टि से वे क्रिया क साथ समवेत होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। यास्क ने अपनी अर्थ प्रणाली म यही पद्धति अपनाई है। पाणिनि तो इससे भी आगे बढ गए और उन्होने घोषणा की कि वे ही निपात 'उपसग' कहलाते हैं, जो क्रिया के योग म प्रयुक्त होते हैं।" बात एक ही है 'उपसग' का अपना कोई अर्थ नही होता केवल क्रिया के साथ सयुक्त होकर ही वह किसी भी अर्थ की अभिव्यक्ति कर सकता है। स्वतन्त्र रूप में अर्थ की अविद्यमानता की बात उपसग को निपात' का ही एक भेद सिद्ध करती है। क्रिया से योग की बात ही उसे, रूपात्मक दृष्टि से निपात होने पर भी, प्रकृति की दृष्टि से उससे भिन्न सिद्ध करती है। निपात सामान्यत अर्थ को वहन नही करते। किन्तु उनसे जिस भी अर्थ की, उच्चावच ही सही अभिव्यक्ति होती है, वह निबद्ध या बन्धनहीन (स्वतन्त्र) स्थिति मे रहकर ही होती है। निरर्थक प्रयोग तो उनका हो ही सकता है। किन्तु, स्वतन्त्र प्रयोग की अवस्था म आकृतिसाम्य होने पर भी किसी निपात'

१ 'न निबद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति'—नि १।१।४।

२ पा १।४।५९।

को उपसर्ग नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह क्रिया के अर्थ में किसी वैशिष्ट्य का आधान न करे। अतः 'चार पद' की कल्पना या इस प्रकार का व्याख्या—नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप[1] में—करने का प्रथम श्रेय भी शाकटायन को ही जाता है।

इससे भी अधिक चमत्कारी घोषणा शाकटायन की यह थी कि नाम आख्यात से जन्म लेते हैं। यह बात देखने में छोटी प्रतीत होती है, किन्तु इसका अन्तर्हित महत्त्व बहुत अधिक है। हमने अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' में इस बात को स्पष्ट किया है कि इन्द्र भारद्वाज शाकटायन के क्रम से क्रमशः व्याकरण की उस आधारभित्ति का निर्माण हुआ, जिसके आधार पर आपिशलि और पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने क्रमबद्ध रूपात्मक व्याकरण का विधान किया।

बात को पूरी तरह समझने के लिए यह जान लेना अधिक आवश्यक है कि 'इन्द्र' को व्याकरण का आदि प्रवक्ता माना जाता है। वैसे तो आदिप्रवक्ता 'बृहस्पति' थे, किन्तु उनका व्याकरण शब्दपारायण या प्रतिपदपाठ के रूप में था, अर्थात् प्रातिशाख्य पद्धति का। प्रातिशाख्यों में भी प्रतिपद पर ही विचार किया गया है। किन्तु इन्द्र ने इसकी श्रमसाध्यता और व्यर्थता को पहचान लिया और वे व्याकरण की एक नई सरणि के उद्घाटक और सर्जक हुए जिसमें प्रकृति प्रत्यय का विभाग कर के आकृति मूलक या 'रूपात्मक' व्याकरण की आधारशिला रखी गई।[3] ऐन्द्र व्याकरण भी कम विस्तृत नहीं था। 'पच्चीस हजार श्लोक परिमाण' का इसे माना गया है[4]। लगता है कि उनके समय तक धातु को मूल इकाई स्वीकार नहीं किया गया था। कदाचित् उनके समय तक मूलतः प्रातिपदिक और क्रिया की धारणा ही जम पाई थी।

उनकी परम्परा में ही हुए 'भारद्वाज', जिन्हें 'आख्यात' का आदि द्रष्टा कहा गया है[5]। पर वे भी इस निर्णय पर न पहुँचे थे कि 'नामों की रचना में आख्यात' का क्या स्थान है? सम्भवतः नाम और आख्यात' को भाषा की दो प्रथक्-इकाइयों के रूप में घोषित करने का श्रेय उन्हें ही सर्वप्रथम जाता है। किन्तु शाकटायन इनसे अगले चरण में हुए। उन्होंने प्रथम बार और अत्यन्त बल के साथ, घोषणा की कि सभी नाम आख्यातज हैं[6]। अनेक वैयाकरण और गार्ग्य उनकी इस धारणा के भी विरोधी थे। गार्ग्य ने कहा सभी नाम आख्यातज नहीं हो सकते[7]। उनका इशारा वेद के शब्दों के साथ साथ कुछ अन्य प्रयोगों और सिद्धान्तों के आधार

---

१ नामाख्याते० —नि १।१।२। २ नि १।५।१।
३ डा वर्मा, सं [illegible] या उद्भव और विकास', अ [illegible] 'इन्द्र'।
४ वही। ५ भारद्वाजकमाख्यातम —वा प्रा ८।
६ 'नामान्याख्यातजानीति —नि १।५।१। ७ न सर्वाणीति वही।

पर भी था। किन्तु, यास्क ने जिस दृढ़ता के साथ शाकटायन के मत का उपस्थापन और अन्यों के मत का खण्डन किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यास्क स्वयं भी इस मत के अनुयायी थे। उनकी सारी निर्वचन प्रक्रिया का आधार ही 'आख्यात' या 'धातु' की इस पृथक् पहचान पर आधारित है। 'मूलार्थ' पर टिके रहने का उनका आग्रह यहीं से जन्म लेता है। पर, पाणिनीय व्याकरण का तो सारा आधार ही इस बात पर रहा दीखता है। जहाँ वे 'धातु' की खोज नहीं पाए हैं, या जहाँ प्रत्यय की पृथक्ता उन्हें विधिवत् प्रतीत नहीं हुई है वहाँ उन्होंने शब्दों को 'निपातन' या 'यथावत् सिद्ध' के रूप में स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनका सर्वाधिक चमत्कारी प्रयास है 'उणादिशब्दों' और 'प्रत्ययों' को मान्यता देने में। 'उणादिसूत्र' पाणिनि ने लिखे या नहीं यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि उसने उन्हें पूर्ण मान्यता, स्वीकृत प्रत्यय के ही समान, दी है। पर उन्हें अलग से पढ़ने का कारण है उनकी अर्थसूचन क्षमता में, सामान्य अर्थवत् प्रत्ययों की क्षमता की अपेक्षा भिन्नता।

'उणादि' के विषय में हमने अन्यत्र पाणिनि ही नहीं आपिशलि तक को शाकटायन का ऋणी सिद्ध किया है।[1] इसका एकमात्र कारण यह है कि इन सूत्रों की रचना का एकमात्र आधार इस भावना पर है कि प्रत्येक अर्थवान् शब्द में से 'धातु' को अलग पहचानने का यत्न किया जाए। सत्य यह है कि इस कोटि में गृहीत प्रत्यय सामान्य प्रत्ययों की भांति, किसी विशिष्ट अर्थ की 'पहचान' (=प्रत्यय) नहीं करवाते। बल्कि उनकी कल्पना का लक्ष्य सामान्यतः अविभाज्य प्रतीत होने वाले शब्दों में से मूलार्थभावना की वाहिका 'धातु' को पृथक् से खोज निकालना है। 'धातु' की यह खोज केवल शाकटायन के इस सिद्धान्त से ही अनुप्राणित है कि 'सभी नामों के मूल में कोई न कोई आख्यात विद्यमान होता है।' वर्तमान समय में मैक्सम्यूलर ने जिस 'धातुमत' को उपस्थित किया, उससे यह भिन्न है।

'निरुक्त' में इसकी मान्यता की बात तो इतने से ही स्पष्ट है कि यास्क स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'अर्थनित्यः परीक्षेत[2]' अर्थात् अर्थ अनुगत न होने पर भी व्याकरण के सामान्य प्रत्ययों के उपलब्ध न होने पर भी, किसी शब्द की खोज में इस मान्यता के आधार पर बढ़ें कि सभी शब्द अर्थ के कारण ही नित्य हैं। अर्थात् प्रयुक्त शब्द अपने अर्थ के कारण ही अस्तित्ववान् रहता है। इसी आधार पर उन्होंने निरुक्त प्रक्रिया के जो सिद्धान्त तय किये उनमें धातु की खोज निकालने की व्यग्रता ही कई विचित्र (?) कल्पनाओं का आधार बनकर रही है।

इन्हीं आधारों पर हमने शाकटायन को 'उणादि' की मूलभावना का जन्मदाता घोषित किया है।

---

१ वर्मा म व्याक अध्याय—३। २ नि॰ २।१।१।

इस युक्ति के प्रसंग में ही यास्क एक बात और ऐसी कहते हैं जिससे शाकटायन के लोक भाषा व्याकरण का प्रमुख प्रणेता होने की बात पुष्ट होती है। इसमें व लौकिक शब्दों और वैदिक शब्दों को व्युत्पत्ति की दृष्टि से समान घोषित कर रहे हैं। शाकटायन का 'ऋक्तन्त्र' सामवेद से सम्बद्ध है। उसमें पद और संहिता के परस्पर सम्बन्ध को, और उस बहाने पदपाठ और संहितापाठ को, बनाना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। फिर भी उसमें व्याकरण के अनेक ऐसे सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं, जिनका सम्बन्ध लौकिक भाषा के व्याकरण के साथ भी उतना ही है।

इस विषय में सबसे बड़ा प्रमाण है कि नागोजी या नागेश भट्ट का शाकटायन के विषय में यह कथन "शाकटायन आदि का शास्त्र केवल लौकिक आरम्भिक अंश/शाखा को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है।"

शाकटायन की एक और महत्त्वपूर्ण देन, जिसे कई आधुनिक विद्वान अत्याधुनिक भी कहेंगे, यह है कि उन्होंने ही प्रथम बार यह घोषणा की कि जहाँ सीधे से प्रकृति प्रत्यय विभक्त न होते हों, वहाँ यत्नपूर्वक यह देखना चाहिए कि कहीं दो या एक से अधिक 'मूलों' या 'प्रकृतियों' से तो नहीं बना हुआ। इसके सम्बन्ध में यास्क ने शाकटायन के दो मत व्यक्त किये हैं: एक है—'पदों में इतर पदार्थों का संस्कार', और दूसरा है—पदों का द्विप्रकृति होना।[1] पहले का अर्थ है, एक जगह जो पद रूप में प्रयुक्त शब्द है वही अन्यत्र किसी अन्य पद के एक अंश का निर्माणहेतु बन कर आता है। आज कल तो इस प्रकार के सांकेतिक या संक्षिप्त शब्द बनाने की पद्धति प्रचलित है ही किंतु हिरण्य, हिम नरक, हृदय, आदि शब्दों का शाकटायन को 'सत्य' की निरुक्ति के आधार पर यास्क ने ही निर्वचन करने का यत्न किया था। 'अग्नि' की इस प्रकार की व्युत्पत्ति शाकपूणि ने की थी। किंतु जब सिद्धान्त चर्चा या आक्षेप की भी बात आती है यास्क केवल शाकटायन को ही श्रेय या उपालम्भ देते हैं।

शाकटायन का यह मत कितना दृढ़ था, यह बात उक्त दूसरे मत की एक व्याख्या से भी सिद्ध हो जाती है। द्विप्रकृति के दो अर्थ हैं: दो धातुओं के मौलिक योगदान से बनने वाले शब्द, और जिनकी मूल धातु आकारतः एक होकर भी दो भिन्न भूलार्थों को वहन करने वाली हो—अर्थात् रूप में एक होकर भी दो भिन्न धातुओं से शब्द का निर्माण हुआ हो। दुर्गाचार्य ने भी शाकटायन का यही मत माना है।[1] ऐसी कल्पित धातुएँ स्वरूपतः भी भिन्न मान ली जाती हैं इष्, इण आदि के रूप में। इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ पूर्वोक्त 'दो या अधिक शब्दों के योग' वाले सिद्धान्त का अधिक पुष्ट करता है।

किन्तु, दूसरा पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इससे अनेकार्थक शब्दों की

---

१ नि० १।४।१३।

बात का पूरा समाधान मिल जाता है। शाकटायन का इस सम्बन्ध में दृढ मत प्रतीत होता है कि तथाकथित अनेकार्थक शब्द मूलतः भिन्न भिन्न अर्थों में रचे गए एक ही आकार या रूप के भिन्न भिन्न शब्द होते हैं। उनका निर्माण, इसीलिए, भिन्न भिन्न या वैकल्पिक धातुओं से होना स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त भी अन्य कुछ मत विकीर्ण रूप में हमें मिलते हैं जिनसे शाकटायन का महत्त्व पता चलता है। इनमें से न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि ने 'काशिका' पर अपना न्यास लिखते हुए एक जगह लिखा है "इस प्रकार निरुक्तकार और शाकटायन के दर्शन में शब्दों की प्रवृत्ति तीन रूप में होती है जाति शब्द, गुण शब्द, और क्रिया शब्द के रूप में।" उनका यह मत भी वैयाकरणों की परम्परा में नहीं है। वैयाकरण 'यदृच्छा शब्दों' की एक चौथी कोटि मानते मात्र ही नहीं हैं, बल्कि उस कोटि को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी मानते हैं। वे ऐसे शब्दों को 'अव्युत्पाद्य' भी मानते हैं। किन्तु शाकटायन ने जानते बूझते भी इस सत्य को स्वीकार नहीं किया।

इसी प्रकार की अनेक बातें अन्य भी हैं, जिनमें उनकी मौलिकता सिद्ध होती है। प्रातिशाख्य निरुक्त और व्याकरण के क्षेत्रों में एक साथ इतने आलोक के साथ आने वाले शाकटायन मुनि का भी व्याकरण आज शेष नहीं है, इससे बड़े दुःख की बात और क्या हो सकती है। उन्हें प्रातिशाख्यकारों, नैरुक्तों और वैयाकरणों के सभी वर्गों से आदर भी मिला उन का अनुकरण भी हुआ, किन्तु विवादों का सृजन करने का दोष भी उन्हें ही वहन करना पड़ा।



महान् वाक्यशास्त्री औदुम्बरायण

नाम की जो व्याख्या पदमजरी के प्रणेता हरदत्त ने दी है उसके अनुसार यह नाम अन्वर्थक रखा गया है 'स्फोटप्रतिपादन म रत आचाय । हेमचन्द्राचाय और केशव ने स्फोटायन को 'कक्षीवान नाम दिया है । अन्यत्र 'कक्षीवान' नाम मिलता है किन्तु उसे स्फोटायन' नही कहा गया । उधर भरतमिश्र स्पष्टत कहते हैं कि औदुम्बरायण ही स्फोटायन है, क्योंकि उन्होंने ही 'स्फोट सिद्धान्त' को स्पष्टत उद्घोषित किया था । इस पर श्री युधिष्ठिर मीमासक लिखते हैं "वहा औदुम्बरायण के मत म (यास्क ने) शब्द का अनित्यत्व दर्शाया है ।"[1] इसी आधार पर वे स्फोटायन से उसे अभिन्न मानने को तैयार नही हैं । क्योंकि, उनके मत मे स्फोटायन "शब्दनित्यत्ववाद और स्फोटवाद" का उपस्थाता था ।

किन्तु, इस प्रकार की भ्राति केवल मीमासक जी को ही नही, अन्य भी बहुत से विद्वानो को हुई है । इसका विश्लेषण हम अगले प्रसग मे करेंगे । यहा इतना कह देना ही पर्याप्त है कि हमारे मत म यदि स्फोटायन नाम व्यक्तिवाचक' न होकर अन्वर्थ पद के रूप मे है तब इसका अधिकारी औदुम्बरायण से बढ कर कोई अन्य नही हो सकता ।

यास्क के वक्तव्य को अपूर्ण ढग से समझने और उसे विपरीत दिशा मे ले जाने का कारण यह है कि उसके बाद खण्ड आदि को बाटने मे विद्वानो ने कुछ अधिक 'उदारता (?) स ही काम लिया है । 'भिन्नरुचिर्हि लोक' के सिद्धान्त का इतना खुला अनुकरण कही नही हुआ । परिणामत जिन आचार्यों को सर्वाधिक भ्रम का शिकार होना पडा, उनम औदुम्बरायण एक है । उनके मत का जिस तरह विच्छिन्न करक भिन्न भिन्न खण्डो मे दिया गया है उसन उनकी स्थापना के पूव पक्ष को ही उनके मल मत के रूप मे उपस्थित किया है । उसके बाद वे क्या वक्तव्य देना चाहते हैं उस भुला कर उस वक्तव्य को यास्क का वक्तव्य मान लिया गया है । यह आश्चय की बात है कि दुर्गाचाय अपनी निरुक्तवृत्ति मे उसकी व्याख्या मे उपवष का जो मत व्यक्त करत हैं वह औदुम्बरायण के वक्तव्य को आश्रित करके ही पढा गया है और वह पाणिनि के एक सूत्र पर दिए गए पतजलि के वक्तव्य से नितान्त अभिन्न है । अत यास्क के आधार पर औदुम्बरायण को शब्द का अनित्यत्वादी ठहराना स्वत एव जघन्य अपराध है ।

कदाचित् यह बात अचीन्ही और अजानी रह जाती यदि भत हरि जैसा महान् भाषाविद् उन महाभाग औदुम्बरायण के मत को स्पष्ट शब्दो मे न समझाता । उनक कथन को उपवष पतजलि, और दुर्गाचार्य्य के वक्तव्यो के साथ रख कर पढन के बाद ही यह कहा जा सकता है कि यास्क उसके वक्तव्य को किस रूप मे प्रस्तुत करना चाहते थ । यास्क का वक्तव्य इस रूप म है 'औदुम्बरायण के मत मे वचन इन्द्रियनित्य हैं । उनम चतुष्ट्व (पदचतुष्टत्व) का प्रश्न ही नही

---

1 मी० म० या० इति० पृ० १७२ ।

उठता[1]।" किंतु, यह है वक्तव्य का यह अंश जिसे यदि अगले प्रसंग से काटकर पढ़ा जाए, तब एक भ्रामक युक्तिजाल को जन्म दे सकता है। इसके साथ लगने प्रसंग में ही यास्क आवृत्त जाते हैं 'शब्द की व्याप्तिमत्ता के कारण, इसके अणु या लघु में रूप में होने के कारण, इत्यादि से (यह नित्य है)[2]।' वास्तव में अगले प्रकरण में नित्य वाली बात को इस रूप में कहा नहीं गया है। पर, सारा युक्तिजाल बताता है कि यह इस बात का उत्तर है कि इंद्रियनित्य होते हुए भी वचन का प्रयोग क्यों होता है। वास्तव में वहाँ 'उच्चरित वाक्' और उसके द्वारा वहन किये जाने वाले 'शब्द या वक्तव्य' की स्थिति का अन्तर और सम्बन्ध बताया जा रहा है।

औदुम्बरायण ने प्रथम बार दोहरा शब्द में कहा कि वाक् का उच्चरित रूप तो अनित्य और उच्चरितप्रध्वंसी है। अतः उस रूप में व्यापनित होने वाले पदों या शब्दों को चार पदों आदि के रूप में बाँटना गलत है। पर, इसका अर्थ यह नहीं कि 'पद उच्चरित रूप में नित्य न होने पर भी, अन्यथा बुद्धिस्थ होने आदि के कारण नित्य है। जहाँ तक शब्द की अमवाहकता और उसकी स्वरूप स्थिति का प्रश्न है, यह बुद्धिस्थ रूप में नित्य है। और, व्याप्तिमान् लघुत्व या सूक्ष्मत्व आदि गुण होने से वही वाग्व्यवहार के योग्य ठहरता है। उसका उच्चरित रूप तो ध्वन्याश्रित है। ध्वनि इंद्रियाश्रित होने से अनित्य है। दूसरी ओर वही शब्द जब वाक्य या वक्तव्य का अंग बनकर प्रयुक्त होता है, तब सम्बन्धतत्त्व या कारकादिसंयोग को वहन करता है। इस नवस्थापित सम्बन्ध के कारण ही वह *अन्य पदों से मिलकर वक्तव्यभावना या वक्तभावना के वहन में समर्थ होता है।* पर, यह सम्बन्ध तो प्रयोगाधीन है। मूल रूप में शब्द 'भावना' को वहन करता हुआ, जिस रूप में बुद्धिस्थ रहता माना जा सकता है, उसके साथ पदभावना का कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। प्रत्ययों का—विभक्त्यादि का—योग उसके अर्थ में कुछ भी अन्तर उपस्थित नहीं करता। अतः उसकी पदरूप स्थिति भी नित्यता की दृष्टि से अव्यवहार्य है। और जब ऐसा है, तब बुद्धिस्थ रहने की दृष्टि से 'चारों पदों' की सत्ता मानना भी व्यर्थ है। जब विभक्त्यादिरहित रूप में ही शब्दों ने मन में रहना है, तब कौन नाम है, कौन 'आख्यात' और कौन उपसर्ग—इत्यादि प्रश्नों का अवकाश ही कहाँ है? और, यदि ये हों भी, तो भी उनके 'शब्दत्व' या 'नित्यत्व' का निर्णय उनके वाक् का और वक्तव्य का अंग या अंश होने के कारण होता है, उनकी अपनी वैयक्तिक स्थिति आदि के कारण नहीं। अतः चारों पदों का प्रश्न भी अव्यवहार्य है।

भरतमिश्र द्वारा औदुम्बरायण को स्फोटवाद का प्रवर्तक और शब्दनित्यता का उद्घोषक कहने के बाद भी यह शंका बनी ही रही की यास्क का इस विषय में कथन कहाँ तक प्रामाणिक है? अथवा, भरतमिश्र ने यह वचन कहीं यास्क-वचन

---

१ नि० १।१।२ ३ में। २ नि० १।१।३ में।

के विरोध म तो नहीं कहा ? 'वाक्यपदीय' भतृहरि की, भाषाशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र मे, वह अपूव कृति है, जो अब तक अन्धकार मे न रहती तो सम्भवत पाश्चात्य भाषाविज्ञान के चिन्तन की दिशा अधिक सही रूप ग्रहण कर पाती। उसमे जहा अनेक नई बातें नए ढग से भतृहरि ने कही हैं, वहाँ कुछ पूवस्थापित भ्रमो का निराकरण भी उन्होंने किया है। भरतमिश्र से सदियो पूव होने वाले इसी महान् वैयाकरण और भाषाविद् भतृहरि ने औदुम्बरायण के मत को कदाचित् सर्वाधिक सक्षिप्त किन्तु पूरा और सहेतुक रूप में प्रस्तुत किया है। यदि आधे श्लोक के इस स्पष्टीकरण को वे न प्रस्तुत करते तब कदाचित् औदुम्बरायण के वास्तविक अभिप्राय का रहस्योद्घाटन कभी न हो पाता।

भतृहरि के इस श्लोक का अभिप्राय यह है औदुम्बरायण का यह कथन कि पदो को चार मानना उचित नही है", या कि "पदो के चारभेदो की कल्पना सम्भव नही है" उनके इस पयवेक्षण का परिणाम है कि "वाक्य बुद्धिगत रूप म नित्य होता है और अथ का योग (वाक या वाक्य के साथ) नित्यात्मक होता है'। यह वक्तव्य देखन मे जितना ही छोटा है निहितार्थता की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है इसम दो बातें निहित हैं वाक्य की नित्यता नामक्रियादि पदो के प्रयोग के कारण नही है। उसकी नित्यता का निणय ध्वनि की नित्यता अनित्यता के निणय पर भी आधारित नही है। न ही उसकी नित्यता उसके किसी लक्षण के रूप मे निहित है। किन्तु, सत्य यह है कि वाक्य की नित्यता उसके बुद्धिस्थ होने के कारण है। उत्पन्न होने और विनष्ट होने वाली वस्तु 'ध्वनि' है, शब्द या वाक्य नही। ध्वनि जिसका उद्गिरण करती है, वह शब्द या वाक्य पहले से ही बुद्धि म परिपक्व या स्थिर होता है। अत ध्वनिव्यापार केवल उद्गिरण तक ही सीमित है। और जब शब्द या वाक्य बुद्धिस्थ है, तब ध्वनि उसका उद्गिरण कितनी ही बार करे, इससे क्या अन्तर पडता है ? बुद्धिस्थ होने से ही यह भी परिणाम निकलता है कि उच्चारण म हम उसको कितने भी शब्दों या ध्वनियो क माध्यम से प्रयुक्त करें, उसका अपना स्वरूप केवल उच्चरित शब्दो पर निभर नहीं करता। बुद्धिस्थ रूप अखण्ड है और परिमित या अपरिमित ध्वनियाँ उसके इस नित्य रूप को ही स्पष्ट करती हैं। वे स्वत 'अनित्य' भले ही हो पर वे स्वय ग्राह्य' नही हैं। उनके माध्यम से जो वस्तु ग्राह्य है उस पर उनकी अनित्यता का कोई प्रभाव नही पडता। अब, क्योकि, यह बुद्धिस्थ या वहन की जाने वाली वस्तु वाक्य' है 'पद' नही, अत उसी वाक्य का उद्गिरण वाक या ध्वनियो के माध्यम से होता है। पदो या शब्दों को जिस रूप म हम ग्रहण करते हैं, या स्वरूपत ऐसा करने का भ्रम होता है वह स्वत अनस्तित्ववान् इस लिए है कि वाक्य योग के बिना उनका अस्तित्व हो या न हो इससे कोई अन्तर नही पडता। और प्रयोग में एकाकी शब्द और पद के प्रयोग का कोई अवकाश नही रहता। वक्तुरिच्छा या वक्ता की सम्भावना ही उसे वाग्व्यापार म प्रवृत्त करती है। यह इच्छा स्वत पूर्ण रूप में अविभाज्य है। इसे अखण्ड रूप म प्रकाशित करने के प्रयास में ही हम

रूप में नित्यता।

अर्थ की यह नित्यता ही उस सिद्धान्त के जन्म का कारण बनी जिसे स्फोट सिद्धान्त के नाम से कहा जाता है। अर्थ का वाक्य से अभिन्न और शाश्वत रूप मे सम्बन्ध है, यह बात तभी कही जा सकती है, जब हम वाक् और अर्थ दोनों को, परस्पर अविभाज्य और अखण्ड मानने के साथ साथ, प्रकृतित भी अखण्ड और *अविभाज्य मानें। और, यदि वे अविभाज्य हैं, तब इन प्रश्नो या शकाओं का* अवकाश ही कहाँ रहता है, कि वाच्य किन शब्दो से मिलकर बनता है, उसकी परिभाषा क्या है, अथवा उसमे कितने पद या शब्द प्रयुक्त हुए हैं? अखण्ड रूप मे वह बुद्धि मे जन्म लेता है, खण्डरूप ध्वनि के माध्यम से व्यक्त होकर, वह फिर से एक अखण्ड भावना या प्रतीति को जन्म देता है। इस अखण्ड और युगपत् प्रतीति को ही वैयाकरणों के सम्प्रदाय मे 'स्फोट' कहते हैं।

और, औदुम्बरायण इस मत के ही उद्घोषक—स्फोटायन— रहे थे।

इन औदुम्बरायण का समय क्या रहा होगा, यह तो निश्चय मे नही कहा जा सकता। किन्तु, एक तथ्य अवश्य अवधेय है तैत्तिरीय सहिता के एक वचन में, और सायणाचार्य द्वारा उसकी व्याख्या मे, इस बात को बताया गया है कि पहले वाणी को अखण्ड ही माना जाता था। कदाचित् इसीलिए उसके व्याकरणादि अविभाग याकरणों के रूप म ही लिखे जाते थे। किन्तु प्रकृति प्रत्यय के रूप मे सविभाग पद्धति का श्रीगणेश इन्द्र ने ही किया। यह बात हमने अन्यत्र विस्तार से समझाई है[1]। किन्तु, इस वक्तव्य से यह अवश्य स्पष्ट होता है कि औदुम्बरायण से बहुत पहले, वेदो के समकाल ही, वाणी की अविच्छिन्नता का सिद्धान्त बद्धमूल हो चुका था। यह बात ऋग्वेद के भी अन्यान्य सूक्तो और मन्त्रो से व्यक्त है। 'चत्वारि *शृगा*' के रूप में जिस *चतु शृग गौर का वर्णन है*, वह *'महादेव शब्द' स्वय 'वाक्'* का ही प्रतिरूप है, पद रूप शब्द' का नही।

किन्तु परवर्ती वैयाकरणो और वाग्विदो में से यह सौभाग्य औदुम्बरायण, उर्फ स्फोटायन, का ही था कि वाक की अखण्डता को 'वाक्य की अर्थनित्यता और स्फोटात्मक अखण्डता' के रूप में उसने पुन सम्पादित किया।

उनसे बडा वाक्यशास्त्री और कौन रहा होगा? मीमासा, मीमासक और भर्तृहरि आदि उनके ही सिद्धान्त के परवर्ती उद्घोषक कहे जा सकते हैं।

पर उसे प्रकाश मे लाने का प्रथम श्रेय यास्क को ही मिलना चाहिए, जब कि उसके महत्त्व प्रतिपादन का श्रेय सर्वाधिक भर्तृहरि को ही जाता है।

---

१ वर्मा, सस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास, *द्वितीय अध्याय*।

पाणिनीय व्याकरण-पद्धति

१ १ भाषा विश्लेषण तथा व्याकरण की भारतीय परम्परा ससार म सब म प्राचीन है और ईसा से पूव चौथी शताब्दी स लकर इस का क्रमिक इतिहास उपलब्ध होता है। चौथी शताब्दी (ईसा स पूव) पाणिनि का समय माना जाता है। पाणिनि के समय के बारे म विवाद है कुछ विद्वानो न ईसा स पूव सातवी शती को पाणिनि काल सिद्ध करन का यत्न किया है। किन्तु अनक प्रमाण चौथी शताब्दी को मान्य सिद्ध करते हैं। पाणिनि से कई शताब्दी पहल स ही भारत म भाषा विश्लेषण के अनेक प्रयोग होत रहे थे—इस बात क प्रमाण स्वय पाणिनि कृत अष्टाध्यायी म उपलब्ध होत है। पाणिनि के पूव ही वेदो की भाषा के व्याकरणिक नियम प्रतिपादित करन वाल प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थ रच गय थे। ग्रिय सन के अनुसार भारतीय प्रातिशाख्यो क व (अज्ञात नामा) निर्माता ही थे जो इस (भाषा विज्ञान नामक) विज्ञान की आधार शिला डालने वाल थे और जिनकी रच नाओ से पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक प्रेरित होते रहे ह।

१ २ भाषा का विश्लेषण व्याकरण का निर्माण इत्यादि भाषा सम्बन्धी काय प्रातिशाख्यो से ही आरम्भ हुए। वद क अग मान जान वाल छ शास्त्रो म स चार शास्त्र भाषा विषयक चर्चा करन वाले है वे हैं—शिक्षा व्याकरण निरुक्त तथा छन्द। ज्योतिष और कल्प दो अन्य शास्त्र है जो वेदाग हैं किन्तु भाषाविषयक चर्चा नही करत। शिक्षा व्याकरण आदि चारो शास्त्रो म भाषा की (सस्कृत की) ध्वनि प्रक्रिया पदरचना वाक्य विन्यास अनुतान शब्द व्युत्पत्ति अर्थाभिव्यक्ति की प्रक्रिया कोशरचना आदि बातो की चर्चा है। इनके अतिरिक्त वदो के चिन्तन पर आधारित दशन शास्त्रो ने भी भाषा की चर्चा की ह। न्याय वशेषिक मीमासा (पूवमीमासा) वदान्त (उत्तरमीमासा) न तथा योग शास्त्र न भी भाषा के बारे म विवेचन किया है। (साख्य दशन का इस प्रसग म हम उल्लेख नही कर रहे हैं।) इनके अतिरिक्त जन तथा बौद्ध दशनो म भाषीय चर्चा की गई है। व्याकरण निरुक्त आदि म भाषीय अगो की रचना तथा उनके प्रकार्यों का विवेचन मुख्य है। पूव मीमासा आदि म भाषीय अभिव्यक्ति और वाक्य प्रयोग सम्बन्धी चर्चा मुख्य है। आधुनिक भाषा विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र की सीमा म ये सभी बातें आती हैं। (इन का विस्तृत विवेचन इसी लेखक के एक अन्य ग्रन्थ प्राचीन भारतीय भाषा वज्ञानिक चिन्तन धारा' म द्रष्टव्य है।)

१ ३ इन प्राचीन ग्रन्थो का अवलोकन हम भले ही न करें तो भी स्थान प्राप्त पारिभाषिक शब्द स्वय यह अनुमान करन के लिए पर्याप्त हैं कि किस सूक्ष्मता

तथा तथ्यग्राही पद्धति से अध्ययन हुआ है। ये पारिभाषिक शब्द भारत की सभी भाषाओं के लिए सामान्य हो गये हैं और 'संधि' शब्द तो विश्व के स्तर पर अपनाया गया शब्द है। 'व्याकरण' शब्द स्वयं वैज्ञानिक अर्थ से सम्पन्न है और वास्तव में लिंग्विस्टिक्स का पर्यायवाची है। अंग्रेजी का शब्द 'ग्रैमर' (जो कि वास्तव में ग्रीक भाषा से लिया गया है) तथा संस्कृत का शब्द 'व्याकरण'—दोनों का परिशीलन करने पर 'व्याकरण' की वैज्ञानिकता तथा उपादेयता स्पष्ट होती है। संज्ञा, क्रिया विशेषण सर्वनाम, प्रत्यय, उपसर्ग, वाक्य, पद, अर्थ, विभक्ति, समास वर्ण, अक्षर स्वर, व्यंजन, लिंग, वचन, वाच्य, काल, पुरुष, सन्धि संहिति, आकांक्षा अभ्यवहार, प्रयोग, व्युत्पत्ति, निष्पत्ति, अभ्यास आम्रेडित इत्यादि अनेक शब्द जो कि आधुनिक भाषा विज्ञान के लिए उपादेय हैं, प्रथमतया इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ तक कि आधुनिक व्याकरणों में—विशेष कर विपरिवर्तक निष्पादक व्याकरण (Transformational and Generative Grammar) में—जिस गणितीय आधार की बात कही जाती है वैसा गणितीय आधार स्वयं पाणिनि की रचना में विद्यमान है।

१४ उक्त पारिभाषिक शब्दों में अनेक ऐसे हैं जो अब प्रचलित नहीं हैं किन्तु आज की वैज्ञानिक चर्चा के लिए अत्यन्त उपयोगी बन सकते हैं। इधर अंग्रेजी शब्दावली के समानान्तर हिन्दी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में शब्दावलियाँ निर्मित की जा रही हैं इनमें नये तौर पर गढ़े गये अनेक शब्दों की अपेक्षा प्राचीन पारिभाषिक शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए 'Generative' शब्द को लीजिए। इसका पर्याय नई शब्दावली में 'प्रजननात्मक' माना गया है इसका समानान्तर प्राचीन शब्द है— निष्पादक जो अधिक वैज्ञानिक है।

१५ आधुनिक भाषा विश्लेषण पद्धतियों में भाषीय नियमों को प्रतिपादित करने के लिए उपयुक्त 'निरूपक भाषा' और 'लिप्यंकन पद्धति' की खोज बराबर चलती रहती है। पाणिनि की रचना में एक निरूपक भाषा शैली दिखाई पड़ती है जिसका आधार स्पष्ट रूप से गणित है। बीजगणित' (जो कि भारत का ही आविष्कार था) का सहारा प्राचीन भाषा वैज्ञानिक चिंतन में लिया जाता रहा है। न्याय शास्त्र ने अपनी एक 'निरूपक भाषा शैली' अपनाई है। ('निरूपक' शब्द स्वयं इसी न्यायशास्त्रीय भाषाशैली की देन है)। पश्चात् की जो भाषा विषयक चर्चाएँ हुई उनमें कहीं कहीं न्यायशास्त्रीय निरूपक भाषाशैली को अपनाया गया है। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए इन निरूपक भाषाशैलियों का परिचय आवश्यक है। इस परिचय के अभाव के कारण वे ग्रन्थ कम पढ़े जाते रहे और अब उनका अध्ययन लुप्तप्राय होता जा रहा है। ऐसी निरूपक शैली की आधुनिक विद्वान् खोज और प्रयोग करते रहते हैं तो इस प्राचीन शैली को ही क्या न अपना कर भाषीय अनुसंधान किये जायें? इस दिशा में चिन्तन होना आवश्यक है।

२ संस्कृत भाषा चिन्तन-परम्परा यह मानती है कि पाणिनि के पूर्व (अर्थात् ईसा से पूर्व की चौथी शताब्दी के पहले) आठ व्याकरण-सम्प्रदाय प्रचलित हुए

जिनके नाम (कदाचित् उन व्याकरण सम्प्रदायों के प्रवर्तक व्यक्तियों के नाम पर) ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल और शाकल दिये जाते हैं। पाणिनि के ग्रन्थ में बारह ऐसे नाम प्राप्त होते हैं जिनका सम्बन्ध व्याकरणिक चर्चा के मतवादों से है, अतः कदाचित् कुछ और भी सम्प्रदाय प्रचलित थे। पाणिनीय व्याकरण पद्धति स्वयं इन सम्प्रदायों की ऋणी है—यह स्पष्ट है। पाणिनि ने ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है जो स्पष्ट ही उन के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों की देन थे। जैसे तत्पुरुष बहुव्रीहि आदि समासों के नाम, 'विभक्ति', 'प्रत्यय' प्रातिपदिक कर्मप्रवचनीय उपसर्ग सर्वनाम इत्यादि। इन शब्दों का प्रयोग करने पर भी पाणिनीय व्याकरण-पद्धति मौलिक तथा अधिक वैज्ञानिक बनी है। पाणिनीय व्याकरण पद्धति का संक्षिप्त विवेचन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

३ १ पाणिनि का व्याकरण संस्कृत भाषा का—वैदिक तथा उस समय लोक व्यवहार में स्थित संस्कृत की शैली का—व्याकरण है। इस में भाषा संरचना का पूर्ण विश्लेषण किया गया है और नियम निरूपण एक विशिष्ट निरूपक शैली में किया गया है। इस विश्लेषण की तह में भाषा सम्बन्धी एक निश्चित सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बारे में पाणिनि ने स्पष्ट शब्दों में कुछ नहीं कहा है। फिर भी पाणिनीय सूत्रों से उसका स्पष्ट संकेत मिल जाता है। पाणिनीय सूत्रों की व्याख्या करने वाले विभिन्न व्याख्याताओं ने इस के बारे में स्थान स्थान पर कहा है।

३ २ *पाणिनीय सूत्र एक समुच्चय*[1]*—Set के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।* अतएव 'अष्टाध्यायी नाम से समुच्चयता का सङ्केत दिया गया है। इस सूत्र समुच्चय के उपसमुच्चय—Subsets—हैं आठ अध्याय। इन आठ उपसमुच्चयों में भी प्रत्येक में चार चार और उपसमुच्चय हैं जिन्हें पाद नाम दिया गया है। यों कुल बत्तीस पाद हैं। प्रत्येक उपसमुच्चय का एक विशिष्ट लक्षण है। यह लक्षण उन सूत्रों के प्रकार पर आधारित है। सूत्रों के उन के प्रकार के अनुसार छ भेद किये गये हैं (१) संज्ञासूत्र (२) परिभाषासूत्र (३) विधिसूत्र (४) नियमसूत्र (५) अति

---

[1] समुच्चय कोई विशेष वर्ग अथवा सवर्ग होता है जिसमें समान लक्षण वाले अनेक तत्त्व सदस्य बने रहते हैं। समुच्चय दो प्रकार का होता है एक वह जिसमें सदस्यों का क्रम निश्चित नहीं रहता दूसरा वह समुच्चय जिसमें सदस्यों का क्रम निश्चित होता है। *इन्हें क्रमशः क्रमहीन समुच्चय और क्रम बद्ध समुच्चय कहते हैं।* अंग्रेजी में क्रमबद्ध समुच्चय को Sequence अथवा ordered set कहा जाता है और क्रमहीन समुच्चय को orderless Set। उदाहरण—

(१ २ ३)
(क च ट त प) } क्रमबद्ध समुच्चय — ( ) यह कोष्ठक क्रमबद्ध समुच्चय का चिह्न है।

{३, २ १, ५..}
{क प ट त च} } क्रमहीन समुच्चय — { } यह क्रमहीन समुच्चय का चिह्न है।

देशसूत्र और (६) अधिकारसूत्र ।

पाणिनिकृत सूत्र लगभग ४००० हैं। 'लगभग' इसीलिए कहा गया है कि विभिन्न व्याख्याताओं की दृष्टि से सूत्र संख्या में कुछ अन्तर आ गया है। कुछ व्याख्याताओं की दृष्टि में जो पृथक् पृथक सूत्र हैं, वे और किसी व्याख्याता की दृष्टि में मिल कर एक सूत्र बन जाते हैं। इन चार सहस्र सूत्रों में अधिकतर सूत्र विधि सूत्र हैं। शेष में कुछ सूत्र संज्ञाविधायक हैं, कुछ परिभाषा-कथन करने वाले हैं, कुछ अधिकारसूत्र हैं जिनका स्वतन्त्र कोई कार्य नहीं है, किन्तु क्रम में अपने बाद आये सूत्रों में उपस्थित होकर उन सूत्रों के कार्य को परिवर्तित या स्पष्ट करना होता है। इन अधिकारसूत्रों के तीन भेद किये गये हैं। एक वे सूत्र हैं जो व्याकरण के समस्त क्षेत्र को इस प्रकार प्रकाशित करते हैं जिस प्रकार कोई दीप सारे घर को प्रकाशित करता हो। दूसरे वे अधिकारसूत्र हैं जो किसी सूत्र में ऊँचे स्थान से उसके द्वारा आकृष्ट होकर सूत्र के साथ एकवाक्यता प्राप्त करके अर्थ बोध कराते हैं। तीसरे वे अधिकारसूत्र हैं जो किसी कार्यविशेष को विहित करने वाले प्रत्येक सूत्र से सम्बद्ध हो जाते हैं। अतिदेशसूत्र वे हैं जो किसी विशेष कार्य को विहित करने वाले सूत्र को कार्यान्तर में प्रवृत्त कर देते हैं। जब किसी विधिसूत्र के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया जाता है, तब, उस प्रकार सीमित करने का विधान करने वाला सूत्र नियमसूत्र कहलाता है। विधि के ही उत्सर्ग और अपवाद दो भेद होते हैं। एक निषेधसूत्र भी होता है जो वास्तव में किसी पूर्व विहित कार्य का निषेध विधान करता है। इसे विधि वर्ग के अन्तर्गत माना जा सकता है। कभी निषेध को परिभाषातुल्य भी मान लिया जाता है। ये सभी नाम पाणिनि के द्वारा कहीं उल्लिखित नहीं हैं। किन्तु परम्परा से ऐसे नाम दिये जाते हैं। इन नामों से यह प्रकट होता है कि सूत्रों का परिचालन—Operation—किस प्रक्रिया से होता है। पाणिनीय पद्धति में सूत्र परिचालन की प्रक्रिया को समझना अत्यन्त आवश्यक है। पातञ्जल महाभाष्य, नागेशकृत परिभाषेन्दुशेखर इत्यादि ग्रन्थों में विस्तार से सूत्र परिचालन का विवेचन किया गया है। इन विविध प्रकार के सूत्रों के नमूने इस प्रकार हैं—

(संज्ञासूत्र) १ 'वृद्धिरादैच्'—'आत् और एच्' नामक प्रत्याहार के वर्णों की 'वृद्धि' संज्ञा की जाती है। अर्थात् आकार, ऐकार और औकार इन तीनों वर्णों का नाम 'वृद्धि' होगा।

(परिभाषासूत्र) २ 'षष्ठी स्थानेयोगा'—जब किसी सूत्र में षष्ठी विभक्ति वाला पद हो और उस के सम्बन्ध में कुछ विधान किया गया हो तो यह समझना चाहिए कि वह विधि उस षष्ठ्यन्तपदवाच्य शब्द के स्थान में (आदेश के रूप में) होती है। (इस बात का उदाहरण आगे के सूत्र में मिल जाएगा।)

(विधिसूत्र) ३ 'इको यणचि'—इक् प्रत्याहार के वर्णों के स्थान पर 'यण्' सवर्ग के वर्ण आते है, जब अच् वर्ण पर हो।

इसी बात को आधुनिक ढंग के आरेख में प्रस्तुत करना चाहें तो इस प्रकार होगा—

{इ उ ऋ लृ} {य व र ल} {अ आ इ}

(नियमसूत्र) ४ अनुदात्तङित आत्मनेपदम् [१ ३ १२] इसके पूर्व धातु पर परस्मैपद और आत्मनेपद—दो प्रकार के प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस सूत्र से यह नियम किया जा रहा है कि आत्मनेपद उन्हीं धातुओं पर होगा जो इत् संज्ञा से युक्त अनुदात्त स्वर वाले हों अथवा इत्संज्ञा वाले ङकार से युक्त हों। अर्थात् इन से भिन्न धातुओं पर परस्मैपद ही होगा न कि आत्मनेपद।

(अतिदेशसूत्र) ५ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ [१ १ ५६] अस्तेर्भूः [२ ४ ५२] सूत्र से आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर अस्ति धातु पर भू आदेश विहित किया गया। यह भू चूंकि आदेश से प्राप्त है अतः इसमें धातुत्व नहीं रहा अतः धातुप्रयुक्त कार्य इस पर नहीं हुए। अतः यह सूत्र यह अतिदेश कर रहा है कि स्थानी का कार्य उस पर आए आदेश को भी होता है।

(अधिकारसूत्र) ६ प्रत्ययः [३ १ १] तीसरे अध्याय के प्रथम पाद से प्रारम्भ कर के पंचम अध्याय के अन्त तक प्रत्येक सूत्र में 'प्रत्यय' शब्द जोड़ा जाएगा।

परश्च [३ १ २] तीसरे अध्याय से पंचम अध्याय तक जो प्रत्यय विहित होंगे, वे परस्थान में होंगे।

३ ५ इन मुख्य सूत्रों के परिचालन के लिए सहायक तीन और समुच्चय हैं। इन तीन समुच्चयों का उल्लेख सूत्रों में आवश्यक स्थानों में उन समुच्चयों के नाम से किया जाता है। किन्तु उन समुच्चयों के सदस्य अंश कौन हैं—इस बात का पता उस सूत्र से नहीं प्राप्त होता किन्तु इन समुच्चयों का पृथक् परिगणन किया जाता है। इन तीन समुच्चयों को गण कहा जाता है। सूत्रों के समुच्चय के साथ इन तीनों गणों—समुच्चयों—को मिलाकर—संस्कृत भाषा का पूर्ण व्याकरण बनता है। ये तीनों समुच्चय हैं—१ धातु समुच्चय २ विभिन्न शब्द समुच्चय ३ वर्ग समुच्चय।

१ धातु समुच्चय—संस्कृत की सभी धातुओं का यह संवर्ग है। इसके भीतर दस उपसमुच्चय हैं। इन दस उपसमुच्चयों के भीतर भी आवश्यकतानुसार कुछ अंशों के पृथक् संवर्ग बना लिये गये हैं। इस प्रकार वर्गीकृत कर देने से यह सुविधा होती है कि कोई विधान करते समय अनेक अंशों को मिलाकर समुदित रूप में उल्लेख करना सम्भव है। जैसे—दिवादिभ्यः श्यन् [३ १ ६९]—दिवादि समुच्चय के आगे पर श्यन् आता है। 'दिवादि' एक धातुसमुच्चय है जिसमें १४१ धातुएँ हैं इन पर 'श्यन्' 'विकरण' का विधान किया गया है। इस से दिव् नृत् धातुओं से दीव्यति नृत्यति जैसे रूप बनते हैं।

२ विभिन्न शब्द समुच्चय—वास्तव में इस समुच्चय के भीतर २५१ उपसमुच्चय हैं। ये धातु से भिन्न अन्य शब्दों का किसी विशेष कार्य के लिए किया गया

वर्गीकरण है। जैसे सर्वादिगण इस गण में सर्व विश्व, उभ, उभय आदि ३४ शब्द हैं, इन्हें 'सर्वादीनि सर्वनामानि [१ १ २७] सूत्र से सर्वनाम संज्ञा दी गई है।

अजादिगण में अजा एडका, अश्वा मूषका आदि शब्द दिये गये हैं। अजाद्यतष्टाप [४ १ ४] सूत्र में अजादि शब्दों पर स्त्रीलिंग में टाप प्रत्यय का विधान किया गया है।

इसी प्रकार उपसर्गों का और अव्ययों का भी उपसमुच्चय है। इन गणों में कुछ 'आकृतिगण' कहलाते हैं। याने मुक्त समुच्चय—Open set, अर्थात् इनके सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं है। आकृति शब्द से सम्बद्ध गण के सदस्यों में विद्यमान लक्षण का संकेत दिया जाता है, उस लक्षण से युक्त कोई अंश उस गण में रखा जा सकता है। जो आकृतिगण नहीं हैं वे 'सीमित गण' कहे जा सकते हैं, याने उनके सदस्यों की संख्या निर्धारित है—Close set—जैसे।

स्वरादिगण इसमें अव्ययों का परिगणन किया गया है। यह आकृतिगण है।

सर्वादिगण' सर्वनाम सूचक शब्द इस गण के सदस्य हैं। यह सीमितगण है।

कभी-कभी मुख्य सूत्र में ही कुछ अंश का कोई संवर्ग दे दिया जाता है। ऐसे संवर्ग अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। उदाहरण के लिए—

श्वयुवमघोनामतद्धिते [६ ४ १३३] अतद्धित प्रत्यय जब परे हो तब श्वन् युवन् मघवन्—इनमें सम्प्रसारण होता है। इ उ ऋ, लृ'—ये जब क्रमश य, व र ल के स्थान पर आवें तब सम्प्रसारण कहलाते हैं। श्वन् में सम्प्रसारण का तात्पर्य है— व' का उ हो जाना— शुन्' बन जाना।

इसी प्रकार स्वौजसमौट् ' [४ १ २] सूत्र में प्रातिपदिक पर लगने वाले सभी विभक्तिप्रत्ययों का परिगणन करके उल्लेख किया गया है।

३ वर्ण समुच्चय—यह संस्कृत के सभी वर्णों का परिगणित संवर्ग है। इसके भीतर भी चौदह उपसमुच्चय हैं। यह क्रमबद्ध समुच्चय है अर्थात् इनके सदस्यों का क्रम भी निश्चित किया गया है। इन चौदह उपसमुच्चयों को इसीलिए चौदह सूत्र' कहा जाता है। अर्थात् इन समुच्चयों में, वर्णों का अमुक क्रम हो— ऐसा विधान भी सकेतित है। गण और सूत्र का यही अंतर है। सूत्र' विधायक (=विधान करने वाला) होता है 'गण' केवल सदस्यों की सूचना देता है।

अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच् हयवरट् लण् ञमङणनम् इत्यादि चौदह वर्ण-समुच्चय हैं। इन सूत्रों में प्रत्येक के अंत में दिया गया व्यंजन—ण क ङ् च् ट इत्यादि इसलिये है कि उसके साथ पूर्व वर्ती किसी वर्ण को सम्मिलित करके अण् इण् अक् इक् एङ् ऐच् अच् इच् अट् इत्यादि कुछ सांकेतिक संवर्ग बनाये जा सकें। याने अण् कहने पर अ और 'ण' के बीच के सभी वर्णों का उल्लेख हो जायगा। अच्' कहने पर अ इ उ ऋ लृ आदि च' तक के सभी वर्णों का बोध हो जाएगा। ऐसे संकेतों को प्रत्याहार नाम दिया गया है। पाणिनीय पद्धति में इन प्रत्याहारों का बड़ा महत्त्व है इनके द्वारा छोटे छोटे सूत्र बनाना संभव है जिनका कार्य विस्तृत क्षेत्र में हो जाता है।

३ ६ उक्त तीनो समुच्चय तथा सूत्र-समुच्चय मिलकर पाणिनीय व्याकरण बनते हैं। इनके अतिरिक्त *उणादिगण लिगानुशासन तथा परिभाषागण—ये तीन* और अश भी बाद म जोडे गये हैं। उणादिगण वास्तव म कुछ सूत्रो का समुच्चय है, सूत्रो के द्वारा अनेक अव्युत्पन्न शब्दो की व्युत्पत्ति या रचना का विधान किया गया है। लिगानुशासन' म शब्द के लिंग के बारे म कुछ नियम दिये गये हैं। परिभाषा गण पाणिनीय सूत्रो का परिचालन करने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये बना लिये गये कुछ नियम या Conventions है।

इनके अतिरिक्त फिट सूत्र नाम से कुछ सूत्र हैं जिनके द्वारा वदो म प्रयुक्त शब्दो के उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरो का निर्धारण किया जाता है। ये सभी अग—उणादि सूत्र से फिट सूत्र तक के अश—पाणिनि के पश्चात् दूसरे व्यक्तियो के द्वारा किसी विशेष प्रयोजन से सम्मिलित किये गये हैं।

४ पाणिनि-पद्धति के लिए मान्य भाषा-सम्बन्धी कुछ अभिधारणाएँ या मान्यताएँ (Postulates) हैं। इनका स्पष्ट उल्लेख या व्याख्या पाणिनिकृत सूत्रो मे नही है। तो भी इनका सकेत स्पष्टतया प्राप्त होता है। ये अभिधारणाएँ भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त के अश हैं जो पाणिनि के लिए सम्मत हैं। इनका सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है—

(१) भाषा का मुख्य अग वाक्य है। वाक्य रचना का मुख्य आधार 'पद है। पद का अर्थ है सुबन्त या तिङन्त शब्द।—अर्थात् प्रयोगसाधक प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न क्रियारूप अथवा सज्ञारूप।

(२) भाषा का विश्लेषण दो प्रकार से सभव है एक—वाक्य से आरम्भ करके पद तथा पदार्थ का निरूपण। इसे वाक्यसस्कार पक्ष' नाम दिया गया है। दूसरा—पदाशो का निरूपण करके फिर पद तथा पदान्वय का निरूपण करना। इसे 'पदसस्कार पक्ष कहा गया है।

(३) जो भाषीय अश पहले से समाज से प्राप्त होते हैं उन्हे चार भागो में विभाजित कर सकते हैं

(१) नाम (२) आख्यात (३) उपसर्ग (४) निपात। आख्यात धातु है, उपसर्ग धातु से सलग्न होने वाला अश है। नाम से सज्ञा सर्वनाम तथा विशेषण का ग्रहण होता है। 'निपात मे *अव्यय तथा अनिष्पन्न शब्द* आते हैं।

(४) नाम शब्द तथा आख्यात शब्द का अर्थ पहले से समाज में निश्चित रहता है, शब्द की आकृति (रूप) तथा (वस्तु जगत् का) अर्थ—दोनो मे नित्य सम्बन्ध रहता है और नाम या धातु की आनुपूर्वी (अर्थात् वर्णों का पूर्वापरक्रम—Tactical position of the sounds) निश्चित रहती है। व्याकरण केवल उनका 'सस्कार' करता है। 'सस्कार' से तात्पर्य है—उनको वृत्तियो म सयोजित करना तथा वाक्य मे प्रयोग-योग्य बनाना। (वृत्ति का विवेचन आगे किया जाएगा)

(५) वाक्य समस्तपद पद तथा पदाश—ये चार वाक्यगत स्तर हैं। पदाश' म नाम, धातु निपात, उपसर्ग तथा कृत्, तद्धित, सुप तिङ आदि प्रत्यय एव अ

'य', 'स्य' इत्यादि विकरण आते हैं।

(६) 'पद' के भीतर कृदन्त, तद्धितान्त तथा क्रिया रूप आते हैं। कुछ याद च्छिक पद या अव्युत्पन्न पद भी होते हैं।

(७) एक पदांश को दूसरे पदांश से जोडकर तब उस विशिष्ट आकृति के द्वारा अर्थ प्रतिपादन करने की रीति 'वृत्ति' कहलाती है। भाषा में छ प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं। जैसे—

१ कृद्वृत्ति—धातु पर विभिन्न व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर शब्द बना लेना।

२ तद्धितवृत्ति—एक नाम शब्द पर व्युत्पादक प्रत्यय लगाकर दूसरा नाम शब्द बना लेना।

३ समास वृत्ति—दो शब्दों का योजन।

४ एक शेष वृत्ति—दो या अधिक शब्दों में से एक को बचाकर शेष शब्दों का लोप कर देना और उस बचे शब्द से पूरा अर्थ प्रतिपादित करना।

५ सनाद्यन्त वृत्ति—धातु पर सन्, यङ आदि प्रत्यय लगाकर विविध क्रिया रूप व्युत्पादित कर लेना जिनसे विविध 'प्रकार'—moods तथा 'क्रिया वृत्तियां'—aspects प्रकट होती हैं।

६ धातुवृत्ति (क्रियारूप)—धातु पर 'तिङ्' प्रत्यय लगाकर विविध क्रिया रूप व्युत्पन्न करना।

(८) किसी शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है—

१ शब्द का स्वरूप स्वयं शब्द का अर्थ है।

२ वस्तुगत धर्म विशेष या 'जाति', उस जाति से युक्त 'व्यक्ति' (याने वस्तु) व्यक्ति की आकृति—ये 'अर्थ' होते हैं। एक मत के अनुसार वस्तुगत लिंग, वचन तथा कारक भी शब्द का ही अर्थ हैं। (प्रत्यय केवल संकेत देने वाले हैं, अर्थ बोधक नहीं)।

(९) अर्थ-बोधकता की दृष्टि से शब्द के चार भेद किये जा सकते हैं—

१ संज्ञा शब्द २ जाति शब्द ३ क्रिया शब्द और ४ गुण शब्द। संज्ञा, जाति क्रिया और गुण—इन्हें 'प्रवृत्तिनिमित्त' कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति या अर्थ प्रतिपादन के लिये ये निमित्त—हेतु बनते हैं। 'पशु' जातिशब्द है, 'पाचक' क्रियाशब्द, 'सुन्दर' गुणशब्द है और 'डित्थ' संज्ञाशब्द।

(१०) वाक्य में एक पद का अन्य पद के साथ तीन प्रकार का सम्बन्ध होता है— १ आनन्तर्य २ सामीप्य और ३ प्रसंग। दो अंशों के मध्य किसी लक्षण के आधार पर जो साम्य स्थापित हो वही आनन्तर्य है। यह आनन्तर्य स्थान, अर्थ (याने प्रकार्य—Function), गुण तथा प्रमाण—इनके आधार पर होता है।

(११) भाषीय अंशों के मध्य 'संहिता' होती है। 'संहिता' से तात्पर्य यह है— दो अंशों का ऐसा योग कि बीच में अवरोध या विराम न रहे। यह संहिता प्रकृति और प्रत्यय में, उपसर्ग और धातु में, समस्त पद के घटकों में, नित्य रहती है किन्तु वाक्य के स्तर पर उसके घटक पदों के मध्य कभी हो सकती है या नहीं भी

हो सकती है ।

५ उपर्युक्त भाषासम्बन्धी मान्यताओं के अतिरिक्त भाषा की अर्थप्रतिपादकता के बारे में स्फोट नामक सिद्धान्त मान्य हुआ है। व्याख्याताओं के अनुसार पाणिनि इस मत से परिचित थे। किन्तु पाणिनि ने अवङ् स्फोटायनस्य आदि सूत्रों में 'स्फोटायन' नामक किसी स्फोटमतावलंबी व्यक्ति के उल्लेख के अतिरिक्त स्पष्ट रूप में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। वैसे वाक्य शब्द के केवल दो बार प्रयोग के अतिरिक्त पाणिनि ने कहीं भी उसकी व्याख्या नहीं की है।

स्फोट के दो प्रधान भेद हैं—अखंडस्फोट और खंडस्फोट। अखंडरूप में वाक्य अर्थबोधक होता है वाक्य का विखंडन संभव है और प्रत्येक विखंडित अंश का अपना अपना पृथक् अर्थ या प्रकार्य—function होता है—इस प्रकार दो पक्ष हैं।

भाषा का ही नाम है स्फोट। क्योंकि उससे अर्थ स्फुटित—प्रकाशित होता है स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोट =भाषा की स्वनात्मक संरचना को जिसका अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है 'स्फोट' कहा जाता है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतवाद हैं। पद में दो अंश होते हैं—प्रकृति और प्रत्यय। 'प्रकृति' से नाम शब्द तथा धातु का ग्रहण होता है। नामशब्द से बोधित होनेवाला अर्थ है—

(१) प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थात् संज्ञा क्रिया गुण या जाति)

(२) वस्तु की आकृति तथा व्यक्ति (द्रव्य)।

धातु से बोधित होनेवाला अर्थ है—

(१) फल (जो कि व्यापारजन्य है)

(२) व्यापार (फलानुकूल व्यापार)

प्रत्यय जब नाम शब्द पर संलग्न होता है तब उसमें लिंग वचन और कारक का बोध होता है। एक मत में ये भी नाम शब्द से ही बोधित होते हैं प्रत्यय केवल द्योतक है। धातु पर लगनेवाले प्रत्यय से काल वृत्ति प्रयोग आदि का बोध होता है। धातु पर लगने वाले कुछ प्रत्ययों से पौन पुन्य भृशार्थ इच्छा आदि का बोध होता है।

उपसर्ग धातु के पूर्व संलग्न होनेवाले अंश हैं इनसे धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है।

६ पाणिनि के सूत्रों का परिचालन करने में दो प्रकार के कार्य होते हैं—

(१) पदनिष्पत्ति (२) स्वन प्रक्रिया।

पदनिष्पत्ति से तात्पर्य है—नाम या आख्यात पर व्युत्पादक या प्रयोगसाधक प्रत्यय संलग्न करके पद निष्पन्न करना।

स्वन प्रक्रिया से तात्पर्य है—पदांशों के परस्पर मिलन से स्वनों में होनेवाले परिवर्तन की सिद्धि। ये परिवर्तन आदेश लोप आगम और प्रकृतिभाव नाम से चार प्रकार के होते हैं।

७ पाणिनीय व्याकरण निष्पादक (Generative) है। इसके सूत्रों के प्रयोग

से अनेक शब्दरूप निष्पन्न हो सकते हैं जो भाषा के लिए ग्राह्य है। सूत्रों का प्रयोग या परिचालन एक विशेष क्रम से होता है। सूत्रों का क्रम अनेक बातों पर निर्भर रहता है। एक तो जिस क्रम से सूत्र अष्टाध्यायी में अनुक्रान्त हैं, वही क्रम है। दूसरा किसी संदर्भ या उदाहरण में स्थित लक्षणों के आधार पर कोई सूत्र पहले परिचालित होता है कोई बाद में। अपवादसूत्र उत्सर्गसूत्र से बलवान् है नियम सूत्र विधिसूत्र से बलवान् है। इसी प्रकार अनेक Conventions या 'समय' निश्चित हैं जिनके आधार पर अष्टाध्यायी के सूत्रों का परिचालन होता है। इन 'समयों' या Conventions का 'परिभाषा' नाम दिया जाता है। पतञ्जलिकृत महाभाष्य नागेश कृत परिभाषेन्दुशेखर आदि ग्रन्थों में इन समयों की विस्तृत चर्चा मिलती है।

पाणिनिसूत्रों के परिचालन तथा उनसे पदनिष्पत्ति एवं स्वन प्रक्रिया का एक नमूना दिया जा रहा है—

भवति क्रियारूप की निष्पत्ति —

धातु समुच्चय में पहला अंश है भू जिसका अर्थ है सत्ता (या अस्तित्व)

भूवादयो धातवः [१ ३ १] इस सूत्र में भू को धातु संज्ञा दी गई है।

वर्तमाने लट् [३ २ १२३] 'भू' धातु के परे वर्तमानकालसूचक 'लट्' आता है—भू+लट

उपदेशेऽजनुनासिक इत् [१ ३ २] } लट् में 'अ' और 'ट' को इत् संज्ञा
हलन्त्यम् [१ ३ ३] } दी गई है।

तस्य लोपः [१ ३ ९] „ 'इत्' का लोप—भू+ल

लस्य [३ ४ ७७] अधिकारसूत्र

तिप्तस्झि [३ ४ ७८] इस सूत्र से 'ल' का 'तिप्' आदेश भू+तिप

हलन्त्यम् [१ ३ ३] „ तिप में प को 'इत्' संज्ञा

तस्य लोपः [१ ३ ९] प् का लोप—भू+ति

तिङ् शित् सार्वधातुकम् [३ ४ ११३], ति को सार्वधातुक संज्ञा

कर्तरि शप् [३ १ ६०] धातु पर शप् आता है। भू+शप+ति

हलन्त्यम् [१ ३ ३], } शप में 'प' और
लशक्वतद्धिते [१ ३ ८] } 'श्' को 'इत्' संज्ञा

तस्य लोपः [१ ३ ९] इत् का लोप—भू+अ+ति

सार्वधातुकार्धधातुकयोः [७ ३ ८४] इस सूत्र से सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर इगन्त शब्द [इ उ ऋ, लृ—जिसके अन्त में आवे वैसे शब्द] का गुण होता है।

अदेङ् गुणः [१ १ २] इस सूत्र से अ ए ओ—इनको गुण संज्ञा दी गई है।

स्थानेऽन्तरतमः [१ १ ५०] इस सूत्र से आदेश 'सदृशतम' होना चाहिए। 'भू+अ+ति' भू में 'ऊ' है। गुणवर्ग अ, ए ओ—में से ऊ का साम्य ओ के साथ है क्योंकि 'ऊ' और 'ओ' दोनों का उच्चारण ओष्ठ से होता है। अतः भू का आदेश 'ओ' होगा।

अलोऽन्त्यस्य [१ १ ५२] इस सूत्र स षष्ठी विभक्तिसहित निर्देश जहाँ हो वहाँ शब्दगत अंतिम वर्ण पर कार्य होता है। भू' का गुण होता है—

इसका अर्थ है अंतिम वर्ण 'ऊ' का गुण ओ होता है। भो+अ+ति

एचोऽयवायाव [६ १ ७८] इस रूप से अ (अच) परे होने से भो' मे 'ओ' (एच) का अव आदेश होता है। भव+अ+ति=भवति

उक्त उदाहरण मे पदनिष्पत्ति एव स्वन प्रक्रिया दोनो के नमूने हैं।

८ १ वाक्यगत पदो का क्रिया के साथ अन्वय माना जाता है। इस अन्वय को ही 'कारक' नाम दिया जाता है।

क्रियामे मुख्यांश धातु है। धातु शब्दकोशीय अंश है जिस का अर्थ वस्तु जगत् से सिद्ध होता है। व्याकरण की दृष्टि से धातु के द्वारा दो बातो का सकेत प्राप्त होता है—(१) फल (२) व्यापार। यहा पर फल शब्द व्यापक अर्थ देनेवाला एक शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। किसी व्यापार से उत्पन्न होनेवाला कार्य परिणाम लाभ, व्यापार का उद्देश्य आदि बहुतसे तत्त्व फल म अन्तर्भुक्त हैं।

खाना धातु मे— अन्न को मुह मे डालकर चबाना निगलना आदि—व्यापार है। भूख की शांति—फल है।

(रोटी) बनाना— म आटा गूथने से लेकर तव पर डालकर पकाने और सेंकने तक की क्रियाएँ व्यापार हैं। आटे म खानयोग्य सुपाच्य तत्त्व का उत्पादन फल है।

(पुस्तक) पढना— म पुस्तक मे लिखित अंश को आखो से देखकर लिपि को पहचानना समझना उससे लिखित अंश का बुद्धिस ग्रहण करना व्यापार है।

कोई नई जानकारी या बुद्धि वर्धन उसका फल है।

जाना— मे पर उठाकर रखना, कदम बढाना, एक प्रदेश को छोडकर आगे के प्रदेश का सपर्क प्राप्त करना आदि व्यापार है।

आगे के प्रदेश का सयोग ही फल' है।

इस प्रकार देखने पर प्रत्येक धातु म कोई व्यापार बोधित होता है जो किसी फल के लिए होता है।

८ २ वाक्य के विभिन्न खडो म से प्रत्येक का अन्वय धातु के साथ होता है किसी खड का सम्बन्ध धातु के फलांश से होता है तो किसी का सम्बन्ध धातु के व्यापारांश से होता है। इस सम्बन्धविशेष का नाम ही कारक है—क्रियान्वयित्व कारकत्वम्।

८ ३ कारक सात प्रकार का माना गया है। इनमे से छ तो क्रिया के साथ किसी पद का साक्षात् सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। एक ऐसा है जो वाक्यगत एकपद का दूसरे पद के साथ सम्बन्ध व्यक्त करता है न कि क्रिया के साथ।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—वाक्यगत पद का —के साथ साक्षात् सम्बन्ध व्यक्त करते हैं।

सम्बन्ध कारक (षष्ठी विभक्ति) वाक्यगत एक पद का दूसरे पद के साथ सबंध व्यक्त करता है न कि क्रिया के साथ। इस कारक का क्रिया के साथ सम्बन्ध परोक्ष रूपसे होता है, याने किसी अन्य पद के माध्यम से होता है। अत एव कुछ व्याकरण इस अंतिम कारक को—सम्बन्ध कारक को—'कारक' नहीं मानते।

८४ धातु तथा विभिन्न कारकों का अन्वय इस प्रकार है —

१ कर्ता—धातुबोधित व्यापार का आश्रय,

२ कर्म—धातुबोधित फल का आश्रय

३ करण—धातुबोधित व्यापार से सम्बद्ध

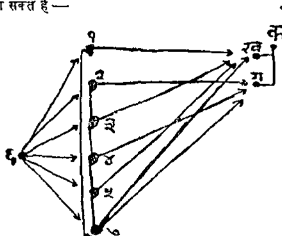
४ सम्प्रदान—धातुबोधित फल से सम्बद्ध

५ अपादान—धातुबोधित व्यापार से सम्बद्ध,

७ अधिकरण— { काल—धातुबोधित फल या व्यापार से सम्बद्ध
{ स्थान—धातुबोधित फल या व्यापार से सम्बद्ध

अधिकरण या कर्ता अथवा कर्म के द्वारा भी धातु के साथ सम्बद्ध होता है।

६ सम्बन्धकारक (षष्ठी विभक्ति) का अन्वय कर्ता, कर्म आदि के साथ सीधे होता है और उनके माध्यम से धातु के साथ अन्वय होता है। इन बातों को निम्न प्रकार से दिखा सकते हैं —



९ पाणिनि का सूत्रात्मक व्याकरण संक्षिप्त सुबोध तथा अत्यधिक निपुण दक्षमतायुक्त है। अत यह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। यह संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण विश्लेषणमात्र नही किन्तु भाषा पर अधिकार करने की इच्छा रखने वालो के लिए वरदान रूप सिद्ध हुआ। अत संस्कृत के अध्ययन के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन अनिवार्य माना जाने लगा। पाणिनि के व्याकरण की पद्धति से अपरिचित व्यक्ति कभी इस केवल एक प्रयोग व्याकरण या भाषा शिक्षण के लिए निर्मित व्याकरण कहते हैं। (जैसा कि इस लेखक ने कभी किसी विद्वान् को ऐसी टिप्पणी करते हुए सुना।) किन्तु यह तथ्य नही है। (पाणिनि के व्याकरण को केवल शिक्षण का पाठ्यग्रन्थ कहना ऐसा ही है जैसे कोई भारतीय विधि संहिता—Indian Penal Code—को कानून-पाठ्यक्रम के लिए निर्मित समझे।) इस सम्बन्ध मे हम ब्लूमफील्ड और चामस्की जैसे आधुनिक भाषाविज्ञानविदो के कथनो की ओर इन विद्वानो का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं उक्त भाषावैज्ञानिको के पाणिनि सम्बन्धी कथन प्रसिद्ध हैं।

पाणिनि के इस छोटे ग्रन्थ के आधार पर एक विशाल ग्रन्थराशि निर्मित हुई है। पाणिनि के पश्चात् वररुचि (कात्यायन) ने अष्टाध्यायी की कुछ कमियो का उल्लेख करते हुए उन्हे सुधारने के लिए वृत्तिग्रन्थ (वार्तिक) का प्रणयन किया जिस के द्वारा वररुचि ने कुछ नये सूत्र जोड या मूलसूत्रो मे सुधार उपस्थित किये।

१० वररुचि के पश्चात् पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर अपना महाभाष्य 'शब्दानुशासन' नाम से प्रस्तुत किया। इसमे वररुचि की वृत्ति की परीक्षा करते हुए तथा पाणिनि का समर्थन करते हुए पतञ्जलि ने विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। पतञ्जलि का यह महाभाष्य आकार गुण तथा प्रभाव सब मे महान् सिद्ध हुआ। यह केवल संस्कृत भाषा का विश्लेषणमात्र नही है, किन्तु भाषा सम्बन्धी दर्शन है। अपनी प्रतिपादन शैली की रोचकता के लिए भी महाभाष्य समस्त संस्कृत वाङमय मे एक अनुपम रचना माना जाता है। पतञ्जलि का समय ईसा से डेढ सौ वर्ष पूर्व माना जाता है।

११ पाणिनि व्याकरण नाम से अब पाणिनि वररुचि तथा पतञ्जलि—इन तीनो—की कृतियो का समुदाय लिया जाता है। इन्हे मुनित्रय कहते हैं।

१२ पतञ्जलि के पूर्व अष्टाध्यायी पर व्याडि ने व्याख्या लिखी थी यह अब अप्राप्य है। पतञ्जलि के बाद के व्याख्याता हुए वजि सौभव हर्यक्ष आदि।

१३ ईस्वी प्रथम शती से ले कर चौदहवी शती तक की अवधि मे अनेक वैयाकरण प्रसिद्ध रहे इनकी तथा इनके ग्रन्थो की एक लम्बी सूची है। इनमे से कुछ तो स्वतन्त्र व्याकरणनिर्माता थे। कातन्त्रव्याकरणकर्ता कलाप चन्द्रगोमी पूज्यपाद देवनन्दी, शाकटायन (जैन), भोज हेमचन्द्र सूरि वर्धमान, पाल्यकीर्ति यक्षवर्मा बोपदेव, इत्यादि ऐसे ही वैयाकरण थे। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक वैयाकरण हुए जिन्होने पाणिनीय परंपरा का पृष्ठपोषण किया। भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' तथा

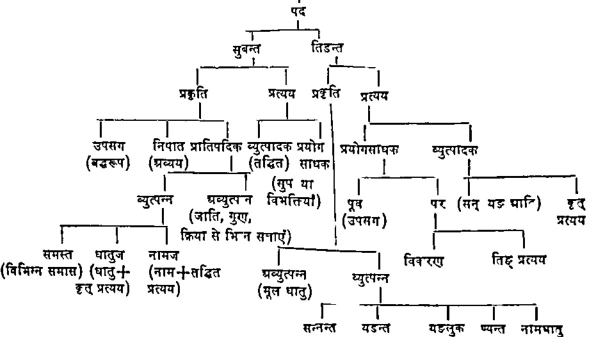
महाभाष्यटीका 'त्रिपदी' उल्लेखनीय है। त्रिपदी के कुछ ही अंश अब उपलब्ध है, वाक्यपदीय उपलब्ध है। इस के प्रथमकाण्ड की हरिवृषभकृत व्याख्या तथा उत्तर काड की पुण्यराज और हेलाराज कृत टीका उपलब्ध हैं।

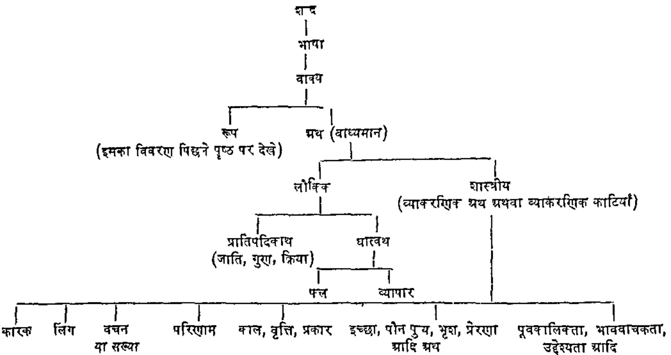
१४ वामन और जयादित्य (सातवी शती ईस्वी) ने अष्टाध्यायी पर 'काशिका' टीका रची। इस्वी सोलहवी शती के पश्चात् महाभाष्य की व्याख्या प्रदीप के विरचयिता कयट तथा महाभाष्य एव प्रदीप पर 'उद्योत' व्याख्या लिखने वाले नागेश भट्ट (अठारहवी शती) अत्यन्त विख्यात हुए। नागेश भट्ट ने शताधिक ग्रन्थो की रचना की। इनकी 'वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा' एक अनुपम कृति है। इन्ही के शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर स्फोटवाद, परिभाषेन्दुशेखर इत्यादि अनेक ग्रन्थ आदर के साथ पढे जाते रहे हैं। इन सब ग्रन्थो की अनेक व्याख्याए उपलब्ध है।

१५ इनके अतिरिक्त रामचन्द्राचार्यकृत 'प्रक्रिया कौमुदी' (पन्द्रहवी शती इस्वी), भट्टोजी दीक्षित कृत सिद्धान्तकौमुदी (सत्रहवी शती ई०) कौण्डभट्टकृत वयाकरणभूषणसार' (सत्रहवी शती ईस्वी) आदि उल्लेखनीय हैं। 'सिद्धान्तकौमुदी अष्टाध्यायी की व्याख्या है। भट्टोजी ने स्वय इस की व्याख्या प्रौढमनोरमा रची है। भट्टोजीकृत शब्दकौस्तुभ अष्टाध्यायी पर उनकी एक दूसरी व्याख्या है। इन सब ग्रन्थो की अनेक व्याख्याए उपलब्ध हैं।

१६ यह सारी व्याकरण परपरा ग्रन्थपरिमाण, मतवादो की मात्रा, विवेचन की वैज्ञानिकता तथा व्यापकता नयी उपलब्धियां—इत्यादि दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विज्ञानराशि है। इस विज्ञान राशि के अन्तगत केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग शिक्षा के लिए निर्मित व्याकरण ग्रन्थ मात्र नहीं (जसे कि कभी भ्रमवश समझा जाता है) किन्तु भाषा सामान्य मे सम्बद्ध विस्तृत चर्चाए हैं। भाषा दर्शन के अनेक विषय हैं। भाषा की व्याकरणिक सरचना का तो विवेचन है ही साथ ही अर्थविवेचन के सम्बन्ध म अनेक मौलिक तथा वज्ञानिक विवेचन है। यह अवश्य है कि इनमे से अधिकतर ग्रन्थो की प्रतिपादन शैली तर्क शली है। किन्तु यह तर्कशली विज्ञानसम्मत है। तर्क शब्द से यह न समझना चाहिए कि इनमे ऊहापोहात्मक चिन्तन (अटकलबाजी) है। यह पाश्चत्य speculative thinking नही है। यह शुद्ध वस्तुविश्लेषणपरक चिन्तन है। आधुनिक भाषाविज्ञान म जिस पाणिनीय तर्क का कभी उल्लेख किया जाता है वह इस प्राचीन भारतीय तर्क का प्रतिरूप है। यह इस दृष्टि से कहा जा रहा है कि अब भी इन ग्रन्थो के पुनरवलोकन अध्ययन मनन तथा इन पर आधारित अनुसधानो से हम आधुनिक भाषाविज्ञान के शोध क्षेत्र में कुछ नया दे सकते है। भारतीय विद्वानो का यह कर्त्तव्य भी है।

पाणिनीय भाषा विश्लेषण पद्धति के अनुसार भाषा सरचना गत विविध तत्त्वो की सारिणी अगले पृष्ठ पर दी है


शब्द—
भाषा > वाक्य
= स्फोट < ध्वन्यात्मक संकेत
वस्तु जगत् का संदर्भ या अर्थ
अखंड और खंड स्फोट
रूप
(उच्चरित स्वनों से घटित आकृति)
अर्थ
(बोध्यमान अर्थ) [इसका विवरण अगले पृष्ठ पर देखें।]
पद
सुबन्त
तिङन्त
प्रकृति
प्रत्यय
प्रकृति
प्रत्यय
उपसर्ग (बद्धरूप)
निपात (अव्यय)
प्रातिपदिक
व्युत्पादक (तद्धित)
प्रयोग साधक (सुप या विभक्तियाँ)
प्रयोगसाधक
व्युत्पादक
व्युत्पन्न
अव्युत्पन्न (जाति, गुण, क्रिया से भिन्न संज्ञाएँ)
पूर्व (उपसर्ग)
पर
(सन् यङ आदि)
कृत् प्रत्यय
समस्त (विभिन्न समास)
धातुज (धातु + कृत् प्रत्यय)
नामज (नाम + तद्धित प्रत्यय)
अव्युत्पन्न (मूल धातु)
व्युत्पन्न
विकरण
तिङ् प्रत्यय
सन्नन्त
यङन्त
यङ्लुक
ण्यन्त
नामधातु


शब्द
भाषा
वाक्य
रूप
(इसका विवरण पिछले पृष्ठ पर देखें)
अर्थ (बाध्यमान)
लौकिक
शास्त्रीय
(व्याकरणिक अर्थ अथवा व्याकरणिक कोटियाँ)
प्रातिपदिकार्थ
(जाति, गुण, क्रिया)
धात्वर्थ
फल
व्यापार
कारक
लिंग
वचन
या संख्या
परिणाम
काल, वृत्ति, प्रकार
इच्छा, पौन पुन्य, भृश, प्रेरणा
आदि अर्थ
पूर्वकालिकता, भाववाचकता,
उद्देश्यता आदि

व्याडि और 'संग्रह'

संस्कृत व्याकरण और विशेषतः व्याकरण दर्शन के अनेक प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अनेकशः आचार्य व्याडि और उनकी कृति 'संग्रह' का ससम्मान उल्लेख किया है। पर व्याडि की यह कृति कहीं उपलब्ध नहीं होती और न कहीं व्याडि विषयक प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण सामग्री ही मिलती है। इसलिए प्रतीत होता है कि संस्कृत के अन्य अधिसंख्य लेखकों के समान व्याडि ने अपने विषय में कुछ नहीं लिखा और बुद्धि का समस्त वैभव अपनी कृति के प्रणयन में लगा दिया। फिर भी इस कृति और इसके कृतिकार का नाम शेष रह जाना आश्चर्यजनक होने के साथ अपनी गरिमा का परिचायक भी है। तदर्थ परवर्ती उल्लेखक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

किसी भी व्यक्तित्व और उसके कृतित्व से परिचित होने के लिए उसके काल का सुनिश्चित ज्ञान बड़ा सहायक होता है। इसलिए यदि व्याडि के समय की आदिम व अंतिम सीमाओं का बोध हो जाय तो यह निश्चय ही अन्य सामग्रियों के संकलन में सहायक होगा।

संस्कृत व्याकरण-गगन के ज्योतिपुञ्ज आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्रसंगवश अनेक वैयाकरणों का उल्लेख किया है पर वे व्याडि के विषय में मौन हैं। इससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्याडि या तो पाणिनि के समय तक हुए ही नहीं थे और यदि हुए भी थे तो अपने क्षेत्र में लब्ध प्रतिष्ठ नहीं थे।

व्याडि के ग्रंथ का प्रथम उल्लेख हम व्याकरणमहाभाष्य में मिलता है जहाँ पतंजलि ने शब्द के नित्यत्व किंवा कार्यत्व पर विचार करते हुए लिखा है कि संग्रह में इस विषय की चर्चा मुख्य रूप से की गयी है[1]।

संग्रह विषयक पस्पशाह्निक के इस प्रथम उल्लेख पर टीका करते हुए महाभाष्य के टीकाकार नागेश भट्ट ने अपनी 'उद्योत' टीका में संग्रह ग्रंथ को व्याडि कृत बताते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह ग्रंथ एक लाख श्लोक परिमाणका था[2]।

इसी प्रकार वाक्यपदीय के एक (२.४८४) श्लोक की टीका में पुण्यराज ने

१ "संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्।"—पस्पशाह्निक।

२ "संग्रहो व्याडिकृतो लक्ष श्लोक संख्यो ग्रन्थ" इति प्रसिद्धिः।

भी उपर्युक्त विचार का ही शब्दान्तर माध्यम से प्रस्तुत किया है।

इन तीन उद्धरणों के आधार पर यह मान्यता निरापद प्रतीत होती है कि संग्रह' व्याडि नामक आचार्य की कृति थी और व्याडि पतंजलि से पूर्ववर्ती थे।

अब व्याडि और संग्रह की काल सीमा के आदिम व अंतिम छोरों को क्रमशः पाणिनि के पहले और पतंजलि के पीछे लाना संभव नहीं प्रतीत होता। इसलिए व्याडि का समय पाणिनि और पतंजलि के मध्य में ही कहीं निश्चित करना होगा।

पाणिनि और पतंजलि के समय को भी यदि दो भागों में विभक्त कर लिया जाय तो व्याडि का ठीक समय उत्तरार्ध की अपेक्षा कहीं पूर्वार्ध में ही निश्चित करना होगा। इस अनुमान की पुष्टि में यदि प्रमाण की अपेक्षा हो तो वाक्यपदीय के उन दो श्लोकों को प्रस्तुत किया जा सकता है जिनके अनुसार संग्रह के अस्त या अप्रचलित होने के पश्चात् ही महाभाष्य की रचना हुई थी[2]।

यहां इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि महाभाष्यकार जैसी वैयाकरण विभूतियां जिस ग्रंथ की प्रशंसा उन्मुक्त कण्ठ से करती हैं—उसके अस्त होने में कम समय लगा होगा—यह बात गले नहीं उतरती। अतः पतंजलि से काफी पहले ही व्याडि का समय मानना समीचीन लगता है।

इस धारणा के समर्थन में महाभाष्य का एक और प्रमाण मुखरित होता प्रतीत हो रहा है। तदनुसार पूर्वपदस्वरत्वविधायक सूत्र 'आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी' (६ २ ३६) के भाष्य में पतंजलि ने उदाहरण दिया है—"आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः।" यह उदाहरण वैयाकरणों की जो चरण (शिष्य)परंपरा प्रस्तुत कर रहा है उसमें व्याडि की चर्चा अव्यवहित पर के रूप में पाणिनि के पश्चात् की गयी है। सबसे अंत में उल्लिखित हैं गौतम जो इस बात का संकेत है कि काल की दृष्टि से व्याडि पतंजलि के अव्यवहित पूर्व युग में नहीं हुए थे।

महाभाष्य में संग्रह के रचयिता के रूप में दाक्षायण उल्लिखित हैं। उभयप्राप्तौ कर्मणि (२ ३ ६६) के वार्तिक 'शेषे विभाषा' के दो वार्तिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए संग्रह को दाक्षायण की श्रेष्ठ कृति बताया गया है।[3] इस प्रकार नागेश भट्ट और पुण्यराज ने जिस संग्रहकार को व्याडि नाम दिया है, उसे ही

---

१ इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं लक्षग्रंथपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धमासीत्।

२ प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥ २।४८४ ॥
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥ ४८५ ॥

३ शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः।
तथा शोभना खलु दाक्षायणेन संग्रहस्य कृतिः।

पतंजलि दाक्षायण कहते हैं। अब 'संग्रह' दोनों के मध्य तादात्म्य स्थापित करना है। अतः यह बात असन्दिग्ध प्रतीत होती है कि व्याडि और दाक्षायण उसी एक व्यक्ति के दो नाम हैं जिसने संग्रह की रचना की।

संग्रहकार व्याडि का दूसरा नाम दाक्षायण मान लेने पर हमारे सम्मुख एक और विचार सरणि प्रस्तुत होती है। तदनुसार हम यह सोचने पर विवश होते हैं कि पाणिनि के नामान्तर दाक्षीपुत्र[1] और व्याडि के नामान्तर दाक्षायण में कहीं कोई पारस्परिक संबंध तो नहीं है क्योंकि दोनों के ही मूल में प्रत्यय विरहित मूल शब्द दक्ष ही है।

पाणिनि के दाक्षीपुत्र नाम के कारण उनकी माता का नाम दाक्षी बताया जाता है। इस दाक्षी शब्द में से अपत्यार्थक और स्त्रीवाचक प्रत्यय निकाल देने पर जो दक्ष शब्द बच रहता है वह पाणिनि के नाना का नाम होना चाहिए।

दूसरी ओर काशिका में प्राग्दीव्यतो तद्धिते (४ १ १७) सूत्र में उद्धृत उदाहरण तत्र भवान् दाक्षायणः दाक्षिर्वा के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने संग्रहकार के दाक्षि और दाक्षायण दो नाम माने हैं।[2] अपत्यार्थक और युवार्थक प्रत्ययों के भेद का निरसन काशिका के उक्त उदाहरण द्वारा होता प्रतीत होता है। इस प्रकार दाक्षायण (व्याडि) दाक्षीपुत्र (पाणिनि) के नाना (दक्ष) के पुत्र और माता (दाक्षी) के भाई होने के कारण पाणिनि के मामा सिद्ध होते हैं। काशिका के इस उदाहरण की अनदेखी भी कर दी जाय तो प्रत्यय भेद के कारण दाक्षायण को अधिक से अधिक दाक्षीपुत्र का ममेरा भाई ही कहा जा सकता है।[3]

मीमांसक जी की ही अन्य खोज के अनुसार व्याडि पद अष्टाध्यायी के एक (६ २ ८६) सूत्र से संबद्ध छात्र्यादिगण में भी पठित है। तदनुसार शालोत्तरपदीय व्याडिशाला पद आद्युदात्त होता है। व्याडिशाला में आया हुआ शब्द पाठशाला वाचक है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय में ही आचार्य व्याडि की पाठशाला ख्यातिप्राप्त थी[4]।

इस प्रकार व्याडि पाणिनि के समकालिक ही प्रतीत होते हैं और इन दोनों की समकालिकता महाभाष्य (६ २ ३६) में वर्णित दो महान् वैयाकरणों की चरण परंपरा को काल दृष्टि से संलग्न सिद्ध करती है।

समकालिकता की यह प्रतीति उस पूर्वस्थापना के लिए हानिकर मानी जानी चाहिए जिसके अनुसार समकालिक होने पर भी व्याडि पाणिनि के जीवन काल में ख्यातिप्राप्त वैयाकरण के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाये थे। अन्यथा अष्टाध्यायी में

---

१ सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। महाभाष्य १ १ २०।

२ संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (२००७), पृष्ठ १६६।

३ संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग (२००७), पृ० १३१।

अन्य वैयाकरणों के समान उनका नामोल्लेख अवश्य होता। यह संभावना भी की जा सकती है कि व्याडि ने पाणिनीय व्याकरण के मात्र दर्शन पक्ष को अपना कार्य क्षेत्र बनाया हो। इसीलिए स्वतन्त्र शास्त्र स्थापना के अभाव में वे पाणिनि के समान प्रसिद्धि न पा सके हों।

व्याडि को पाणिनि का समकालिक सिद्ध करने के पश्चात् पाणिनि के काल निर्धारणसंबंधी विवाद में पड़ना प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता। इसलिए स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अपने शोध प्रबंध 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में निर्धारित समय (ई० पू० पांचवीं शती) को ही स्वीकार कर लेना उचित प्रतीत होता है। बहुजनसम्मत होने के कारण ही यह मान्यता न्याय संगत लगती है।

काल निर्णय के पश्चात् संग्रह ग्रंथ की विषय वस्तु विचारणीय प्रतीत होती है। इस विषय में महाभाष्य दीपिका में पतंजलि द्वारा की गयी 'संग्रह' की प्रथम चर्चा पर टिप्पणी करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि इस ग्रंथ में चौदह हजार वस्तुओं की परीक्षा (विवेचना) की गयी है।[1] सन्दर्भानुसार दीपिका में आए हुए इस 'वस्तु' शब्द का अर्थ 'व्याकरणशास्त्र संबंधी दार्शनिक समस्याएं' करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

पस्पशाह्निक में संग्रह की उपर्युक्त चर्चा शब्द के नित्यानित्य विचार प्रसंग में की गई है।[2] यह नित्यानित्य विवेक दर्शन की सीमा में ही आता है। अतः संग्रह व्याकरण दर्शन का ग्रंथ प्रतीत होता है।

वैयाकरणों ने अन्यत्र कहीं भी जहाँ व्याडि का मतोल्लेख किया है वे सब प्रकरण व्याकरण दर्शन के ही हैं। अतः यह मान्यता साधार प्रतीत होती है कि संग्रह में शब्द शास्त्र के दर्शन पक्ष पर ही विचार किया गया है। प्रमाणस्वरूप वाक्यपदीय (तृतीय काण्ड) की प्रकाश व्याख्या में हेलाराज का वह मत उद्धृत किया जा सकता है जो व्याडि मतेन सब शब्दों का अर्थ द्रव्य ही सिद्ध करता है[3]।

'संग्रह' के आकार के विषय में नागेश भट्ट और पुण्यराज के मत पहले ही दिये जा चुके हैं जिनके अनुसार इस ग्रंथ में १ लाख श्लोक थे।

संस्कृत में श्लोक अनुष्टुप छंद को कहते हैं। इसलिए भर्तृहरि ने जिन चौदह हजार व्याकरण दर्शन संबंधी समस्याओं का उल्लेख 'संग्रह' के संदर्भ में किया है—उनकी ऊहापोह के कारण यदि 'संग्रह', शत साहस्त्री महाभारत संहिता का समाकार रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

संग्रह के आकारसंबंधी उक्त मान्यता का एक अन्य पक्ष भी है। तदनुसार श्लोक शब्द सदा छन्दोबद्ध पद्य का ही बोधक नहीं होता। कभी-कभी वह गद्य का बोध भी करवाता है। इसका प्रमाण दशकुमारचरित (अष्टम उच्छ्वास, निर्णय सागर, १८४४ शक० पृष्ठ २५६) में प्राप्त उस वाक्य में मिल सकता है जहाँ

१ चतुर्दश सहस्राणि वस्तूनि अस्मिन् संग्रहग्रंथे परीक्षितानि।
२ नित्यो वा स्यात्कार्यो वा।   ३ व्याडिमते तु सर्वशब्दानां द्रव्यमर्थः।

कौटिलीय अर्थशास्त्र को ६००० श्लोकों वाला ग्रंथ बताया गया है[1]। उपलब्ध ग्रंथ शास्त्र तो गद्य बहुत ही है।

इसी प्रकार सभव है संग्रह' गद्य मे भी रहा हो और १ लाख श्लोकों वाला ग्रंथ बताने मे मुख्य उद्देश्य उसके विशाल परिमाण का परिचय देना रहा हो। तदनुसार इस ग्रंथ म १००००० × ३२ = ३२००००० सस्वर वर्ण रहे होंगे क्योंकि प्रत्येक श्लोक के चार चरणों म ८ × ४ = ३२ सस्वर वर्ण रहते हैं।

संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (संवत् २००७ प्रथम भाग पृ० २०२-२०३) हमे आज तक प्राप्त संग्रह के १४ उद्धरणों से परिचित कराता है। इनमें से आदिम १० प० वासुदेवशास्त्री के अनुसधान फल हैं और अंतिम ४ मीमासक जी के प्रयास परिणाम। इनमें से ५ गद्य म और अवशिष्ट ६ पद्य म है। इन उपलब्धियों से उपयुक्त संभावना पुष्ट होती है।

गद्य की अपेक्षा पद्य उद्धरणों की अधिक उपलब्धि के आधार पर संग्रह में गद्य पद्य के अनुपात का अनुमान निरापद नहीं है क्योंकि प्राप्त सभी उद्धरण अन्य ग्रंथों से लिए गये हैं और यह बडा स्वाभाविक है कि कोई लेखक जब किसी दूसरे का मत उद्धृत करता है तो वह पद्य को प्राथमिकता देता है क्योंकि गद्य की तुलना मे पद्य का स्मरण रखना अपेक्षाकृत सरल होता है।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि व्याडि के उक्त ग्रंथ का नाम संग्रह क्या है? क्या वह व्याकरण दर्शन से संबंधित अनेक प्राचीन सिद्धान्तों का सकलन मात्र है? अथवा इस नामकरण का भी कोई विशेष कारण है?

इन प्रश्नों का उत्तर हमें भरतनाट्यशास्त्र (६ ६) म मिलता है। वहाँ संग्रह को एक पारिभाषिक शब्द माना गया है और कहा गया है कि किसी शास्त्र म सूत्र व भाष्य के रूप म प्राप्त विस्तृत मत के संक्षिप्त निबन्ध का नाम ही संग्रह' है[2]

व्याकरण शास्त्र के संदर्भ म इस परिभाषा को लागू करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पाणिनि तथा अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों द्वारा जिन संक्षिप्त या विस्तृत दार्शनिक मान्यताओं के संकेत यत्र तत्र किये गये थे उन्हीं का सार संकलन संग्रह' कार ने अपने ग्रंथ म किया है। तथापि विषय की व्यापकता व दुरूहता के कारण यह संग्रह लक्षश्लोकी हो गया।

इस विषय म यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि विस्तार की दृष्टि से संग्रह का क्षेत्र चाहे जितना व्यापक रहा हो—उसका मुख्याधार पाणिनीय व्याकरण ही रहा होगा। इस मत के समर्थन म वाक्यपदीय (द्वितीय काण्ड, श्लोक ४८४) की टीका म पुण्यराज का यह मत उपलब्ध है जहाँ संग्रह को पाणिनीय व्याकरण के अन्तर्गत ही माना गया है।

---

१ इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थ षड्भि श्लोकसहस्र सक्षिप्ता।

२ विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो।
निबन्धो य समासेन संग्रह त विदुर्बुधा॥

वार्त्तिककार कात्यायन

(पाणिनिसमीक्षक के रूप में)

व्याकरण के मुनित्रय में पाणिनि एवं पतञ्जलि के अतिरिक्त समाविष्ट आचार्य कात्यायन पाणिनिभक्तों को एक बड़ी संख्या के मन में शूल की भाँति चुभते हैं। उनका विचार है कि कात्यायन का वार्त्तिक बनाने में प्रधान उद्देश्य पाणिनि की आलोचना करना था। यहाँ इस सन्दर्भ में आलोचना शब्द कुछ स्पष्ट अर्थ सम्भवतः न प्रकट कर पाये, अतः यह कहना समीचीन होगा कि कात्यायन का प्रधान उद्देश्य पाणिनि को नीचा दिखाना था। इसी पक्ष के विद्वानों का मत है कि पतञ्जलि पाणिनि में वस्तुतः श्रद्धा रखते हैं और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने पाणिनि को कात्यायन के प्रहारों से बचाने का हर सम्भव प्रयास किया है।

क्या कात्यायन सचमुच पाणिनि को नीचा दिखाने में प्रयत्नशील हैं? पतञ्जलि पाणिनि के अन्धभक्त हैं? और क्या पतञ्जलि ने पाणिनि की रक्षा में कात्यायन की बहुत भर्त्सना की है? आदि प्रश्नों का समाधान पाने से पूर्व कुछ अन्य बातों को भी जानना होगा।

कात्यायन को वार्त्तिककार एवं पतञ्जलि को महाभाष्यकार कहा जाता है। सूत्रों के ऊपर व्याख्यान का सामान्य अभिधान 'वार्त्तिक' है। यद्यपि नागेश भट्ट ने विधिवत् इसकी परिभाषा दी है, परन्तु उसका भी साराश यही है। उन्होंने वार्त्तिक का लक्षण दिया है—

"उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरत्व हि वार्तिकत्वम्।"

कैयट वार्त्तिक को व्याख्यानसूत्र के नाम से कहते हैं, उनके अनुसार वार्त्तिक ऐसे सूत्रात्मक वाक्य हैं जो पाणिनि के सूत्रों के व्याख्यान हैं।

पदमञ्जरी में एक पद्य भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालता है—

"यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत् स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनादृष्टं च भाष्यकृत्॥"

सूत्रकार से जो विषय विस्मृत अथवा अदृष्ट रह गया है, उसको वाक्यकार (वार्त्तिककार) ने स्पष्ट रीति से व्याख्यान किया है और उनके द्वारा भी अदृष्ट (दुरुक्त) विषय को भाष्यकार ने।

वार्त्तिकों को ही दृष्टि में रख कर महाभाष्यकार ने एक स्थल (३ १ १०) पर कहा है—

"इह किञ्चिदक्रियमाणं चोद्यते, किञ्चिच्च क्रियमाणं प्रत्याख्यायते॥"

इसमें भी प्रकारान्तर से उक्तानुक्त चिन्ता तथा दुरुक्त का ही उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि ने महाभाष्य दीपिका में दो स्थानों पर वार्तिक के लिये भाष्यसूत्र पद का प्रयोग किया है[1]। अनुतन्त्र और अनुस्मृति ये दो नाम भी वार्तिकों के लिये प्रयुक्त हुए हैं[2]।

पतञ्जलि को भी यदि महाभाष्यकार के स्थान पर वार्तिककार मानें तो पूर्व के प्रश्नों का समाधान सरल होगा थ्योडोर गाल्डस्टकर ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इसे घोषित किया है[3]—

'The position of Patañjali is analogous though not identical Far from being a comm ntator on Pāṇini, he also could more properly be called an author of Vārttikas

इसमें तो किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति होनी ही नहीं चाहिये कि पतञ्जलि ने अनेक स्थलों पर स्वयं भी वार्तिकों की रचना की है। इष्टियों भाष्यकार्य के आधार पर पतञ्जलि की इष्टियां तो सुप्रसिद्ध ही हैं। इष्टयो भाष्यकार वार्तिक के उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के अतिरिक्त और क्या हैं? यहाँ कात्यायन और पतञ्जलि दोनों का वार्तिककार मानने में एक प्रश्न उठ सकता है कि क्या दोनो के व्याख्यान एक ही प्रकार के है जो उन्हें एक जैसी संज्ञा से अभिहित किया जा रहा है? उत्तर स्पष्ट है कि उन दोनों के व्याख्यान में पर्याप्त अन्तर है लेकिन इसमें आचार्यों की अपनी अपनी सीमाएं हैं प्राचीन आचार्य केवल चर्चापदों को व्याख्यान मानते थे जबकि भाष्यकार उसमें विस्तार की आकांक्षा से कहते हैं—

न केवल चर्चापदानि व्याख्यानम् किं तर्हि उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।

[इस ग्रन्थ की छाया में यदि विचार कर देखें तो कात्यायन और पतञ्जलि, दोनों को वार्तिककार की कोटि में बहुत सरलता के साथ रखा जा सकेगा]।

अब यहाँ एक और बात पर विचार करना होगा कि वृत्तिग्रन्थ भी तो सूत्रों के व्याख्यान हैं फिर दोनों मे अन्तर कहाँ है? अन्तर दोनों के स्वरूप मे है। व्याख्या के अन्तर्गत भाव का स्पष्ट करना आक्षेपों का उत्तर त्रुटियों की ओर संकेत एवं असंगतियों को सुलझाना ही होता है वार्तिकों में यह सब सूत्रशैली में एवं वृत्तियों में विस्तार से होता है। वृत्ति में प्रत्येक सूत्र पर क्रमश विचार किया गया है परन्तु कात्यायन या अन्य वार्तिककार और पतञ्जलि का व्याख्यान प्रत्येक सूत्र पर नहीं है।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने कात्यायन को पाणिनि का सम्पादक (Editor) कहा है तथा पतञ्जलि का महाभाष्य कात्यायन के वार्तिक एवं पाणिनि के सूत्र—दोनों का एकत्र वरक चलता है The great Commentary of Patanjali embr

---

१ भाष्यसूत्र गुरुलाघवस्यानाश्रितत्वात्। पृष्ठ ४८।
न च तेषु भाष्यसूत्रेषु गुरुलघुप्रयत्न क्रियते। पृष्ठ २८१।
२ वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञटीका पृ० ३५ माधवीयधातुवृत्ति पृ० ३०।
3 Pāṇini His place in Sanskrit Literature, Page 132

aces both the Varttikas of Kātyāyana and the sūtras of Panini [1]

पतञ्जलि का महाभाष्य वार्तिकों का व्याख्यानग्रन्थ अधिक है, अपेक्षाकृत पाणिनि सूत्रों के भाष्य के। पतञ्जलि के भाष्य की रचना का आधार कात्यायनादि वार्तिककारों के वार्तिक ही हैं यह महाभाष्य को पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है। श्रीयुत प० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में 'अष्टाध्यायी के वार्तिककार' प्रकरण में कात्यायन के बारे में लिखते हुए कहा है[2]—

'पतञ्जलि ने कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर अपना महाभाष्य रचा है।' इन सभी बातों का विशद समालोचन करने पर एक निष्कर्ष सामने आता है कि वृत्ति, वार्तिक एवं भाष्य में अंशतः साम्य एवं अंशतः अंतर दोनों विद्यमान है।

अब पुनः उस मूल प्रश्न पर विचार कर लेना अपेक्षित होगा कि क्या कात्यायन पाणिनि में दोष निकालने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं?

कात्यायन वास्तव में पाणिनि के सच्चे भक्त एवं आद्य व्याख्याता हैं। कात्यायन पाणिनि व्याकरण के उस स्तम्भ के समान हैं जिसके कारण उस महल में स्थायित्व एवं दृढ़ता आती है। मेरी दृष्टि में कात्यायन का वार्तिकपाठ पाणिनीय अष्टाध्यायी को समयानुकूल एवं पूर्ण बनाने में पर्याप्तांश तक सहायक है। श्री प० युधिष्ठिर मीमांसक के गहन चिंतन एवं मनन से उद्भूत ये शब्द इस कथन की पुष्टि करेंगे[3]—

"कात्यायन का वार्तिकपाठ पाणिनीय व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अधूरा रहता है।

थ्योडोर गोल्डस्टकर जैसे विद्वान् के कात्यायन के बारे में विचार जान कर ऐसा कहने को बाध्य होना पड़ता है कि उन्होंने कात्यायन के सम्पूर्ण वार्तिकपाठ का अनुशीलन नहीं किया। कारण कुछ भी रहा हो गोल्डस्टकर कात्यायन के साथ न्याय नहीं करते प्रतीत होते। वे लिखते हैं[4]—

In proposing to himself to write Vārttikas on Pānini, Kātyayana did not mean to justify and to defend the rules of Panini but to find fault with them and who ever has gone through his work must avow that he has done so to his heart s content

काफी विचार करने पर डॉ० कीलहान का यह मत ही ठीक जान पड़ता है कि थ्योडोर गोल्डस्टकर के सामने पाणिनीय अष्टाध्यायी एवं कात्यायनीय वार्तिकों का वह संस्करण था, जो पूर्ण वार्तिक पाठ को समाविष्ट नहीं किये हुए था, वे लिखते हैं—

---

1 Ancient Sanskrit Litrature Pages 353 and 243

२ संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास प्रथम, भाग, पृ० ३१५।

३ वही, पृष्ठ ३१५।

4 Panini His Place in Sanskrit Literature Page 132

से निकाला जा सकता है अर्थात् यदि पाणिनि इस सूत्र में दीर्घोक्वी का समावेश न करें, तो ठीक रहेगा।

पतञ्जलि का कहना है कि 'इट्' भी उसी प्रकार अनावश्यक है।

अन्तर बहिर्योगोपसंख्यानयो (अ० १ १ ३६) सूत्र पर इन वार्तिकों का उल्लेख मिलता है—

(अ) उपसंख्यानग्रहणमनर्थक बहिर्योगेण कृतत्वात्।

(आ) न वा शाटकयुगाद्यर्थम्।

(इ) थाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्।

प्रथम वार्तिक के द्वारा पाणिनिसूत्र में एक सुधार बताया गया है, जिसे कि द्वितीय वार्तिक व्यर्थ बताता है। तृतीय वार्तिक एक अधिक नियम का निर्देश करता है।

पतञ्जलि प्रथम वार्तिक के द्वारा उपदिष्ट सुधार को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार पाणिनि के सूत्र में पठित उपसंख्यान शब्द को ठीक नहीं मानते इसके साथ ही पतञ्जलि अपुरीति वक्तव्यम् इस नियम का और समाविष्ट करते है।

एङ् प्राचां देशे (अ० १ १ ७५) सूत्र पर कात्यायन का कोई वार्तिक उपलब्ध नहीं होता परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्र में सुधार का सुझाव दिया है।

विस्तारभयाद् यहां अन्य अनेक सूत्रों और वार्तिकों के उद्धरण देना ठीक प्रतीत नहीं होता। परन्तु ऊपर के वार्तिकों के निदर्शन से यह ज्ञात हो सकेगा कि व सभी वार्तिक किसी एक ही विद्वान् मनीषी की रचना हैं। यदि उन्हें एकत्र रख कर पढ़ा जाय तो अपने आप में पूर्ण एवं वैदुष्यपूर्ण रचना का ज्ञापन करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वार्तिकरचना का उद्देश्य पाणिनि से ईर्ष्यावश उन की आलोचनादि करना नहीं था बल्कि एक ओर पाणिनि को अनावश्यक या सम्भावित दोषों से बचा कर उनके नियमों का औचित्य प्रदर्शन करना तथा दूसरी ओर पाणिनीय सूत्रों में सुधार दोष और परिहार का निर्देश करना था। वार्तिक का लक्षण उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्तन भी उचित ही है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक स्थलों पर पतञ्जलि ने कात्यायन प्रदर्शित दोषों सुझावों का निराकरण किया है। परन्तु यह ऐसा नहीं कि सभी स्थलों पर हुआ हो। ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि पतञ्जलि कात्यायन से सहमत भी उतने ही होते हैं जितना कि वे उनका विरोध करते हैं तथा साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि महाभाष्य की रचना पाणिनि का औचित्य स्थापित करने के लिये की गई है। ऊपर दिये गये वार्तिकों के उद्धरणों के अतिरिक्त ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ पतञ्जलि पाणिनिसूत्रों में कई पदों को अनावश्यक ठहराते हुए कात्यायन से भी एक कदम आगे बढ़ जाते हैं। हाँ श्रद्धावाद् ऐसा तो कहते हैं कि 'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य

महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। न तत्र गव्य वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितु, कि पुनरियता सूत्रेण।" परन्तु इन नीचे के उल्लेखो से उनके वचनो एव कार्य म पर स्पर विरोध दिखाई देता है—

१ दीधीवेवीटाम् (१ १ ६) सूत्र पर कात्यायन न तो केवल 'दीधीवेवी' का ही आनर्थक्य स्थापित किया था, पतञ्जलि 'इट्' को भी अनावश्यक बताते हैं।

२ बहुगणवतुडति सख्या (१ १ २२) अथवा डति च (१ १ २४) सूत्रो म स किसी एक स्थान पर डति व्यर्थ है।

३ पतञ्जलि की दृष्टि से षष्ठी स्थानेयोगा (१ १ ४८) सूत्र व्यर्थ है जिस कि कात्यायन ने उचित ठहराया है।

इसके अतिरिक्त और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं[1], जहाँ कात्यायन औचित्य प्रदर्शन म रत हैं और पतञ्जलि सूत्रो म आनर्थक्य प्रदर्शित कर रहे हैं। इस प्रकार का उल्लेख पाणिनि के औचित्य को स्थापित करने वाला नहीं कहा जा सकता।

पतञ्जलि मात्र व्याख्याकार या भाष्यकार नहीं रह सके। वे उस व्यक्ति के अनुयायी या अनुवर्त्ती बन गये जिसकी रचना का वे भाष्य कर रहे थे। इसी कारण उन सूत्रो पर जिन पर कात्यायन ने कोई वार्तिक आदि नहीं दिया था उन्होंने कात्यायनीय पद्धति से विचार किया और उक्तानुक्तदुरुक्त चिन्तन की शैली का पूर्ण अनुगमन किया।

उपर्युक्त विवेचना हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचने की दिशा देती है कि वार्तिककार कात्यायन उच्चकोटि के निष्पक्ष सूत्र समीक्षक हैं। सूत्रकार का अन्धा समर्थन उन्हें जितना अवाञ्छित है उतना ही सूत्रकार में अनावश्यक दोषाविष्करण भी। यह एक अनुपेक्षणीय तथ्य है कि महाभाष्य जैसी ललित और तर्कपूर्ण व्याख्या का मूल बीज कात्यायन के वार्तिको मे ही निहित है।

---

१ मुखनासिकावचनोऽनुनासिक (अ० १ १ ८) म मुख शब्द अदर्शनमात्रस्व (अ० १ १ ४०) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (अ० १ १ ५६) प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम (अ० १ १ ६१) आदि।

महाभाष्यकार पतञ्जलि

(व्याकरण सिद्धात प्रणेता के रूप मे)

कात्यायन के लगभग २०० वर्षो बाद महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी पर अपने ग्रथ महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य ग्रथ का दलन स एसा प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने अष्टाध्यायी का कम परतु पाणिनीय सूत्रा पर लिखे गये व्याख्यानात्मक एव पूरक वार्तिको का विवेचन अधिक किया है। और इस प्रकार महाभाष्य की रचना एव उसकी प्रेरणा का प्रमुख स्रोत वार्तिककार कात्यायन का वार्तिक पाठ ही प्रतीत होता है। महाभाष्यकार न अपने विवेचन के लिय व सारे सूत्र जिन पर कात्यायन न वार्तिको की रचना की थी, नहीं लिय हैं। इसके साथ ही अनेक वे सूत्र भी जिन पर कात्यायन न कुछ विचार नही किया था पतञ्जलि के अध्ययन के विषय बन हैं। लेकिन इस प्रकार के विवेचन का अनुपात ३ और १ का है, अत अधिकाश मे वार्तिको का ही पतञ्जलि की महाभाष्य रचना की प्रेरणा का श्रेय प्राप्त होता है।

चौदह प्रत्याहार सूत्रो को मिला कर अष्टाध्यायी के कुल ३६९६ सूत्रा म से १६८९ सूत्रा पर पतञ्जलि ने भाष्य लिखा। शेष सूत्रा पर भाष्य न लिखे जाने या न मिलन के कारण विद्वाना का ऐसा विचार है कि उन सूत्रा को पतञ्जलि ने बिना अपनी ओर मे कुछ मिलाये परम्परानुसार ग्रहण कर लिया। पतञ्जलि न इनमे स १२२८ सूत्रा पर केवल कात्यायन के तथा २६ सूत्रा पर अन्य आचार्यो के भी प्राप्त वार्तिको की समीक्षा की और ४३५ इस प्रकार के सूत्रा पर भाष्य लिखा जिन पर कोई वार्तिकादि उपलब्ध नही थे। इन सूत्रा पर भाष्यकार की समीक्षा पूर्णत मौलिक है। उन्होंने ३६ सूत्रा म वार्तिककार के मत को भ्रान्त ठहरा कर पाणिनि का समर्थन किया है। अर्थापत्ति से यह सहज ही अनुमेय है कि शेष स्थला पर पतञ्जलि कात्यायन की समीक्षा से सहमत हैं एव उसे युक्तियुक्त मानते है। इतना ही नहीं १६ सूत्रा को पतञ्जलि ने समीक्षा करते हुए अनावश्यक बताया। शब्दान्तर से यह कहा जा सकता है कि पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्रा एव कात्यायनीय वार्तिक—दोना ही की समीक्षा की।

'यथोत्तर मुनाना प्रामाण्यम्' के अनुसार पाणिनि की अपेक्षा कात्यायन एव कात्यायन की अपेक्षा पतञ्जलि के वचन अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। इस प्रामाणिकता के पीछे आधार है। समय और वैदुष्य के प्रभाव न उत्तर विद्वाना मे अपने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के कार्यो की समीक्षा की ओर अग्रसर किया। इस

समीक्षा के पीछे कोई रागात्मक या द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं थी। उन्होंने निष्पक्ष आलोचक की दृष्टि ही रखी। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनि और कात्यायन का स्मरण भगवान्, आचार्य, माङ्गलिक एवं सुहृद् आदि विशेषणों के साथ किया है[1]। इतना ही नहीं पतञ्जलि द्वारा पाणिनि में श्रद्धा और विश्वास का चूडान्त निदर्शन वह वाक्य है, जहाँ वे कहते हैं—'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण'।

पतञ्जलि के काल में प्राकृत भाषाओं का विकास हो रहा था और जन सामान्य में संस्कृत का प्रचार घटने लगा था। अष्टाध्यायी की रचना के समय भी संस्कृत भाषा सभी वर्णों की भाषा नहीं थी, ऐसा अष्टाध्यायी के अनेक सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है। शूद्र उस समय भी प्राकृत का व्यवहार करते थे[2]। आगे चल कर स्त्रियों से भी संस्कृत का व्यवहार उठ गया था। पतञ्जलि के समय तक आते आते वैश्यों और क्षत्रियों में भी संस्कृत का प्रचार कम हो चला था। यद्यपि वे दैनन्दिन जीवन में संस्कृत का प्रचार नहीं करते थे किन्तु वे संस्कृत समझते अच्छी तरह थे। ब्राह्मण-समाज में संस्कृत व्यवहार की भाषा होते हुए भी व्याकरणाध्ययन की ओर से उनका ध्यान हट चला था। वे यह सोच कर कि लौकिक शब्दों का ज्ञान लोक से और वैदिक शब्दों का ज्ञान वेद से हो जाता है व्याकरण में फिर खपाने की क्या अपेक्षा है, व्याकरण से दूर हो रहे थे। प्राचीनकाल में उपनयनोपरान्त सर्व प्रथम व्याकरणाध्ययन की जो परम्परा थी, पतञ्जलि के समय में उसके प्रति कुछ विद्रोही वातावरण सा दिखाई देता था। पतञ्जलिकालीन ब्राह्मण वटु व्याकरण का अध्ययन अनर्थक कहने लगे थे[3]।

इस सबके होने पर भी संस्कृत सारे देश के शिष्ट समाज को एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किये हुए थी, हाँ, प्राकृत भाषायें भी साहित्य में स्वीकृत हो चुकी थीं। संस्कृत के प्राच्य और उदीच्य स्वरूप से भाषा के प्रयोग में थोड़ा बहुत अन्तर यास्क और पाणिनि के काल से ही चलता आ रहा था। अनेकार्थक वैदिक धातुओं के किसी एक अर्थ का प्रचार एक प्रदेश में था और अन्य का दूसरे प्रदेश में। पाणिनि एवं यास्क के ग्रन्थों के अध्ययन से इसकी पुष्टि के प्रमाण मिलते हैं। यास्क के 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति' आदि को पतञ्जलि ने भी उद्धृत किया है।

---

१ 'कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम् ?' म० भा० १ तथा—'माङ्गलिक आचार्यो वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' महाभाष्य १ १ १। (कात्यायन के लिए)—'न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति', महा० प्रथमाह्निक।

२ 'अशूद्रस्त्र्यसूयकेषु' तथा 'भोराजन्यविशां च' ('प्रत्यभिवादेऽशूद्रे'—८ २ ८३ पर वार्त्तिक)

३ वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, अनर्थकं व्याकरणम्।

पतञ्जलि के समय म आकर यह भेद कुछ और बढ़ गया था। उदाहरणाय—पत ञ्जलि के समय म 'जाने' के लिये सुराष्ट्र देश म हम्म् धातु का मध्य म रह धातु का और अन्य जनपदा म गम् धातु का प्रयाग पाया जाता था।[1] अनेक शब्दा का प्रचलन बन्द होकर उनके स्थान म तत्सदृश दूसर शब्द व्यवहार म आ गये थ। जैसे[2]—उप के अर्थ म ऊपित तर के अर्थ म तीएा चर के अर्थ म कृतवन् और पच के अर्थ म पक्ववत् शब्द चल पड थ। पतञ्जलि के समय तक रामायण, महाभारत काव्यग्रन्था तथा आख्यान साहित्य आदि की रचना हो चुकी थी। परिणाम स्वरूप संस्कृत का शब्दकोष पूर्वापेक्षया बहुत बढ़ा हो चुका था। एस अनेक शब्द जिनकी सिद्धि अष्टाध्यायी से नही होती संस्कृत म सम्मिलित हो गय थे।[3] इसके साथ ही साहित्य म प्रयुक्त अनेक अपभ्रंश शब्द स्थिर और मान्य होत जा रह थ। ये शब्द सरलता से संस्कृत म मिल जाते थे संस्कृत शब्द थोडे थ अपभ्रंश अपशब्द बहुत अधिक। एक ही गो शब्द कही गाणी और कही गोता कही गावी और कही गोपोतलिका कहा जान लगा था।[4] इस समय म पतञ्जलि न भाषा के परिमार्जन का काम अपने हाथ म लिया। सर्वप्रथम आर्यावर्त्त म रहने वाले शिष्ट ब्राह्मणो को उन्होने व्याकरण का अध्ययन आवश्यक बताया और कहा[5] कि ब्राह्मण को षडङ्ग सहित वेदो का अध्ययन निष्काम भाव से करना चाहिये। षडङ्गा म व्याकरण मुख्य है। इतना ही नही उन्होने व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनो का विस्तृत उल्लेख किया और १८ शीर्षको के अन्तर्गत व्याकरणाध्ययन की उपादेयता का सहज स्वीकरणीय वर्णन किया।

महाभाष्यकार जैसे समर्थ विचारक से संस्कृत को जितनी शक्ति मिली इसे कहन की आवश्यकता नहीं है। न केवल इस काल म अनेक अधिकारी ग्रन्थो का प्रणयन हुआ बल्कि अगली कई शताब्दियो तक संस्कृत की धारा मे अक्षुण्ण प्रवाह की शक्ति का संचार हुआ। उनके प्रयत्नो से व्याकरण अध्ययन का सर्वप्रमुख अङ्ग तो बन ही गया, साथ ही संस्कृत का जो स्वरूप उन्होने स्थापित किया वह आज भी वैसा ही बना हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि के इस सर्वाङ्गीण प्रभाव मे जहाँ महाभाष्य की भाषा एव

---

१ 'हम्मति सुराष्ट्रेषु, रहति प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते'। महा०, प्रथमाह्निक

२ 'तद्यथा—ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क्व यूयमूषिता' आदि—महा० प्रथमाह्निक।

३ 'प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञ'—महा०, २४५६।

४ एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गो इत्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोत लिकेत्येवमादयो बहवोऽपभ्रंशा। आह्निक १।

५ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। प्रधान च षडङ्गेषु व्याकरणम्। आह्निक १।

रचनाविधान का सौष्ठव दर्शनीय है, वहाँ महाभाष्यकार के अनेक व्याकरण शास्त्रीय सिद्धान्त, जिन्हे महाभाष्यकार की अपनी मौलिक देन कहा जा सकता है नितान्त अनुपक्षणीय हैं। भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो की स्थापना करते समय भी इस बात का ध्यान रखा है कि वे सरलता से सर्वग्राह्य हो सकें। एतदर्थ उन्होंने सर्वत्र लोकविज्ञान या लोकव्यवहार का आश्रय लिया है। कालिदास की हृदयग्राही उपमाओं के समान महाभाष्यकार के निदर्शन पाठक के मन पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ते हैं, एवं शास्त्रीय कठिन विषय को भी सहजग्राह्य बना देते हैं।

महाभाष्यकार के द्वारा शुष्क सिद्धान्तो को लोकाश्रय लोकविज्ञान या लोकव्यवहार के आधार पर सर्वबुद्धिगम्य बना देने का श्रेय तो उसे है ही, मौलिक विचारो का समावेश करके व्याकरण को दर्शन का स्वरूप प्रदान करने का गौरव भी उसे प्राप्त है। निदर्शनस्वरूप एक दो प्रसङ्ग दिये जा सकते है

(१) महाभाष्य के प्रथमाह्निक के प्रारम्भ मे ही अथ गौरित्यत्र कः शब्द वाक्य के द्वारा महाभाष्यकार ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित किया है। व्यवहार मे शब्द तथा उसके अर्थ मे अभेद देखा जाता है। जैसे—किसी समीपस्थ व्यक्ति का उद्देश्य करके—यह देवदत्त है यह गौ है—ऐसा व्यवहार होता है। अर्थात् उसके शरीररूप अर्थ मे अभेदेन देवदत्त एवं गो शब्द की प्रतीति होती है। यही से शब्द और अर्थ के अभेद का सिद्धान्त जन्म लेता है।

केवल यही नही जिस प्रकार गौ आदि शब्द और उसके अर्थ का अभेद व्यवहार मे देखा जाता है उसी प्रकार अर्थ (द्रव्य) और अर्थ मे रहने वाली जाति गुण, क्रिया, जो कि मूलत द्रव्य के आश्रित हैं का भी अभेद स्वयंसिद्ध सा है। इसी आधार पर 'गुणक्रियासमुदायो द्रव्यम्' ऐसा द्रव्यलक्षण किया गया है। समुदाय और समुदाय का बनाने वाली इकाइयो मे भेद नही किया जाता। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए भाष्यकार ने इस प्रश्न को उठाया है जिसका भाव यह है कि गौ ऐसा कहते ही गौ यह ध्वनि तथा उससे अभेद पाया हुआ उसका अर्थ गोव्यक्ति और गोव्यक्ति से भी अभेद रखने वाले तद्गत गोत्वादि जाति शुक्लादि रूप चलन उपवासादि क्रियाये—सभी एक साथ उपस्थित होते है। संक्षेप मे गौ शब्द से अभिन्न गो व्यक्ति और उससे अभिन्न तद्गत जात्यादि होते हैं। इस प्रकार तद भिन्नाभिन्नस्याभिन्नत्व (मूल वस्तु से अभिन्नता रखने वाली वस्तु से अभिन्न पदार्थ स्वभावत मूलवस्तु से अभिन्न हो जाता है) न्याय से शब्द शब्दाभिन्न व्यक्ति तथा व्यक्ति से अभिन्न जात्यादि सभी एक दूसरे से अभिन्न हो जाते है। अत गौ' कहने पर अभिन्न रूप से उपस्थित गौ' ध्वनि गो व्यक्ति तथा तद्गत जात्यादि मे शब्द किसे कहा जाये? यह इस प्रश्न का आशय है। प्रश्न को चार खण्डो मे विभक्त करके सभी का उत्तर भाष्यकार ने निषेधात्मक रूप से दिया है अर्थात् द्रव्य क्रिया गुण और जाति कोई भी शब्द नही है।

भाष्यकार ने शब्द उससे अभेदेन प्रतीयमान द्रव्य तथा तद्गत क्रियादि के

सम्बन्ध में शब्दतत्त्व सम्बन्धी प्रश्न शब्द और उसके अर्थ के व्यावहारिक अभेद को ध्यान में रखकर उठाये थे। प्रश्नों के उत्तर शब्द और अर्थ के भेद पक्ष को ध्यान में रखकर दिये गये हैं। उत्तर पक्ष का आशय यह है कि व्यवहार जगत् शब्द और अर्थ का अभेद बनाता है, वस्तुतः भेद भी हो जाता है। जिस प्रकार अभेदनिरूपण में 'देवदत्तोऽयम्' (देवदत्त नाम से अभिन्न पुरुष) ऐसा व्यवहार है, वैसे ही नाम और नामवाले के भेद की विवक्षा में 'अस्य देवदत्त इति नाम' ऐसा भी व्यवहार है। यहाँ नाम और नामवान् का भेद स्पष्ट है। इसी से अस्य पद में षष्ठी हुई। अन्यथा दोनों पदों में प्रथमा होती। प्रश्न और उत्तर दोनों का सार यह है कि शब्द और अर्थ दोनों का अभेद तो अध्यारोपमूलक (आरोपित) अतः अवास्तविक है। अग्नि शब्द और उसका अर्थ (दाहक पदार्थ) यदि एक हो तो अग्नि शब्द ही मुख जलने लगे और मधु कहने से मुख मीठा हो जाय। अतः अध्यारोपमूलक व्यवहार से शब्द और अर्थ का व्यक्ति (द्रव्य) तथा तद्गत क्रिया आदि में अभेद होने पर भी वास्तविक भेद है, अतः द्रव्य, क्रिया, गुण और जाति कोई भी शब्द नहीं हैं।

शब्द के साथ अभेदेन प्रतीत होने वाले द्रव्यादि को शब्द नहीं कहा जा सकता—यह निर्णय कर लेने पर भी शब्द क्या है? इस मूल प्रश्न का उत्तर शेष है। आगे इस प्रश्न का उत्तर भाष्यकार ने दिया है। भाष्य के उस अंश का सही अर्थ समझने को हमें भाषा उत्पत्ति की मूल प्रकृति को समझना होगा। हमारा सप्रज्ञान चेतन (आत्मा) इन्द्रिय रूपी सूत्रों से पकड़ता है और इन्द्रियाँ उसे बुद्धि को सौंप देती हैं, बुद्धि उसे सम्बन्धवशात् किसी नाम (व्यवहारपरम्परा से प्राप्त अथवा अभिनव रूप से कल्पित) से युक्त करती है और तब मन को उस नाम की अभिव्यक्ति की इच्छा से जुटाती है। मन के विवक्षायुक्त हो जाने से उसमें परिस्पन्द होता है और फलस्वरूप प्राणवायु मुख की ओर खिसकता है। यह प्राणवायु मानस पटल पर पर कल्पित किये गये नाम के अवयवभूत वर्णों को उत्पन्न करने के लिये मुखवर्ती ताल्वादि भिन्न भिन्न स्थानों पर जिह्वादि के रोध से अभिघात पाता है और बाह्य वातावरण में क आदि ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। बाह्य वातावरण में उत्पन्न ककारादि ध्वनियों के समुदाय को ही सामान्यतः शब्द कह दिया जाता है। परन्तु यदि थोड़ी गहराई से विचार करें तो उक्त प्रक्रिया के अनुसार शब्द की दो अवस्थाएँ बिल्कुल स्पष्ट हैं। प्रथम अव्यक्तावस्था—जब मानस पटल पर विवक्षित पदार्थ का नाम मँडराता रहता है। द्वितीय अवस्था—जब बाह्य वातावरण में पदार्थ के नाम को अभिव्यक्त कर दिया जाता है। प्रथम स्थिति शब्द की न सुनाई देने वाली नाद अवस्था है, इसे व्याकरणशास्त्र में 'स्फोट' नाम दिया गया है। स्फोट नाम का कारण भी स्पष्ट है क्योंकि इस नादतत्त्व के ध्वनि रूपों में फूट निकलने से ही वक्ता के विवक्षित पदार्थ श्रोता को बोध होता है। यह स्फोट यदि न फूटता तो सारा जगत् व्यवहार नामहीन रह जाता। स्फोट के इस महत्त्व ने उसे 'शब्द ब्रह्म' नाम दिलाया है। वैयाकरण इससे ही जगत् की उत्पत्ति मानते हैं क्योंकि यदि यह न फूटे तो

कोई नाम नही और जब कोई नाम ही नही तो वस्तु का अस्तित्व किस रूप म स्वीकार हो ? अत सारे जगत् का अस्तित्व ही स्फोट पर निभर है। भाष्य के 'येनो च्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्द'¹ आदि अश म उक्त स्फोटरूप शब्दतत्त्व की ओर ही सकेत किया है। इसका आशय यह है कि ग+औ+ =गौ, इस यथाक्रमनिर्दिष्ट ध्वनित्रितय से उच्चारित अर्थात् स्फोटित (अभिव्यक्त) जिस नामतत्त्व से सास्नादिमान् व्यक्ति तथा तद्गत जाति क्रियादि का समग्र-बोध होता है वह शब्द है।

उक्त स्फोटरूप शब्द कोरी दार्शनिक या तार्किक कल्पना नहीं है अपितु वैज्ञानिक तथ्य है। तथापि मानस म स्थित अव्यक्त स्फोट म तो शब्दानुशासन का व्याकरण नियम नही बना सकता क्योकि उसकी पहुच तो केवल स्फोट का व्यक्त करने वाली ध्वनियो मे ही हो सकती है। अत भाष्यकार न शब्द का दूसरा स्वरूप भी प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार जिस ध्वनिसमुदाय से कोई अर्थ प्रतीत होता है, वह शब्द है। यह शब्द की व्याकरणप्रक्रियोपयोगी परिभाषा है और साधारण व्यवहार म ध्वनि' का ही शब्द कहा जाता है¹।

(२) एक और स्थल पर² महाभाष्यकार ने एक शास्त्रीय विषय को उपस्थित किया है। यह ऐसा प्रसग है, जिसम भिन्न भिन्न शास्त्रकार भिन्न भिन्न मत रखते हैं। प्रश्न यह है कि सूत्रकार पाणिनि पदो का बोध्यार्थ (शक्यार्थ) आकृति (जाति) मानते है अथवा व्यक्ति ?

इस प्रश्न के सन्दभ मे 'आकृति और व्यक्ति दोनो पदार्थों का स्वरूप जान लेना प्रकरणोपयोगी रहेगा। 'व्यज्जन व्यक्ति' इस व्युत्पत्ति से जगत् का जो भी पदार्थ बुद्धिपटल पर इदमित्थम्' इत्यादि रूप से व्यक्त हो चुका है वह व्यक्ति है। अयं घट, अयं पट, अयं शुक्ल इत्यं गोत्वम् आदि व्यवहार म सभी प्रमेय पदार्थ व्यक्ति ही हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सदा भिन्न होता है क्योकि सभी व्यक्तियो का अवयवसस्थान एक दूसरे से भिन्न है। व्यक्तिरूप के दिये गये इन उदाहरणो के व्यवहार म एक तथ्य विचारणीय है वह यह है कि अवयवसस्थान का भेद होने पर भी समानव्यक्तिसमुदाय मे प्रत्येक के लिये एक ही नाम (पद) का प्रयोग करते हैं जैसे सहस्र भी घटव्यक्ति यदि हैं तो प्रत्येक के लिये 'घटोऽयम्' व्यवहार किया जाता है। अत इन घटव्यक्तियो मे इनके अवयवो कपालादि के भेद होने पर भी कोई न कोई तत्त्व ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा, जो सभी को एक ही नाम प्रदान करता है। स्वाभाविक है कि वह तत्त्व सभी घट व्यक्तियो म समान रूप से

---

१ पस्पशाह्निक।

१ अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनि शब्द इत्युच्यते। तस्माद् ध्वनि शब्द। महा० पस्पशा०।

२ किं पुनराकृति पदार्थ, आहोस्विद् द्रव्यम् ? महा० पस्पशा०।

अनुगत होगा। साथ ही साथ वह एक भी होना चाहिये, अन्यथा अनेकता में समान व्यवहार नहीं हो सकता। व्यक्तियों की भिन्नता होने पर भी सब में अभिन्नरूप से वर्तमान वह तत्त्व होना चाहिये जिसके बल पर अनन्त व्यक्तियों को भी एक नाम से पुकारा जा सके। इसी आनुमानिक तत्त्व का शास्त्रकारों ने आकृति जाति, सामान्य आदि नाम दिये हैं। नामों का कारण भी स्पष्ट है। अनेक व्यक्तियों में एकता का आधायक यह तत्त्व व्यक्तियों की समानावयवसंस्था से व्यङ्ग्य होता है, अर्थात् व्यक्तियों की आकृति समानता से विदित होता है। अतएव इस तत्त्व को अभिव्यञ्जक आकृति से एकरूपता करके आकृति नाम दिया गया है। **जननेन प्राप्यत इति जाति'** इस व्युत्पत्ति से व्यक्ति के अस्तित्वबोध के साथ ही उनके नामव्यवहार का प्राप्तिप्रद तत्त्व होने से इसी को जाति कहा जाता है। **समानानाम् एकाकारेण प्रतीयमानानां धर्म सामान्यम्'**—इस व्युत्पत्ति से उसे ही सामान्य कहा जाता है। यही सामान्य अनेक द्रव्यों में द्रव्यत्व गुणों में गुणत्व क्रियाओं में क्रियात्व कहा जाता है। इसी प्रकार तत्तत् व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय में तत्तद् घटत्व गोत्वादि सामान्य रहा करता है।

ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति आधार और सामान्य आधेय है व्यक्ति धर्मी और सामान्य धर्म है व्यक्ति विशेष्य और सामान्य विशेषण है, व्यक्ति अनेक और सामान्य (जाति, आकृति) एक है। इन दोनों का समवाय (नित्य) सम्बन्ध है।

उपर्युक्त व्यक्ति और जाति में 'गो' आदि पद का अर्थ किसी एक को माना जाए अथवा दोनों को—इस प्रश्न पर शास्त्र में मतभेद रहा है। व्यक्तिपदार्थता वादी वर्ग व्यक्ति को पद का शक्यार्थ मानता है और जाति को उसके अवच्छेदक (भेदकविशेषण) रूप में स्वीकारता है। व्यक्ति को पदार्थ मानने में सबसे बड़ी कठिनाईयह है कि व्यक्तियों के नाना होने से नाना शक्तिसङ्केत कल्पित करने होंगे। जातिपदार्थतावादी का कहना है कि बोध में विशेषण पहिले और विशेष्य बाद में भासित होता है अर्थात् विशेषण द्वारा विशेष्य का बोध होता है। अतः प्रथम बोध विषय होने से तथा विशेष्य बोध का माध्यम होने से जातिरूप विशेषण को ही शक्यार्थ मानना सङ्गत है दूसरे नाना व्यक्तिगत जाति एक है। अतः घट आदि कहने से एक बार घटत्व आदि का बोध हो जाने से संसार भर के घटत्व' का बोध हो जाता है क्योंकि वह एक है। अतः बार बार **'अयं घट' 'अयं घट'** इत्यादि सङ्केतों की आवश्यकता नहीं रहती।

वस्तुतः उपर्युक्त दोनों पक्षों में अपने अपने दृष्टिकोण से पूर्ण औचित्य है। तथापि किसी एक पक्ष से न लौकिक व्यवहार सम्भव है और न शास्त्रीय। अतः जाति और व्यक्ति दोनों ही पद के शक्यार्थ हैं। आचार्य पाणिनि का भी यही अभिमत है। वक्ता पद के द्वारा जब जाति का बोध कराना चाहता है तो स्वभावतः एकवचन का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि जाति एक है परन्तु बहुवचन का भी प्रयोग होता

है, जसे—गेहूँ पक गए, जो पक गए।

अत पद द्वारा जाति के बोधस्थल म बहुवचन का साधुत्वबोध कराने के लिए पाणिनि न 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (अष्टा १।२।५८) सूत्र की रचना की है। वक्ता पद द्वारा जब व्यक्ति का बोध कराना चाहता है तो स्वभावत नाना व्यक्तियो के लिये नाना पदो का प्रयोग प्राप्त होता है, अर्थात् सौ घटव्यक्तियो का बोध कराने के लिय सौ घट शब्दो का प्रयोग होना चाहिय। जबकि ऐसा नही किया जाता, केवल एक घट शब्द के आगे बहुवचनबोधक विभक्ति का प्रयोग कर दिया जाता है। आचार्य पाणिनि को इसके लिय भी नियम बनाना पडा है, 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'। दोनो पक्षो के लिये नियम बनाकर आचार्य ने स्पष्ट ही दोनो को अपना अभिमत माना है।

इन दोनो शास्त्रीय विवेचनात्मक निदर्शनो स भाष्यकार पतञ्जलि की व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तो की पुष्ट पकड का अच्छा परिचय मिल जाता है। महाभाष्य म इस प्रकार के अनेक स्थल अपने आप मे स्वतन्त्र शोध के विषय हैं।

आचार्य भर्तृहरि द्वारा वाणी-विभाग-विवेचन

ऋग्वेद कालीन सुदूर अतीत में ही वाणी में देवत्व की कल्पना कर ली गई थी (ऋग्वेद ८।१०।११)। वाणी की स्तुति ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में बड़े ही भव्य रूप में मिलती है (ऋग्वेद १०।१२५)। ऋग्वेद के 'महो देवो मर्त्यां आविवेश' (ऋग्वेद ४।५८।३) मन्त्रांश की व्याख्या में पतंजलि ने स्पष्ट कहा है 'महान् देव शब्द' (महाभाष्य १।१।१ १) अर्थात् शब्द बहुत बड़ा देव है। ब्राह्मण तथा उपनिषदों में अनेक स्थानों पर वाक् को 'ब्रह्म' तथा 'प्रजापति' इत्यादि कहा गया है।

वाणी या शब्द के विषय में देवत्व की कल्पना क्यों की गई इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ लेना बहुत कठिन नहीं है। वस्तुतः वाणी या भाषा का आविष्कार मानव विकास के इतिहास की एक महत्त्व पूर्ण घटना है। भाषा की अपूर्वता के कारण ही मानव सृष्टि के अन्य सभी स्थावर जंगम वर्ग से बहुत ऊपर उठ गया। इस मान वीय वाणी के माध्यम से ही विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान कला तथा शिल्प आकार धारण कर सके—परिवर्धित एवं परिवृंहित हो सके।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक साहित्य में वाणी का स्थान ब्रह्म से नीचे ही माना गया है इसीलिए बृहस्पति को ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया तो वाणी को क्षत्र का। (ऐतरेय ब्रा० १।१९)। वाणी को वेदों तथा ब्राह्मणों में स्थान स्थान पर जो राष्ट्री कहा गया है उसका भी यही रहस्य है कि राष्ट्र की अधिष्ठात्री होने पर भी ब्रह्म के प्रतिनिधि बृहस्पति या पुरोहित से उसका स्थान अवर है।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ (मैत्रायणी उपनिषद् ६।२२)

माण्डूक्योपनिषद् के इस श्लोक में शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म का अन्तर सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।

शब्द स्वरूपावगम की दृष्टि से वेदाध्ययन में परमोपयोगी एवं इसीलिए वेदांगों में प्रधान व्याकरण में शब्द के महत्व की कल्पना तो स्वभावतः सर्वाधिक प्रतिष्ठित होनी ही थी जिसका निदर्शन महाभाष्य के प्रयोजनाह्निक में मिल जाता है परन्तु इसके साथ ही शब्द में परब्रह्मत्व की कल्पना भी संस्कृत व्याकरण दर्शन के मनीषियों के द्वारा साकार हो सकी थी इसके संकेत वाजसनेयिप्रातिशाख्य के 'एते पञ्चशब्दिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः' (८।२५) तथा महाभाष्य में उद्धृत वाणे ज्ञान यागविषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते यह कारिका और उसकी व्याख्या के रूप में लिखे गए पतंजलि के 'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्र

तारवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशि' (महाभाष्य १।१।२) इन शब्दों में श्रेय विद् प्राप्त किए जा सकते हैं।

पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि की शास्त्रचर्चाओं के महान् ममता एवं व्याकरण दर्शन के प्रबल स्तम्भ आचार्य भर्तृहरि ने तो शब्द के पर-ब्रह्मत्व की कल्पना को प्रबल युक्तियों एवं शास्त्र प्रचनों के प्रौढ़ आधार पर प्रतिष्ठित कर दिया। शब्द को सर्वव्यापक परम प्रकृति एवं अनादिनिधन बताते हुए भर्तृहरि ने यह धारणा की कि एक ओर इस शब्द ब्रह्म में सम्पूर्ण विश्व का 'विवर्तन' होता है तो दूसरी ओर मानवों के अन्तरंग में विद्यमान उसी शब्द-ब्रह्म या परावाक् में सम्पूर्ण बुद्धिगत अर्थों तथा अभिप्रायों का बाह्य प्रकाशन या अभिव्यञ्जन भी होता है। इस रूप में उस एक शब्द ब्रह्म का ही यह सारा विवर्त है चाहे वह पदार्थमय भौतिक संसार हो या भावमय भाषामय-चान्तरिक संसार। यह 'शब्द-ब्रह्म' एक अभिन्न, नित्य एवं अविभाज्य है परन्तु व्यावहारिक बुद्धि के तोष के लिए—उससे सम्पूर्ण विश्व के उद्गम की प्रक्रिया को सरलतया समझाने के लिए उस शब्द-ब्रह्म की अनन्त शक्तियों तथा कलाओं में समर्थित माना जाता है। ये विभिन्न एवं विविध शक्तियाँ ही विश्व की उपादान कारण बनती हैं और स्वयं शब्द ब्रह्म निमित्त कारण। शब्दब्रह्म तथा उसकी अपरिमित शक्तियाँ दोनों एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं—क्योंकि शक्ति तथा शक्तिमान् में वस्तुतः अभेद होता है। इसलिए भर्तृहरि ने उसे 'भोक्ता' 'भोक्तव्य' एवं 'भोग' सब कुछ माना है। संक्षेप में यह शब्दब्रह्म ही सर्वविध पदार्थों के सृजन एवं विनाश का व्यवस्थापक है। हमारे सभी अपरिमित अनुभवों के परदे के पीछे एक वही गतिशील एवं सजीव शक्ति के रूप में सर्वनिष्पादक तत्त्व है, साथ ही वही सबका संहारक भी है। यह है भर्तृहरि इत्यादि वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठापित शब्द-ब्रह्म का संक्षिप्त स्वरूप (द्र० वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की प्रारम्भिक कारिकाएँ)।

सम्पूर्ण सृष्टि के केन्द्र में तथा प्रत्येक मानव के अन्तस्थल में विद्यमान इस शब्द रूपी महान् देव की चार अवस्थाओं या रूपों का निश्चित ज्ञान ऋग्वेद के उस पूज्य ऋषि को हो चुका था जिसने 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४। ४५)—वाणी के परिसीमित चार पग होते हैं—कह कर वाणी की अभिव्यक्ति के रहस्यमय स्वरूप को सर्वप्रथम अनावृत किया। इस मंत्र के ऋषि ने यह भी कहा कि वाणी के इन चार पदों को केवल मनीषी ब्राह्मण ही यथार्थतः जान पाते हैं पहले तीन प्रकार के पग या वाणी के रूप तो गुफा में निहित हैं—अव्यवहार्य हैं केवल चौथे प्रकार का प्रयोग मनुष्य किया करते हैं। यहाँ के मनीषी तथा ब्राह्मण पदों से वे विद्वज्जन अभिप्रेत हैं जिनके लिए वेद ने एक दूसरे मंत्र में कहा है कि वे विद्वान् हैं, जिनके लिए वाणी अपना सम्पूर्ण स्वरूप निरावृत कर देती है और दूसरे वे लोग हैं, जो वाणी को सुनकर भी नहीं सुनते—देखकर भी नहीं देखते (ऋ० १०।७१।४)। यहीं ऋग्वेद का वह स्थल भी उपस्थित किया जा सकता है, जहाँ यह कहा गया है कि उस परम पुरुष का चतुर्थ चरण यह सम्पूर्ण विश्व है तथा उसके अमृत तीन पद

द्युलोक या परम व्योम मे है (ऋ १०।९०।३)।

वाणी के चार पग रूप, या प्रकार कौन से हैं इस विषय म यास्क के समय म भी निम्न अनेक मत विद्यमान थे।

आप—ओकार तथा महाव्याहृतिया—भू भुव तथा स्व।

वैयाकरण—नाम आख्यात उपसग तथा निपात।

याज्ञिक—मत्र कल्प ब्राह्मण तथा व्यावहारिकी वाणी।

नरक्त—ऋक यजु साम तथा व्यवहारिकी वाणी।

कुछ अय—सर्पों पक्षियो तथा छोटे छोटे कीडा की वाणी और व्यावहारिकी वाणी (निरुक्त १३।९)

पतजलि ने अपने महाभाष्य के प्रयोजनाह्निक म चत्वारि वाक्परिमिता पदानि की व्याख्या करते हुए नाम आख्यात उपसग तथा निपात का ही उल्लेख किया ह। पर यहाँ यह समझ म नही आता है कि इन चार म स पहल तीन क्या गुहाहित हैं और चौथा ही किस प्रकार व्यवहाय है। महाभाष्य क टीकाकार कयट न यह कहा कि इन नाम आख्यात उपसग तथा निपात चारो के पुन चार चार विभाग अभिमत है जिनके तीन तीन भाग अविज्ञेय हैं केवल चौथा भाग ही सामाय मानव के प्रयोग का विषय बन पाता है। महाभाष्य के परममर्मज्ञ नागेश भट्ट ने यह कहा कि पतजलि के 'नामाख्यातोपसगनिपाताश्च' इस वाक्य म विद्यमान च' पद वाणी के एक दूसरे विभाग परा पश्यन्ती मध्यमा तथा वखरी की सूचना देता है। कयट न परा इत्यादि का नामोल्लेख किये बिना ही जिस बात का सकेत करना चाहा उस नागेश ने स्पष्टत नाम लेकर और स्पष्ट कर दिया।

जो भी हो वाणी के चार प्रकारो के विश्लेषण की सूक्ष्म उद्भावना सम्भवत सवप्रथम सस्कृत व्याकरण की दाशनिक पृष्ठ भूमि मे ही की जा सकी। महान् शब्द मनीषी आचाय भतृहरि ने अपने वाक्यपदीय (१।१४३) म पश्यन्ती, मध्यमा तथा वखरी का नामोल्लेख किया है तथा वाक्यपदीय की अपनी स्वोपज्ञ टीका (चारुदेव सस्करण पृ० १२६ १२९) म चतुर्विध वाणी के स्वरूप का विवेचन किया है। महाभारत (आश्वमेधिक पव ब्राह्मणगीता) के कुछ श्लोको म भी इस चतुर्विध वाणी के स्वरूप का प्रकाशन किया गया था जिन्हे भतृहरि ने यही अपनी टीका म उद्धृत किया है। य श्लोक आज के महाभारत के विभिन्न सस्करणो म दुलभ हो रहे है पर अनुमान ह कि य श्लोक कभी महाभारत मे अवश्य रहे होंगे। क्योंकि यहा वाणी क विषय म कुछ ऐसे भी श्लोक उद्धृत मिलते हैं जो पर्याप्त पाठ भेद क साथ आज महाभारत म उपलब्ध हो जाते हैं।

भतृहरि के पश्चात् शैवागम के विभिन्न सम्प्रदायो के दाशनिक आचार्यों तथा उनके पश्चात् प्रौढ वय्याकरण नागेश भट्ट न इस चार प्रकार की वाणी की सूक्ष्म विवेचना की है। परन्तु इन सब विद्वानो की मान्यता म सवथा साम्य तो क्या पर्याप्त मतभेद हैं। पर उन मतभेदों म पहले एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है

कि क्या भर्तृहरि को वाणी का त्रिविध रूप ही अभिमत था या वे वाणी के चारों परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी—रूपों को मानने वाले थे?

यह प्रश्न इस लिये विचारणीय है कि बहुत पहले से विद्वानों की इस प्रकार की धारणा रहती आयी है कि भर्तृहरि आदि वैयाकरण दार्शनिकों की दृष्टि में वाणी के तीन ही प्रकार या रूप अभिमत हैं—पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी। परा को न मानते हुए पश्यन्ती को ही वैयाकरण परा मान लेते हैं।

सबसे पहले शैवागम के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य सोमानन्दनाथ ने अपनी शिव दृष्टि में तथा इनके शिष्य उत्पलदेव ने शिवदृष्टि की टीका (शिवदृष्टि पृ० ४०) में तथा क्षेमेन्द्र ने प्रत्यभिज्ञाहृदय (पृ० १८) में इस बात की घोषणा की कि भर्तृहरि या वैयाकरण दार्शनिक वाणी के केवल तीन प्रकारों को मानने वाले हैं। सम्भवतः इन्हीं आचार्यों की घोषणा के आधार पर ही महामहोपाध्याय श्री प० गोपीनाथ कविराज (कल्याण शिवांक पृ० ६४) तथा डा० गौरीनाथ शास्त्री (फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग पृ० ६८ तथा उससे आगे) ने इस धारणा को सर्वसम्मत तथ्य के रूप में प्रस्तुत किया। श्री प० सूर्यनारायण शुक्ल ने भी वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की अपनी टीका (पृ० १५३) में यही प्रतिपादित किया है कि भर्तृहरि को वाणी की चतुर्विधता अभिमत नहीं थी।

इन विद्वानों की इस मान्यता के लिए आपाततः पर्याप्त कारण यह है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में केवल पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी का ही नाम लिया है तथा वाणी को त्रयी वाक् कहा है तथा अन्यत्र कहीं भी परा का उल्लेख नहीं किया है।

इन विद्वानों की उत्कृष्ट प्रतिभा तथा शास्त्र विषयक व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को देखकर इन सबके प्रति सर्वथा विनत होते हुए भी मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि वेद तथा आगम को परम प्रमाण मानने वाले आचार्य भर्तृहरि वाणी की परम्परागत चतुर्विधता के ही प्रतिपादक, पोषक एवं प्रतिष्ठापक थे। जिसकी पुष्टि के लिए निम्न हेतु प्रस्तुत हैं

प्रथम—जिस कारिका (वाक्यपदीय १।१।४७) में भर्तृहरि ने वाणी के तीन रूपों की गणना की है तथा वाणी को 'त्रयी' कहा है वहां वे सस्कृत व्याकरण शास्त्र के महत्त्व की चर्चा कर रहे हैं। उस कारिका से पहले की कारिका (१।१४३) में ही वे कह चुके हैं कि शब्दों का साधुत्वज्ञान कराने वाली यह व्याकरण स्मृति है जो बिना किसी विच्छेद के शिष्टों के शब्दप्रयोगों की याद दिला देती है। व्याकरणशास्त्र के महत्त्व की चर्चा करते हुए ही वे पुनः कहते हैं विविध रूप वाली त्रिविध वाणी वैखरी, मध्यमा तथा पश्यन्ती का वह व्याकरण अद्भुत परम पद है। स्पष्ट है कि भर्तृहरि यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि व्याकरण इन तीन वाणियों की चर्चा का विषय है—परा व्याकरणाध्ययन का विषय बन ही नहीं सकती इसलिये इस प्रसंग में परा के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। इस तरह केवल

व्याकरण की दृष्टि से यदि वे वाणी का त्रयी कहते हैं तो उसे इतने ही अंश में सत्य मानना चाहिए।

द्वितीय—भर्तृहरि को चार प्रकार की वाणी निश्चित रूप से स्वीकृत थी यह तथ्य उनकी स्वोपज्ञ टीका (१।१४३) से सुस्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥

इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। यहाँ इस चतुर्विध वाणी के स्वरूप विवेचन के पश्चात् भर्तृहरि ने 'तथेतिहासेषु निदर्शनायुपलभ्यन्ते' (इस प्रकार के उल्लेख इतिहासों में मिलते हैं) कह कर दस-पंद्रह श्लोकों को अपने मत की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया है। वृषभदेव के कथनानुसार ये श्लोक महाभारत के हैं। महाभारत आश्वमेधिक पर्व ब्राह्मण गीतान्तर्गत अनुगीता में इनमें से कुछ श्लोक पर्याप्त पाठ भेदों के साथ उपलब्ध भी हो जाते हैं पर दुर्भाग्यवश सारे श्लोक नहीं मिलते। इस प्रकार महाभारत में अनुपलब्ध पर महाभारत के नाम से उद्धृत इन श्लोकों में वैखरी तथा मध्यमा का वर्णन करने के पश्चात् पश्यन्ती का वर्णन जिस श्लोक में हुआ है वह यों है—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि इन दो पंक्तियों में दो प्रकार की वाणियों का उल्लेख किया गया है। पहली पश्यन्ती वाणी विभागरहित तथा ऐसी है कि जिसमें क्रम संहृत या समाविष्ट हुआ रहता है। पर इससे भी सूक्ष्म वाणी वह है जो स्वप्रकाशिका होती हुई अविनाशस्वरूपा है। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि इनकार की इन दोनों पंक्तियों में पश्यन्ती का ही वर्णन है तथा 'स्वरूपज्योति' और "अनपायिनी' ये पश्यन्ती के ही विशेषण हैं परन्तु 'सूक्ष्मा' के स्थान पर मिलने वाला दूसरा पाठभेद 'परा' यहाँ यह निर्णय दे देता है कि श्लोक के उत्तरार्ध में परा का ही वर्णन है।

महाभारत के नाम से उद्धृत इस श्लोक के बाद दो श्लोकों में वाणी की इस अन्तिम कला की महत्ता का वर्णन है जिसमें यह कहा गया है कि यह सूक्ष्मा वाणी नित्य अविद्याजन्य मलों या दोषों से युक्त होती हुई भी, साम की अन्तिम कला के समान वस्तुतः दूषित नहीं हो पाती तथा इस वाणी का दर्शन कर उन पर दोषों के सभी बन्धन छिन्न भिन्न हो जाते हैं। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि षोडश कला वाले पुरुष में यह 'अमृतमयी कला' है। षोडश कला वाले पुरुष में होने वाली यह अमृतमयी कला भी षोडश कला ही कही जाएगी। तुरीयोपनिषद् (२) में यह स्पष्ट कहा गया है कि पश्यन्ती १८ कला वाली तथा परा षोडश कला वाली होती है। इस रूप में तुरीयोपनिषद् तथा महाभारत के इन दोनों स्थलों की तुलना करने से भी यही निश्चय होता है कि महाभारतकार यहाँ परा वाणी का ही वर्णन कर रहे हैं जो षोडश कला वाली है जिसकी तुलना प्रणव में की जाती है। और जब यह निश्चित हो गया कि महाभारतकार यहाँ परा वाणी का वर्णन कर रहे हैं

तो यह भी निश्चित हो गया कि, अपने मत की पुष्टि मे महाभारत के इन श्लोकों के उद्धर्ता स्वोपज्ञ टीकाकार भर्तृहरि भी वाणी की मूल प्रकृति के रूप म परा को मानने ही हैं।

तृतीय—इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि स्वोपज्ञ टीकाकार ने 'वैखर्या मध्यमायाश्च' इस कारिका की टीका के अन्त मे यह कहा है कि '**सेषा त्रयी वाक तुरीयेण मनुष्येषु प्रत्यवभासते**' (यह त्रयी वाक् अपने चतुथ रूप से मनुष्यो म प्रतिभासित होती है) अब यहाँ यदि यह मान लिया जाए कि भर्तृहरि को तीन ही प्रकार की वाणी अभिमत है तो स्पष्ट ही '**वदतो व्याघात**' दोष उपस्थित होता है। पर यदि यह माना जाता है कि भर्तृहरि को चतुर्विध वाणी अभिमत तो है पर व्याकरण शास्त्र के विषय की दृष्टि से व वाणी के तीन ही रूप मानते हैं, तब यहाँ यह अथ सुसगत हो जाएगा कि वाणी, जो व्याकरण की दृष्टि से त्रिविध रूप वाली है परन्तु मूल रूप को ध्यान मे रखते हुए जो वस्तुत चार रूपो वाली है उस का चतुथ—वैखरी रूप मानवों मे व्यवहृत होता है।

चतुथ—इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका की समाप्ति पर अपने अभीष्ट मत के प्रतिपादन की पुष्टि के लिए भर्तृहरि ने ऋग्वेद के जिस प्रसिद्ध—'**चत्वारि वाक परिमिता पदानि**' (१।१६४।४५) मन्त्र को उद्धृत किया है वह इस बात का सबसे बड़ा और सुस्पष्ट प्रमाण है कि भर्तृहरि को चतुर्विध वाणी ही अभिमत है न कि त्रिविध वाणी क्योंकि इन मन्त्रों म बड़े स्पष्ट शब्दों म यह उद्घोषणा की गई है कि वाणी के परिनिष्ठित चार पद हैं।

पचम—वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के '**तद्द्वारमपवर्गस्य०**' (१।१४) इस कारिका की स्वोपज्ञ टीका (पृ० २७) म व्याकरणाध्ययन से अपवर्ग की जो प्रक्रिया भर्तृहरि ने बताई है उसम यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि साधक क्रमश वैखरी मध्यमा तथा पश्यन्ती के क्षेत्रों का पार करता हुआ अन्त म परम मूल-तत्त्व परा वाणी के स्वरूप का दशन करता है। यहाँ म भी यह निश्चित हो जाता है कि भर्तृहरि को परा वाणी अवश्य अभिमत थी।

षष्ठ—नागेशभट्ट ने भर्तृहरि की स्थिति के विषय म बहुत स्पष्ट सूचना महाभाष्य के प्रयोजनाह्निक मे '**चत्वारि वाक्परिमिता पदानि**' मन्त्र का इस की पतजलि-कृत व्याख्या को सरल बनाते हुए, दी है। यहाँ नागेश ने वैखरी तथा मध्यमा को सामान्य-व्यवहार का कारण बताया है तथा यह कहा है कि मध्यमा म वाणी के हृदय देश म रहने के कारण पदों का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। पश्यन्ती यद्यपि लोक व्यवहारातीत है पर योगियों को पश्यन्ती वाणी मे भी प्रकृति प्रत्यय के विभाग का ज्ञान हो जाता है। परन्तु परा वाणी म तो वह भी सम्भव नहीं है। इसलिए वाणी की पश्यन्ती अवस्था तक ही उस व्याकरण का विषय माना जा सकता है। व्याकरण आदि म अप्रकाश्य होने के कारण ही परा को 'स्वरूपज्योति —स्वप्रकाशिका कहा गया है। इस प्रकार व्याकरण का विषय न होने के कारण ही भर्तृहरि ने परा वाक्

का नामोल्लेख नहीं करना चाहा।

इस प्रकार इन हेतुओं को देखते हुए भतृहरि को पश्यीवाक् का प्रतिपादक मानना या उन्हें परा वाणी का समर्थक न मानना उनके प्रति महान् अन्याय होगा। इसके अतिरिक्त यदि परा को न माना जाए तो वेद के 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' मन्त्र की कोई संगति नहीं दिखाई देती।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ऊपर जितने भी हेतु प्रस्तुत किये गये हैं उनमें से अनेक वाक्यपदीय की तथाकथित स्वोपज्ञ टीका पर आधारित हैं जिसकी भर्तृहरिकृतता में पूरा पूरा सन्देह है। व्याकरणदर्शन के मार्मिक अध्येता एवं प्रबल व्याख्याता श्री प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती तथा डा० गौरीनाथ शास्त्री जैसे विद्वानों ने भी इस टीका को पुण्यराज की टीका मान लिया है। डा० गौरीनाथ शास्त्री ने इसी आधार पर यह प्रतिपादन किया है कि 'भर्तृहरि को केवल त्रिविध वाणी ही अभिमत है। पुण्यराज आदि टीकाकारों ने तन्त्रशास्त्र की वासना से अभिभूत होकर, *वाक्यपदीय की कारिकाओं के व्याख्यान में परा का भी उल्लेख कर दिया है।' (द्र० फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० ७०)।*

इसलिए यदि इस टीका का लेखक भतृहरि से अन्य कोई विद्वान् है तो भतृहरि को वाणी का त्रिविध रूप अभिमत होने पर भी सम्भव है उसने अपनी दृष्टि से वाक्यपदीय की इन कारिकाओं की व्याख्या की हो।

इस विषय में अभी इतना ही निवेदन करना उचित प्रतीत होता है कि पुण्यराज, हेलाराज तथा वृषभदेव इत्यादि वाक्यपदीय के अन्य व्याख्याताओं ने स्थान स्थान पर भर्तृहरि को टीकाकार जैसे नामों से अभिहित किया है जिससे इतना तो निर्णीत ही है कि उसने कोई स्वोपज्ञ टीका लिखी थी। अब केवल इतना ही विचारणीय है कि आज जो टीका स्वोपज्ञ नाम से उपलब्ध है तथा जिसके कुछ अंशों का संपादन श्री प० चारुदेव शास्त्री ने किया है उसे स्वोपज्ञ टीका माना जाय या न माना जाय? इस प्रश्न का निर्णय श्री प० चारुदेव जी ने अपने संस्करण की भूमिका में विभिन्न युक्तियों के आधार पर किया है और यह कहा है कि कारिका तथा वृत्ति दोनों का लेखक भतृहरि ही है। प्रश्न का निर्णय एक और तथ्य से भी हो सकता है वह यह कि भर्तृहरि ने पतंजलि के महाभाष्य पर एक महत्वपूर्ण टीका लिखी थी जिसका नाम था महाभाष्य दीपिका। इस टीका के अनेक स्थलों का भर्तृहरि की इस स्वोपज्ञ टीका के अनेक स्थलों से अत्यधिक साम्य है जो दोनों की एककर्तृकता का पोषक है।

इस प्रकार स्वोपज्ञ टीका को भर्तृहरिरचित मान लेने पर ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि को वाणी के चारों भेद अभिमत हैं। यहाँ यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि भर्तृहरि ने वाणी के चतुर्विध विभाग की जो उद्भावना की है उसका आधार संभवतः महाभारत के वे श्लोक हो जिन्हें भतृहरि ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में उद्धृत किया है। यदि भर्तृहरि का, महाभारत के इन श्लोकों से अतिरिक्त कोई अन्य आधार भी है तो वह आज उपलब्ध नहीं है। यह सचमुच

आश्चर्य की बात है कि पतंजलि के संपूर्ण महाभाष्य तथा उससे पूर्व की उपलब्ध किसी भी पुस्तक या साहित्य में इन चारों विभागों का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं मिलता। तुरीयोपनिषद् (२), योगकुण्डल्युपनिषत् (३।१८ १९) तथा नारायणपूर्वतापिन्युपनिषत् (८।८) में इन वाणियों का वर्णन अवश्य है। पर ये उपनिषत् भर्तृहरि के बाद की हैं ऐसी पूरी सम्भावना है ।

जो भी हो उपलब्ध सामग्री को देखते हुए यह स्वीकार करना होगा कि दार्शनिक पृष्ठभूमि में वाणी के उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकारों तथा उनके आधार पर ऋग्वेद के इस मंत्र की सुव्यवस्थित संगति लगाने का श्रेय सर्वप्रथम भर्तृहरि ने ही किया। साथ ही यह भी कि भर्तृहरि ही वह प्रथम दार्शनिक है जिसने यह स्पष्ट घोषणा की कि परा वाणी ही जिसका पारिभाषिक नाम शब्दब्रह्म है सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण या दूसरे शब्दों में परम प्रकृति है ।



स्फोट-वाद का भाषा-दर्शन

स्फोटवाद को सामान्यत एक व्याकरण या व भाषा दर्शन माना जाता है तथा आधुनिक काल मे उसे वैयाकरणो के शास्त्रार्थ का विषय समझ कर दर्शन शास्त्र के भारतीय विद्वानो द्वारा सामान्यत उसकी उपेक्षा हुई है। भाषा विज्ञान के विद्वानो ने यद्यपि, प्राचिन भारतीय भाषा वैज्ञानिक चिन्तन का गुणानुवाद तो किया है परन्तु गभीरतापूवक उसे अध्ययन या शोध के विषय के रूप म सामान्यत मान्य नही किया है। क्योकि आधुनिक काल म भारत के दर्शन आदि विषयो के अध्ययन की दृष्टि मूलत पाश्चात्य प्रभावित है तथा पश्चिम म आधुनिक काल से पूव भाषा दर्शन या भाषिक-तत्व दर्शन को दर्शन शास्त्र और भाषा विज्ञान की सीमा म स्वीकृत नही किया जा सकता था। अत स्वाभाविक ही है कि आधुनिक काल म दर्शन एव भाषा विज्ञान के विद्वानो द्वारा स्फोटवाद की तात्त्विक विवेचना सामान्यत प्रस्तुत न हो। परन्तु भारतीय परम्परा म स्फोटवाद न केवल एक व्याकरण या/व भाषा दर्शन के रूप म मान्य है अपितु वह एक तात्त्विक मतवाद भी है। स्फोटवाद मूलत तत्त्व ज्ञान ही है जो भाषा के रूप म सृष्टि के उत्पत्ति स्थिति तथा लय की व्याख्या करता है तथा उसी सिद्धान्त के अनुसार किसी भी वास्तविक भाषा के उत्पत्ति प्रकार प्रतीति आदि को ही नही, वरन् उसके स्वरूप की भी व्याख्या करता है। परम्परानुसार स्फोटवाद एक प्राचीन वैदिक आस्तिक अद्वैतवादी तत्त्व दर्शन ही है। भट्टोजी दीक्षित न इसे जहाँ अद्वैतवाद का वयाकरण रूप कहा है तथा अद्वैतवाद के सभी भेदाभेदो का या अभिमतो को इस पर घटित किया है[1] वहा माधवाचाय न अपने सव दर्शन-सग्रह' म पाणिनि दर्शन पर उसी प्रकार एक स्वतन्त्र अध्याय लिखा है जिस प्रकार अन्य मान्य प्राचीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायो या सिद्धान्तो पर लिखे हैं। आशय यह कि भारतीय परपरा म स्फोटवाद एक तत्त्व दर्शन[2] के रूप म ही स्वीकृत है जिस पर सस्कृत म प्रभूत साहित्य उपलब्ध है तथा उसका जो भी व्याकरण या/व भाषा दर्शन हैं वह सब कुछ स्फोटवाद के व्यापक तत्त्व-दर्शन का ही अग या प्रतिबिम्ब है।

वस्तुत स्फोटवाद एक ऐसा तात्त्विक दर्शन है जो दुहरी व्याख्या की अपेक्षा करता है क्योकि एक ओर जहाँ वह भाषा-दर्शन है वही वह एक भाषिक-तत्त्व-दर्शन भी है तथा उस पर आधारित एक साधना-पद्धति भी है जिसकी चर्चा आगमिक तन्त्र-साहित्य म विशेष रूप म उपलब्ध होती है। दूसरे शब्दो म स्फोटवाद जहाँ सस्कृत-व्याकरण शास्त्र का आधार है सस्कृत वयाकरणो का भाषिक-तत्त्व दर्शन

है, यहा यह एक जीवन-साधना पद्धति भी है। यद्यपि स्फोटवाद के उक्त सभी रूपों या पक्षों की व्याख्या करने वाला कोई एक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है, परन्तु यास्क, पाणिनि कात्यायन, पतंजलि आदि की रचनाओं में जिस प्रकार स्फोटवाद की सैद्धान्तिक आधार भूमि दृष्टिगोचर होती है,[3] उसी प्रकार उसकी साधना पद्धति के विविध रूप, तंत्र शाक्त तथा वैष्णव आगमों या तन्त्रों में ही नहीं अपितु बौद्ध आदि तन्त्रों में भी प्राप्त होते हैं।[4]

इसी प्रकार जैसे मध्यकाल में स्फोटवाद का सविस्तार सैद्धान्तिक विवेचन भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के ग्रंथों में हुआ है उसी प्रकार उसके साधना पक्ष का विकास सोमानन्द उत्पलाचार्य अभिनवगुप्त आदि काश्मीरी शैव आचार्यों के तान्त्रिक ग्रंथों में प्राप्त होता है।[5] यद्यपि सभी प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के विषय में विचार किया है। अतः स्फोटवाद के भाषा दर्शन का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में सभी भारतीय दर्शनों के साथ माना जा सकता है तथा इसीलिए स्फोटवाद की अनेकानेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं। तथा 'स्फोट' शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग अन्य भारतीय दर्शनों ने किया भी है। परन्तु वस्तुतः स्फोटवाद वैयाकरणों का ही सिद्धान्त है, जिसके आदि प्रवक्ता चाहे जो हों, परन्तु प्रधानतम आचार्य के रूप में पाणिनि को स्वीकार किया जा सकता है। इसे चाहे पाणिनि की अष्टाध्यायी का चमत्कार कहा जाए या उसके व्याख्याता आचार्यों का विलक्षण प्रतिभा का परिणाम परन्तु यह सत्य है कि जिन सूत्रों के आधार पर संस्कृत भाषा के रूप प्रयोग आदि के विषय में विधान किया गया है उन्हीं के आधार पर अमूर्त तात्त्विक सिद्धान्तों की उद्भावना भी हुई है, तथा उन्हीं के आधार पर बीज मन्त्रों की व्याख्या तथा मन्त्र साधना का भी विधान किया गया है। इस दृष्टि से बीज मन्त्र-ध्यान का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वर्णों की आकृति ध्वनि आदि की रहस्यवादी व्याख्या की गई है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के प्रारम्भ में प्राप्त होने वाले १४ माहेश्वर सूत्रों के वर्णों की दार्शनिक व्याख्या 'नन्दिकेश्वर' द्वारा नन्दिकेश्वर-काशिका में हुई है।[6] इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने अपने 'तन्त्रालोक' में बीज मन्त्रों की व्याख्या अष्टाध्यायी के सूत्रों के आधार पर ही की है।[7] आशय यह कि यद्यपि स्फोट या स्फोटवाद शब्द पारिभाषिक अर्थ में पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त नहीं मिलते पर उसे स्फोटवाद का मूल अवश्य कहा जा सकता है।

यद्यपि स्फोट शब्द का दार्शनिक अर्थ में सर्व प्रथम प्रयोग पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है,[8] परन्तु उससे पूर्व प्रातिशाख्य ग्रंथों में 'स्फोटन' शब्द पारिभाषिक अर्थ में मिलता है[9] जिसके स्वरूप और अर्थ के विकसित रूप में तो स्फोटवाद को नहीं स्वीकार किया जा सकता परन्तु दोनों विचारधाराओं में कुछ साम्य अवश्य है। प्रातिशाख्यों के अनुसार स्फोटन का अर्थ है क वर्ग के अन्य स्पर्श व्यंजन के साथ सन्निकर्ष काल में निष्पन्न उनकी स्फुटोक्ति।[1] अर्थात् वर्णों से भिन्न उनकी परिवर्तन क्रम कालीन ध्वनि स्फोटन है। यह उल्लेखनीय है कि

स्फोटन के प्रयाग की सीमा केवल व्यजन सनिपात तक ही है जबकि मात्र स्थूल भाषिक अथ म भी स्फोट' का क्षेत्र उक्ति की श्रुति स लेकर सब प्रकार के वर्णों के सयोग सनिपात स बन पद शब्द, वाक्य के परे उनकी अथ प्रतीति तक है।[11]

विद्वानो की मान्यता है कि यद्यपि स्फोटवाद' शब्द अपक्षाकृत नवीन है परन्तु यह सिद्धान्त आष है। यास्क और पाणिनि से पूव औदुम्बरायण वार्ष्यायणि, वार्तक्षि, स्फोटायन आदि आचार्यों को प्राय स्फोटवादी ही माना जाता है।[12] नागश भट्ट न अपन ग्रथ स्फोटवाद म स्फोटायन को ही स्फोटवाद का आदि आचाय माना है[13] तथा पाणिनि के सूत्र अवङ स्फोटायनस्य[14] म उल्लिखित स्फोटायन को ही हरदत्त न 'काशिका की अपनी टीका पदमजरी म स्फोटवाद का का प्रवतक आचाय बताया ह।[15] आशय यह है कि यद्यपि पतजलि स पूव स्फोटवाद के अनेक आचाय मिलत हैं परन्तु सम्प्रति महाभाष्य म ही न कवल सव प्रथम स्फोट शब्द का एक सिद्धान्त एव तत्त्व क अथ म प्रयाग मिलता है वरन् उसम स्फोटवाद के सार भावी विकास विस्तार की पुष्ठ भूमिका भी है। स्फाटवाद के अन्तगत शब्द, अथ एव उनक सबध स्वरूप आदि के विषय म जो कुछ विचार वयाकरणो न किया है वह किसी न किसी रूप म पतजलि के महाभाष्य म अवश्य मिल जाता है। वस भी सम्प्रति स्फोटायन आदि के मात्र उल्लिखित होने तथा पाणिनि आदि द्वारा अप्रत्यक्ष रूप स ही स्फाटवाद की चचा किए जान कारण पतजलि के महाभाष्य को ही स्फोटवाद के मूल आधार क रूप म स्वीकार किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पतजलि पूव साहित्य म स्फोटवाद क अनकानक प्रमाण ह। परन्तु उन म स्फोट क स्थान पर वचा या शब्द शब्द का प्रयाग मिलता है।[16] कुछ विद्वानो की मान्यता है कि यास्क के 'इन्द्रियनित्य वचनम् औदुम्बरायण[17] वाक्य म वाक्य-स्फोटवादियो का अभिमत है जबकि यास्क स्वय शब्द स्फाटवादी थ[18]। स्फाट क इन दो मतवादो के अतिरिक्त वर्ण स्फाटवादी एव पद स्फोटवादी अभिमत भी हैं[19] परन्तु मूलत वाक्य स्फाटवाद को ही वयाकरणो का मौलिक सिद्धान्त माना जाता है जिसके दार्शनिक पक्ष का पूण पल्लवन भत हरि क वाक्य पदीय में प्राप्त होता है। वस्तुत स्फोटवाद क विषय म परवर्ती वयाकरण जस भट्टोजी दीक्षित कोण्ड भट्ट नागश आदि न शब्द-कौस्तुभ भूषण', 'मजूषा स्फोटवाद आदि ग्रथो म जो कुछ लिखा है, वह सब कुछ भत हरि क वाक्यपदीय पर आधारित है। इस प्रकार कुमारिल आदि द्वारा जिस स्फोटवाद का खण्डन तथा शङ्कराचाय मण्डनमिश्र आदि द्वारा समथन हुआ है वह भी भत हरि द्वारा प्रतिपादित स्फोटवाद ही है। स्फोटवाद क सन्दभ म भतृहरि के वाक्य पदीय का इसलिए भी सर्वाधिक महत्त्व है कि उसम स्फोटवाद क सभी सद्धान्तिक पक्षो की सुस्पष्ट व्याख्या प्राप्त होता है। परन्तु स्फोटवाद का मौलिक रूप तन्त्रो म ही सुरक्षित है। स्फोटवाद का समग्र रूप स समझन क लिए उक्त दोनो धाराओ का समन्वित सद्धान्तिक अध्ययन आवश्यक है।

स्फोटवाद के मात्र 'भाषा दर्शन' को समझने के लिए यद्यपि उसके तत्त्व दर्शन के विवेचन को सामान्यत अनावश्यक समझा जा सकता है परन्तु स्फोटवाद का भाषा दर्शन, क्योंकि एक व्यापक तत्त्व दर्शन का ही अग है जो सारी सृष्टि के उदय स्थिति लय की अटूट शृखला को विवर्त 'एव 'परिणाम' दोनो रूपो म व्याख्या भाषा के प्रतीक के माध्यम म करता है। इसलिए स्फोटवाद के तत्त्व दर्शन तथा भाषा दर्शन को बिलकुल अलग अलग करके नही समझा जा सकता। स्फोटवाद के भाषा दर्शन को समझने के लिए उसके व्यापक तत्त्व दर्शन का साधारण परिचय इसलिए भी आवश्यक है कि उसका तत्त्व दर्शन मूलत भाषा मूलक होने के कारण भाषिक-तत्त्व दर्शन है। परम्परानुसार भी स्फोटवाद के अद्वैतवाद को शब्दाद्वैतवाद ही कहा जाता है।

स्फोटवाद के अनुसार सारी सृष्टि, जिस का कि एक रूप भाषा भी है शब्द ब्रह्म से उत्पन्न है तथा यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर भाषा और भाषेतर सृष्टि को समान तथा समानान्तर यथार्थ के रूप म स्वीकार्य है तथा सृष्टि काल म परस्पर दोनो एक दूसरे म प्रतिच्छायित होते हुए भिन्न प्रतीत माने जाते हैं, परन्तु मूलत दोनो यथार्थ एक ही परमार्थ पर ब्रह्म, प्रणव की अभिव्यक्ति हैं उसी म स्थित रहते हैं तथा उसी म लय प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि यद्यपि व्यावहारिक धरातल पर स्फोटवाद भाषा और भाषेतर यथार्थ अर्थात् शेष पदार्थ जगत् का द्वैत तो स्वीकार करता है परन्तु दोनो की उत्पत्ति एक ही यथार्थ से मान्य करता है। अत स्फोटवाद के अनुसार परमार्थत अद्वैत ही स्वीकार्य है। स्फोटवाद के अनुसार उक्त दोनो यथार्थों मे परस्पर वाच्य वाचक सबध है कार्य कारण सबध नही। जगत् और भाषा एक दूसरे म आभासित होते है। उक्त दोनो यथार्थों का कार्य-कारण सबध परस्पर न होकर दोनो का शब्द ब्रह्म के साथ है। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से स्फोटवाद अद्वैतवादी तत्त्व दर्शन है, जो भाषा को मात्र मानवीय सामाजिक यथार्थ न मान कर, उस एक समूची ब्रह्माण्डीय सृष्टि के सदर्भ मे देखता है। इसलिए उसके अनुसार 'भाषा' एक प्राकृतिक यथार्थ है वह मात्र पारपरिक सांस्कृतिक यादृच्छिक ध्वनि प्रतीको की व्यवस्था नही है। वास्तविक भाषाएँ भी क्योंकि ब्रह्म स्फोट की व्यष्टि रूप होती है अत उन्हे भी स्फोटात्मा कहा गया है।

भारतीय वैयाकरणो के अनुसार स्फोट उपरोक्त दोनो भाषा और भाषेतर यथार्थों का सयोजक तत्त्व ही नहीं वरन् उनका कारण भी है। वह मात्र भाषा की ही आत्मा नही है अपितु समस्त सृष्टि की भी आत्मा है। सृष्टि म जो भी स्पन्द या स्पन्दन है वह सब स्फोट ही है तथा जो कुछ निस्पन्द जागतिक सृष्टि है वह सब उसी स्फोट शब्द का वाच्य है। काश्मीरी शैव आचार्यो के तान्त्रिक ग्रन्थो म इस विचारधारा का विशेष पल्लवन प्राप्त होता है। उसके अनुसार यह सारी सृष्टि परमशिव की अभिव्यक्ति है। जैसे बिम्बो के माध्यम से कल्पना का रूप अभिव्यक्त होता है वैसे ही शब्द-ब्रह्म या परम शिव स्फोट के माध्यम से जगत् और वाक् या भाषा के रूपो मे व्यक्त होता है।[21] जैसे उपनिषदो म जगत् को ब्रह्म का निश्व

सित कहा गया है उसी प्रकार आभासवादी शैवों ने समस्त सृष्टि को प्रकाशविमर्शमय परमशिव की अभिव्यक्ति माना है।[२२] वैयाकरणों के अनुसार भी शब्द ब्रह्म का स्फोट ही समस्त पदार्थ जगत् है।[२३] आभासवादी शैवों के अनुसार सृष्टि में मूलतः दो ही प्रकार के पदार्थ हैं एक प्रकाश के विवर्तित परिणाम रूप स्थूल पदार्थ जगत् तथा दूसरा विमर्श का स्थूल रूप वाक् या प्रत्ययात्मक तथा प्रकाशक यथार्थ।[२४] इन्हीं का क्रमशः रूप और नाम भी कहा जा सकता है। जगत् और वाक् में परस्पर वाच्य वाचक सम्बन्ध ही शैवाचार्यों का भी मान्य है।[२५] वस्तुतः स्फोटवाद के तत्त्व दर्शन में परम् ब्रह्म या उसके समकक्ष एक परम सत्ता स्वीकृत है जिसकी भाविक अभिव्यक्ति ही सारी सृष्टि है तथा जिसे शैवों और वैयाकरणों ने प्रतिभा स्फोट या शब्द ब्रह्म आदि शब्दों से अभिहित किया है[२६]। तथा क्योंकि परम सत्ता 'प्रकाशविमर्शैक्यपरा' स्थिति रूप शब्द ब्रह्म ही है अतः उसी के दो तत्त्वों की अभिव्यक्ति सृष्टि काल में शब्द अर्थ या वाच्य वाचक के द्वैत के रूप में प्रतीत या आभासित होती है। वाच्य रूप जगत् प्रकाश तत्त्व का घनीभूत स्थूल रूप है तथा वाक् (वास्तविक भाषाएं नहीं) विमर्श तत्त्व का घनीभूत स्थूल या मूर्त रूप है।[२७] भर्तृहरि भी उसी प्रकार समस्त अनुभूत वास्तविक जगत् का शब्द ब्रह्म के साथ अद्वैत मानते हैं[२८] जैसे अद्वैतवादी ब्रह्म और जगत् में तथा विज्ञानवादी ज्ञान और ज्ञेय में अद्वैत मानते हैं[२९]। वस्तुतः सत्ताद्वैत विज्ञानाद्वैत तथा शब्दाद्वैत एक ही सिद्धान्त के तीन संस्करण हैं।

स्फोटवाद के अनुसार शब्द ब्रह्म की अनेक शक्तियाँ हैं जिन में से स्वातन्त्र्य शक्ति को प्रधानतम माना जाता है[३०]। शैवों ने इसे ही काल शक्ति कहा है[३१]। भर्तृहरि ने भी शब्द की काल शक्ति को माना है जिसके परिणाम स्वरूप जन्मादि षड्भावविकार उत्पन्न होते हैं। भर्तृहरि ने कहा है—

अध्याहृत कला यस्य, काल शक्तिमुपाश्रिता।
जन्मादयो विकारा षड् भाव भेदस्य योनयः ॥ (वाक्य पदीय १।३)

परन्तु यह ज्ञातव्य है कि शब्द-ब्रह्म और उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति जब भी होती है वह तब स्फोट के कारण तथा स्फोट के रूप में ही होती है। वस्तुतः वैयाकरणों का शब्द-ब्रह्म सांख्य दर्शन के प्रकृति या हिरण्यगर्भस्थ आदि तत्त्व सब तत्त्वसार भूत, त्रिगुणात्मक प्रकृति का प्रतिनिधि है जिसमें समस्त सृष्टि स्फुटित और विकसित होती है और जिसमें विलीन होती है। स्फोट के इसी आध्यात्मिक रूप को शब्द ब्रह्म कहा जाता है। भर्तृहरि ने अपने वाक्य-पदीय के प्रथम श्लोक में इसी का वर्णन किया है— **अनादि निधन ब्रह्म शब्द तत्त्व यदक्षरम्।**

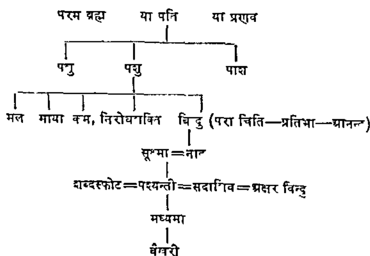
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (वाक्य पदीय १।१)

अन्यत्र भर्तृहरि ने शब्द को स्फोटात्मक कहा है तथा उसे अव्याहत कला वाला अर्थात् काल में अकल्पित माना है[३२]। आशय यह है कि वैयाकरणों के अनुसार शब्द ब्रह्म वह मौलिक तत्त्व है जिस तत्त्व के कारण और जिस तत्त्व के रूप में समस्त मौलिक सृष्टि है या आभासित होती है तथा क्योंकि यह मौलिक तत्त्व मूलतः प्रकाश विमर्श मय है अतः समस्त सृष्टि में द्वैत प्रतीत होता है वस्तुतः ज्ञान में अन्त

ही है। इसीलिए यद्यपि एक को वाच्य तथा दूसरे को वाचक या एक को रूप तथा दूसरे का नाम कहा गया है। परन्तु क्योंकि वाच्य, वाचक और वाचक वाच्य होता है तथा रूप का नाम व नाम का रूप भी होता है इसीलिए स्फोट वाद के अनुसार परमार्थत अद्वैत ही सिद्ध होता है।

वैयाकरणों के अनुसार स्फोट शब्द ब्रह्म की वस ही आत्मा है जसे सामान्य भाषिक ग्रथ मे शब्द की आत्मा अर्थ को माना जाता है। इसी स्फोटात्मा शब्द ब्रह्म से जो सृष्टि होती है उसका क्रम वैयाकरणों न सामान्यत इस प्रकार माना है प्रणव >शब्द ब्रह्म >परा >पश्यन्ती >मध्यमा >वैखरी।

यहा यह उल्लेखनीय है कि भर्तृहरि न परा और शब्द ब्रह्म को एक ही माना है अत उनके अनुसार सृष्टि क्रम मे तीन ही सोपान हैं पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी[33]। परन्तु नागेश आदि प्राय सभी परवर्ती आचार्यों न वाक सृष्टि के चार ही स्तर माने हैं[34]। काश्मीरी शैवो के प्रत्यभिज्ञावाद के प्रवतक आचाय सोमानन्द न सवप्रथम भर्तृहरि द्वारा मान्य वाक के उक्त तीन रूपो के सिद्धान्त की आलोचना की है तथा पश्यन्ती को वाक के परम रूप या स्तर के रूप मे स्वीकार न कर, परा वाक को वाक् का परम रूप माना है तथा वाक सृष्टि के क्रम के उक्त चार स्तर माने है जिसे परवर्ती प्राय सभी वयाकरणो ने भी स्वीकार किया है[35]। परन्तु काश्मीरी शवो के क्रम सिद्धान्त ने वाक सृष्टि के पाच रूप माने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि समूचा क्रम सिद्धान्त क्योंकि पचक प्रधान है इसीलिए उसमे वाक् सृष्टि के पाच सोपान या स्तर मान्य हैं। इसीलिए सम्भवत क्रम सिद्धान्त के अनुसार परा और पश्यन्ती के बीच मे एक सूक्ष्मा वाक और भी है[36]। सक्षेप म काश्मीरी शैव आचार्यों के वाक सृष्टि-क्रम विषयक विविध दृष्टिकोणो को निम्नलिखित तालिका स स्पष्ट किया जा सकता है



यहाँ यह उल्लेखनीय है उक्त वाक सृष्टिक्रम मूलत किसी विशेष या सामान्य भाषा की अभिव्यक्ति का क्रम नहीं है। अपितु यह समस्त व्याकृत, या दृश्य जगत् की सृष्टि का क्रम है जिसके अव्याकृत, अनभिव्यक्त, अननुभूत अन्य अनेक सूक्ष्म स्तर भी हैं। अर्थात् जो कुछ दृश्य जगत् म विमन तत्व की अभिव्यक्ति है वह सब बखरी सृष्टि है, जिसके अन्तगत तथाकथित वास्तविक भाषाए भी है और उनके तथाकथित वक्ता और उनकी बोलियाँ आदि भी। परन्तु क्योंकि जो कुछ पूर्ण म है वह उसके अश म भी पूर्णत हा है, अत वाकसृष्टिक्रम के उक्त पाच रूपा या स्तरा के पचक के अनुसार वास्तविक 'भाषा' क स्वरूप व व्यवहार की भी व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि वास्तविक भाषाएँ भी व्यापक वाक-तत्व की अश, या बिम्ब मात्र हैं आशय यह है कि जिस तत्व दशन के आधार पर स्फोटवाद सृष्टि मे व्याप्त व्यापक वाक व उसकी अभिव्यक्ति की व्याख्या करता है, उसी के अनुसार वह वास्तविक भाषाओ की अभिव्यक्ति, स्वरूप तथा प्रयोग की व्याख्या भी करता है। उक्त तात्त्विक दृष्टि स जो भाषा दशन भारतीय वयाकरणा द्वारा चर्चित हुआ है उसे ही स्फोटवाद का भाषा दशन कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ यह उल्लखनीय है कि भारतीय वयाकरणा तथा अन्य भारतीय दार्शनिका मे भी सामान्यत इस प्रकार के दो पक्ष या उपसम्प्रदाय मिलत है, जिनम एक त्रिक को लेकर चलता है तथा दूसरा पचक को। वेदान्तिया म भी इस प्रकार का भद मिलता है। पचक वादी सिद्धान्त सामान्यत विशुद्ध अद्वतवादी है तथा त्रिक वादी द्वतवादी या द्वताद्वतवादी है। यदि यह मान्यता स्वीकृत की जाय तो भत हरि को फिर द्वताद्वतवादी ही मानना चाहिए क्योंकि व वाक के तीन ही रूप मानत हैं। अत उन्हे त्रिकवादी ही कहा जाएगा। कुछ विद्वाना ने भत हरि को द्वताद्वतवादी तथा अचिन्त्यभेदाभेदवादी आचाय माना भी है[30]। ओकार के तीन वर्णों द्वारा उच्चरित हाने तथा पाच आवृत्तिया म लिखे जाने म भी कदाचित् उक्त दाना पचक और त्रिकवादी दार्शनिका का द्वन्द्व ही प्रतिबिम्बित होता प्रतीत होता है।

आशय यह है कि स्फोटवाद की भी उक्त दोना प्रकार की व्याख्याएँ प्राचीन व्याकरण शास्त्र म मिलती हैं तथा जिसकी परपरा अत्यत प्राचीन काल स १८ १९ शताब्दी तक अक्षुण्ण चली आ रही है। परन्तु सम्प्रति व्याकरण शास्त्र के साहित्य म उक्त दोना परम्पराओ के अनुसार स्फोटवाद की दूसरी व्याख्या एसी धुली मिली मिलती है कि उन दोना को पृथक कर सकना इस समय सहज प्रतीत नहीं होता। परन्तु इतना निश्चित है स्फोटवाद क तत्वदशन की जसी भी व्याख्या की जाएगी उस का भाषादशन भी तदनुसार परिवर्तित होगा ही। परन्तु इस समय स्फोटवाद के उक्त भेदाभेदा की चर्चा न कर सक्षेप म उसके समन्वित भाषा दशन के विषय म ही विचार किया जा सकता है।

स्फोटवाद भाषा को एक ही साथ एक यथाय और आत्मा दोना मान कर चलता है। क्योंकि उसके अनुसार यथाय (जो वस्तुत आभास या अध्यास होने के कारण अयथाय ही है) के द्वारा ही आत्मा अभिव्यक्त होता है। भाषा ध्वनिया के वाक-व्यापार के माध्यम म अभिव्यक्त होती है। जिन ध्वनिया का जितना और

जैसा भी समान मस्कार होता है वैसा ही उनका परस्पर वाक् व्यापार समान होता है। परस्पर व्यक्ति-वाक्-व्यापार म अभिव्यक्त 'एक भाषा' की व्याख्या भी स्फोट वाद उसी सिद्धात म करता है जिस सिद्धान्त स वह किसी एक व्यक्ति म अभिव्यक्त 'भाषा' या उसके वाक् व्यापार की व्याख्या करता है। साथ ही मानवीय व्यक्ति वाक्-व्यापार स भिन्न एक भाषा व उसकी स्वतन्त्र भाषिक—सरचना का ही नही वरन् सारी सृष्टि के प्रत्येक नाम रूपधारी पद व पदार्थ का भी एक भाषा या अभिव्यक्ति मानता है जिस म मूलत कोई भेद नही है। क्योंकि स्फोट सवत्र एक है तथा उसके कारण सब की प्रथवत्ता है। सारी सृष्टि, प्रकाश विमर्शमय परा के प्रकाश स अनुसजित वाच्य एव विमर्श स प्रस्फुटित वाचक सृष्टि के रूप म ही अभिव्यक्त हुई है। अत स्फोटवाद के अनुसार वाक् या भाषा के व्यक्ति—यथाथ तथा समष्टि यथाथ के साथ साथ उसका एक आध्यात्मिक यथाथ भी है। आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान अभी तक भाषा को व्यक्ति और समष्टि गत यथार्थों के रूप म ही देख पाया है। भाषा को समस्त सृष्टि क सन्दभ म देखने की कल्पना आधुनिक भाषा विज्ञान नही कर सकता क्योंकि वह अभी अन्य मान्य विज्ञानो की कोटि म बाहर नही जाना चाहता। परन्तु स्फोटवादी दृष्टिकोण यही है। भाषा की उत्पत्ति के विषय म भी स्फोटवाद का वही सिद्धान्त है जो उसे अन्य किसी यथाथ की उत्पत्ति के विषय म स्वीकृत है। अर्थात् जिस प्रकार स्फोट के आधार पर मानव और उसकी उत्पत्ति या विकास क्रम की व्याख्या होती है, उसी प्रकार भाषा भी एक यथाथ है और उसी प्रकार भाषा और उसके व्यक्ति यथाथ या समष्टि यथाथ दोनों रूपो के विकासक्रमो की व्याख्या भी स्फोट के आधार पर की जा सकती है। क्योंकि स्फोट जहाँ समस्त सृष्टि का आत्मतत्त्व है वही वह भाषा और उसके सभी स्तरो व कोटियो का ही नही वरन् वह उसके सभी स्वाभाविक वा उचित प्रयोग व्यापार का नियामक प्राणतत्त्व भी है। जस पाश्चात्य प्रतीकवाद समस्त सृष्टि को ही प्रतीक नही वरन् उसम सृष्टि के क्रम तथा उपादान को भी प्रतीका त्मक मानता है। उसी प्रकार स्फोटवाद भी सारी सृष्टि का स्फोट रूप ही मानता है तथा स्फोट को ही उसका कारण भी मानता है। साथ ही सत्कायवादी होने से काय कारण मे अनन्यत्व स्वीकार करने के कारण सृष्टि के काय व्यापार या उसकी क्रिया त्मक अभिव्यक्ति म भी स्फोट को ही अनुस्यूत मानता है। यहा यह उल्लेखनीय है कि प्रतीक के समान स्फोट भी सदा साथक ही होता है चिह्न sign के समान प्रतीक symbol और स्फोट कभी व्यथ नही हो सकते। इसीलिए स्फोटवाद न तो स्पष्टत शब्द और अथ' को ही नही वरन् उनके परस्पर सम्बन्ध का भी नित्य माना है। परतु पाश्चात्य प्रतीकवाद के अनुसार प्रतीक म अथ सदभ स ही आते हैं तथा सहज एतिहासिक तथा सामाजिक स्तरो पर निष्पन्न होते हैं साथ ही वह प्रतीक, प्रतीकाथ और उनके सम्बन्ध को उस अथ म नित्य नही मानता जिस अथ म स्फोट वादी शब्द, अथ और उनके सबध' को नित्य मानते हैं। आशय यह है कि यद्यपि पाश्चात्य प्रतीकवाद तथा भारतीय स्फोटवाद म क्रमश प्रतीक तथा स्फोट विषयक

विचारो मे कुछ साम्य अवश्य है परन्तु उन्हे एक सा नही कहा जा सकता।

स्फोटवाद के अनुसार पूर्व और वर्तमान जन्मो के संस्कारो के परिपाक के रूप म विवक्षा के तात्कालिक कारण से मानवीय कण्ठ से जो ध्वनि रूप म यथार्थ अभिव्यक्त होता है तथा जो श्रोता द्वारा श्रुतिरूप म गृहीत हो शुश्रूषा आदि [३८] के क्रम म प्रतीत होता है वही भाषा है जिसका मूल केन्द्र बिन्दु 'वाक्य' माना गया। 'वाक्य' उक्ति का शास्त्रीय पर्याय है। भर्तृहरि ने 'वाक्य' को उसी प्रकार उपचार से अनेक स्थानो पर शब्द भी कहा है जिस प्रकार स्फोट और अर्थ आदि को 'शब्द' कहा है। परन्तु भाषा की मौलिक इकाई के रूप म वाक्य ही मान्य है तथा उसकी अभिव्यक्ति उसके अर्थ और रूप के दो तत्त्वो के माध्यम से मानी जाती है। इसी प्रकार, शास्त्र व्यवहार के लिए जब वाक्य का उपखण्डो म विश्लेषण किया जाता है तब भी उक्त अर्थ और रूप का द्वैत बना रहता है तथा पूर्व को पर का मूल या कारण माना जाता है। आशय यह कि स्फोटवाद के अनुसार जब वाक्य का विश्लेषण आदि पदो या वर्णों म किया जाता है तब प्रत्येक पद और वर्ण के रूप और अर्थ के द्वैत को स्वीकार किया जाता है तथा इन के उक्त दोनो तत्त्वो म, वाच्य वाचक प्रकाश्य प्रकाशक या प्रतीत प्रत्यायक रूप सम्बन्ध माना जाता है।

स्फोटवाद के अनुसार भाषा का मौलिक रूप शुद्ध ज्योतिमय प्रतिबिम्बग्राही, आनन्दमय ज्ञानमय बुद्धिमय चैतन्य रूप स्फोट है जिसकी विवर्तित अहम् या व्यक्ति चिति रूप वक्ता की बुद्धि, मन और प्राण वायु के माध्यम से ध्वनिरूप म परिणति होती है या ध्वनि के उपलक्षण के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है। आशय यह कि मूलवाक् या परा वाक् का अहङ्कार तक विकास विवर्त रूप म होता है तथा उस सीमा तक स्फोट अव्यक्त रहता है परन्तु जब वह विवक्षा प्रेरित होकर व्यक्त नाद का रूप लेती है तो बुद्धि से प्रारंभ होकर मन और प्राण वायु के माध्यम म परिणाम और परिमाण रूप म व्यक्त होता है[३९]। अव्यक्त वाक् की परिणति और परिमित अभिव्यक्ति रूप भाषा के स्फोट के प्राणवायु के प्रधान और निकटतम होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति का बाह्य रूप प्रधानत ध्वनिक होता है जो श्रोत्रेन्द्रिय का धर्म और आकाश का गुण माना जाता है।

प्राणवायु का जब द्रव्याभिघात अर्थात् वायु मे जब स्थान और करण के संघात से जो विकार होता है उसी म अव्यक्त बौद्ध शब्द नाद, घोष, श्वास के रूप म परिणत होकर ह्रस्व दीर्घ आदि के रूप म परिमित होकर अर्थ प्रत्यायक स्फोट रूप म व्यक्त होता है, जिसकी श्रोता म विशिष्ट कालक्रम म प्रतीति भी वैयाकरणो ने स्फोट रूप म ही मानी है तथा वर्ण पद शब्द एव वाक्य (भाषिक कोटियो के अर्थ म) आदि के तत्तत् स्तर पर तत्स्फोट माना है तथा उसकी पूर्ण प्रतीति उसके अन्तिम तत्त्व की उक्ति के पश्चात् मानी है।

भर्तृहरि ने कहा है कि

> नादैराहितबीजानामन्त्येन ध्वनिना सह।
> आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ (वाक्यपदीय १।८५)

यहाँ यह उल्लेखनीय है यद्यपि नागेश तथा भट्टोजी दीक्षित ने वर्ण पद वाक्य आदि व्याकरणिक कोटियों के समानान्तर तत्तद् स्फोट माने हैं, परन्तु ये सब भेदो पभेद शास्त्रचर्चा के लिए ही हैं अतत वाक्य तो अखड है और तदनुसार वाक्य स्फोट ही अखड और अक्रम रूप म ही वैयाकरणो को मान्य है। भर्तृहरि न कहा है

पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते। वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥
तद्वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते। वाक्य वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्त न किंचन॥
पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च। वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन॥

वाक्यपदीय १।७१ ७३।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वाक् व्यापार के प्रारम्भ से लेकर वक्ता श्रोता मे स्वतन्त्र एक भाषा के रूप व प्रयोग की व्याख्या तक मे स्फोट तत्त्व अनुस्यूत है। अर्थात् स्फोटवाद मे 'स्फोट' शब्द का प्रयोग यद्यपि विविध स्तरो पर विविध अर्थों म हुआ है, परन्तु वह एक ऐसा शब्द है जो अपने एक मौलिक आशय के साथ स्फोटवाद के आध्यात्मिक तत्त्व दर्शन से लेकर सामान्य मानवीय भाषा के विश्लेषण तक मे व्याप्त मिलता है। इसीलिए 'स्फोटवाद' शब्द के द्वारा ही प्राचीन भारतीय वैयाकरणो के समस्त तत्त्वदर्शन को अभिहित किया जाता है। स्फोटवाद के भाषा दर्शन क अध्ययन के लिए स्फोट शब्द की आधुनिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से एक भाषिक परिभाषा प्राचीन साहित्य के अध्ययन के आधार पर दी जा सकती है तथा तदनुसार भाषा विश्लेषण की पद्धति भी खोजी जा सकती है। परन्तु अभी तक स्फोटवाद आधुनिक विचारको की दृष्टि से पर्याप्त दूर ही है तथा उसके विषय म अनेक भ्रामक धारणाएँ भी प्रचलित हैं जिनका निरसन, आधुनिक दृष्टि से प्राचीन साहित्य के गभीर अध्ययन तथा तात्त्विक शोध के आधार पर ही किया जा सकता है।

सन्दर्भ

१ भट्टो जी दीक्षित, शब्दकौस्तुभ पृ० १२।

२ माधवाचार्य, सर्वदर्शनसग्रह, पृ० १३ स० प्रो० उमाशकर शर्मा 'ऋषि' चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९६४ ई०।

३ कपिलदेव द्विवेदी अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ३५० ५१। हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद १९५१।

४ हरिशकर जोशी, प्रतिमान्गान पृ० ४३ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६४।

५ तुलनीय है चौसठ अद्वैतवादी शवतन्त्र शिव दृष्टि पृ० २६ व मालिनी विजय वार्तिक १३५ तन्त्रालोक १ ५४२ काश्मीर सस्कृत सीरीज १९२१।

६ तुलनीय है भास्करी Vol III P XLIX LI Panday K C Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study, P 652 Chaukhamba, Varanasi, 1963

७ तन्त्रालोक, जयरथ की टीका।

८ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१७।

९ तुलनीय है कात्यायनप्रातिशाख्य ४।१६५, अथर्व प्रातिशाख्य १।१०३ व २।३२।

१० हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१५।

११ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१८।

१२ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३०२ ३०५।

१३ नागेश भट्ट स्फोटवाद पृ० १०२ (अड्यारलाइब्रेरी सीरिज नं० ५५१)

१४ पाणिनि अष्टाध्यायी ६।१।१२३।

१५ हरदत्त पदमंजरी काशिका टीका ६।१।१२३।

१६ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३१५।

१७ यास्क निरुक्त १।१।४।

१८ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३०५।

१९ हरिशंकर जोशी प्रतिभादर्शन पृ० ३०५।

२० कपिलदेव द्विवेदी अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ३५८।

२१ K C Panday Abhinavagupta, An Hitorical and Philosophical Study P 47

२२ K C Panday Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study P 47

२३ भर्तृहरि वाक्यपदीय १।१।

२४ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १ २०० २०५ काश्मीर संस्कृत सीरीज १९३८।

२५ K C Panday Abhinava Gupta an Hitorical and Philosophical Study P 48

२६ K C Panday Abhinava Gupta An Historical and Philosophical Study P 731 732

२७ K C Panday Abhinava Gupta, An Historical and Philosophical Study P 731 732

२८ भर्तृहरि वाक्यपदीय १।११।

२९ कपिलदेव द्विवेदी अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन पृ० ६६।

३० तुलनीय है

(१) भर्तृहरि वाक्यपदीय।

(२) स्वतन्त्र कर्ता पाणिनि अष्टाध्यायी १।४।५४।

(३) चिति स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु । प्रत्यभिज्ञाहृदय। काश्मीर संस्कृत सीरीज।

३१ K C Panday Abhinavagupta An Historical and Philosphical study P 628

३२ भर्तृहरि वाक्यपदीय १ ३ ।

३३ K. C Panday Abhinavagupta, An Historical and Philosophical study P 499

३४ तुलनीय है परा वाङ मूलचक्रस्था, पश्यन्ती नाभिसंस्थिता हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया, वखरी कण्ठदेशगा ।। नागेशभट्ट परमलघुमञ्जूषा पृ० ११ ।

३५ *K C Panday*, Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study P 497

३६ K C Panday Abhinavagupta An Historical and Philosophical Study P 497

३७ विद्यानिवास मिश्र

३८ तुलनीय है शुश्रूषा श्रवणं चव ग्रहण धारण तथा । उहापाहोऽर्थ विज्ञान, तत्त्वज्ञान च धी गुणा ।। महाभारत वनपर्व २।१६ ।

३९ हरिशंकर जोशी प्रतिमाल्शन पृ० ३२८ ३३६ ।

प्राचीन भारत मे अर्थविचार

प्रस्तावना भारत साहित्य, कला, ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र म सब देशा का अग्रणी रहा है। भारतीय दशन और गणित, ज्योतिष चिकित्सा आदि विज्ञान इस देश स अरबा के माध्यम से यूनान पहुँचे और वहा से सब पाश्चात्य देशा म उन का प्रचार हुआ। वह शास्त्र, जिस की इस देश म सब स अधिक उन्नति हुई, और जिस का सिक्का आज भी समस्त ससार मानता है याकरण शास्त्र है। प्राचीन भारत म व्याकरण क अतगत ध्वनि विज्ञान का विकास सस्कृत के शिक्षा और प्राति शाख्य ग्रथा के रूप म हुआ। भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी म पद विज्ञान उत्कष की उस चरम सीमा पर पहुँच गया जो पाश्चात्य भाषा विज्ञान को आज तक प्राप्त नहा हो सकी। ससार भर के मूधन्य भाषाविदा न पाणिनि और उस के व्याकरण की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है। आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक प्रो० ब्लूमफील्ड ने पाणिनि के शब्दानुशासन को 'मानवीय प्रतिभा का एक सवश्रेष्ठ स्मारक' कह कर उस महान् भाषाविद् के प्रति अपना आभार प्रदर्शित किया है[1]। आर० एच० रोबिन्स न स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि रूपग्राम (morpheme) की वह खोज जिसे पाश्चात्य विद्वाना ने युग युगान्तर के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् केवल निकट भूत मे पूरा किया है उस पाणिनिप्रमुख भारतीय भाषावज्ञानिका ने अत्यन्त प्राचीन काल मे ही पा लिया था, और इस के लिये पश्चिम के विद्वान् पाणिनि की कृति के हमेशा ऋणी रहेगे[2]। उक्त विद्वान् के अनुसार शून्य रूपग्राम (zero allomorph) का श्रेय भी पाणिनि को ही जाता है[3]। अथ तत्त्व की गवेषणा म भी भारत का स्थान सबस ऊचा है। प्रो० M B Emeneau स्वीकार करते हैं— यह निश्चित है कि शनै शन जागृत होन वाली और अथ तत्त्व से सम्बन्ध रखन वाली भाषा विज्ञान की एक अन्य शाखा मे पश्चिम को भारत से अभी कुछ सीखना है। उस देश के वयाकरण साहित्य शास्त्री और दाशनिक सब के सब अथ चिन्तन की गुत्थियो को सुलझाने मे लगे रहे और इस विषय पर बहुत कुछ विचारा और लिखा गया। भाषा विज्ञान के इस क्रियात्मक क्षेत्र मे पश्चिम अभी अबोध बालक के समान है। भारतीय ग्रन्थ दुरूह शली म लिखे गय हैं और पश्चिम मे थोडे ही व्यक्ति हैं जो सस्कृतना दाशनिका और भाषाविदो के रूप मे इन को समझने की योग्यता रखते हैं। लकिन अगर परिश्रम किया जाये तो अनुरूप फल प्राप्ति की पूण सम्भावना है। जिज्ञासु व्यक्ति इस क्षेत्र को अपनी गवेषणा का विषय बना सकते हैं[4]।' जिस अथ-तत्त्व के चिन्तन के लिये भारत इतना गौरवान्वित हुआ है प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उसी के विभिन्न पहलुओ पर विहङ्गम दृष्टिपात करना है।

निरुक्त भारत मे अर्थ विचार का आरम्भ वैदिक शब्दो के निवचन के साथ हुआ। ब्राह्मण काल म ही यह प्रक्रिया पर्याप्त उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी[४]। निवचन की पराकाष्ठा के दर्शन हमे यास्क के 'निरुक्त' मे होते हैं। निवचन और निरुक्त-शास्त्र की आवश्यकता तब महसूस हुई जब कालक्रम से भाषा और अर्थ के परिवतन के कारण मन्त्रा के अथ न केवल दुरूह प्रतीत होने लगे, प्रत्युत यह भी शका की जान लगी कि वैदिक मन्त्र साथक भी हैं या नहीं[६]। यास्क ने निवचन की जिस सुनियोजित पद्धति का आश्रय अपने ग्रन्थो मे लिया उस की प्रशसा भारतीय और पाश्चात्य विद्वाना न मुक्त कण्ठ से की है। फिर भी यास्क की कमी यह रही कि स्थान भेद से अर्थ भेद की ओर सकेत करते हुए भी उन्हो ने इस पद्धति का अपनी कृति मे विकास नही किया और काल भेद से अर्थ भेद की प्रक्रिया को तो बिल्कुल उपेक्षित ही छोड दिया[७]। आरम्भ म आचार्यों का ध्यान प्राय सकतित अर्थ की ओर ही रहा। इस लिये यास्क न बहुधा प्रकरण आदि के कारण एक ही शब्द के अनेक अर्थों का अनेक प्रकार स निवचन किया है और लक्षणा आदि की भी उपेक्षा की है। निवचन की प्रवृत्ति के दर्शन यद्यपि सस्कृत साहित्य म सवत्र होते हैं परन्तु अर्थ तत्त्व की इस शाखा म यास्क के निरुक्त के अतिरिक्त किसी अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना उपलब्ध नही है।

शब्द-कोष अर्थविज्ञान के क्षेत्र मे दूसरा काय शब्द-कोश निर्माण का है। सस्कृत वाङ्मय मे इस प्रकार की प्रथम कृति निघण्टु है जिस म वैदिक शब्दो और धातुओ का सकलन किया गया है। निरुक्त म इसे समाम्नाय के नाम से पुकारा गया है और यास्क ने प्राय निघण्टु म सकलित शब्दो का ही निवचन किया है। निघण्टु मे शब्दो को एक सुनियोजित और व्यवस्थित ढग स सकलित किया गया है। इस मे कुल मिला कर पाँच अध्याय हैं जिन को तीन काण्डो—नैघण्टुक, नैगम अथवा ऐक पदिक और दैवत म विभक्त किया गया है। नैघण्टुक के अन्तगत प्रथम तीन अध्याय हैं जिन म प्राय पर्यायवाची शब्दो को सकलित किया गया है। प्रथम अध्याय म इस लोक और अन्य लोको मे स्थान और समय स सम्बद्ध पदार्थो को रखा गया है। दूसरे अध्याय म मनुष्य उस के शरीर और काय आदि से सम्बन्ध रखने वाले और तीसरे अध्याय म पहले दोनो अध्यायो म कथित पदार्थों के ह्रस्व महत् आदि गुण वाचक शब्द सगृहीत हैं। दूसरे काण्ड के अन्तगत चतुर्थ अध्याय म प्राय दुरूह और अनेकार्थक वैदिक शब्दो का सकलन है। पाचवें अध्याय म जो कि दैवत काण्ड के अन्तगत आता है वैदिक देवताओ के नामो की सूची है। भारतवर्ष म नाना विज्ञान के अनेक विभागो म निघण्टु की पद्धति पर असख्य कोश ग्रन्थ लिखे गये जो निघण्टु या शब्द-कोश नाम स प्रसिद्ध हैं। शब्द-कल्प द्रुम म उनत्तीस कोशो के नामो का उल्लेख है परन्तु लौकिक सस्कृत का मे सब म प्रसिद्ध कोश अमरसिंह द्वारा रचित नामलिङ्गानुशासन या अमरकोश है। तीन काण्डो म विभक्त इस ग्रन्थ मे निघण्टु वाली प्राचीन पद्धति अपनाई गई है अर्थात् समस्त पदाथ जगत् को सम्पर्क-क्षेत्रो (Associative fields) म विभक्त किया गया है जिन्हे वग की सना दी गई है ...

वर्ग भी एक सुनियोजित क्रम में रखे गये हैं। उदाहरण के लिये द्वितीय काण्ड के दस वर्गों का क्रम इस प्रकार है—भूमि पुर, शैल वनौषधि, सिंहादि, मनुष्य, ब्रह्म, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। आधुनिक युग में शब्द-कोशों में शब्दों को वर्णानुक्रम से रखने की परिपाटी है, जो कि एक दृष्टि से सुविधाजनक भी है। परन्तु सम्प्रत्यय-क्षेत्र के अनुसार रचित शब्द कोशों का महत्त्व अब भाषा वैज्ञानिकों की समझ में आने लगा है[९]। इस शैली के शब्द कोशों को (conceptual dictionaries) के नाम से पुकारा जाता है। पाश्चात्य संसार में इस प्रकार का प्रथम शब्द-कोश *Roget* कृत 'Thesaurus' है जो लगभग सौ वर्ष पूर्व लिखा गया था। शब्द-कोश निर्माण की इस नई पद्धति के महत्त्व की गरिमा का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सप्तम अन्तर्राष्ट्रीय भाषा विज्ञान कांग्रेस में यह पद्धति विस्तृत चर्चा का विषय रही। इस पद्धति के आधार पर पश्चिमी देशों में अनेक शब्दकोशों की रचना हो चुकी है और हो रही है। भारत गौरव के साथ अपने मस्तक को ऊंचा कर के कह सकता है कि जिस पद्धति को पश्चिम के देशों में आज स्वीकार किया जा रहा है वह उसे हजारों वर्षों पहले ही अपना चुका था।

अर्थसम्प्रत्यय के साधन प्राचीन भारतीय आचार्यों ने अर्थसम्प्रत्यय अथवा शक्ति ग्रह के आठ साधन स्वीकार किये हैं[१०]।

(१) **लोकव्यवहार या वृद्ध व्यवहार** यह अर्थ सम्प्रत्यय का मुख्य साधन है। जब एक वृद्ध दूसरे वृद्ध को आदेश देता है—गौ ले आ (गामानय) गौ बाँध दे (गां बधान), घोड़ा ले आ (अश्वमानय) इत्यादि तो बालक आवाप (assimilation) उद्वाप (dissimilation) और अन्वयव्यतिरेक के द्वारा वृद्धों के व्यवहार से अर्थ को समझता है। कुमारिल के अनुसार इस पद्धति में तीन अवस्थायें स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं (क) प्रत्यक्ष (direct perception) (ख) अनुमान (inference) और (ग) अर्थापत्ति (postulation)। प्रभाकर शिष्य-परम्परा के मीमांसक इस अर्थबोध का एक मात्र साधन मानते हैं। कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक में ही इस बात को स्वीकार किया है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की प्राप्ति लोकव्यवहार या समाज से होती है (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे लोकत)।

(२) **आप्तवाक्य** लोक व्यवहार से अर्थसम्प्रत्यय में जहाँ समाज का योग स्वीकार किया गया है वहां आप्तवाक्य में माता, पिता गुरु आदि आप्त जनों की औपचारिक शिक्षा (formal education) अभिप्रेत है।

(३) **व्याकरण** वाक्यार्थ का सम्प्रत्यय लोकव्यवहार और आप्तवाक्य अर्थात् समाज और घर से हो जाता है। इस के विपरीत पदार्थ का ज्ञान गुरुचरणों में बैठ कर अपोद्धार अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आगम आदेश आदि के विभाजन के द्वारा व्याकरण के अध्ययन से होता है। व्याकरण शीघ्रबोध और शुद्धज्ञान का विशिष्ट साधन है।

(४) **उपमान** अर्थात सादृश्य (Analogy) गौ का ज्ञान होने पर गौ के सादृश्य से गवय का ज्ञान भी हो जाता है, यदि यह बता दिया जाय कि गवय गौ के

सदृश होता है। जडी बूटी आदि अप्रत्यक्ष वस्तु के बोध के लिये यह सर्वोत्तम साधन है। मीमासक और नैयायिक अर्थप्रत्यय के इस साधन को प्रमाण नाम से पुकारते हैं और इसे प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न स्वीकार करते हैं।

(५) कोश (lexicon) शब्द कोश भी वाच्य और लाक्षणिक अर्थों के बोध का उत्तम साधन है।

(६) वाक्यशेष अर्थात वाक्य का शेष अश अथवा प्रकरण किसी पद के अर्थ सम्प्रत्यय के लिये अच्छा साधन है। शब्द की अनेकार्थता के कारण जहा अर्थ सदिग्ध होता है वहा वाक्यशेष अर्थात वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

(७) विवृत्ति ((Explanation) अर्थ सम्प्रत्यय भाष्यो और टीकाओ के अन्तर्गत की गई अर्थ की व्याख्याओ द्वारा भी होता है। पतञ्जलि का कथन है कि सन्देह की अवस्था मे व्याख्यान के द्वारा अर्थनिश्चय करना चाहिए (व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्)।

(८) सिद्धपदसान्निध्य विदितार्थ पदो की सनिधि से तत्सम्बद्ध अर्थ पद के अर्थ का प्रत्यय सम्भव हो जाता है। इस आम के वृक्ष पर पिक मीठे सुर से गा रहा है' वाक्य मे आम के वृक्ष और मीठे सुर से गाना आदि शब्दो की सनिधि के कारण 'पिक' का अर्थ कोयल ही लिया जायेगा।

अर्थविनिश्चय के साधन अति प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में अर्थविनिश्चय के हेतुओ पर चर्चा होती रही है। बृहद्देवता के अनुसार वैदिक मन्त्रो और लौकिक भाषा मे अर्थ (प्रयोजन), प्रकरण, लिङ्ग, औचित्य, देश और काल ये छ अर्थविनिश्चय के हेतु माने गये हैं।[११] भर्तृहरि ने सन्देहास्पद पदो के अर्थविनिश्चय के हेतुओ का सग्रह निम्नलिखित कारिकाओ म किया है। परवर्ती वैयाकरणो और साहित्य शास्त्रियो ने इन पर विस्तार से चर्चा की है

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सनिधि ॥
सामर्थ्यमौचिती देश कालो व्यक्ति स्वरादय।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव ॥ वा० प० २।३१७-१८ ॥

(१) ससर्ग या सयोग (associatioon) 'सवत्सा गौ' मे वत्स (बछडे) के ससर्ग से गौ शब्द का अर्थ गाय ही लिया जायगा पृथिवी आदि नही। (२) विप्रयोग (dissociation) 'अवत्सा गौ' म वत्स के विप्रयोग के कारण गौ से गाय का ही ग्रहण होगा। (३) साहचर्य (companionship) रामलक्ष्मणौ म साहचर्य के कारण दशरथ पुत्र राम का ही ग्रहण होगा, बलराम या परशुराम का नही। (४) विरोधिता (opposition) 'कर्णार्जुनौ' म विरोधिता के कारण पाण्डुपुत्र अर्जुन का ग्रहण होगा, कार्तवीर्य अर्जुन का नही। (५) अर्थ या प्रयोजन (purpose) *स्थाणु वन्दे वाक्य म वन्दना के प्रयोजन के कारण स्थाणु शब्द का अर्थ भगवान्*

निष ही लिया जाएगा, स्तम्भ या ठूठ नहीं । (६) प्रकरण (context of situation) 'सैन्धवमानय' वाक्य में सैन्धव शब्द का अर्थविनिश्चय प्रकरण के आधार पर ही होगा । यदि भोजन के समय यह वाक्य कहा जाये तो सैन्धव का अर्थ होगा 'नमक', और यदि यात्रा के समय बोला जाये तो अर्थ होगा घोड़ा । (७) लिङ्ग (indication from another place or word) अर्थात् 'अनरा उपस्थाति' गीली राशियों को स्थापित करता है' वाक्य में यह पता नहीं चलता कि गीलापन पानी से है या किसी अन्य तरल पदार्थ से । परन्तु अन्य स्थान पर इसी प्रसंग में उल्लिखित 'तेजो वै घृत' से निश्चय हो जाता है कि रोटियाँ को घी से गीला करता है । 'कुपितो मकरध्वज' में मकरध्वज शब्द का अर्थ कुपित शब्द के लिङ्ग के कारण कामदेव लिया जायगा समुद्र नहीं । (८) अन्य शब्द का सान्निध्य (vicinity of another word) कर' और 'नाग' शब्द अनेकार्थक होते हुए भी 'करेण राजते नाग' वाक्य में क्रमशः सूंड और 'हाथी' अर्थ का ही ग्रहण कराते हैं । एक दूसरे के सान्निध्य के कारण ही ऐसा होता है । प्रो० फर्थ ने इसी आधार पर अर्थविनिश्चय के सिद्धान्त की स्थापना की है ।

(६) सामर्थ्य (capacity) 'मधुना मत्त पिक' वाक्य में मधु का अर्थ मधु मास ही लिया जायेगा 'शहद' नहीं, क्योंकि कोयल को मस्त करने का सामर्थ्य मधु मास में है शहद में नहीं ।

(१०) औचित्य (propriety or congruity) 'पातु वो दयितामुखम्' वाक्य में 'मुख' शब्द का अर्थ साम्मुख्य लिया जायेगा मुह नहीं क्योंकि यहाँ साम्मुख्य का ही औचित्य है मुख का नहीं । (११) देश (place) विभाति गगन चन्द्र वाक्य में 'चन्द्र' शब्द का अर्थ चाँद ही लिया जायगा कपूर' नहीं क्योंकि गगन में चाँद ही चमकता है कपूर नहीं । (१२) काल (Time) विभाति निशि चित्रभानु में 'चित्र भानु' का अर्थ अग्नि है, और 'विभाति दिवा चित्रभानु' में सूर्य क्योंकि रात को अग्नि ही प्रकाशित होती है और दिन में सूर्य । (१३) व्यक्ति (grammatical gender) मित्र (पु०) शब्द का अर्थ सूर्य है और मित्र (नपु०) का 'सखा' । गौरय का अर्थ है यह बैल है और गौरियं का अर्थ है 'यह गाय है' । (१४) स्वर (accent) इन्द्रशत्रु आदि समस्त पद अन्तोदात्त होने पर तत्पुरुष समास होंगे और आद्युदात्त होने पर बहुव्रीहि ।

अर्थ का स्वरूप अर्थ का स्वरूप क्या है इस विषय पर विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न भिन्न मत हैं । नीचे इन मतों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है

(क) **आकृतिवाद** जन दार्शनिकों का मत है कि शब्द का सांकेतिक अर्थ आकृति है । गो शब्द से किसी विशेष गौ का बोध नहीं होता अपितु गौ की आकृति वाले सभी पशुओं का बोध होता है । यह मत पशु संसार और वनस्पति-जगत् के विषय में तो बहुत हद तक उचित है परन्तु अनेक भौतिक पदार्थों के विषय में, जिन का आकार निश्चित नहीं है, यह ठीक नहीं बैठता । निराकार विचारों (abstaract ideas) के विषय में तो इस सिद्धान्त का बिल्कुल भी औचित्य नहीं है । इस सिद्धान्त

की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि आकार की समानता होने पर भी कई बार अर्थ की समानता नहीं होती। किञ्च आकारभेद होने पर भी सुवर्ण आदि पदार्थ एक समान ही रहते हैं।

(२) व्यक्तिवाद सांख्य और कुछ नव्य-नैयायिकों के मत में अर्थ का स्वरूप व्यक्ति है। नैयायिकों के अनुसार सुप प्रत्यय कारक लिङ्ग और वचन के वाचक हैं। चूंकि कारक, लिङ्ग और वचन केवल व्यक्ति की ही विशेषता को प्रकट करते हैं इस लिए प्रातिपदिक व्यक्ति का बोध कराता है। जब यह कहा जाये कि गाय को लाओ तो व्यक्ति गाय को ही लाया जाता है भूत वर्तमान और भविष्यत् की समस्त गायों की जाति को नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञान और व्यावहारिकता का विषय भी व्यक्ति है जाति नहीं। वात्स्यायन का कथन है कि विशेषता का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ ही हो सकता है जाति के साथ नहीं।[13] इस के अतिरिक्त सूर्य चन्द्रमा आदि ऐसे पदार्थ भी हैं जिन की जाति की कल्पना नहीं की जा सकती। किञ्च जाति को अर्थ मानने पर भी व्यक्ति जाति की परिगणना में आयेगा ही क्योंकि व्यक्ति जाति का अंग है।

(३) जाति वाद मीमांसक जाति को अर्थ स्वीकार करते हैं। उन का मत है कि व्यक्ति अनेक हैं और भिन्न रूप हैं। अनेक व्यक्ति अनेक नामों से ही पुकारे जा सकते हैं एक से नहीं। यदि किसी बालक को घोडा दिखा कर बता दिया जाये कि 'यह घोडा है', तो वह दूसरे वैसे ही पशु को देख कर उसे भी घोडा ही बतायेगा। जाति को अर्थ स्वीकार करने पर ही ऐसा हो सकता है। व्यक्ति का ग्रहण भी जाति के द्वारा अविनाभाव सम्बन्ध के कारण लक्षणा आदि के द्वारा होता है। अद्वैत वेदान्ती यद्यपि व्यक्ति और जाति के भेद को वास्तविक नहीं मानते, तथापि व्यावहारिकता की दृष्टि से वे मीमांसकों के इस मत से सहमत हैं कि शब्द का अर्थ जाति है व्यक्ति नहीं। मीमांसकों और वेदान्तियों के अनुसार व्यक्तिवाचक नाम भी जाति का बोध कराते हैं। विट्गन्स्टाईन आदि आधुनिक दार्शनिक भी इस विचार से सहमत हैं[14]।

(४) जात्याकृतिव्यक्तिवाद प्राचीन नैयायिकों के मत में व्यक्ति आकृति और जाति तीनों ही पद के अर्थ हैं[15]। वाचस्पतिमिश्र अपनी तात्पर्य टीका में कहते हैं कि गो शब्द का उच्चारण होने पर किसी भी पुरुष को जिस गो शब्द से कहे जाने वाले पशु का ज्ञान है युगपद् ही गो व्यक्ति, गोत्व और गवाकृति का बोध हो जायेगा। किसी भी शब्द के अर्थ में व्यक्ति जाति और आकृति इन तीनों की ही उपस्थिति रहती है परन्तु किसी विशेष प्रकरण में तीनों में से किसी एक की प्रधानता होती है और शेष दो की गौणता।

(५) जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिवाद नव्य नैयायिकों में से कुछ का मत है कि शब्द की शक्ति जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति ही है। वास्तव में यह मत प्राचीन मत का ही सुधरा हुआ रूप है।

(६) जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद दूसरों का विचार है कि चूंकि आकृति

जाति का ही अंग है, इस लिये इतना कहना ही पर्याप्त है कि शब्द का अर्थ जाति विशिष्ट व्यक्ति ही है।

(७) वैयाकरणों का मत व्याडि के अनुसार शब्द का अर्थ द्रव्य अर्थात् व्यक्ति है[१६]। जाति गुण होने के कारण शब्द का अर्थ नहीं हो सकती। इस के विपरीत वाजप्यायन का मत है कि शब्द का अर्थ जाति है जो कि शब्द का शाश्वत और अनिवार्य गुण है। पतञ्जलि ने व्याडि के मत को निम्नलिखित आधारों पर ग्राह्य माना है—(क) लिङ्ग और वचन की सङ्गति द्रव्य को अर्थ मान कर ही हो सकती है (तथा च लिङ्गवचनसिद्धि) (ख) क्रियाओं का एक मात्र स्वाभाविक और आभ्यन्तर सम्बन्ध द्रव्य के साथ होता है (चोदनासु च तस्यारम्भात्) (ग) जिस प्रकार देवदत्त एक ही समय पर स्रुघ्न और मथुरा में उपस्थित नहीं हो सकता उसी प्रकार एक ही पदार्थ की एक ही समय पर अनेक आश्रयों (अधिकरणों) में कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थात् एक ही जाति एक ही समय पर अनेक द्रव्यों या व्यक्तियों में प्राप्त नहीं हो सकती (न चकमनेकाधिकरणस्थं युगपत्) यदि व्यक्ति को अर्थ न मान कर जाति को अर्थ माना जाय तो किसी वस्तु के नष्ट होने या उत्पन्न होने पर समस्त जाति के विनाश या उत्पत्ति की प्रतीति होगी। यदि यह कहा जाये कि 'कुत्ता मर गया' तो लोक में कोई भी कुत्ता शेष न रहेगा और यह कहने पर कि 'गौ उत्पन्न हुई' सारा ही जगत् गायों से भर जायेगा। वाजप्यायन द्वारा अभिमत जातिवाद की पुष्टि में भी अनेक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं—शब्द का अर्थ जाति है क्योंकि (क) गौ शब्द का उच्चारण होने पर सामान्य गौ का ही बोध होता है, शुक्ला नीला कपिला कपोतिका आदि विशेष गौ का नहीं (प्रत्ययाविशेषात्)। (ख) जब एक बार किसी बालक को यह बता दिया जाये कि यह पशु 'गौ' नाम से पुकारा जाता है तो तत्पश्चात् किसी भी समय किसी भी स्थान पर किसी भी अवस्था में स्थित गौ को देख कर वह यही कहेगा कि यह गौ है (ज्ञायते चैकोपदिष्टम्)। (ग) धर्म शास्त्र में कहा गया है 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' 'सुरा न पेया'। यहाँ ब्राह्मण और सुरा का एकवचन में प्रयोग होने पर भी ब्राह्मणों और सुराओं की समस्त जाति का निषेध अभिहित है (धर्मशास्त्रं च तथा)। (घ) एक ही पदार्थ का एक ही समय पर अनेक स्थानों पर ग्रहण हो सकता है। जैसे सूर्य कहने पर एक ही समय पर अनेक स्थानों पर एक ही सूर्य का ग्रहण होता है (अस्ति चकमेनकाधिकरणस्थं युगपत्)। यदि कोई शंका करे कि एक पुरुष सूर्य को एक समय में एक ही स्थान पर देख सकता है अनेक स्थानों पर नहीं तो कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सैकड़ों यज्ञों में आहूत इन्द्र युगपत् ही सब जगह उपस्थित हो जाता है उसी प्रकार आकृति अर्थात् जाति का भी युगपत् ही सर्वत्र ग्रहण हो सकता है (इन्द्रवद्विषयः)।

वास्तव में व्यक्तिवाद और जातिवाद इन दोनों सिद्धान्तों में से कोई सा भी अपने में पूर्ण नहीं है। व्यक्तिवादी के लिये द्रव्य या व्यक्ति शब्द का मुख्य अर्थ है और जाति गौण। इस के विपरीत जातिवादी के लिये जाति शब्द का मुख्य अभिधेय है और व्यक्ति गौण। इस लिये दोनों वाद एक दूसरे के विरोधी न हो कर एक दूसरे

वे सहायक हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने व्यक्ति और जाति इन दोनों का ही शब्द से बोध स्वीकार किया है। महाभाष्यकार का मत है कि पाणिनि ने भी जाति और व्यक्ति दोनों को ही शब्द का अर्थ स्वीकार किया है। पाणिनि का सूत्र 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१ २ ५८) इस तथ्य पर आधारित है कि शब्द का अर्थ जाति है। इस के विपरीत सूत्र 'सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ' (१ २ ६४) इस बात को सिद्ध करता है कि शब्द का अर्थ व्यक्ति है[१७]।

भर्तृहरि का मत है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में दो तत्त्व हैं—सत्य और असत्य। जो सत्य है वह जाति है और जो असत्य है वह व्यक्ति है[१८]। व्यक्ति परिवर्तनशील और नश्वर है जाति नित्य है। जाति सार है और व्यक्ति बाह्य अभिव्यक्ति। प्रत्येक शब्द पहले अपनी जाति या आकृति का बोध कराता है तत्पश्चात् इस का आरोप पदार्थ की जाति या आकृति पर कर लिया जाता है। इस मत के अनुसार व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भी जाति को स्वीकार किया गया है। किञ्च जाति में भी जाति की सत्ता मानी गई है। द्रव्य या व्यक्ति को अर्थ स्वीकार करने वालों के अनुसार भी द्रव्य से तात्पर्य बाह्य स्थूल रूप से नहीं है, अपितु वस्तु के मानसिक प्रतिबिम्ब से है। यह भी आवश्यक नहीं कि मानसिक प्रतिबिम्ब का शारीरिक प्रतिरूप संसार में विद्यमान हो। इस से सिद्ध होता है कि जातिवादी और व्यक्तिवादी एक ही तथ्य को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

बौद्धों का अपोह सिद्धांत बौद्धों के अनुसार शब्द और उसके अर्थ में कोई सीधा सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता। गौ का अर्थ वास्तव में सास्ना लाङ्गूल आदि से युक्त पशु नहीं है अपितु गौ से इतर की व्यावृत्ति या प्रतिषेध ही गौ का अर्थ है। 'नील कमल' कहने पर 'नील' शब्द से उन सब वर्णों का प्रतिषेध हो जाता है जो नील नहीं हैं और कमल शब्द के उच्चारण से उन सब पदार्थों का प्रतिषेध हो जाता है जो कमल नहीं हैं। इस प्रकार 'नील कमल' से 'नील इतर और कमल इतर सब का प्रतिषेध हो जाता है। बौद्धों ने शून्यवाद या अनित्यवाद के समर्थन के लिये आकृति या जाति जैसे पदार्थ को भी मानने से इंकार कर दिया। परन्तु जाति का खण्डन करने पर मनुष्य जाति गो जाति आदि में जो अनेक में एकता दिखाई देती है उस का उत्तर देने के लिये अपोह सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। अपोह सिद्धान्त के विकास में तीन अवस्थायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। सर्व प्रथम दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ 'प्रमाण समुच्चय' में जिस अपोह सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उस के अनुसार पूर्ण प्रतिषेध ही वाच्य है। दिङ्नाग के इस अपोह सिद्धान्त का उद्योतकर, कुमारिल भट्ट, भामह और उदयन जैसे दार्शनिकों ने कड़े शब्दों में खण्डन किया है। इन दार्शनिकों के आक्षेप को दृष्टि में रखते हुये बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने इस सिद्धान्त में कुछ संशोधन किया। उस का कथन है कि अन्वय (affirmation) व्यतिरेक (negative) के बिना नहीं होता। पहले सकारात्मक अर्थ का सीधे रूप में बोध होता है और फिर अर्थापत्ति के द्वारा नकारात्मकता या अन्य के प्रतिषेध का बोध होता है। रत्न कीर्ति ने अपने ग्रन्थ

अपोद्सिद्धि में विशिष्टापोहावाद की स्थापना की। उन्होंने शान्तरक्षित के सिद्धान्त में संशोधन करते हुये लिखा है कि अन्य वस्तुओं के प्रतिषेध से विशिष्ट सकारात्मकता ही अर्थ है। अर्थतन्त्र की सकारात्मकता और नकारात्मकता का अनुभव युगपत् ही होता है। नैयायिक और वैयाकरण इसे भी स्वीकार नहीं करते।

वर्ण सार्थक हैं या निरर्थक अति प्राचीन काल में ही भारतीय वैयाकरण इस विषय पर पहुँच गये थे कि वर्ण निरर्थक हैं। वर्णों के अर्थ के विषय में हमें पतञ्जलि के महाभाष्य में एक विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। पतञ्जलि ने प्रथम वह पक्ष प्रस्तुत किया जिस के अनुसार वर्ण सार्थक कहे गये हैं। इस पक्ष की पुष्टि में चार युक्तियां प्रस्तुत की गई हैं—(१) चूंकि एकवर्ण धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपात अर्थवान् हैं इस लिये वर्ण सार्थक हैं। (२) कूप सूप यूप आदि शब्दों में वर्णों के व्यत्यय से अर्थ परिवर्तन हो जाता है इस लिये वर्ण सार्थक हैं। (३) एक वर्ण की अप्राप्ति के कारण उस अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। (४) चूंकि वर्णों का समूह अर्थात् पद सार्थक है इस लिये अवयव अर्थात् अकेले वर्ण भी सार्थक हैं[१६]। दूसरे पक्ष में वर्ण को निरर्थक माना गया है। इस के दो हेतु दिये गये हैं—(१) प्रत्येक वर्ण में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। (२) वर्ण का व्यत्यय लोप आगम और आदेश होने पर भी कई बार अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। इस लिये वर्ण अनर्थक हैं[२०]। इस प्रकार तटस्थ रूप से दोनों पक्षों का प्रस्तुत करने के पश्चात् पतञ्जलि पूर्वपक्ष की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। उन का कथन है कि यदि वर्ण को सार्थक मान कर कूप, सूप यूप आदि शब्दों में क स य आदि वर्ण व्यत्यय का अर्थ भिन्नता का कारण मान लिया जाय तो जो ऊप वर्णसंघात शेष रह जाता है वह तीनों शब्दों में समान का वाचक होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस लिये हम मानना पड़ेगा कि वर्ण अनर्थक हैं और विभिन्न वर्ण समूहों के रूप में ही विशिष्ट अर्थों के वाचक हैं[२१]। यदि यह मान लिया जाये कि कूप में क सूप में स और यूप में य समस्त अर्थ का वाचक है, तो शेष 'ऊप' वर्णसंघात निरर्थक हो जाता है। ऐसा मानने से स्वयं ही वर्णों की निरर्थकता सिद्ध हो जाती है[२२]। इस प्रकार पतञ्जलि पूर्व पक्ष की प्रथम तीन युक्तियों का निराकरण कर देते हैं। चौथी युक्ति का निराकरण पाणिनि के सूत्र अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५) के भाष्य में यह कह कर कर देते हैं कि इस सूत्र में 'अर्थवत्' कहने का यह प्रयोजन है कि वर्ण का ग्रहण न किया जाय[२३]।

वर्णों की निरर्थकता का यह सिद्धान्त आधुनिक भाषा विज्ञान की मान्यता के बिल्कुल अनुरूप है। प्रो० ब्लूमफील्ड का कथन है—वर्ण शब्द की अर्थवत्ता में भागीदार होता है परन्तु उस का अपना कोई अर्थ नहीं होता[२४]। लाम्समला अन्ताल लिखते हैं —'यदि वर्ण सार्थक होते तो किसी विदेशी भाषा का सीखना संसार में सब से सरल काम होता। हम केवल किसी विशेष भाषा में प्रयुक्त होने वाले चालीस से लेकर साठ तक की संख्या वाले वर्णों के अर्थ याद कर लेने पड़ते और फिर उन के अर्थों का जोड़ कर उन से बनने वाले शब्दों का और उस भाषा का ज्ञान हो जाता'[२५]।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—नित्य या अनित्य मीमांसकों का मत है कि शब्द का अर्थ के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है[२६]। वे शब्द और अर्थ की प्रवाह नित्यता में विश्वास रखते हैं। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कब और कैसे स्थापित हुआ और किसने स्थापित किया, इस विषय में वे चुप हैं। इस सिद्धान्त पर वैयाकरण और तान्त्रिक भी मीमांसकों से सहमत हैं। कात्यायन ने शब्द अर्थ और इन दोनों के सम्बन्ध को नित्य माना है और पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस पर विस्तृत चर्चा की है[२७]। चर्चा का उपसंहार करते हुये पतञ्जलि लिखते हैं— लोक में ऐसी परम्परा है कि प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जो वस्तुयें निर्मेय होती हैं उन्हीं के निर्माण के लिये प्रयत्न किया जाता है। जैसे घड़े की आवश्यकता होने पर कोई पुरुष कुम्हार के पास जा कर कह सकता है— मेरे लिये घड़ा बना दे। परन्तु इसी प्रकार भावों की अभिव्यक्ति के लिये शब्दों की आवश्यकता होने पर वैयाकरण के पास जा कर नहीं कह सकता — मेरे लिये शब्द बना दो मुझे प्रयोग करने हैं'। शब्द और अर्थ के मध्य स्वाभाविक सम्बन्ध को योग्यता का नाम भी दिया गया है। जिस प्रकार ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म है उसी प्रकार अभिव्यक्ति अथवा अर्थ शब्द की स्वाभाविक शक्ति है। व्यक्ति और उस के नाम के नित्य सम्बन्ध की व्याख्या भी इसी आधार पर की जा सकती है।

नैयायिक और वैशेषिक शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते। उन का मत है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य न हो कर सामयिक या सांकेतिक (conventional) है[२८]। उन का तर्क है—यदि शब्द का सम्बन्ध अर्थ के साथ नित्य होता तो शब्द और अर्थ का अग्नि और ज्वलन की तरह सह अस्तित्व होता। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अग्नि शब्द का उच्चारण करने से मुंह नहीं जल जाता क्षुर शब्द के उच्चारण से जिह्वा नहीं कट जाती और मधु शब्द के उच्चारण से मुंह मीठा नहीं हो जाता[२९]। दूसरा मुख्य तर्क जो नैयायिक और वैशेषिक प्रस्तुत करते हैं वह यह है कि यदि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध होता तो एक शब्द सब स्थानों पर एक ही अर्थ का बोध कराता[३०]। शब्दों के अर्थ भेद की व्याख्या शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध के आधार पर नहीं की जा सकती। इस के अतिरिक्त एक ही अर्थ के लिये भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। नैयायिकों और वैशेषिकों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक है और ईश्वरेच्छा पर आधारित है। अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर द्वारा स्थापित किया गया है। नव-नैयायिकों का मत इस में कुछ भिन्न है। उन के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध केवल ईश्वरेच्छा पर आधारित न हो कर मनुष्य की इच्छा पर भी निर्भर है। जब संकेत अथवा सामयिक सम्बन्ध ईश्वरेच्छा पर ही आधारित हो तो यह नित्य होता है और अभिधा या शक्ति के नाम से पुकारा जाता है। जब सम्बन्ध मनुष्यकृत हो जैसे पारिभाषिक शब्दावलि तो यह अनित्य होता है और इसे परिभाषा कहा जाता है। भर्तृहरि ने इन को क्रमशः आजानिक और

आधुनिक संज्ञायें दी हैं।

भर्तृहरि अन्य वैयाकरणों की तरह शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सामयिक न मानकर स्वाभाविक अर्थात् नित्य ही स्वीकार करते हैं। उन के अनुसार सब शब्दों में सब अर्थों की अभिव्यक्ति की शक्ति सर्वदा विद्यमान रहती है। परन्तु हम शब्दों के अर्थों के क्षेत्र को सीमित कर लेते हैं। इसी लिये किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान केवल उन्हीं को होता है जो शब्द के इस अर्थ क्षेत्र से परिचित होते हैं। शब्दों के अर्थों के क्षेत्र को सीमित करने में हमें अवश्य समय (convention) का सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार भर्तृहरि ने नित्यतावाद और सामयिकतावाद इन दोनों का ही समुचित समन्वय स्थापित कर दिया है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य ही नहीं अपितु अविच्छेद्य भी माना गया है। किसी भी शब्द के उच्चारण के तत्काल ही उसके वाच्य पदार्थ का बोध हो जाता है और किसी भी भाव के मन में आते ही उस के वाचक शब्द की प्रतीति हो जाती है। इसी लिये महाकवि कालिदास ने भी शब्द और अर्थ को सम्पृक्त माना है[31]। केवल यही नहीं अगर कहा जाये कि शब्द और अर्थ एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। जब हम सोचते हैं तो मानो धीरे धीरे बोल रहे हैं और जब बोलते हैं तो मानो ऊँचे स्वर से सोच रहे होते हैं। कुछ विद्वानों को शब्द और अर्थ के इस परस्पर सम्बन्ध को समझने में भ्रम हुआ है। डा० प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती का विचार है कि आग्डन और रिचर्ड्स ने अपने ग्रन्थ The Meaning of Meaning में पृष्ठ ११ पर जो आक्षेप डि सोसोर के signifiant और signifie के सम्बन्ध पर लगाये हैं वे भारतीय आचार्यों के शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर भी लागू होते हैं[32]। आग्डन और रिचर्ड्स ने अपना सिद्धान्त निम्नाङ्कित त्रिभुज के द्वारा व्यक्त किया है —

1—Thought or reference

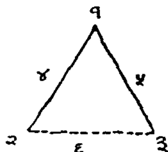
2—Symbol

3—Referent

4—Symbolises (causal relation)

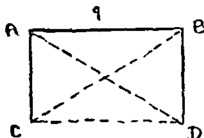
5—Refers to (other causal relation)

6—Stands for an imputed relation



आग्डन और रिचर्ड्स का मत है कि शब्दोच्चारण के तत्काल वाच्य वस्तु का बोधन होकर वाच्य वस्तु की मनोगत प्रकृति का बोध होता है। इस लिये शब्द और मनोगत प्रकृति में साक्षात् सम्बन्ध है शब्द और वाच्य वस्तु में नहीं। वास्तव में मनोगत प्रकृति (Thought or reference) ही अर्थ है वाच्य वस्तु (referent) नहीं। के० कुन्हुनी राजा ने स्पष्ट किया है कि हेलाराज और भारतीय आचार्यों का भी यही मत है। उन्होंने इस निम्नाङ्कित अनुभव के द्वारा

समझाया है[33] —



1—Direct Relation A—The psychical permanent word or the word class स्फोट revealed by प्राकृत ध्वनि B—Meaning thought metnal conten object class C—Word sound physical phonetic word वकृत ध्वनि D—Thing meant referent internal object

डी सोशार का सिद्धान्त जो कि ओग्डन और रिचड स के त्रिभुज के वाम पक्ष से समता रखता है चतुभुज की रेखा A B से व्यक्त है। ओग्डन और रिचड स का त्रिभुज चतुभुज के त्रिभुज A B C के सर्वांगसम है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ओग्डन और रिचड स ने अथ (reference) और वाच्य वस्तु (referent) मे तो भेद स्पष्ट किया परन्तु अनित्य शब्द अर्थात् वकृत ध्वनि और नित्य शब्द अर्थात् प्राकृत ध्वनि मे कोई भेद स्थापित नहीं किया। इसके विपरीत भारतीय आचार्यों ने शब्द मे वकृत और प्राकृत का भेद स्थापित कर के शब्द और अथ के सम्बन्ध को और वज्ञानिक पृष्ठ भूमि पर ला कर खडा किया है।

खण्डपक्ष और अखण्डपक्ष प्राचीन भारत मे अथ की इकाई की समस्या पर दो पहलुओ स विचार किया गया है। एक पक्ष के अनुसार पद को अथ की स्वतन्त्र इकाई मानकर इस के आधार पर अथ का अध्ययन किया गया है और वाक्य को पद समूह स्वीकार किया गया है। अथ अध्ययन की इस विश्लेषणात्मक प्रणाली को खण्डपक्ष के नाम स पुकारा जा सकता है और यह आधुनिक मनोविज्ञान की Associative Theory से बिल्कुल मेल खाता है। भारतवष मे प्राचीन काल मे प्रचलित सभी दाशनिक विचारधाराओ मे सवप्रथम पद का ही आधार मान कर अथ का विचार आरम्भ हुआ और इसी लिय अभिधेय या वाच्य को पदाथ (=पद का अथ) कहा गया है। हम देखते हैं कि यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि आदि वयाकरणो ने सवप्रथम पद को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया। न्यायसूत्र मे भी सव प्रथम शब्द पर चर्चा की गई और केवल कालान्तर मे ही न्याय वशेषिक ग्रन्थो म वाक्य का आधार मान कर चचा की गई है। केवल मीमासा दशन म ही सब से पहल वाक्य के अथ पर विचार आरम्भ हुआ। परन्तु वहाँ भी पदो और उनके अर्थों को आधार माना गया है। तत्पश्चात् इसी के परिणामस्वरूप पद और वाक्य के सम्बन्ध और पदाथ और वाक्याथ के सम्बन्ध पर चर्चा शुरू हुई।

खण्डपक्ष को स्वीकार करने वालो म भी वाक्याथ के ग्रहण के विषय मे दो

भिन्न मत है। इस के अनुसार वाक्यगत पद प्रथम अपने पदार्थ का ग्रहण कराते हैं और तत्पश्चात् योग्यता आकांक्षा और आसत्ति के आधार पर सब पदार्थों का युगपत् समन्वय हो जाता है। यह समन्वय ही समग्र वाक्यार्थ का बोध कराता है। इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद के नाम से पुकारा गया है। भाट्ट सम्प्रदाय के मीमांसक और कुछ नैयायिक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। काव्यशास्त्री मम्मट इस मत का संकेत करते हुए लिखते हैं कि पदार्थों का आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के आधार पर समन्वय हो जाने पर एक विशिष्ट वाक्यार्थ की प्राप्ति होती है जो पदार्थों से भिन्न होता है। इसी को वाक्यार्थ कहते हैं[३४]। इस के विपरीत दूसरा मत यह है कि वाक्य में पद स्वयं क्रमशः सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कराते जाते हैं। वाक्य के बाहर अकेले पद से किसी अर्थ का ग्रहण नहीं होता। पुण्यराज ने संक्षेप में इस मत को इस प्रकार कहा है कि वाच्य ही पदार्थ है वाक्यार्थ है क्योंकि पदार्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ कुछ भी विशेष नहीं[३५]। इस सिद्धान्त को अन्विताभिधानवाद के नाम से पुकारा गया है। प्राभाकर सम्प्रदाय के मीमांसक इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। इस मत के अनुसार वाक्य वाक् (speech) की इकाई है यद्यपि वाक्य के विश्लेषण से प्राप्त पद भाषा (language) की इकाई मान जा सकते हैं। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के अनुसार वाक्य में पदों का सम्बन्ध आकांक्षा योग्यता और सन्निधि पर आधारित है। इस के अतिरिक्त पदों के अर्थ विनिश्चय में प्रकरण अर्थात् तात्पर्य और वक्ता की इच्छा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद पर आधारित क्रमशः दो अन्य सिद्धान्तों, प्रकारतावाद और संसर्गतावाद का प्रतिपादन हुआ है[३६]। प्रथम के अनुसार वाक्य में एक शब्द का दूसरे शब्दों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। जब शब्दों को वाक्य में प्रयोग किया जाता है तो उन के साथ विभक्ति या सुप् प्रत्यय जोड़े जाते हैं। ये प्रत्यय साधक है और उस विशेष सम्बन्ध के वाचक हैं, जो वाक्य में एक शब्द का दूसरे शब्दों के साथ स्वीकार किया जाता है। इस के विपरीत दूसरे सिद्धान्त अर्थात् संसर्गतावाद के अनुसार वाक्यगत शब्दों का एक दूसरे के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। शब्दों के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय साधक नहीं होते और वे शब्दों के परस्पर सम्बन्ध के वाचक न हो कर केवल द्योतक होते हैं[३७]।

खण्ड पक्ष के विपरीत दूसरा पक्ष वह है जिस के अनुसार वाक्य को भाषा की इकाई माना गया है। यास्क ने अपने ग्रन्थ निरुक्त में लिखा है कि औदुम्बरायण ऋषि के अनुसार श्रोता की ज्ञानेन्द्रियाँ वाक् को पूर्ण रूप में ही ग्रहण करती हैं। और नाम आख्यात उपसर्ग और निपात आदि में इस का विभाजन नहीं किया जा सकता[३८]। भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में औदुम्बरायण के इस मत का उल्लेख किया है और लिखा है कि आचार्य वार्तांक्ष का भी यही मत है। भर्तृहरि ने स्वयं इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ में किया है। हम इस अखण्ड पक्ष के नाम से पुकार सकते हैं। यह सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के Gestalt सिद्धान्त के बिल्कुल अनुरूप है। भर्तृहरि का स्फोट सिद्धान्त वाक्य की इसी अखण्डता

नित्यता और एकात्मकता पर आधारित है।

भर्तृहरि का मत है वाक्यार्थ पदार्थ पर आधारित नहीं है। वाक्य भाषा की इकाई है। वाक्यार्थ अखण्ड, कालरहित और क्रमरहित है। जिस प्रकार पदों में वर्णों के अर्थों की कोई सत्ता नहीं। इसी प्रकार वाक्यार्थ में पदों के अर्थों को खोजना सम्भव नहीं। जब शब्द का ही विभाग नहीं हो सकता तो अर्थ का विभाग कैसे हो सकता है[39]।

भर्तृहरि ने खण्ड पक्ष और अखण्ड पक्ष पर चर्चा करते हुये तत्काल प्रचलित अनेक मतों को आठ मतों में सीमित कर दिया है[40]। प्रथम मत के अनुसार आख्यात शब्द अर्थात् क्रिया को ही वाक्य कहा गया है। वह अकेली सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को वहन कर सकती है। द्वितीय मत अनेक पदों के सघात को वाक्य स्वीकार करता है। तृतीय मत वाक्यगत पद समूह में वर्तमान जाति अर्थात् पद समूह में उत्पन्न होने वाली एकात्मक और समग्र प्रतीति को वाक्य स्वीकार करता है। चतुर्थ मत के अनुसार अवयवहीन अर्थात् अखण्ड अक्रम और एकात्मक अभिव्यक्ति को वाक्य कहा गया है पञ्चम मत मे क्रमश उठने वाली ध्वनियो और पदों से उपचीयमान अर्थ को वाक्य कहा गया है। प्रत्येक पद का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का यह विशेष अर्थ उन के क्रमपूर्वक विन्यास की दशा में ही व्यक्त होता है। षष्ठ मत में बुद्धिगत एकाग्रता को वाक्य को उत्पन्न करने वाली और ग्रहण करने वाली माना गया है। सप्तम मत के अनुसार वाक्य का प्रथम पद ही उच्चारण सम काल सम्पूर्ण वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ होता है। अष्टम मत के अनुसार वाक्यगत प्रत्येक पद अपनी पृथक अर्थसत्ता भी रखता है परन्तु वाक्य के अन्दर वह पद आकांक्षित अन्य पदो की सहायता से वाक्यार्थ का बोध कराने मे भी समर्थ होता है। अर्थात् प्रत्येक पद साकांक्ष भी रहता है और स्वतन्त्र भी।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम सप्तम और अष्टम ये पाचो मत खण्ड पक्ष या पद-वाद पर आधारित हैं, और तृतीय चतुर्थ और षष्ठ ये तीनों अखण्ड पक्ष पर। खण्ड पक्ष के अनुसार वाक्य अपने अर्थ की एकता के कारण है तो एक ही परन्तु यदि उस का पद विभाग कर दिया जाये तो उस का प्रत्येक विभाग साकांक्ष प्रतीत होगा। इस मत के अनुसार पद अपने आप मे पूर्ण वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति मे असमर्थ होता है पर वाक्यगत पदसमूह के साथ मिल कर ही पूर्ण अर्थ का बोध कराता है। साकांक्ष और अपूर्ण होते हुये भी पद विभाग सम्भव है और व्यक्तिगत भी। कात्यायन का मत भी मीमासकों के मत से मिलता जुलता है। उस के अनुसार वाक्य का मूलाधार आख्यात या क्रिया है, परन्तु अव्यय, कारक विशेषण आदि उस की पूर्णता में सहायक होते हैं[41]। इस मत के अनुसार भी वाक्य की एकार्थकता और निराकांक्षता और पदों की स्वतन्त्र सत्ता और साकांक्षता सिद्ध होती है। मीमासकों के द्वारा इस मत के विवेचन मे कालान्तर मे दो शाखायें हो गई। एक शाखा में अर्थैकत्व पर बल दिया गया और दूसरी मे विभागजन्य साकांक्षता पर। अर्थैकत्व पर आधारित मत अन्विताभिधानवाद के नाम से पुकारा गया और विभागजन्य

साकाक्षता वाला मत अभिहितान्वयवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहले मत के अनुसार पदों के अर्थ स्वार्थ के प्रकाशक न हो कर किसी समन्वित अर्थ के प्रकाशक माने गये हैं। और दूसरे मत के अनुसार प्रत्येक पद का स्वतन्त्र अर्थ का वाहक समझा गया है। वस्तुत खण्ड पक्ष अथवा पद को मान्यता देने वाले पाचो मत उपरोक्त दो मतो के अन्दर ही वर्गीभूत हो जाते है। उनमे आख्यात पद आदिपद एव साकाक्ष पद सम्बन्धी मत वाक्यार्थ की एकता को ले कर चलते हैं। अत उन्हे स्थूल रूप मे अन्विताभिधान मे समवेत किया जा सकता है। दूसरी ओर सघात और क्रम मत मे पदो की पृथगता पर अधिक बल दिया गया है। अत उन्हे अभिहितान्वयवाद के अतर्गत रखना अधिक उचित है। ये पाचो मत पहले से ही चल रहे थे किन्तु इन दोनो वादो ने इन के आपसी भेदो को कम कर के इन सभी को दो वर्गो मे सीमित कर दिया[४२]।

तृतीय चतुर्थ और षष्ठ मत अखण्ड पक्ष को ले कर चलते हैं। इन तीनो मतो मे भर्तृहरि के मन्तव्य का प्रतिपादन हुआ है। भर्तृहरि के मत के विषय मे पीछे कुछ सक्षेप से कहा जा चुका है। इस की विशेष व्याख्या स्फोट सिद्धान्त के अन्तर्गत की जायेगी।

अर्थ विकास प्राचीन भारत मे भाषा शास्त्रियो ने अर्थ विकास अथवा अर्थ परिवर्तन की ओर भी ध्यान दिया है। परन्तु भारत मे इस दिशा मे जितना भी कार्य हुआ वह समकालिक (synchronic) दृष्टिकोण से ही हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण को बिल्कुल अछूता छोड दिया गया। इसके विपरीत ससार मे ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत निरूपित लक्षणा ही एक विषय है जिसमे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के दर्शन हो सकते हैं[४३]। समकालिक दृष्टिकोण मे हम लक्ष्य और व्यग्य अर्थ की चर्चा कर सकते हैं। मुख्य अर्थ का बोध होने पर जब मुख्य अर्थ से ही सम्बद्ध रूढि अथवा प्रयोजन के आधार पर किसी अन्य अर्थ का ग्रहण हो तो उसे लक्ष्य या गौण अर्थ कहा जाता है[४४]। इस के अनेक भेद और उपभेद हैं जिनकी सख्या साहित्य शास्त्रियो के अनुसार अस्सी तक पहुँच जाती हैं। पतञ्जलि के अनुसार अन्य मे अन्य का भान अर्थात् लक्षणा चार प्रकार से होती है—(१) तत्स्थता, (२) तद्धर्मता (३) तत्समीपता और तत्साहचर्य से[४५]। लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना के द्वारा भी अर्थभेद हो जाता है। इसे व्यङ्ग्यार्थ अथवा ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है। ध्वनि का अध्ययन भी लक्षणा की तरह केवल साहित्य शास्त्र मे ही हुआ है। आनन्दवर्धनाचार्य ने इस की परिभाषा इस प्रकार की है—ऐसा काव्य जिस मे शब्द और उन के साकेतिक अर्थ गौण हो कर किसी अन्य ही लावण्यमय अर्थ को व्यक्त करते हैं उसे ध्वनि कहते हैं[४६]। लक्षणा मे साकेतिक अर्थ का पूरा त्याग हो जाता है। लक्ष्यार्थ साकेतिक अर्थ की समानता या सानिध्य पर आधारित होता है। यह साक्षात् रूप से दृष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। इस के विपरीत व्यङ्ग्यार्थ के लिये साकेतिक या मुख्य अर्थ के बोध का अभाव नहीं होता। यहा दोनो ही अर्थ विद्यमान रहते हैं।

व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनि मुख्यार्थ के अतिरिक्त होती है। मुख्यार्थ से सम्बद्ध और असम्बद्ध प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इस का विषय है। आनन्दवर्धन का ध्वनि सिद्धांत भर्तृहरि के एकात्मक अखण्ड और नित्य वाक्य के सिद्धान्त पर आधारित है।

भारतीय भाषाविद् अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया से अति प्राचीन काल से ही परिचित थे। इस का सकेत हमे महाभाष्य मे मिलता है। पतञ्जलि ने घोषणा की है—'अन्यार्थक शब्द अन्यार्थक हो जाता है, जैसे धानो को सींचने के लिए जो कुल्यायें बनाई जाती हैं उन्हे पानी पीने और आचमन आदि करने के लिए भी प्रयोग मे लाया जाता है[47]। कैयट ने इस मे अर्थ के शक्तिवैचित्र्य को ही कारण माना है[48]। एक अन्य स्थान पर पतञ्जलि कहते हैं— यह उचित ही है कि एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का बोध होता है[49]।

भर्तृहरि ने अर्थविकास चार प्रकार से माना है—(१) गौण और प्रधान का विपर्यय (२) पदार्थ के एक देश की अविवक्षा (३) समस्त पदार्थ की अविवक्षा और (४) उपात्त अर्थ का परित्याग किये बिना ही अन्य अर्थ का ग्रहण। इन मे से (१) और (३) अर्थादेश का कारण बनता है और (२) और (४) अर्थ विस्तार का[50]।

अर्थ विकास या अर्थ परिवर्तन के सिद्धान्तों की सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध चर्चा भारतीय साहित्य मे कहीं भी उपलब्ध नहीं। तथापि महाभाष्य और वाक्यपदीय आदि ग्रन्थो मे प्रसग वश इस विषय पर प्रकाश डाला गया है, उसका सक्षिप्त परिचय नीचे दिये गये कुछ सिद्धान्तो मे हो सकता है

(१) विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है। जैसे गोष्ठ (गायो के रहने का स्थान) मे गो शब्द का अर्थ अविवक्षित होने से और सामान्य अर्थ (रहने का स्थान) विवक्षित होने से गोष्ठ शब्द का अर्थ विस्तार हो गया[51]।

(२) जाति वाची और गुणवाची शब्द स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराते। जो वस्तु जितनी और जैसी होती है ये उतने और वैसे ही अर्थ का बोध कराते हैं। गो शब्द सब वर्ण और आकार प्रकार की गायो का बोध कराता है। शुक्ल नील आदि वर्ण भी अनेक प्रकार के होते है[52]।

(३) स्थूल तत्त्वो के अनुमान का आरोप सूक्ष्म तत्त्वो पर भी कर लिया जाता है। जैसे तीक्ष्ण बुद्धि, उच्च विचार आदि[53]।

(४) विशेषण शब्द सज्ञा शब्द बन जाते है। जैसे शुक्ल गुण शुक्ल कृष्ण गुण कृष्ण[54]।

(५) स्वर भेद से अर्थ भेद हो जाता है। जैसे इन्द्रशत्रु आदि समस्त शब्दो मे[55]।

(६) कभी कभी प्रकृति ही प्रत्यय के बिना ही प्रत्यय युक्त शब्द का बोध कराती है। जैसे बाभ्रव्य माण्डव्य और नामकायन आदि शब्दो के लिए बभ्रु मण्डु लमक आदि शब्द ही प्रयुक्त हो जाते हैं[56]।

(७) कई बार वाक्यांश और पदांश ही सम्पूर्ण वाक्य और पद के अर्थ को

अभिव्यक्ति के लिय पर्याप्त होते है[४७]।

स्फोट प्रत्येक दार्शनिक चिन्तन स्थूल विषयों की व्याख्या से प्रारम्भ होता है, परन्तु वह धीरे धीरे सूक्ष्मता की पराकाष्ठा का पहुँच जाता है। वैयाकरणों ने भाषा की व्याख्या उस के बाह्य शरीर अर्थात् शब्दों की प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण के साथ प्रारम्भ की परन्तु शनैः शनैः उन्हें शब्द के शरीर के अन्दर आत्मा का आभास होने लगा और अन्तत उन्हों ने उस आत्मतत्त्व का पता लगा लिया जिसे स्फोट की संज्ञा दी गई। यह स्फोट भाषा के विषय पर भारतीय चिंतन का नितान्त सार है[४८]। इसमे भारतीय वैयाकरणों की जागरूक प्रतिभा और सूक्ष्मदर्शिता का साक्षात्कार हुआ है। इस चिंतन की परिणति स्फोट और ब्रह्म की समता अर्थात् शब्द तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व की एकात्मकता के साथ हुई। यह स्वीकार किया गया कि शब्द तत्त्व और ब्रह्म-तत्त्व नाम मात्र से ही भिन्न है अर्थात् एक ही वस्तु के दो नाम हैं[४९]।

स्फोट की व्युत्पत्ति स्फुट धातु से निष्पन्न होती है। स्फुट का अर्थ है स्फुटित होना प्रकाशित होना'। स्फोट शब्द का निर्वचन करते हुये नागेश भट्ट शब्द कौस्तुभ मे कहते है—स्फुटति प्रकाशतेऽर्थोऽस्मादिति स्फोट' अर्थात्—चूकि इस मे अर्थ स्फुटित या प्रकाशित होता है इस लिये इस स्फोट कहते हैं। स्फोट की मूल धारणा भारतीय चिन्तन के उस क्रियाशील समय मे हुई जिसे वैदिक काल कहा जाता है। वाक् अथवा शब्द की महिमा संहिता काल मे ही स्थापित हो चुकी थी और उपनिषद् काल मे शब्द शब्द ब्रह्म की उपाधि को प्राप्त हो गया था। परन्तु उपनिषदों के शब्द ब्रह्म और कालान्तर के शब्द ब्रह्म मे यह अन्तर है कि उपनिषदों के शब्द ब्रह्म को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना गया है परन्तु कालान्तर का शब्द ब्रह्म ब्रह्म का ही पर्यायवाची है।

भारतीय परम्परा के अनुसार स्फोट सिद्धान्त का प्रवर्तक स्फोटायन ऋषि का माना गया है। पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन मे स्फोटायन का उल्लेख तो किया है[५०]। परन्तु पाणिनि के सूत्रों मे स्फोट सिद्धान्त का कोई संकेत नहीं मिलता[५१]। पाणिनि से काफी समय पूर्व यास्क ने औदुम्बरायण का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि शब्द इन्द्रियों या उनके स्वामी मन में अखण्ड रूप में निवास करता है। नाम आख्यात आदि मे उस का विभाग नहीं हो सकता। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय मे लिखा है कि वार्ताक्ष का भी यही मत था[५२]। स्फोट सिद्धान्त के बीज औदुम्बरायण द्वारा प्रतिपादित इस विचार मे निहित है। पाणिनि के पश्चात् और कात्यायन और पतञ्जलि से पूर्व व्याडि नामक एक महान् वैयाकरण ने व्याकरण दर्शन ग्रन्थ की रचना की थी। कहा जाता है कि इस मे एक लाख श्लोक थे। यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं परन्तु इस मे से कुछ श्लोक वाक्यपदीय मे उद्धृत माने गये हैं जिन के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि व्याडि ने अपने ग्रन्थ में स्फोट सिद्धान्त के विषय मे अवश्य चर्चा की थी।

स्फोट शब्द का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य मे हुआ है।

पाणिनि के सूत्र 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) पर भाष्य करते हुये तपर सज्ञा वाले वर्ण की स्फोट के साथ समानता स्थापित करते हुये भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—शब्द स्फोट है और शब्द का गुण ध्वनि है। जब ढोल पर डंके की चोट पड़ती है तो कोई ध्वनि बीस कदम जाती है, कोई तीस और कोई चालीस। परन्तु स्फोट समान रहता है। घट बढ ध्वनि मे होती है[६३]। इसी मत की पुष्टि के लिये एक कारिका प्रस्तुत करते हैं जिस का तात्पर्य है—शब्द के दो पक्ष हैं ध्वनि और स्फोट। ध्वनि ही अल्प और महान् रूप मे लक्षित होता रहती है। ध्वनि और स्फोट ये दोनो ही स्वभाव सिद्ध हैं[६४]। एक अन्य स्थान पर कहा गया है—शब्द के दो अग हैं नित्य और काय (द्वौ शब्दात्मानौ नित्य कार्यश्च)।

कुछ विद्वानो का मत है कि शब्द के नित्य और काय इन दो अगो का भेद 'सग्रह' के रचयिता व्याडि को भी अभिमत था[६५]। उन का यह कथन इस बात पर आधारित है कि वे वाक्य पदीय के श्लोक १।७७[६६] को सग्रह से उद्धृत मानते हैं। इस श्लोक मे दो प्रकार की ध्वनि बताई गई है—एक प्राकृत और दूसरी वकृत। प्राकृत ध्वनि मे वर्ण के वास्तविक रूप का ग्रहण होता है और वकृत ध्वनि वृति भेद का निमित्त है, अर्थात् विभिन्न वक्ताओ की द्रुत मध्यम और विलम्बित आदि अनेक उच्चारणा वाली ध्वनियो की परिचायक हैं। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि वार्तिककार कात्यायन भी शब्द के इन नित्य और परिवर्तनशील भेदो से अनभिज्ञ नही थे। पाणिनि सूत्र १।१।७० पर वार्तिक सख्या ५ मे उन्होंने स्पष्ट किया है—यह निर्विवाद सत्य है कि वर्ण निश्चित हैं परन्तु वृत्तियां वक्ता के शीघ्र और मन्द उच्चारण के गुण वाली हैं[६७]।

महाभाष्यकार पतञ्जलि और उन के पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिस स्फोट की कल्पना की थी वह उस के परवर्ती आचार्यों के स्फोट से बिल्कुल भिन्न है। इस तथ्य की पुष्टि पाणिनि के सूत्र 'कृपो रो ल' (८।२।१८) कृप धातु के र का ल आदेश हो जाता है पर पतञ्जलि के भाष्य से होती है। वे कहते हैं—दोनो आदेश स्फोट मात्र का निर्देश हुआ है अर्थात् र ध्वनि के स्थान पर ल् ध्वनि हो जाती है[६८]। इस से सिद्ध होता है कि पतञ्जलि के मत मे स्फोट एक अखण्ड साथक इकाई नही था। इस के विपरीत वे स्फोट को एक अपरिवर्तनशील अथवा नित्य ध्वनि या ध्वनि समूह की इकाई मात्र मानते थे, जब कि परवर्ती आचार्यों के मत मे स्फोट एकात्मक अखण्ड और साथक इकाई है[६९]। वर्णों की नित्यता के विषय मे पतञ्जलि मीमासको के विचारो से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। वे वर्णों की नित्य और अनित्य ध्वनियो मे विश्वास रखते थे और अनित्य ध्वनि को नित्य ध्वनि की ही बहुविध अभिव्यक्ति मानते थे। मीमासको और पतञ्जलि की यह ध्वनि की नित्यता और ध्वनियो का वास्तविक उच्चारण डि सासुर के क्रमश ला लेंग्वा (la langue) और ला पेरोला (la parola) की समता रखते हैं। आधुनिक भाषा विज्ञान के अनुसार इन्हें ध्वनि ग्राम (phoneme) और सध्वनि (allophone) की सज्ञा भी दी जा सकती है।

यद्यपि पतञ्जलि ने नित्य ध्वनि को ही स्फोट माना है तथापि यह नही

कहा जा सकता कि व शब्द के अर्थ पक्ष के महत्त्व का स्वीकार नहीं करते थे। जहाँ मीमांसक वर्णों के समुच्चय मात्र को शब्द मानते हैं, वहाँ पतञ्जलि के मत में शब्द वह है जिस के उच्चारण से सास्ना लाङ्गूल आदि अवयवों से युक्त अवयवी का बोध होता है[९१]। काल के व्यवधान से रहित वर्णों के पौर्वापर्य का अभाव होने पर भी पतञ्जलि ने अर्थ के आधार पर शब्द में वर्णों की संहिता का स्वीकार किया है। पाणिनि के सूत्र—'परः सन्निकर्षः संहिता' (१।४।१०८) में काल के व्यवधान से रहित वर्णों के पौर्वापर्य को संहिता मान लेने पर यह आपत्ति उपस्थित हुई कि शब्द में वर्णों का काल के व्यवधान से रहित पौर्वापर्य स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वाणी एक समय में एक वर्ण में ही वर्तमान रहती है और जो जो वर्ण उच्चारण किये जा चुकते हैं, वे वे प्रध्वस्त होते जाते हैं। इस लिये वर्ण संहिता निर्माण में एक दूसरे के सहायक नहीं हो सकते[९२]। इस का समाधान प्रस्तुत करते हुये पतञ्जलि लिखते हैं कि शब्द के द्वारा वाच्य अर्थों का बुद्धि में निश्चय कर के वर्णों का पूर्वापर क्रम निश्चित करना चाहिये[९३]। इस से यह प्रतीत होता है कि पतञ्जलि ने समस्या का समाधान स्फोट के आधार पर ढूढने का प्रयत्न न कर के अर्थ को वर्णों की संहिता का आधार माना है[९४]।

पतञ्जलि और भर्तृहरि के काल में सात आठ सौ वर्षों का अन्तर है। इस लम्बे समय में स्फोट सिद्धान्त के विषय में क्या प्रगति हुई इस का किसी ग्रन्थ में विशेष वर्णन नहीं मिलता। किन्तु भर्तृहरि के वाक्यपदीय में वर्णित स्फोट सिद्धान्त को अपने उत्कर्ष पर देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस बीच में इस दिशा में भारतीय विचारकों का चिन्तन निरन्तर आगे बढ़ता गया और उसकी परिणति भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित स्फोट सिद्धान्त में हुई।

भर्तृहरि के पूर्ववर्ती आचार्यों के स्फोट के विषय में भिन्न भिन्न मत थे इस का वर्णन स्वयं भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय में किया है। एक मत के अनुसार स्फोट विभिन्न उच्चारणावयवों (करणों) द्वारा विभिन्न उच्चारणस्थानों पर उत्पन्न होता है[९५]। ये ध्वनियाँ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती हैं, परन्तु ऐसी ध्वनियों को जन्म दे देती हैं, जो मौलिक ध्वनियों के प्रतिबिम्ब के समान लहरों की तरह दशों दिशाओं में फैल जाती हैं। ये स्फोट द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ कहलाती हैं। ये लहरों की तरह चलती हैं और ज्यों ज्यों स्फोट से दूर होती जाती हैं क्षीण से क्षीणतर होती जाती हैं। लम्बाई और व्यक्तिगत विशेषतायें स्फोट के गुण न हो कर ध्वनियों के गुण हैं। यह मत पतञ्जलि के मत से बहुत मिलता जुलता है।

एक दूसरे मत के अनुसार ध्वनियाँ और स्फोट दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ स्फोट और ध्वनि की उपमा दीप और उस के प्रकाश के साथ दी गई है। जिस प्रकार दीप को देखे बिना भी प्रकाश का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार कई बार स्फोट का ज्ञान न होने पर भी हमें ध्वनियाँ सुनाई देती हैं[९६]। उपर्युक्त दोनों मतों के अनुसार स्फोट मानव प्रयत्न से उत्पन्न होता है और अनित्य है।

तीसरे मत के अनुसार स्फोट जाति है और ध्वनियाँ व्यक्ति हैं। अनेक व्य

त्तियों से अभिव्यञ्जक जाति स्फोट कही गई है[७७]।

भर्तृहरि का स्फोट सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि शब्द-तत्त्व अक्षर अनादि और अनन्त ब्रह्म ही है, और यह दृश्यमान जगत् और उस के कार्य कलाप शब्द-तत्त्व का बहुरूप हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ पद और अर्थ अर्थात् नाम और रूप इन दो भागों में बाँटा जाता है और शब्द तत्त्व में ही उत्पन्न होता है। यह शब्द-तत्त्व एक है अक्षर है और नित्य है परन्तु यह अपनी अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण जो वास्तव में इस का ही अङ्ग है परिवर्तनशील और बहुरूप प्रतीत होता है[७८]। भर्तृहरि के अनुसार शब्द-तत्त्व की अभिव्यक्ति की तीन अवस्थायें हैं—पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी[७९]। पश्यन्ती बहुत ही सूक्ष्म है और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। यही शब्द-ब्रह्म है। इस ही प्रतिमा की संज्ञा दी गई है। इस अवस्था में शब्द और अर्थ में भेद नहीं किया जा सकता। मध्यमा अवस्था पश्यन्ती और वैखरी के बीच की अवस्था है। वक्ता में स्फोट की अभिव्यक्ति की यही वास्तविक अवस्था है। इस अवस्था में शब्द प्राकृत अर्थात् सूक्ष्म अवस्था में रहता है और बुद्धिग्राह्य होता है। इस अवस्था में स्थित शब्द की स्थिति का कुछ परिचय हम जप के समय या कान बन्द कर लेने पर होता है। शब्द और अर्थ की एकात्मकता की अवस्था यही है। अन्तिम अवस्था वैखरी कहलाती है और वह ध्वनि में समता रखती है। इस अवस्था में वक्ताओं के उच्चारण की व्यक्तिगत विशेषतायें और विभिन्नतायें शब्द के सूक्ष्म तत्त्व सहित विद्यमान रहती हैं।

श्रोता पक्ष में स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियों द्वारा अस्पष्टता की ओर गति करती है। यह पूर्ण अज्ञान में आरम्भ होती है और क्रमशः आंशिक ज्ञान से गुजरती हुई पूर्ण ज्ञान तक पहुँच जाती है। भर्तृहरि का कथन है कि ध्वनियों के नाद आवृत्तियों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त श्रोता की बुद्धि में बीजारोपण करते हैं। अन्तिम ध्वनि का नाद पूर्व की ध्वनियों के नादों की सहायता से शब्द का ज्ञान कराता है अर्थात् स्फोट का जन्म होता है[८०]। यह स्फोट एक है और अखण्ड है। इस स्फोट की अभिव्यक्ति में उच्चरित ध्वनियों को भी शब्द-तत्त्व अर्थात् स्फोट के भाग नहीं माना जा सकता। वास्तव में वे ऐसे चिह्न या संकेत हैं जिन से अखण्ड शब्द या स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। भर्तृहरि ने स्फोट की अभिव्यक्ति की तुलना श्लोक या अनुवाद के ज्ञान से की है। विद्यार्थी श्लोक का अर्थ समझने के लिये उसे बार बार पढ़ता है। अन्तिम आवृत्ति पूर्व आवृत्तियों की सहायता से श्लोक का सम्यक् ज्ञान कराने में समर्थ होती है[८१]। कुछ आचार्यों ने स्फोट की अभिव्यक्ति की तुलना जौहरी द्वारा रत्न की परीक्षा से की है।

यद्यपि अखण्ड अर्थात् पूर्ण के ज्ञान का ही महत्त्व है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अखण्ड स्फोट का ज्ञान कराने वाली ध्वनियों का कोई महत्त्व नहीं है। इस में सन्देह नहीं कि स्फोट ही साध्य है परन्तु ध्वनियाँ ही इस की साधक हैं। निरन्तर की हुई गलतियाँ मनुष्य को सच्चाई की ओर ले जाती हैं। अधूरा ज्ञान मनुष्य को सत्य की ओर ले जाता है। तब के लिये माना —

सत्यता तक पहुंचने में सहायक होता है। कई बार दूर से देखने पर वृक्ष हाथी दिखाई देता है और अंधेरे में रस्सी को देख कर सर्प का मिथ्याभास होता है। परन्तु निकट से ध्यानपूर्वक देखने पर वास्तविक रूप का बोध हो जाता है। अन्तिम बोध में ज्ञेय (object) और रूप (form) एक हो जाते हैं। ध्वनियाँ नायक हैं और स्फोट नेय। स्फोट के ज्ञान में प्रत्येक ध्वनि का योगदान समान है।

मीमांसकों के मत में प्रत्येक ध्वनि केवल नित्य ध्वनि अर्थात् आधुनिक भाषा-विज्ञान के अनुसार ध्वनिग्राम का बोध कराती है और यही ध्वनिग्राम अर्थ बोध में सहायक होते हैं। इस के विपरीत वैयाकरणों के मत में ध्वनियाँ ध्वनि ग्रामों का बोध न करा कर सीधे एकात्मक और अखण्ड स्फोट का बोध कराती हैं। ध्वनियों का अपना कोई अर्थ नहीं होता परन्तु शब्द में प्रयुक्त होने वाली क्रमिक ध्वनियाँ दूसरे शब्दों के क्रमिक निराकरण के द्वारा अन्तिम ध्वनि की सहायता से अभीष्ट अर्थ के बोध में सहायक होती हैं। नागेश ने अपने स्फोट तत्त्वनिरूपण में इस तथ्य को उदाहरण द्वारा समझाया है। उन का कथन है कि कमलम् पद में तीन अक्षर हैं क म और लम्। जब क का उच्चारण होता है तो उन सब शब्दों का निराकरण हो जाता है जो 'क' से आरम्भ नहीं होते। म का उच्चारण होने पर शब्द का क्षेत्र और सीमित हो जाता है और उन सब शब्दों का निराकरण हो जाता है जो 'कम' से आरम्भ नहीं होते। तथापि शब्द अभी तक सन्देह के आवरण में ढका हुआ है क्योंकि हम नहीं कह सकते कि वक्ता को कमलम् कहना अभीष्ट है या कमनम्। जब अन्तिम अक्षर लम् का उच्चारण हो जाता है तो पूर्ण और स्पष्ट रूप से शब्द का ज्ञान हो जाता है। स्फोट की यह व्याख्या बौद्धों के अपोह सिद्धान्त से बिल्कुल मेल खाती है। इस की तुलना आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के इस विचार से की जा सकती है कि ध्वनिग्राम की महत्ता इस बात में है कि उस का प्रत्यय अर्थ भिन्नता का कारण है[८२]।

स्फोट सिद्धान्त की आलोचना वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त की दोष सब सम्प्रदायों के विचारकों ने कटु आलोचना की है। केवल योग दर्शन की परम्परा में ही स्फोट को कुछ मान्यता प्राप्त है। सच पूछा जाय तो योग सूत्रों में भी स्फोट का उल्लेख नहीं। केवल व्यास के भाष्य और वाचस्पति की टिप्पणी में ही स्फोट के प्रश्न पर कुछ प्रकाश डाला गया है। सांख्य दर्शन के प्रवक्ता कपिल की जो धारणा ईश्वर की सत्ता के प्रति है वही स्फोट के प्रति भी है। उन का कथन है कि जिस प्रकार ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार स्फोट की सत्ता के लिए भी कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। यदि पद का निर्माण करने वाले वर्ण ही स्फोट का बोध कराते हैं तो साथ यह क्यों नहीं मान लिया जाता कि पद अर्थ का बोध कराते हैं। ऐसी किसी वस्तु के आविष्कार की क्या आवश्यकता है जिस का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और जिस की सत्ता वर्णों से भिन्न बतलाई जाती है जितनी कि घृणा से भिन्न जगत की।

वेदान्त के प्रतिनिधि दार्शनिक शङ्कर ने भगवान् उपवर्ष के इस मत का उद्धरण

करते हुये कि 'वर्णा एव तु शब्द' वर्ण ही शब्द हैं स्फोट सिद्धान्त के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन के मत म ध्वनियां का उत्पन्न हो कर नष्ट होना उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से वही ध्वनियाँ मानी जाती हैं। यदि गौ शब्द का दो बार उच्चारण किया जाये तो यह नहीं माना जाता कि दो शब्दों का उच्चारण हुआ है अपितु यह माना जायगा कि एक ही शब्द का दो बार उच्चारण हुआ है। यद्यपि दो व्यक्ति एक ही वर्ण का भिन्न भिन्न प्रकार से उच्चारण करते हैं पर इस प्रकार के भेद उच्चारणावयवों के कारण है, वर्णों के आभ्यन्तर गुणों के कारण नहीं। स्फोटवादियों का यह जो मत है कि शब्द म वर्ण अनेक होने के कारण उन म एकबुद्धिविषयता उचित नहीं उस का उत्तर यह है कि अनेक के विषय म भी एकबुद्धिविषयता सम्भव है, जैसे पङ्क्ति, वन, सेना, दश, शत सहस्र आदि के विषय म। यदि कोई प्रश्न करे कि वर्णों का एक ही समूह एकबुद्धिविषयता के कारण राजा जारा कपि, पिक आदि भिन्न भिन्न पदों का बोध क्या करता है तो उस का उत्तर यह है कि जिस प्रकार क्रम विशेष मे स्थित होने पर ही पिपीलिकायें पङ्क्ति का बोध कराती हैं उस क्रम का भंग होने पर नहीं उसी प्रकार क्रम विशेष म स्थित वर्ण ही पद विशेष का बोध कराते हैं उस से भिन्न क्रम म स्थित होने पर नहीं। वर्णवादी की कल्पना सीधी है। उस के मत मे क्रमविशेष म स्थित वर्ण बिना किसी मध्यस्थ के अर्थविशेष की अभिव्यक्ति करा देते हैं। इस के विपरीत स्फोटवादी की कल्पना टेढी है। उस के मत म ध्वनियों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और स्फोट से अर्थ की। इस प्रकार शङ्कर के मत म नाक को टेढा पकडने की अपेक्षा सीधे पकडना अधिक उचित है[८३]। यद्यपि वेदान्तियों ने स्फोट को स्वीकृति प्रदान नहीं की, तथापि शब्द की नित्यता को स्वीकार किया है क्योंकि वे शब्द और ब्रह्म की समानता म विश्वास रखते है और नित्य शब्दों से ही ब्रह्म के द्वारा सृष्टि की रचना मानते हैं।

मीमांसकों का मत है कि शब्द की एकता अर्थ की एकता पर आधारित है, इस लिये इस एकता की व्याख्या के लिये एक नई इकाई अर्थात् स्फोट की कोई आवश्यकता नहीं। इस के उत्तर में वैयाकरणों का कथन है कि यदि शब्द को अर्थ पर आधारित मानेंगे तो परस्पराश्रयप्रसक्ति दोष म नहीं बचा जा सकता क्योंकि अर्थ स्वयं शब्द पर आधारित है। मीमांसक इस तर्क का निराकरण यह कह कर कर देते हैं, कि शब्द ही अर्थ पर आधारित है अर्थ शब्द पर नहीं, इस लिये परस्पराश्रयप्रसक्ति दोष उत्पन्न नहीं होता। हम शब्दों के अर्थ दैनिक व्यवहार म सीखते है और जितना ध्वनिसमूह जिस विशेष क्रम म जितने अर्थ को कहने के लिये प्रयुक्त होता है उसे उस अर्थ को कहने वाला शब्द कहा जाता है[८४]। इस लिये स्फोट की कल्पना की आवश्यकता नहीं। इस के उत्तर म वैयाकरणों का कथन है कि यद्यपि अर्थ का ज्ञान शब्दों के दैनिक व्यवहार से होता है तथापि हमे शब्दों की एकता या अखण्डता का अनुभव होता है उन के अन्तर्गत अनेक ध्वनियों के समूह का नहीं। इस लिये स्फोट के अनुभव को असत्य नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त चर्चा से पता चलता है कि यद्यपि वेदान्ती और मीमांसक शब्द

की एकता को स्वीकार करते हैं तथापि वे प्रसग क्रम म उस की व्याख्या करते हैं। शकर और मीमासक इस बात को समझने म असमर्थ रहे कि वर्णों के क्रमिक उच्चारण और स्फोट का युगपद् व्युत्पत्ति की सगति कैसे हो सकती है। नैयायिक भी जिन के मत म वर्णों का सकलण स्मृति पर आधारित है इस समस्या का हल नहीं खोज सके। उन के सामने सब से बडी कठिनाई यह है कि वे वर्तमान को क्षणिक मानते हैं। अब आधुनिक मनोविज्ञानियों ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान क्षणिक नहीं है अपितु सावधिक है और भूत और भविष्यत् म एक विशेष सीमा तक विस्तृत है। इसी लिये यद्यपि शब्दों म ध्वनियों का श्रवण क्रमिक होता है परन्तु शब्दों के अर्थों म उन का बोध एक दम होता है। इसी प्रकार हमारी दृष्टि भी वस्तुओं को अखण्ड रूप से ग्रहण करती है। स्फोट सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान की इस प्रक्रिया से बिल्कुल मेल खाता है जो अर्थ को अखण्ड मान कर चलती है और वाक्य पद और वर्ण को अग रूप म स्वीकार करती है[८४]।

स्फोट के विभाग शब्द के वाचकत्व अर्थात् सार्थकता के आधार पर भट्टोजिदीक्षित आदि परवर्ती आचार्यों ने स्फोट को आठ भागों म विभक्त किया है। वर्ण पद और वाक्य को सार्थक मान कर वर्ण स्फोट पद स्फोट और वाक्य स्फोट की प्राप्ति होती है। शब्द को अनित्य या कार्य मान कर जाति को शब्द स्वीकार करने पर वर्णजातिस्फोट, पदजातिस्फोट और वाक्यजातिस्फोट को स्वीकार करना पडता है। शब्द को नित्य मान कर व्यक्ति को शब्द स्वीकार करने पर वर्ण व्यक्ति स्फोट, पदव्यक्तिस्फोट और वाक्यव्यक्तिस्फोट का ग्रहण होता है। वर्णस्फोट आदि और वर्ण व्यक्तिस्फोट आदि को पर्यायवाची माना गया है। पद और वाक्य को अखण्ड मानने पर अखण्डपदस्फोट और अखण्डवाक्य स्फोट की प्राप्ति होती है। वर्ण पहले ही अखण्ड होने के कारण अखण्डवर्णस्फोट वर्ण स्फोट का पर्याय है। इस प्रकार स्फोट के आठ विभाग है—(१) वर्णस्फोट (२) पदस्फोट (३) वाक्यस्फोट (४) अखण्डपदस्फोट (५) अखण्डवाक्यस्फोट (६) वर्णजातिस्फोट (७) पद जाति स्फोट (८) वाक्य जाति स्फोट। भर्तृहरि के मत म अखण्डवाक्यस्फोट ही वास्तविक स्फोट है।

उपसहार उपर्युक्त चर्चा म हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि प्राचीन काल मे भारत म शब्द और उस के अर्थ के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया। इस विषय पर जितनी गहराई से इस देश मे चिन्तन हुआ वह सम्भवत ससार के किसी देश म नहीं हुआ[८५]। आधुनिक अर्थतत्त्व को देन के लिये भारत के पास अभी बहुत कुछ है। इस के लिये आवश्यक है कि पतञ्जलि और भर्तृहरि जैसे महान् भाषाविदों की कृतियों का गम्भीर अनुशीलन किया जाय। भले हो प्राचीन आचार्यों की शैली दुरूह है, विज्ञान म दर्शन का मिश्रण है और विषय को भी सुव्यवस्थित ढग से प्रस्तुत नहीं किया गया है परन्तु फिर भी सतत प्रयास करने पर अनुरूप फल प्राप्ति की पूरी सम्भावना है।

टिप्पणियाँ

1 Language P 11

2 'General Linguistics, P 202

३ वही पृष्ठ २०४ ५ और ३७८।

4 Certainly in one other slowly *awakening department* of linguistics that *is concerned* with meaning the west still has some thing to learn from India There grammarians literary theoratici ans *and* philosophers were all concerned *with problems* of meaning and much was thought and written on the subject *Of this the west* is for all practical linguistic purposes *innocent* The Hindu treatises are in a *difficult style* and few in the West will be qualified *to deal* with them as Sanskritists philosiphers and linguistic scholars *Yet* the *results are* likely to be worth the effort *it is a subject* that can be recommended to aspirants

— India and Linguislics JAOS 75 1955, P *151*

5 द्रष्टव्य—(i) Fatah Singh, Vedic Etvmology

(ii) J Gonda 'The Etymlogies *in* the ancient Indion Brahmanas Lingua Vol 5 1955 56 P 61 *86*

6 उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु। वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त I 20

7 To Yaska s credit it must be *stated* that his is the first syst ematic treatise on *the etymology* of an ancient language — r Siddheshwar Varma, The Etymologies of Yaska P 3

8 From the modern point of view his great draw back *was* the absence *of* a dominating historico *geographical outlook* in his age Though he had a glimpse of linguistic geography (शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यत *etc* N II 2) it was not devloped as a principle in his *treatise* As regards the *historical side* of etymology he had no idea of time as a determining *factor in* words and meanings —वही

9 The outstanding *importance* of dictionaries in the modern world explains why *some* lexicographers are dissatisfied with *the* mechanical *method of* arranging words in alphabetical *order and* would *prefer to classify* them *according to* the concepts which they express —S Ullmann, Semantics P *254-55 Cf* O Jespersen The Philosophy of Grammar', P 33-34

१० शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

तत्वचिन्तामणि पर मथुरानाथ पृष्ठ ४८१

११ अर्थात् प्रकरणात् लिङ्गादौचित्याद् देशकालतः।
मन्त्रेष्वर्थविवेकः स्याद् इतरेष्विति च स्थितिः॥ बृहद्देवता II ११८

तुलना कीजिये—वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालत ।
शब्दार्था प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलम् ॥ वा० प० II ३१६
श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना समवाये
पारदौर्बल्यम् अर्थ विप्रकर्षात् । मी० सू० III ३ १४

12 The Modes of Meaning Essays and Studies '

१३ न्यायसूत्र II २ ५६ पर भाष्य

14 K Kunjunni Raja Indion Theories of Meaning ' P 75

१५ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ —गौतम न्यायसूत्र II २ ६५

१६ द्रव्याभिधान व्याडिराचार्यो न्याय्य मन्यते द्रव्यमभिधीयत इति ।
—पा० I २ ६४ पर महाभाष्य ।

१७ किं पुनराकृति पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम् । उभयमित्याह । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । म० भा० पस्पशा० ।

१८ सत्य यत् तत्र सा जातिर असत्या व्यक्तय स्मृता । वा०प० III १ ३२

१९ अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद् वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् वर्णानुपलब्धौ चानर्थगते, सघातार्थवत्त्वाच्च । —पा० हयवरट्' पर म० भा० ।

२० अनर्थकास्तु प्रतिवर्णम् अर्थानुपलब्धे, वर्णव्यत्ययापायोपजन विकार व्यर्थदर्शनात् ।—वही ।

२१ सघातान्तराण्येवतान्येवजातीयकानि अर्थान्तरेषु वर्तन्ते—कूप सूप यूप इति ।—वही ।

२२ भवता वर्णानामर्थवत्ता ब्रुवता साधीयोऽनर्थकत्व द्योतितम् । या हि मन्यते—य कूपे कूपार्थ स ककारस्य य सूपे सूपार्थ स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थ स यकारस्येति, ऊपशब्दस्त्वनर्थक स्यात् ।—वही ।

२३ अर्थवद् इति व्यपदेशाय । वर्णाना मा भूद् इति ।

24 'The phoneme participates in the signification yet having no meaning of its own —Proceedings of the Sixth International Congress of Linguistics Paris 1949 P 8

25 If the phoneme had a meaning then the learning of a foreign language would be the easiest job in the world We should only have to remember what the forty to sixty phonemes of each language mean and then we would immediately be able to understand any language having nothing else to do but to add up the partial meanings ot the phonemes which constitute the morphemes
— The Questions of Meaning P 71

२६ औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध—मी० सूत्र I १ ५

२७ सिद्ध शब्दार्थसम्बन्धे लोकत म० भा० पस्पशा० ।

२८ न्यायसूत्र II १ ५५
सामयिकत्वाच्छब्दाद् अर्थप्रत्यय—वैशेषिक सूत्र—VII २ २०

२९ पूर्णप्रदाहपादनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभाव ।—न्यायसूत्र II १ ५३

३० जातिविशेषे चानियमात् । न्यायसूत्र II १ ५६

३१ रघुवंश I १

32 'The Linguistic Speculations of Hindus, P 392

33 Indion Theories of Meaning, P 12 15

३४ आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपु-र्पदार्थोऽपि समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।—काव्यप्रकाश ।

३५ पदार्थ एव वाक्यार्थ । वा० प० II ४४ पर पुण्यराज ।

३६ विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य—Ramchandra Pandeya, The problem of meaning in Indion philosophy' P 149-156

३७ न हि संसर्गोऽभिधीयते प्रतीयते च वाक्यात् । न्यायमञ्जरी ६

३८ इन्द्रियानित्यं वचनम् औदुम्बरायण । तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते । नि०I १

३९ शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति । वा० प० II १३

४० आख्यातशब्द, संघातो, जाति संघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयव शब्द', क्रमो, बुद्धयनुसंहृति ॥
पदमाद्य, पृथक्सर्वपद साकाङ्क्षमित्यपि ।
वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥ वा० प० II १ २

४१ आख्यात साव्ययकारकविशेषणं वाक्यमेकतिङ् इति । पा० VIII २ २८ पर महाभाष्य ।

४२ डा० सत्यकाम वर्म्मा— भाषातत्त्व और वाक्यपदीय', पृष्ठ ८९

43 But the canditions for a metaphorical transfer of meaning are discussed there mainly from a synchronic point unlike the study of the change of meaning in the West It is only in the discussion f faded metaphors (Nirūdha lakṣaṇa) that a historical approach an be seen —K Kunjunni Raja, 'Indian Theoreis of Meaning' P 10

४४ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ काव्यप्रकाश II ९

४५ चतुर्भि प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यादिति । म० भा० IV १ ४८

४६ यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥
ध्वन्यालोक I १३

४७ अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति । तद्यथा—शाल्यर्थं कुल्या प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते च, शालयश्च भाव्यन्ते । पा० I २ २३ पर महाभाष्य ।

४८ पदार्थानां शक्तिवैचित्र्यात् ।—वही ।

४६ एषोऽपि न्याय्य एव यत्पर्यायेणानन्त्याभिधान भवति ।
—म० भा० पा० I २ ६४ पर

५० वा० प० II ३९६ ७, इस पर पुण्यराज की टीका भी ।

५१ विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम् ।
—म० भा० पा० I २ ६८ पर

५२ केचिद् यावदेव तद् भवति तावत्तेन तस्य य एव जातिवाची गुण शब्दाश्च ।—म० भा० पा० I १ ७१ पर

५३ वा० प० II १८४

५४ अथ नु पुनरय गुणवचन सन् द्रव्यवचन सम्पद्यते । गुणवचनस्या मतुपा लुगिति । तद्यथा शुक्लगुण शुक्ल कृष्णगुण कृष्ण ।
—म० भा० पा० II १ ३० पर

५५ दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥
—म० भा० पस्पशा० ।

५६ प्रकृतिरर्थाभिधाने प्रत्ययनिरपेक्षा दृश्यते ।—म० भा० पा० III १ २ पर

५७ मैक्समूलर के इस मत से हम सहमत नहीं हो सकते जिस के अनुसार ' The Science of language in the only two countries where we can watch its origin and history—in India and Greace—rushes at once into theories about the mysterious nature of sp ach and cares as little for facts as the man who wrote an account of the camel without ever having seen the animal or the desert —The Science of Language P 82

५८ दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जाना, पदेषु पदैकदेशान् ।
—म० भा० पा० I १ ४५ पर

59 Dr Prabhatacandra Cakravarti Philosophy of Sanskrit Grammar, P 84

६० पा० VI I १२३

स्फोटोऽयन पारायण यस्य स स्फोटायन स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचाय —पदमञ्जरी, काशिका VI I १२३ पर ।

६१ आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने पाणिनि सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' आदि मे स्फोट सिद्धान्त खोजने का प्रयास किया है— अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन,
—पृष्ठ ३५० ५१

६२ वा० प ३४७

६३ 'स्फोट शब्द । ध्वनि शब्दगुण । भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् । स्फोटस्तावानेव भवति । ध्वनिकृता वृद्धि ।—पा० I १ ७० पर महाभाष्य ।

६४ ध्वनि स्फोटश्च शब्दाना ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।

65 K.Kunjunni Raja— Indian Theories of Meaning P 101

६६ वर्णस्य ग्रहणे हेतु प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्व वकृत प्रतिपद्यते ॥

६७ सिद्ध स्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

६८ उभयतस्स्फोटमात्र निर्दिश्यत । रश्रुतलश्रुतिभवतीति—K Kunjunni Raja द्वारा 'Indian Theories of Meaning म पृष्ठ १०२ पर पादटिप्पणी न० ८ म उद्धृत ।

69 'To him (Patañjali) the sphota is not a single indivisible symbol considered as the meaning bearer but only the unchanging sound unit or a time series pattern of such units
—K Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 103

७० गौरित्यत्र क शब्द ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवान् उपवर्ष ।
मी० सूत्र I १ ५ पर शाबर भाष्य ।

७१ गौरित्यत्र क शब्द ? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्द । म० भा०, पस्पशा० ।

७२ पौर्वापर्यमकालव्यवेत सहिता चन् पूर्वापराभावात् सहितासज्ञा न प्राप्नोति । एकवर्णवर्तित्वाद् वाच, उच्चरितप्रध्वसित्वाच्च वर्णानाम् ।—वही

७३ शब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ।—वही

74 K Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 107

७५ य सयोगविभागाभ्या वर्णैरुपजायते । स स्फोट ॥ वा० प० I १०३

७६ दूरात् प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्र तु लक्ष्यते । वा० प० I १०५

७७ अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिस्स्फोट इति स्मृता ।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥ वा० प० I ९४

७८ वा० प० I १-२

७९ परवर्ती वैयाकरणो न प्रत्यभिज्ञा की विचारधारा से प्रभावित हो कर 'पश्यन्ती' के अन्तर्गत ही एक चौथी अवस्था 'परा' को भी मान्यता दी है । See K K. Raja, Indian Theories of Meaning, P 147 also Gaurinath Shastri The Philosophy of Word and Meaning' chs I V डा० सत्य काम वर्मा के अनुसार भत हरि न परा' की स्थिति को भी स्वीकार किया है । द्रष्टव्य—भाषातत्व और वाक्यपदीय पृष्ठ ४५

८० नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ वा० प० I ८५

८१ वा० प० I ८३

82 Bhartrhari s statement that the individual letters in a word or sentence have no direct connection with the meaning but are merely concerned with the manifestation of the linguistic sign or the sphota which is the meaning bearer is quite in keeping with

४९ एषोऽपि न्याय्य एव यदप्येकेनानकस्याभिधान भवति ।
—म० भा० पा० I २ ६४ पर

५० वा० प० II ३२६ ७, इस पर पुण्यराज की टीका भी ।

५१ विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम् ।
—म० भा० पा० I २ ६८ पर

५२ केचिद् यावदेव तद् भवति तावदेव तन्नाहु य एते जातिशब्दा गुण शब्दादच ।—म० भा० पा० I १ ७१ पर

५३ वा० प० II १४४

५४ कथ नु पुनरय गुणवचन सन् द्रव्यवचन सम्पद्यत । गुणवचनभ्या मतुपा लुगिति । तद्यथा शुक्लगुण शुक्ल कृष्णगुण कृष्ण ।
—म० भा० पा० II १ ३० पर

५५ दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थ माह ।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात् ॥
—म० भा० पस्पशा० ।

५६ प्रकृतिरर्थाभिधान अप्रत्ययिका दृश्यत ।—म० भा० पा० III १ २ पर

५७ मैक्समूलर के इस मत से हम सहमत नही हो सकते जिस के अनुमार ' The Science of language in the only two countries where we can watch its origin and history—in India and Greace—rushes at once into theories about the mysterious nature of sp•ach, and cares as little for facts as the man who wrote an account of the camel without ever having seen the animal or the desert —The Science of Language P 82

५८ दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जाना, पदेषु पदैकदेशान् ।
—म० भा० पा० I १ ४५ पर

59 Dr Prabhatacandra Cakravarti Philosophy of Sanskrit Grammar, P 84

६० पा० VI I १३२,
स्फोटाऽयन पारायण यस्य स स्फोटायन स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकर णाचार्य —पदमञ्जरी काशिका VI I १२३ पर ।

६१ आचार्य कपिलदेव द्विवेदी ने पाणिनि सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' आदि म स्फोट सिद्धान्त खोजने का प्रयास किया है—अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन,
—पृष्ठ ३५० ५१

६२ वा० प ३४७

६३ 'स्फोट शब्द । ध्वनि शब्दगुण । भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत्, कश्चिच्चत्वारिंशत् । स्फोटस्तावानेव भवति । ध्वनि कृता वृद्धि ।—पा० I १ ७० पर महाभाष्य ।

६४ ध्वनि स्फोटश्च शब्दाना ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यत ।
अल्पो महांश्च कषाचिद् उभय तत्स्वभावत ॥—वही ।

65 K.Kunjunni Raja— Indian Theories of Meaning P 101

६६ वर्णस्य ग्रहणे हेतु प्राकृता ध्वनिरिष्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्व वकृत प्रतिपद्यत ॥

६७ सिद्ध स्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ।

६८ उभयतस्स्फाटमात्र निर्दिश्यते । रश्रुतलश्रुतिभवतीति—K Kunjunni Raja द्वारा Indian Theories of Meaning म पृष्ठ १०२ पर पादटिप्पणी न० ५ मे उद्धत ।

69 'To him (Patañjali) the sphota is not a s ngle indivisible symbol considered as the meaning bearer but only the anchanging sound unit or a time series pattern of such units
—K Kunjunni Raja Indian Theories of Meaning P 103

७० गौरित्यत्र क शब्द ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवान् उपवर्ष ।
मी० सूत्र I १ ५ पर शाबर भाष्य ।

७१ गौरित्यत्र क शब्द ? येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिना सम्प्रत्ययो भवति स शब्द । म० भा०, पस्पशा० ।

७२ पौर्वापर्यमकालव्यवेत सहिता चेत् पूर्वापराभावात् सहितासना न प्राप्नोति । एकवर्णवर्तित्वाद् वाच , उच्चरितप्रध्वसित्वाच्च वर्णानाम् ।—वही

७३ शब्देनार्थान्वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात्पौर्वापर्यम् ।—वही

74 K Kunjunni Raja 'Indian Theories of Meaning P 107

७५ य सयोगविभागाभ्या वर्णैरुपजायते । स स्फोट ॥ वा० प० I १०३

७६ दूरात् प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्र तु लक्ष्यत । वा० प० I १०५

७७ अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिस्स्फोट इति स्मृता ।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिता ॥ वा० पा० I ९४

७८ वा० प० I १-२

७९ परवर्ती वैयाकरण न प्रत्यभिज्ञा की विचारधारा से प्रभावित हो कर 'पश्यन्ती' के अन्तगत ही एक चौथी अवस्था 'परा' को भी मान्यता दी है । See K K. Raja 'Indian Theories of Meaning', P 147, also Gaurinath Shastri 'The Philosophy of Word and Meaning' Chs I-V डा० सत्य काम वर्म्मा क अनुसार भत हरि न 'परा' की स्थिति का भी स्वीकार किया है । द्रष्टव्य—भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृष्ठ ४५

८० नादैराहितबीजायामन्त्यन ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकाया बुद्धौ शब्दोऽवधार्यत ॥ वा० प० I ८५

८१ वा० प० I ८३

82 Bhartrhari s statement that the individual letters in a word or sentence have no direct connection with the meaning but are merely concerned with the manifestation of the linguistic sign or the sphota which is the meaning bearer is quite in keeping with

the claim of modem linguists that the basic assemptions that under lie phonemics can be stated without any mention of mind and mea ning and that the structural analysis of a language does not nece ssarly involve considerations of meaning
—K Kunjunni Raja 'Indian Theories of Meaning P 130

८३ ब्रह्मसूत्र 1 ३ २८ पर शांकरभाष्य।

८४ यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः।

—कुमारिल श्लोकवार्तिक V ६६

85 The Sphota theory is quite in keeping with the modern Gestalt psychology which believes in the primacy of Gestalten The earlior methods proceeded from elements to the whole from the the sounds to words from words to sentences and finally to the meaning of discourse as a whole but the present tendency among psychologists is the exact opposite namely from meaning as Gestalt to the sentence and words as elements The Sphota is the sentence or word considered as a linguistic sign and perceived as a Gestalt ab initio' —K Kunjunni Raja, 'Indian Theories of Meaning P 134-35

86 Indian grammariains produced not only a most scientific system on etyomology and semantics but also a remarkable philoso phy of word and meaning —Gauri Nath Sāstri The Phlosophy of Word and Meaning P 23

वाक्यपदीय—वस्तुविषय और महत्त्व

भत हरि का वाक्यपदीय[1] भाषा तत्त्व के विषय मे लगभग बारह शताब्दिय नक भारतीयो के लिए ज्योतिस्तम्भ रहा है। भत हरि (हरि अथवा हरिवषभ) क व्यक्तित्व के विषय म कोई जानकारी उपलब्ध नही है। केवल इतना ज्ञात है कि महामहोपाध्याय भत हरि ने न केवल व्याकरणदर्शन के स्वतन्त्र ग्रन्थ वाक्य० की रचना की अपितु पतञ्जलि के महाभाष्य पर भी टीका लिखी थी, जो महाभाष्यदीपिका क नाम म प्रसिद्ध हुई। यह टीका अब केवल पा० १ १ ५५ तक ही उपलब्ध है। उत्तरवर्ती व्याकरणग्रन्था मे अनेक कारिकायें उद्धत हैं जो वाक्य० म नही मिलती। सम्भवत भत हरि की और रचनाएँ लुप्त हो गई हैं। वधमान न वाक्य० और प्रकीर्णक का उनख अलग अलग किया है। वाक्य० का ततीय काण्ड प्रकीर्णक नाम म भी जाना जाता है। शायद भत हरि ने इसकी स्वतन्त्र रचना की थी परन्तु काल क्रम म इसे वाक्य० मे ही सन्निविष्ट कर लिया गया।[3] किसी निश्चित प्रमाण के अभाव म यह कठिन है कि मुक्तक काव्यरत्न नीतिशतक आदि तीन काव्या का कर्ता भत हरि यही है या कोई और। भत हरि ने अपने गुरु का उल्लेख नामनिर्देश क बिना ही किया है। टीकाकार पुण्यराज के अनुसार भतृहरि के गुरु वसुरात थे।

वाक्य० नाम उपजीव्य विषय का सकेत करता है। काशिकाकार ने अधि कत्य कत ग्रन्थे (पा० ४ ३ ८७) की व्याख्या म इस नाम का उदाहरण दिया है। तदनुसार इसका व्युत्पत्तिपरक अथ है—वाक्य च पद च वाक्यपदे। वाक्यपदे अधि कत्य कतो ग्रन्था वाक्यपदीयम। तीन काण्डा म विभक्त सम्पूर्ण वाक्य० पद्यबद्ध है जिसम कारिकाओ की कुल सख्या १९६६ है।[4] नीचे काण्डक्रम स वस्तु विषय का परिचय दिया है। कोष्ठक म कारिकाओ की सख्या का निर्देश किया है।—

प्रथम काण्ड (१५६) का नाम ब्रह्मकाण्ड है। काण्ड का आरम्भ शब्द के ब्रह्मरूप म उल्लख के साथ किया गया है। शब्द अक्षरतत्त्व है जिसका विवत जगत की प्रक्रिया म अथ रूप म होना है। स्फोटदर्शन के सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु यही शब्दस्वरूप है। शब्द आपन साथ अथ की भी अभिव्यक्ति उसी प्रकार करता है जिस प्रकार तेज स्वय प्रकाश स्वरूप होता हुआ अन्य पदार्थों को भी प्रकट करता है

ग्राह्यत्व ग्राहकत्व च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथव सवशब्दानामेत पथगवस्थिते ॥ १ ५५

शब्द के इसी एकत्व अखडत्व और नित्यत्व गुणविशिष्ट स्वरूप को ही स्फोट सज्ञा से अभिहित किया गया है। वाक के चार रूपो यथा परा, **पश्यन्ती** मध्यमा और वखरी म से वस्तुत अन्तिम दो की सहायता से स्फोट **का सांसारिक** रूप प्रक

कोई लक्षण पर्याप्त प्रतीत नहीं होता उनके विचार मे वाक्यार्थ तो अविभाज्य है। व्यवहार के लिए उसकी जो प्रातिभ प्रतीति होती है वह प्रतिभा है। सर्वत्र व्याप्त महासत्ता ही वाच्य-वाचक व्यवहार म प्रतिभा है उसी का दूसरा नाम सत्ता है। लौकिक पदार्थों का बोध कराने के लिये सामान्य विशेषक तत्त्व इसी अभिप्राय का जाति भी कहते हैं। भाषा म इसको प्रकट करने के लिए प्रतीक रूप तद्धित प्रत्यय त्व और तल का व्यवहार करते हैं।[८]

वाक्य स्वरूप के अतिरिक्त भर्तृहरि ने नाम, आख्यात उपसर्ग निपात के अर्थ और व्यवहार पर भी प्रकाश डाला है। नाम के अर्थ बोध म अन्वय व्यतिरेक का उपयोग (२ १६६) प्रकृति व प्रत्यय के अर्थतत्त्व की अनिश्चयता (२ २२६) भाषा म परिवर्तन की अनवस्थितता (२ २३१ इत्यादि) का उन्होंने उल्लेख किया है। धातु और उपसर्ग के सम्बन्ध पर भी उन्होंने सविस्तर विचार किया है। उपसर्ग के तीन कार्य सम्भव हैं —वह विशेष अर्थों का वाचक है भिन्न अर्थ का द्योतक होता है और धातु के अर्थ म शक्त्याधान करता है।[९] निपातो को भर्तृहरि ने पृथक अर्थ का द्योतक माना है।[१०] इस काण्ड के अन्त म भर्तृहरि ने इस शास्त्र के प्राचीन विचारकों का उल्लेख किया है। उपर्युक्त विषयों के विस्तृत विवेचन के लिये संग्रहग्रन्थ का सम्मान नाम लिया है। सर्वविध न्यायबीजों के निबन्धन के लिये पतञ्जलि के महाभाष्य की भी प्रशंसा की है। बाद म इस व्याकरण आगम की चन्द्रादि आचार्यों द्वारा अनेक शाखायें पल्लवित की गयी। भर्तृहरि के गुरु ने उन सब आगममार्गों का अभ्यास कर स्वयं दर्शन का प्रणयन किया (२ ४७८ इत्यादि)

तृतीय काण्ड (१३२३) सबसे बड़ा है। द्वितीय काण्ड के अन्त म की गई प्रतिज्ञा के अनुसार इसमें विभिन्न विषयों पर आगम भेदों का संग्रह है। इस उद्देश्य से भर्तृहरि ने इसे १४ समुद्देशों म विभक्त किया है। इनमें अन्तिम वृत्तिसमुद्देश सबसे बड़ा है। इन समुद्देशों का क्रम और इनके विषय इस प्रकार हैं—

(१) जाति समुद्देश (१०६)—पदार्थ बोधक शक्ति एवं समूह की सामान्य विशेषता जाति है। (महाभाष्य मे जाति का लक्षण किया है–आकृतिग्रहणा जाति। पा० ४ १ ६३

(२) द्रव्य समुद्देश (१८) द्रव्य पारमार्थिक वस्तु है। इद तत इत्यादि द्वारा द्रव्य का बोध होता है।

(३) सम्बन्ध समुद्देश (८८) पदों का परस्पर सम्बन्ध। सम्बन्ध दो प्रकार का माना गया है—क्रिया कारक सम्बन्ध और शेष लक्षण सामान्य सम्बन्ध।

(४) भूयो द्रव्य समुद्देश (३) द्रव्य की इकाई का रूप।

(५) गुण समुद्देश (८) जाति म भेदक तत्त्व गुण है। द्रव्य की विशेषतायें।

(६) दिक् समुद्देश (२८) स्थान स्थिति का अवधिमूल विवेक।

(७) साधन समुद्देश (१६७) कारक। कारक भेद यथा—कर्म हेतु सम्प्रदान अपादान अधिकरण और शेष। इनके लक्षण और क्रिया सम्बन्ध पर विचार।

(८) क्रिया समुद्देश (६४) कार्यव्यापार। धातु द्वारा अभिव्यक्ति।

हम (Convetional theory) अथवा साकेतिक सिद्धान्त कहते हैं और जिस पर य दो आक्षेप प्रधान रूप से किये जाते हैं—इस अनुबन्ध से पूर्व किस प्रकार लोक व्यवहार होता होगा, और यह अनुबन्ध किस भाषा के माध्यम से किया गया होगा। इनके अतिरिक्त कुछ एक गौण आक्षेप और भी हो सकते हैं कि अनुबन्ध से पूर्व यदि लोक व्यवहार चल रहा था, तो फिर, अनायास इस अनुबन्ध की आवश्यकता क्या आ पडी और फिर यदि अनुबन्ध कर भी लिया गया तो फिर वही भाषा टिकी क्यो न रही—पुन किन अनुबन्धो से निरंतर बदलती रही ? और यदि इस परिवर्तन को किसी अनुबन्ध के बिना स्वत स्वीकार किया जाए तो फिर भाषा का आरम्भिक रूप भी स्वत निर्मित हो जाने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए—विकासवाद का यह सिद्धान्त ही वस्तुत भाषा की उत्पत्ति का एकमात्र कारण माना जा सकता है तथा अन्य तथाकथित कारण इस कारण के सहायक कारण हैं, न कि भाषा की उत्पत्ति के कारण। जो हो इस समस्या का समाधान न तो प्राचीन वैयाकरणो के पास है, और न ही काव्यशास्त्रियो के पास। आधुनिक भाषावैज्ञानिको ने यद्यपि इस सम्बन्ध मे अनेक मन्तव्य स्थिर किए पर अन्तत अपने इन्ही प्रयासो के सम्बन्ध मे किसी भाषावैज्ञानिक ने यह चुटकी भी काट दी कि यदि सभी भाषावैज्ञानिक किसी एक मत पर सहमत हैं तो वह यह है कि भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई भी मत स्थिर नही किया जा सकता। कितना शानदार तरीका है समस्या से पलायन का ? अस्तु !

[३]

उक्त समस्या से ही मिलता जुलता प्रश्न है कि भाषा का चरम अवयव किसे माना जाए—वर्ण को या वाक्य को। आधुनिक भाषावैज्ञानिक तो वाक्य को भाषा का चरम अवयव मानते ही हैं और भारतीय वैयाकरणो ने भी इसी तथ्य को अनेक रूपो मे और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन ॥ तथा—
तदबुध-बोधनाय पदविभाग कल्पित ।

किन्तु इधर, काव्यशास्त्रियो ने भी इसी सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। मम्मट विश्वनाथ आदि के ग्रथो मे शब्द की चौथी शक्ति तात्पर्या वृत्ति के प्रसङ्ग मे प्रकारान्तर से इसी विवाद की ओर सकेत किया गया है। किसी वाक्य का अर्थ ही हमे अभीष्ट रहता है—यह एक सर्वांशत स्वीकृत तथ्य है। पर क्या (१) वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ समन्वित होकर हमे अभीष्ट होता है अथवा (२) समग्र वाक्य का समन्वित अर्थ। दूसरे शब्दो मे—विभिन्न पदार्थो का समन्वय वाक्यार्थ है अथवा समग्र वाक्य का वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है। प्रथम मत को अभिहितान्वयवादी स्वीकार करते है और दूसरे को अन्विताभिधानवादी—

(क) अभिहिताना स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थापितानामर्थानामन्वय इति वादिन अभिहितान्वयवादिन ।

(ख) अन्वितानामेवाभिधान शब्दबोध्यत्वम् तद्वादिनोऽन्विताभिधानवा

(बौद्ध), (५) कमलशील (बौद्ध) (६) नारायण, (७) मधातिथि, (८) जयन्तभट्ट, (६) अभिनव गुप्त, (१०) रामकण्ठ, (११) क्षीरस्वामी (१२) पार्थसारथिमिश्र (१३) महेश्वर, (१४) दुर्गसिंह (१५)त्रिलोचन दास, (१६) वाचस्पति मिश्र, (१७) श्री सोमानन्द नाथ (१८) उत्पलदेव (१६) गोकुल नाथ।

यह खेद का विषय है कि आधुनिक युग म वाक्य० को अभी अपेक्षित महत्त्व नहा मिला है। भाषा विज्ञान के विद्यार्थियो को पुण्यराज और हेलाराज की टीकाओ के साथ वाक्य० का अध्ययन करने स ध्वनि अर्थ रूप वाक्यरचना इत्यादि विषयो म न केवल प्राचीन भारतीय मत को समझने म सहायता मिलेगी अपितु अधुनातन ज्ञान को भी नये आयाम देना सम्भव होगा।

सन्दर्भ

(१) वाक्यपदीय—काशिनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर एव विष्णुप्रभाकर लिमये। पुना यूनिवर्सिटी सस्कृत और प्राकृत सिरीज (१६६५)। प्रस्तुत रचना म सभी सन्दर्भ इसी सस्करण के दिये गय हैं।

(२) 'भर्तृहरि वाक्यपदीयप्रकीर्णकयो कर्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।'—गणरत्नमहोदधि।

(३) इत्सिग के उल्लेख स प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने वाक्य० (प्रथम दो काण्डो) पर स्वोपज्ञवृत्ति टीका भी लिखी थी जिसमे ७००० श्लोक थे। प्रथम काण्ड की यह वृत्ति चारुदेव शास्त्री के सस्करण मे पूरी प्रकाशित हुई है। द्वितीय काण्ड की वृत्ति पूर्ण उपलब्ध नहा है। उक्त वृत्ति के बृहद और लघु दो रूप प्रचलित हैं। दे० Bhartrhari A critical Study with Special References to the Vakyapadiya and its Commentaries —Charudeva Shastri, Proceedings Of AIOC V Part I (P 630 ff) 1930 तथा वाक्य० Introduction P X

(४) इत्सिग ने वाक्य० के श्लोको की सख्या ७०० लिखी है। चारुदेव के विचार म यह सख्या केवल प्रथम दो काण्डो की है क्योंकि उनकी वर्तमान श्लोक सख्या ६४३ है। सम्भवत इत्सिग के समय तृतीय काण्ड स्वतन्त्र माना जाता हो। दे० चारुदेव—वही।

(५) एव च निरवयवत्वपि वर्णपदवाक्येषु मात्राविभागो वर्णविभाग पदविभागश्च काल्पनिका मिथ्येति भाव। पुण्य० १ ६३

(६) आख्यातशब्द सघातो जाति सघातवर्तिनी।
एकोऽनवयव शब्द क्रमो बुद्ध्यनुसहृति॥
पदमाद्य पृथक सर्वपद साकाक्षमित्यपि।
वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम॥ २ १ २

वाक्य लक्षण सम्बन्धी इस अश को लेकर प्रचलित पाठभेद और मतभेद उल्लेखनीय हैं। मीमासक कुमारिलादि 'क्रमो बुद्ध्यनुसहृति' को एक लक्षण मानते हैं और 'पदमन्त्यम्' नामक एक और लक्षण भी जोडते हैं, जो वाक्य० के

पाठ मे नहीं है। प्रभाकर के अनुयायी भी ऐसे पाठ की गणना करते हैं। प्रमेय कमलमात्तण्ड द्वारा निर्दिष्ट जैनी परम्परा भर्तृहरि की वाक्यसूची मे दस लक्षणों को गिनती है। 'क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती' 'किया है, और व्याख्या मे इन शब्दों म तीन वाक्यलक्षणों का निहित होना बताया गया है। उसी ग्रन्थ मे इसका भी संकेत है कि पदमाद्य इत्यादि पंक्ति का पाठ भी भिन्न प्रकार से है यथा—पदमाद्य पद चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि। दे० Bhrtrhari's first of Sentence Definitions—K Kunjunni Raja Brahmavidya (The Adyar Library Bulletin) XXVI (1962) p 206 ff

(७) दार्शनिक मतभेद के बाहर साहित्यदर्पणकार का यह लक्षण बाद म अधिक व्यवहार सम्मत सिद्ध हुआ है—वाक्य स्याद्योग्यताकाक्षासत्तियुक्त पदोच्चय ।

(८) सम्बन्धिभेदात् सत्तव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्या सर्वे शब्दा व्यवस्थिता ॥
ता प्रातिपदिकार्थञ्च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादय ॥ ३ ३३ ३४

(९) स वाचको विशेषाणा सभवाद् द्योतकोऽपि वा ।
शक्त्याधानाय धातोवा सहकारी प्रयुज्यते ॥ २ १८८

(१०) 'निपाता द्योतका केचित् पृथगर्थाभिधायिन ।
आगमा इव केऽपि स्यु संभूयार्थस्य वाचका ॥' २ १९२

(११) धारदेव—वही पृ० ६४६

(१२) चान्द्र—वही पृ० ६५०

(१३) हरदत्तमिश्र न पदमञ्जरी म ५० कारिकायें उद्धृत की है।

सहायक ग्रन्थ

(1) The Philosophy of Sanskrit Grammars P C Chakravarti, University of Calcutta (1930)

(२) अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तानी अकेडमी, इलाहाबाद। (१९५१)

दिन । (वा० प्र०—बालबोधिनी टीका, पृष्ठ २६ २७)

शास्त्रीय तर्क वितर्क से एक क्षण के लिए अलग हट कर देखें तो हमारे विचार में ये दोनों पक्ष अपनी अपनी स्थिति में यथार्थ हैं—एक पूर्णत और दूसरा कुछ संशोधित रूप में। उदाहरणार्थ प्रारम्भ में हम किसी अज्ञात भाषा के वाक्यार्थ को या किसी-न किसी प्रकार से वक्ता का आशय समझ लेते हैं—तब समग्र वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है। अन्विताभिधानवादियों का यह कथ्य इस स्थिति में पूर्णत स्वीकार्य है। किन्तु बाद में वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद का अर्थ जान लेने पर हम उनके माध्यम से वाक्य का अर्थ समझने लगते हैं। सिद्धान्तत हम अब भी भले ही यह कहते रहें कि वाक्य में प्रत्येक पद तब तक परस्पर असम्बद्ध अतएव निरर्थक रहता है जब तक कि हम पूरा वाक्य पढ़ अथवा सुन नहीं लेते—समग्र वाक्य पूरा हो जाने पर ही ये पद आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के बल पर परस्पर सम्बद्ध होकर सार्थक बन जाते हैं और अब समग्र वाक्य अपना आशय देने लगता है जैसा कि अन्विताभिधानवादी स्वीकार करते हैं किन्तु यह कथ्य किंचित् संशोधन की अपेक्षा रखता है। वस्तुत अब प्रत्येक पद का अपना अपना अर्थ हमारी बुद्धि में परस्पर-सम्बन्ध जोड़ता चला जाता है और वाक्य के पूर्ण होते ही समग्र वाक्यार्थ बोधगम्य हो जाता है। सत्य तो यह है कि प्रत्येक पद के अर्थ को भूल न सकने के कारण, वाक्य के पूरा न होने तक हम इन्हें परस्पर नितान्त असम्बद्ध भी नहीं मान सकते।

वस्तुत इस समस्या के उत्पन्न होने का मूल कारण है कि जब व्याकरण के अनुसार पदों में प्रकृति और प्रत्यय का अलग अलग निर्दिष्ट किया जाने लगा तो वाक्य में पदों का अस्तित्व भी इन्हीं के अनुरूप ही स्वीकृत करने पर बल दिया गया कि पद यदि प्रकृति प्रत्यय से निर्मित है तो वाक्य पदों से। इसी तथ्य की ओर आचार्य कुन्तक ने भी प्रसंगवश संकेत किया है—दृश्यते च समुदायान्तःपातिनाम सत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तमपोद्धृत्य विवेचनम्—यथा पदान्तभूतयो प्रकृति प्रत्यययो वाक्यान्तभूतानां पदानां चेति। (व० जी० १ ६ वृत्ति)। और यही कथ्य कभी-कभी इस रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है कि जिस प्रकार कमल पद में क म ल ये तीनों वर्ण निरर्थक हैं और न ही क बोलने से कमल की एक तिहाई का तथा कम बोलने से कमल की दो तिहाई का बोध होता है उसी प्रकार ग्रह गृह गच्छामि में प्रथम दोनों पदों के उच्चारण द्वारा भी क्रमश एक तिहाई और दो तिहाई वाक्यार्थ के बोध की अस्वीकृति समझनी चाहिए और फलत निष्कर्ष यह निकाला गया कि वाक्य की समाप्ति-पर्यन्त सभी पद निरर्थक समझे जाने चाहिए। किन्तु यह साम्य किसी भी रूप में सुघटित प्रतीत नहीं होता। पद में प्रयुक्त वर्ण उदाहरणार्थ क म अथवा ल, तो नितान्त निरर्थक हैं किन्तु वाक्य में प्रयुक्त पदों का अर्थ एक बार ज्ञात हो जाने पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता। वर्ण पद के अनिवार्य अंग हैं, और पद वाक्य के किन्तु इस साम्य के होते हुए भी वाक्यगत पद, पदगत वर्णों के समान नितान्त निरर्थक नहीं होते। माना

कि 'ग्रह गद् गच्छामि' के 'ग्रह' से वाक्य के एक तिहाई वाक्यार्थ का बोध नहीं होता, पर श्रोता वाक्यार्थ के मार्ग पर अग्रसर अवश्य हो जाता है—यदि इस तथ्य को थोड़ा और दूर तक खींच ले जाएं तो 'इस सरोवर में सुंदर कम इतना सुनते ही प्रायः कमल' का अर्थ तो समझ आ सकता है पर केवल कम' दो तिहाई कमल' का नहीं। अस्तु!

इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए पहले पद स्फोट और अनंत वाक्य स्फोट की धारणा स्वीकृत की गई। शब्द को ब्रह्म के स्तर पर कल्पित करके अर्थ के साथ शब्द का नित्य सम्बन्ध घोषित किया। महाभाष्यकार का प्रसिद्ध कथन सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे और इसी के अनुरूप भारतीय काव्य शास्त्र का प्रसिद्ध कथन ननु शब्दार्थौ काव्यम् प्रकारान्तर से इसी धारणा की ओर संकेत करता है। शब्द वस्तुतः सार्थकता का ही द्योतक है केवल नाद का नहीं। किन्तु शब्द ब्रह्म के रूपक द्वारा एक ओर यह कल्पना हास्यास्पद प्रतीत होती है कि वधि अवस्यु मृडीक जैसे शब्द में जो कि आज लुप्त हो गये हैं क्रमशः ये अर्थ छिप पड़े हैं—भरण-कर्ता रक्षक और सुख और दूसरी ओर गवेषणा जैसे शब्दों के विषय में यह कल्पना भी हास्यास्पद ही है कि अब भी इनमें गो+एषणा' (गाय की खोज) जैसे अर्थ छिप पड़े हैं और ये सब अर्थ कभी भी प्रकट हो सकते हैं। उक्त हास्यास्पद भी धारणाएं हम किसी-न किसी प्रकार से स्वीकार कर भी लें किन्तु शब्द ब्रह्मत्व के आधार पर यह मान्यता तो किसी भी तरह स्वीकृत नहीं हो सकती कि प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ निहित है और जब भी कभी वह स्फुटित हो सकती है। फिर भी, स्फोट सिद्धान्त में यह तथ्य तो स्पष्टतः निहित है ही कि प्रत्येक सार्थक शब्द तब तक स्फोट कहाने का अधिकारी है जब तक कि वह अपने नियत अर्थ को प्रकट करता है। अस्तु!

[४]

वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र का समग्र कलेवर शब्द और अर्थ के उक्त नित्य सम्बन्ध पर ही अवस्थित है। इसी नित्य सम्बन्ध की व्याख्या कुन्तक के शब्दों में इस प्रकार है कि काव्य में शब्द और अर्थ तो दो मित्रों के समान एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हुए परस्पर संलग्न रहते हैं[४]। अस्तु! शब्दशक्ति प्रकरण तो इसी पर आधारित है ही ध्वनि के भेद भी शब्द और अर्थ में सम्बद्ध किये गये हैं तथा गुण अलंकार और यहाँ तक कि दोष प्रसंग का विभाजन भी इसी द्वय व्यक्तित्व के आधार पर शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत रूप में किया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जिस काव्य-तत्त्व को शब्दगत कहा जाता है उसमें केवल यह अभिप्राय लिया जाता है कि इसमें शब्द की प्रधानता है और अर्थ की गौणता और जिसे अर्थगत कहा जाता है उसमें अर्थ की प्रधानता है और शब्द की गौणता। इस प्रकार नामकरण प्रधानता के आधार पर किया जाता है—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।' वस्तुतः शब्द और अर्थ तो परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हुए चलते हैं[५]। अस्तु! उपर्युक्त वर्गीकरण से भी बढ़कर स्वयं काव्य का लक्षण भी शब्दार्थ के समन्वित रूप पर आधारित किया गया है। भरत के अनुसार शब्द और अर्थ के सहितभाव

काव्य की मना री गई है और रूद न गब्दाथ का। इसी प्रकार कुन्तक ने भी शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् के ही आधार पर काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है[१]। मम्मट ने वसम्मत काव्य लक्षण म काव्य का स्वरूप शब्दार्थ पर आधारित किया है[२] और राजशेखर विश्वनाथ आदि ने काव्यपुरुष रूपक म शब्दार्थ को ही काव्य का शरीर बताया है[३]। दण्डी और जगन्नाथ ने काव्य लक्षण म शब्द और अर्थ को यदि पृथक-पृथक निर्दिष्ट किया है तो सग्रहकार व्याडि के अनुसार सम्भवत इसका यह समाधान किया जा सकता है कि शब्द और अर्थ अभिन्न होने पर भी यदि पृथक पृथक निर्दिष्ट किए जाते है तो इसका कारण लौकिक व्यवहार ही है पर वस्तुत ये अभिन्न और एकरूप म ही अवस्थित हैं—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यत शब्दार्थयोस्तत्त्वमेक तत् समवस्थितम् ॥

—वा० प० (१ २६) की वृत्ति म उद्धृत

काव्यशास्त्र म प्रतिपादित भाषाशास्त्र सम्बन्धी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है वाचक शब्द जिसके व्याकरण सम्मत चार भेद हैं—द्रव्य जाति गुण और क्रिया। वाचक शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ का बताता है न कि परम्परा सम्बद्ध अर्थ का। इसी विषय का एक महत्त्वपूर्ण स्थल है कि यह सकेत ग्रहण जाति का होता है अथवा व्यक्ति का। इस सम्बन्ध म पाच सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं—(१) जाति वाद (२) व्यक्तिवाद (३) जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद (४) अपोहवाद, (५) जात्यादिवाद।[४]

[५]

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो म अलकार गुण रीति और दोष विषयक प्रकरणो म भी भाषा विषयक विवेचन उपलब्ध हो जाता है। स्वय इनके लक्षण ही अन्तत भाषा के प्राण भूत तत्त्व शब्द और अर्थ से सम्बन्धित कर लिये गये है। अलकार को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म माना गया है गुण को शब्दार्थ का धर्म गौण रूप से स्वीकार किया गया है और गुण के इसी रूप के साथ ही रीति को सम्बन्धित किया गया है[१]। अस्तु।

भाषाविज्ञान की मनोवैज्ञानिक मीमासा करने वाले विद्वान् कभी कभी यह भी स्वीकार करने लगते हैं कि विभिन्न वर्णों के नामो को और यहा तक कि उनके लेखन की बनावट को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये मूलत जिन शब्दो से घिसते घिसते अपने वर्तमान रूप पर पहुँचे हैं वे शब्द कठोर कोमल मसृण, मजुल, श्रुति कटु श्रुति पेशल आदि रहे होग। यदि इस मीमासा को अत्र वैज्ञानिक भी मान लें, तो भी भारतीय काव्यशास्त्र की गुण और रीति विवेचन का मधुरता आनन्दिता और प्रसादिता इसी भाषा तत्त्व की ओर ही स्पष्ट सकेत करती है।

अलकार प्रकरण के अतगत शब्द श्लेष अलकार के आठ भेद निम्नोक्त आठ भाषा-तत्त्वो पर आधारित हैं—वर्ण प्रत्यय लिंग प्रकृति पद विभक्ति वचन और भाषा। उपमा को अर्थालकारो की जननी माना गया है। इसके श्रौती और आर्थी

नामक दो भेद भाषा तत्त्व पर ही आधारित हैं तथा फिर ये दोनो तद्धित समास और वाक्यगत स्वीकार किये गये है[११]। विरोध अलकार के भेद भी वाचक शब्द के उक्त चार रूपो—जाति, गुण क्रिया और द्रव्य पर आधारित है। इसी प्रकार विषम अलकार के भेद भी गुण और क्रिया से सम्बन्धित हैं[१२]।

इसी प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त का समग्र भेद प्रस्तार ही भाषा-तत्त्वो को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। वक्रोक्ति के प्रमुख छ भेदो म से प्रथम चार नाम लीजिए —वर्ण वक्रता, पदपूर्वार्द्ध वक्रता पदपरार्ध वक्रता, और वाक्य वक्रता। तथा वक्रोक्ति के कतिपय उपभेदो के नाम लीजिए—उपसर्ग, निपात, वृत्ति (समास, तद्धित और कृदन्त), लिंग, कारक, सख्या (वचन) पुरुष उपग्रह (आत्मनपद और परस्मैपद) आदि। इस प्रकार कुन्तक न भाषा और काव्यशास्त्र मे अनिवाय सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है किन्तु इसका यह तात्पय कदापि नही है कि कुन्तक किसी विशिष्ट भाषा तत्त्व पर ही काव्यानन्द को केन्द्रित करने के पक्ष म हैं। वस्तुत यह स्थिति भी 'प्राधान्यन व्यपदशा भवन्ति' के आधार पर स्वीकृत करनी चाहिए। उदाहरणाथ, यदि किसी एक विशिष्ट स्थल म पद क पूर्वार्द्ध (प्रातिपदिक) के कारण काव्यसौन्दय है तो दूसरे स्थल म पद के उत्तरार्द्ध (प्रत्यय) के कारण अथवा किसी अय स्थल में वाक्य के कारण तो इसी प्रमुखता के आधार पर ही वक्रोक्ति भेदो का नामकरण किया गया है। किन्तु इससे काव्य चमत्कार को किसी एक भाषा तत्त्व पर केन्द्रित नही माना जा सकता—यह तो उक्त पदपूर्वार्द्ध वक्रता आदि की वक्रता म जय परवर्ती क्षण होता है जो कि—उक्त आधार एव साधनभूत वक्रताओ का आधेय अथवा साध्य होता है। स्वय भाषा मे भी किसी एक वाक्य के पदो के अर्थों का अवबोध वाक्य के समस्त तात्पय क लिए साधन ही होना है साध्य तो वाक्याथ —वाक्य का तात्पय—ही होता है। अस्तु!

अब दोष प्रकरण लीजिए। भारतीय काव्यशास्त्री व्याकरण द्वारा असम्मत प्रयोगो म च्युत सस्कृति दोष स्वीकार करता है। 'अजुन शकरस्य वक्षस्थलम् आजघ्ने' यहा आजघ्ने इस आत्मनेपदी प्रयोग म च्युतसस्कृति दोष है क्योकि 'आङो यमहन' (और उसकी अनुवृत्ति-परक 'स्वागकमकाच्च') सूत्र द्वारा हन् धातु मे आत्मनपद का प्रयोग तभी सगत है जब कम स्वय कर्ता का अपना अग हो न कि किसी अन्य का अग। यहा परस्मपद प्रयोग आजघान ही होना चाहिए था। किन्तु फिर भी, काव्यशास्त्र इस सम्बन्ध म व्याकरण के नियमो का पालन कठोरतापूर्वक नही करता। 'पद्म' शद व्याकरणानुसार पुंलिंग है किन्तु इसका प्रयोग नपुसक लिंग म प्रचलित है अत भाति पद्म सरोवरे' जस प्रयोगो म अप्रयुक्त दोष माना गया है। हन्' धातु गत्यथक भी है—हन् हिंसागत्यो किन्तु इस अथ म इसका प्रयोग प्रचलित न होने के कारण कुत हन्ति (गच्छति) वाला एसे स्थलो म असमथता दोष माना गया है। 'वन्द्याम् पद वन्द्या' शब्द की द्वितीया विभक्ति का एकवचनान्त रूप है, तथा वन्दी' (वन्दी बवयाग्भेद') शब्द की सप्तमी का एकवचनान्त रूप भी। स्पष्टत, ये दोनो रूप व्याकरण क अनुसार शुद्ध हैं परन्तु काव्यशास्त्री को इस पद के प्रयोग म वहाँ आपत्ति

है जहाँ यह सन्देह उत्पन्न करता है। जैसे— भागी परम्परा यया करौं कृपया कृपा कुरु।' इस प्रकार का प्रस्तुत अभिप्राय तो यह है कि इस वन्दीय भागा परम्परा को सुनकर हे राजन् कृपा करें किन्तु भाग की निम्नोक्त अर्थ का भी भ्रम होता है—इस भागी परम्परा को सुनकर हे राजन् इस वन्या (भगिनी) पर कृपा करें। अतः ऐसे प्रयोग त्याज्य हैं। एक उदाहरण और लीजिए—'आसमुद्रक्षितीशानाम्' (समुद्र पर्यन्त पृथ्वीपतियों का) इस पद में यद्यपि आसमुद्र का क्षितीश के साथ समस्त प्रयोग व्याकरण सम्मत है किन्तु आसमुद्रम् शब्द में भाषा में जो बल आता है वह समास करने से नष्ट हो जाता है। अतः काव्यशास्त्र इस रचना में अविमृष्ट विधेयांश दोष स्वीकार करता है। यही स्थिति 'अत्र ते पतन्ति शुभ्रा अट्टाश्च पाण्ड्याश इव पञ्चवासरस्य' में भी है। पाण्ड्याश प्रयोग व्याकरण-सम्मत है किन्तु पाण्ड्य शब्द प्रयोग में ही कहीं अधिक बल है। सन्धि नियमों के अनुसार निम्नांत स्थल में विसर्गों का लोप सम्मत है—'गता निशा इमा बाले', और निम्नांत स्थल में विसर्गों का ओ हो जाना— धीरो वरो नरो याति' किन्तु काव्यशास्त्री को यह स्थिति मान्य नहीं है। वह इनमें काव्य दोष स्वीकार करता है। और फिर, वह सन्धि भी क्या जो व्याकरण-सम्मत तो है पर जिससे जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता की दुर्गन्ध उठने लगे— 'चलण्डामरचेष्टित' अथवा जो अत्यन्त क्लिष्ट बन जाए'''उर्व्यसावत्र तर्वालो मर्वन्ते चाववस्थिति। इस प्रकार हमने देखा कि काव्यदोषों के निर्धारण में काव्यशास्त्र ने व्याकरण के नियमों के परिपालन पर बल तो दिया है पर वहीं तक जहाँ तक वे सहृदय के रसास्वाद में बाधक नहीं बनते।

× × ×

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के प्रायः सभी प्रसंगों में भाषा के अनेक तत्त्व भरे पड़े हैं—कहीं अनुस्यूत रूप में कहीं समन्वित रूप में और कहीं आनुषंगिक अथवा काव्य चमत्कार के उपकारक रूप में। वस्तुतः स्वयं काव्य का शरीर ही भाषा अर्थात् शब्दार्थ का समन्वित रूप है—काव्य सौन्दर्य (अलंकार) को भाषा से हम ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकते जिस प्रकार त्वचा के रंग को उससे अलग नहीं कर सकते अथवा पुष्प के रंग को उसकी पंखुड़ियों से अलग नहीं कर सकते। इसी आशय को कुन्तक ने इन शब्दों में प्रकट किया था—'या तो समझने समझाने के लिए अलंकार (काव्य सौन्दर्य) को अलंकार्य (शब्दार्थ) से अलग करके विवेचन किया जाता है किन्तु सत्य तो यह है कि काव्यता तो सालंकार की ही होती है'[13]। अर्थात् काव्य में सौन्दर्य भाषा (शब्दार्थ) का अविभाज्य अंग बनकर ही रहता है उसे पृथक् नहीं कर सकते।

संदर्भ

१ वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।
इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥
२ तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद् वपुः सुंदरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥ का० आ० १ ७
३ काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में वाक्य का लक्षण है—
(क) वाक्यं तत्राभिमतं परस्परं सव्यपेक्षवृत्तीनाम् ।
समुदायः शब्दानामेकपराणामनाकांक्ष ॥ का० अ० (रुद्रट) २ ७
(ख) वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकांक्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः । सा० द० २ १
४ समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा ॥ व० जी० १ ७ (१८)
५ शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ सा० द० २ १८
६ (क) शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । काव्यालंकार (भामह) १ १६
(ख) ननु शब्दार्थौ काव्यम् । काव्यालंकार (रुद्रट) २ ६
(ग) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ व०जी० १ ७
७ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । काव्यप्रकाश प्रथम उ० ।
८ काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् । सा० द० प्रथम परिच्छेद तथा का० मी० प्रथम अध्याय ।

९ यह विवाद पर्याप्त विस्तृत है अतः इस लघु लेख में इस पर प्रकाश नहीं डाला जा रहा ।

१० (क) शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा अलंकारास्ते ..। सा०द० अष्टम उ ।
(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता । का० प्र० अष्टम उ ।
(ग) गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती रीतिः । सा० द० अष्टम उ ।
११ (क) श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ सा० द० १० १६
(ख) सा० द० १० १७ १८ ।
१२ सा० द० १० ६८
१३ अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते ।
तदुपायतया तत्त्वं सालंकारस्य काव्यता ॥ व०जी० १ ६
[अलंकार्यम् वाचकरूप वाच्यरूपञ्च ।]

पालि व्याकरणों तथा कोशों की परंपरा

पालि साहित्य के इतिहास में [illegible] स्थान रहा। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक [illegible] का उदय हुआ था या नहीं [illegible] नहीं कहा जा सकता। [illegible] बुद्धघोष ने संस्कृत [illegible] में भी [illegible] आचार्य पालि व्याकरण का [illegible] पाणिनीय [illegible] है। 'विसुद्धिमग्ग' में उनके द्वारा की गई [illegible] व्याकरण सम्बन्धी [illegible] उदाहरण है। विसुद्धिमग्ग में [illegible] (इन्द्रिय और सत्व का [illegible]) में आता है [illegible]। तथाहि ? इन्दलिङ्गट्ठो, इन्ददेसितट्ठो इन्ददिट्ठट्ठो, इन्दसिट्ठट्ठो इन्दजुट्ठट्ठो[1]। ठीक यही पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिपादित है इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा (५।२।९३)। इसी प्रकार पाणिनीय सूत्र ३।३।१३१ भी बुद्धघोष की अट्ठकथाओं[2] में प्रतिध्वनित हुआ है। [illegible] मिलती हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता[3]। इसी प्रकार पाणिनि ने [illegible] शब्द का प्रयोग प्राप्ति के अर्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने इस विषय में भी उनका अनुगमन कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग समन्तपासादिका (विनयपिटक की अट्ठकथा) में अनेक बार किया है[4]। यहाँ हमारा कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याक

---

१ विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित नागरी संस्करण)।

२ जिल्द पहली पृष्ठ २३ (पालि टेक्स्ट सोसायटी संस्करण) इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी के संस्करण) में वण्णागमो वण्णविपरिययो आदि काशिका का उद्धरण है जिसे बुद्धघोष ने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है। काशिका वृत्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है बुद्धघोष के दो शताब्दी बाद।

३ इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डा० विमलाचरण लाहा ने की है देखिये उनका 'दि लाइफ एंड वर्क आव बुद्धघोष' पृ० १०४ १०५ हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर जिल्द दूसरी पृष्ठ ६३२ ३३ मिलाइये जर्नल आव पालि टेक्स्ट सोसायटी १००६ ०७ पृष्ठ १७२ ७३।

४ दि लाइफ एंड वर्क आव बुद्धघोष, पृष्ठ १०५ हिस्ट्री आव पालि लिट

५

रण के प्रभावस्वरूप उतना नहीं माना जा सकता, क्योंकि पालि तिपिटक के स्वय सान आपत्ति शब्द में यह प्रयोग रक्खा हुआ है। यह सभव है कि पालि और संस्कृत का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हो जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हो। अत बुद्धघोष ने ऐसे प्रयोगो को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर सभवत पालि त्रिपिटक से ही लिया हो ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पडता है।[1] यहा तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तिया तिपिटक और विशेषत अभिधम्म पिटक के एतत्सबधी विशाल भाडार पर ही आश्रित हैं। यद्यपि बुद्धघोष से पहले पारिभाषिक अर्थों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति शास्त्र (पालि निरुत्ति—पालि तिपिटक के शब्दो की व्याकरण सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो किन्तु तिपिटक के शब्दो की व्याख्या (वय्याकरण) के लिये कुछ नियम तो अवश्य ही रहे होगे। सुत्त पिटक के प्राचीनतम अशो में भी 'ब्राह्मण', 'श्रमण', 'भिक्षु', 'तथागत' आदि शब्दो की जो निरुक्तिया और व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ किये गये हैं उनमें यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। धम्मपद में महाप्रज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह निरुक्ति और पदो का ज्ञाता (निरुत्ति-पदकोविदो') हो और 'अक्षरो के सन्निपात' (अक्खरान सन्निपात) अर्थात् शब्द-योजना से परिचित हो[2]। इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दो की निरुक्ति और व्याकरण सबधी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि साहित्य के प्राचीनतम युग में भी अवश्य रही होगी। सभवत इसी परम्परा का प्रवर्तन हमे नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस मे मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास कि भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य महाकच्चान (महाकात्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी, तत्सबधी साहित्य के अभाव में ठीक नही माना जा सकता। इसी प्रकार बोधिसत्त और सब्बगुणाकार नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा मे सुना जाता है आज उपलब्ध नही हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमे उपलब्ध है, तीन शाखाओ या सम्प्रदायो में विभक्त है (१) कच्चान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य (२) मोग्गलान व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण साहित्य (३) अग्गवस-कृत सद्दनीति और उसका उपकारी व्याकरण साहित्य। लंका और बरमा में ही इस प्रभूत पालि व्याकरण-सबधी साहित्य का प्रणयन सातवीं शताब्दी के बाद में हुआ है। अब हम उपर्युक्त तीनो सम्प्रदायो की परम्परा का अलग अलग विवेचन करेंगे।

गेचर जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३३।

१ यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धघोष ने शब्द निरुक्ति करते वक्त तिपिटक के अशो, विशेषत अभिधम्म पिटक का वय्याकरण कहा है देखिये सकल पि अभिधम्म पिटक त वय्याकरण ति वदितब्ब।' अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२ धम्मपद २४।१९।

और महत्त्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है जिनका काल ग्यारहवीं शताब्दी से पहले और कच्चान-व्याकरण की रचना (सातवीं शताब्दी) के बाद था। (२) न्यास की टीका स्वरूप न्यास प्रदीप बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे[1]। यह बरमी भिक्षु थे किन्तु इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। यह सिंहली भिक्षु सारिपुत्र के शिष्यों में से थे। इनकी अन्य रचनाओं का परिचय हम पहले दे चुके हैं। न्यास पर अन्य साहित्य भी उत्तरकालीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाता रहा[2]। छपद ने कच्चान व्याकरण साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया। (३) सुत्त निद्देस—छपद-कृत कच्चान व्याकरण की टीका-स्वरूप यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसका निश्चित रचना-काल ११७१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है[3]। (४) स्थविर संघ रक्खित (संघरक्षित) द्वारा रचित 'सबंध चिंता'। यह ग्रन्थ कच्चान-व्याकरण के आधार पर पालि पद योजना या शब्द संबंध का विवेचन करता है। पालि क्रियाओं और वाक्यों में उनके प्रयोग का विवेचन है और कारकों का भी। स्थविर संघरक्खित सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। अतः निश्चित रूप से इनका काल १२ वीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक थे। इन्होंने विनय साहित्य पर भी 'खुद्दसिक्खा' (क्षुद्रक शिक्षा रचयिता भिक्षु धर्मश्री—धम्मसिरि) के टीका स्वरूप 'खुद्दकसिक्खा टीका' लिखी थी। संबंधचिंता पर एक टीका भी पाई जाती है किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। कुछ के मतानुसार सबंध चिन्ता टीका के लेखक सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के ही शिष्य वाचिस्सर हैं। पगान के अभय नामक स्थविर ने सबंध चिन्ता पर एक टीका लिखी। (५) स्थविर सद्धम्मश्री (सद्धम्मसिरि) विरचित 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिन्ता)। यह ग्रन्थ बरमा में १२ वीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है। (६) स्थविर बुद्धप्रिय (दीपंकर) विरचित रूप सिद्धि या पद सिद्धि। स्थविर बुद्धप्रिय दीपंकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुये अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। 'पज्जमधु' के रचयिता स्थविर बुद्धप्पिय से, जो चोलिय दीपंकर भी कहलाते थे और सिंहली स्थविर आनन्द के शिष्य थे, यह सम्भवतः अभिन्न हैं। इनका काल इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही है[4]। 'रूपसिद्धि' सात

---

१ गन्धवंस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)।

२ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्तसार मंजूसा' नामक न्यास की टीका प्रसिद्ध है। देखिये मबिल बोड : दि पालि लिटरेचर आव बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)।

३ सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५ (भूमिका); मबिल बोड : दि पालि लिटरेचर आव बरमा, पृष्ठ १७, १८।

४ परन्तु श्रीमती मबिल बोड ने रूप सिद्धि को बारहवीं शताब्दी की रचना

परिच्छेदो में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चान व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है या उस पर आधारित है। रूप सिद्धि पर बुद्धप्रिय स्थविर ने ही एक टीका लिखी और सिंहली भाषा में उसका रूपान्तर भी किया गया। (७) बालावतार व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है। लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं।[१] यह भी कच्चान व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रन्थ धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) की रचना मानी जाती है। यह धम्मकीत्ति (धर्मकीर्ति) डा० गायगर के मतानुसार सद्धम्मसंगह के रचयिता धम्मकित्ति महासामि (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं जिनका जीवन काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।[२] 'गंधवंस' के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है।[३] वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर बालावतार का रचना काल भी उसी समय मानना पड़ेगा। परन्तु जैसा हम 'सद्धम्मसंगह' के प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं 'बालावतार' व्याकरण के रचयिता सिंहली भिक्षु धम्मकित्ति महाथेर हैं जिन्होंने सिंहली भाषा में 'निकाय संग्रह' और 'सद्धर्मालंकार' आदि ग्रन्थ भी लिखे और जिनका समय चौदहवीं शताब्दी ही है। ये 'सद्धम्म संग्रह' के रचयिता धम्मकित्ति महासामि से भिन्न थे। बालावतार व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात हैं। (८) पगान (बरमा) के भिक्षु कण्टकखिप नागित (या खण्टकखिप नागित) या केवल नागित विरचित 'सद्दसारत्थ जालिनी' नामक कच्चान व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गई। (९) 'कच्चायन भेद' नामक कच्चान व्याकरण की टीका जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में थातोन (बर्मा) के स्थविर महायस ने की। इन्हीं स्थविर की एक और व्याकरण सम्बन्धी रचना 'कच्चायन-सार' है।[४] 'गंधवंस' के वर्णनानुसार 'कच्चायन भेद' और 'कच्चायन सार' पर टीकाएं भी लिखी गईं। 'कच्चायन भेद' की दो टीकाएं अति प्रसिद्ध हैं[५] (१) 'सारत्थविकासिनी' जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग अरियालंकार नामक बरमी भिक्षु

माना है। देखिये उनकी दि पालि लिटरेचर आव बरमा पृष्ठ ३७।

[१] विशेषतः श्री धमाराम द्वारा सम्पादित पलियगोड १९०२ बालावतार गावा मलित गुणरत्न महास्थविर द्वारा सम्पादित कोलम्बो १८९३।

[२] पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृ० ४५ ५१।

[३] पृष्ठ ६२ ७१ (जर्नल आव पालि टेक्सट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

[४] सुभूति नाममाला पृष्ठ ८३ (भूमिका) मिलाइये बोड दि पालि लिटरेचर आव बरमा पृष्ठ ३६।

[५] पृष्ठ ७४ (जर्नल आव पालि टेक्सट सोसायटी १८८६ संस्करण)।

ने की, जो आवा के निवासी थे। (२) 'कच्चायनभेद महाटीका' जिसके रचयिता उत्तमसिक्ख (उत्तमशिक्ष) माने जाते हैं जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं। कच्चायन सार' पर स्वय इसके रचयिता महायम ने एक टीका लिखी थी। गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार पुराणटीका'[१] थी जो आज उपलब्ध है। सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है[२]। कच्चायन सार की एक और टीका कच्चायनसार अभिनव टीका या सम्मोहविनासिनी' पगान के भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गई।[३] (१०) पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य भाग मे कच्चान-व्याकरण पर 'सद्दविन्दु' (शब्द बिन्दु) नामक महाशक ग्रन्थ लिखा गया। सासनवस' के वर्णनानुसार अरिमद्दन (अरिमर्दन पगान—बरमा) का राजा क्यच्वा इसका रचयिता था।[४] सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५) बताया है।[५] सद्दविन्दु' पर लीनत्थ विसाधनी[६]' नामक टीका ञाणविलास (ज्ञान विलास) नामक बरमी भिक्षु द्वारा १६ वीं शताब्दी के अंतिम भाग म लिखी गई। (११) सोलहवी शताब्दी के मध्य भाग मे बालप्पबोधन' (बाल प्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनव चुल्लनिरुत्ति नामक व्याकरण म जिसके रचयिता या रचना काल के विषय मे कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कच्चान व्याकरण के नियमो के अपवादो के विवरण हैं। (१३) सत्रहवी शताब्दी के आदि भाग मे बरमी भिक्षु महा विजितावी या विजितावी न कच्चायन-वण्णना नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। कच्चान व्याकरण के सन्धिकप्प (सन्धि कल्प) का यह विवेचन है। 'कच्चान वण्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न समझना चाहिए। महाविजितावी न 'वाचकोपदेश नामक एक और व्याकरण ग्रन्थ की रचना की है जिसम उन्होंने व्याकरण शास्त्र का नयायिक दृष्टि से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का आज भी महत्त्व माना जाता है। (१४) धातुमञ्जूसा— कच्चान-व्याकरण के अनुसार धातुओ की सूची इस ग्रन्थ म सगृहीत की गई है। इस

---

१ पालि लिटरेचर एड लग्वेज पृष्ठ ५२।

२ नाममाला पृष्ठ ८४ ८५ (भूमिका)।

३ बोड दि पालि लिटरेचर आव बर्मा पृष्ठ ३६ ३७।

४ पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित सस्करण), देखिये बोड दि पालि लिटरेचर आव बमा पृष्ठ २५ भी।

५ नाममाला पृष्ठ ६१-६२ (भूमिका)। मिलाइये बोड दि पालि लिटरेचर आव बरमा पृष्ठ पद सकेत ४।

६ श्रीमती मबिल बोड ने इसका यही नाम दिया है। देखिये उनका दि पालि लिटरेचर आव बरमा पृष्ठ २८ पद सकेत ४। परन्तु गायगर न इसे लीन त्थसूदनी नाम स पुकारा है। पालि लिटरेचर एण्ड लग्वेज पृ[illegible] गायगर का य धार क्या है?

ग्रथ के अन्त म लेखक न अपना नाम स्थविर गीनत्तग (गीनत्तग) बताया है। यह एक पद्यबद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि धात्वर्थ के विषय म इस ग्रथ म काफी सहायता ली गई है।[1] फ्रा न पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रथ पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है[2]।

कच्चानव्याकरण के समान मोग्गल्लान या मोग्गल्लायन[3] व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। सवप्रथम मोग्गल्लायन व्याकरण का ही लेते हैं। इस व्याकरण का लका और बरमा म बडा आदर है। पालि-व्याकरणो म निश्चय ही इसका एक ऊचा स्थान है। कच्चान व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा उपादानो का इसमे अधिक विस्तृत रूप स सकलित और व्यवस्थित किया है। जसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है पालि व्याकरणो मे 'मोग्गल्लान व्याकरण पूर्णता तथा गभीरता म श्रेष्ठ है[4]। मोग्गल्लान व्याकरण मे ८१७ सूत्र है, जिनम सूत्र-पाठ धातु पाठ गणादि पाठ आदि सभी व्याकरण के विषयो का सर्वागपूर्ण विवेचन किया गया है। मोग्गल्लान व्याकरण की विषय वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप कृत 'महापाली व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वय हिन्दी मे पालि व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी की उच्चकोटि की रचना है एव मोग्गल्लान व्याकरण पर आधारित है। मोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागध सद्दलक्खण' भी है। ग्रथ के आदि म ही व्याकरणकार ने कहा है 'सिद्धमिद्धगुण साधु नमस्सित्वा तथागत। सधम्मसघ भासिस्स मागध सद्दलक्खण ॥ पाणिनि (४५० ई० पूव), कातत्र व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और अन्य प्राचीन पालि व्याकरणो का आधार लेने के अतिरिक्त मोग्गल्लान व्याकरण पर चन्द्रगोमिन् के चान्द्र-व्याकरण (सातवी शताब्दी ईसवी) का भी पर्याप्त प्रभाव उपलब्धित होता है। मोग्गल्लान व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोग्गल्लान महाथेर ने उसकी वृत्ति (वुत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर पञ्चिका या पजिका नामक पाडित्यपूर्ण टीका भी। मोग्गल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जसा भिक्षु जगदीश कादयप ने हम सूचना दी है परमपूज्य विद्वद्वर श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर को ताल पत्र पर लिखी पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लका के किसी विहार म मिल गई। उन्होने उसे सपादित कर विद्या लकार परिवेण लका से प्रकाशित करवाया[5]। निश्चय ही मोग्गल्लान व्याकरण और मोग्गल्लान पञ्चिका पालि व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज

[1] देखिये नाममाला, पृष्ठ ८५ (भूमिका)।

[2] देखिये गायगर पालि लिटरेचर एड लग्वेज, पृष्ठ ५६।

[3] पालि व्याकरण की दृष्टि स कच्चान, मोग्गल्लान और मोग्गल्लायन, इन शब्दो के ये दोनो रूप ही शुद्ध है।

[4] पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

[5] पालि महाव्याकरण पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)।

भी बडे आवश्यक ग्रथ हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वुत्ति) के अत मे व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमे मालूम होता कि मोग्गल्लान महाथेर अनुराधपुर (लका) के थूपाराम नामक विहार मे निवास करते थे और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना परक्कमभुज (पराक्रम बाहु) के शासन-काल मे की थी। विद्वानो का अनुमान है कि परक्कमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११८३ ११८६ ई०) से है जिनके शासन काल म लका म पालि साहित्य की बडी समृद्धि हुई। अत मोग्गल्लान महाथेर का काल बारहवीं शताब्दी का अतिम भाग ही मानना चाहिए।[1] मोग्गल्लान व्याकरण के आधार पर बाद म चलकर अन्य व्याकरण साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रथ ये हैं। (१) पद साधन जिसकी रचना मोग्गल्लायन के शिष्य पियदस्सी ने की। पियदस्सी मोग्गल्लायन के समकालिक ही थे। पद साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लायन के व्याकरण का ही सक्षिप्त रूप है। प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् ड जायसा का कथन है कि पियदस्सी के पद साधन' का मोग्गल्लायन व्याकरण के साथ वही सबध है, जो बालावतार का कच्चान व्याकरण के साथ।[2] १४७२ ई० म नित्थगाम (लका) के निवासी स्थविर श्री राहुल न जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी पद साधन पर पद साधन टीका या 'बुद्धिप्पसादिनी' नाम की टीका लिखी। (२) वनरतन मेधकर विरचित 'पयोग सिद्धि' (प्रयोग सिद्धि)—मोग्गल्लायन व्याकरण सप्रदाय पर लिखा गया यह सभवत सर्वोत्तम ग्रथ है। डे जायसा ने मोग्गल्लायन व्याकरण के साथ इसका वही सबध दिखाया है जो रूपसिद्धि का कच्चान व्याकरण के साथ है।[3] वनरतन मेधकर तेरहवी शताब्दी म हुए। जिन चरित' के रचयिता के रूप म हम उनके काल का पहले विवेचन कर चुके हैं। वे भुवनकबाहु प्रथम (१२७७ १२८८) के समकालिक थे। अत उनका जीवन काल तेरहवीं शताब्दी है। यहा यह ध्यान म अवश्य रखना रखना चाहिए कि 'प्रयोग सिद्धि' कार और जिन चरित' कार मेधकर इसी नाम के लोकप्पदीपसार के कवि से भिन्न हैं। पहले मेधकर (या वनरतन मेधकर) भिक्षु सिंहली थे और दूसरे मेधकर बर्मी जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं। गायगर प्रयोग सिद्धि के रचयिता वनरतन मेधकर को जिन चरित के इसी नाम के लेखक से भिन्न समझते हैं[4] जिसे हम पहले ही अस्वीकार कर चुके हैं। हमने दोनो को एक ही व्यक्ति मानना उचित समझा है। (३) मोग्गल्लान पञ्चिका प्रदीप' (या मोग्गल्लान-पञ्जिका प्रदीप)—'मोग्गल्लान पञ्चिका' की व्याख्या है। पदसाधन-टीका

---

१ मोग्गल्लान-व्याकरण का देवमित्त द्वारा सम्पादित सस्करण कोलम्बो १८९०, प्रसिद्ध है। अन्य भी बरमी और सिंहली सस्करण उपलब्ध हैं।

२ कटेनाग पृष्ठ २८।

३ केटेनाग, पृष्ठ २७ मिलाइये मललसेकर दि पालि लिटरेचर आव सिलोन पृष्ठ २३१।

४ पालि लिटरेचर एण्ड लैग्वेज पृष्ठ ५४।

सक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यबद्ध न होकर यह गद्य मे है। सम्भवत काल-क्रम मे यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु मजूषा' मे इसी का आश्रय लिया गया है।[1] धातु पाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय मे अभी कुछ ज्ञात तो नही हो सका है।[2]

पालि व्याकरण का तीसरा सम्प्रदाय 'सद्दनीति' का है। यह बरमा मे रचित पालि व्याकरण है। बरमा मे भी सिंहल की ही तरह और उसी से प्रेरणा लेकर पालि व्याकरण के अध्ययन की महती परम्परा चली जिसके पूर्ण विकास को हम 'सद्दनीति' मे देखते हैं। कहा जाता है कि 'सद्दनीति' की प्रति जब श्री लका के महा विहार म उत्तरजीव (छपद के गुरु) उसके लिये जान के कुछ ही समय पश्चात ले गये, तो वहा के भिक्षुओं ने इसकी भूरि भूरि प्रशसा की और स्वीकार किया कि निश्चय ही इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहा कोई नही है।[3] इसकी रचना सन् ११५४ ई० मे हुई। इसके रचयिता पगान के निवासी बरमी भिक्षु अग्गवस थे जो 'अग्गपडित तृतीय' भी कहलाते थे। अग्ग पडित द्वितीय उनके चाचा थे जो 'अग्गपडित प्रथम (महा अग्ग पडित) के शिष्य थे। प्रथम अग्ग पडित 'लाकुत्पत्ति' के रचयिता थे। अग्गवस बरमी राजा नरपति सिथु (११६७ १२०२) के गुरु थे। अग्गवस कृत 'सद्दनीति' एक प्रकार से कच्चान व्याकरण पर ही आधारित है।[4] मोग्गल्लान-व्याकरण तो सम्भवत उसके बाद की ही रचना है। सस्कृत व्याकरण का ही अग्गवस ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त मे स्वय कहा है कि पूर्व आचार्यों (आचरिया) और तिपिटक साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दनीति' एक पाडित्यपूर्ण व्याकरण है। बरमा मे वह शास्त्र की तरह पूजित है। इस ग्रन्थ मे सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा सद्दनीति' और शेष ९ अध्याय 'चूल-सद्दनीति' कहलाते हैं। 'पदमाला', 'धातुमाला' और 'सुत्तमाला', इन ३ भागो में सम्पूर्ण सद्दनीति-व्याकरण विभक्त है। 'धातुमाला' मे लेखक ने पालि रूपो के सस्कृत प्रतिरूप भी दिये हैं।

धात्वत्थदीपनी नाम की पद्यबद्ध धातु सूची मे सद्दनीति व्याकरण के अनुसार धातुओं का सकलन किया गया है। कच्चान व्याकरण की धातुसूची 'धातु मजूसा' और मोग्गल्लान व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमे भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। इसके लेखक और उसके काल का ठीक पता नही है। इसके अतिरिक्त 'सद्दनीति' पर और कोई विशेष साहित्य

---

१ गायगर पालि लिटरेचर एड लग्वेज पृष्ठ ५६।

२ 'मोग्गल्लान पचिका' (मोग्गल्लान पजिका) पर 'सारत्थविलासिनी' या 'सुसद्दसिद्धि' नामक टीका सिंहली भिक्षु सघरक्खित ने लिखी ऐसी सूचना मललसेकर ने दी है। देखिए उनकी दि पालि लिटरेचर आव सिलोन पृष्ठ २०० २८४।

३ मेबिल बोड दि पालि लिटरेचर आव बरमा पृष्ठ १६ १७।

४ यह फ्रके का मत है जिसे गायगर ने पालि [illegible] लग्वेज, पृ० ५५ मे उद्धृत किया है।

नहीं है।

उपयुक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण साहित्य उत्पन्न है जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं रक्खा जा सकता किन्तु जो पालि व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सुभूति द्वारा सङ्कलित नाममाला (पालि व्याकरण पर सिंहली भाषा में लिखित ग्रन्थ) या ड जायसा के केटलाग (दि केटलाग ग्रव दि टमिल नाइजेरीज ग्राव मिलान) में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे —

(१) पगान (बरमा) के निवासी भिक्षु सामणेर धम्मदस्सी का वच्चवाचक या वाचवाचक चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने की।[1]

(२) मगल कत गन्धट्ठि जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इसकी रचना भी पगान में हुई।[2] इन बर्मी भिक्षु मगल को उन महामगल नामक सिंहली भिक्षु से पृथक समझना चाहिए जो बुद्धघोसुप्पत्ति के रचयिता थे, यद्यपि दोनों का एक ही समय है।

(३) अरियवस कत गन्धाभरण (गन्थाभरण या गण्डाभरण भी) उपसर्गों का विवेचनात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना १५३४ ई० में हुई।[3] सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दियों में इस पर बर्मी विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गईं।

(४) विभत्यत्थप्पकरण—२७ श्लोकों की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन करती है। सुभूति ने सासनवंस का अनुसरण कर माना है कि इसकी रचना बरमी राजा क्यच्चा की पुत्री ने १४८१ ई० में की। इस पर बाद में विभत्त्यत्थ टीका या विभत्यत्थदीपनी के नाम से एक टीका लिखी गई। सम्भवत ये दो अलग अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका विभत्तिकथा वण्णना के नाम से इस रचना पर लिखी गई। विभत्यत्थ नाम से एक रचना चौदहवीं शताब्दी के पगान के प्रसिद्ध भिक्षु सद्धम्मञाण की भी बताई जाती है। उन्होंने कातन्त्र व्याकरण का पालि में अनुवाद भी किया।

(५) सवण्णनायदीपनी—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुधज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गई। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ निरुत्ति सग्रह और सवण्णायदीपनी भी प्रसिद्ध हैं।[4]

---

१ मेबिल बाड दि पालि लिटरेचर ग्राव बरमा पृष्ठ २२।

२ वही पृ० २६। ३ वही पृ० ४३।

४ देखिए गायगर पालि लिटरेचर एड लैंग्वेज पृष्ठ ५७। मिलाइए बाड दि पालि लिटरेचर ग्राव बरमा पृष्ठ २५।

५ मेबिल बाड दि पालि लिटरेचर ग्राव बरमा पृष्ठ ५५।

(६) सद्दवुत्ति (शब्दवृत्ति), जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में सद्धम्मपाल नामक पगान (बर्मा) के भिक्षु ने या इसी शताब्दी के सद्धम्मगुरु नामक पगान (बर्मा) के निवासी भिक्षु ने की।[1] डे जायसा ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६५६ ई० माना है।[2]

(७) कारकपुप्फमंजरी—पालि शब्द योजना पर लिखित यह रचना लंका (लंका) के अत्तरगम बंडार राजगुरु नामक लेखक की है जो सरणंकर संघराज के शिष्य थे। लंका के राजा कीर्ति श्रीराजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गई।[3]

(८) सुधीरमुखमंडन—यह रचना पालि समास पर है।[4] इसके लेखक 'कारकपुप्फमंजरी' के समान ही हैं।

(९) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।[5]

(१०-१२) सद्दबिन्दु (नारद थेर), सद्दकलिका, सद्दविनिच्छय आदि अनेक ग्रन्थ पालि व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

लंका और बरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण संबंधी जो गहरी तत्परता और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ राशि हम देखते हैं, जिसका किंचित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा सका है। उसका वास्तविक महत्त्वांकन क्या है? निश्चय ही पालि व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपिटक साहित्य एवं संस्कृत-व्याकरण ही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः इनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता जो आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु न्यास, रूप सिद्धि, सद्दनीति और बालावतार जैसे व्याकरण पांडित्य की दृष्टि से किसी भी देश या साहित्य में रचित व्याकरण ग्रन्थों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चित ही, जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है मोग्गल्लान व्याकरण की गिनती पाणिनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान् वैयाकरणों में करनी होगी।[6] भारतीय मूल स्रोत से इतने अलग रहकर भी इन बरमी और सिंहली आचार्यों ने संस्कृत में समकालिक पालि भाषा का कितना सुन्दर और

---

१ मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर आव बरमा, पृष्ठ २९, ४६।

२ केटेलाग, पृष्ठ २७।

३ जायसा : केटेलाग, पृष्ठ २४; देखिए मललसेकर : दि पालि लिटरेचर आव सिलोन, पृष्ठ २८३ भी।

४ जायसा : केटेलाग, पृष्ठ २८।

५ जायसा : केटेलाग, पृष्ठ २५; देखिए गायगर : पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।

६ पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पडता है। सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गई हो इसका साक्ष्य इतिहास नही देता। यह एकता राजाओं के दरबारो में न डाली जाकर भिक्षु परिवेणो में डाली गई और इसकी मूल प्रेरणा थी अपने शास्ता के धम्म को 'सात्थ सव्यंजन' समझने की गहरी जिज्ञासा। इसीलिए वह इतनी स्थायी भी हुई है। यह कितनी विडम्बना की बात है कि जिस पालि भाषा को हमारे प्रचीन व्याकरणो ने नाम से भी नही जाना उसी का इतना गहन अनुशीलन दूसरे देशो मे हुआ। एक ही ग्रंथ (मोग्गल्लानपंचिका प्रदीप) का अंशत पालि और अंशत सिंहली में लिखा जाना भारत और सिंहल के उस गौरवमय संबंध का सूचक है जिसकी नीव बौद्धधर्म ने डाली थी और जिसे उसके साहित्य ने दृढ किया है। भारत और स्वयं मध्य मंडल (शास्ता की विचरण भूमि) में पालि अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देखकर इन दूरस्थित बौद्ध बन्धुओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।[1] कारण इन्होने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रक्खा है इन्होने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया हैं। उनका पालि व्याकरण संबंधी प्रभूत कार्य इसका एक बाह्य साक्ष्य मात्र है।

पालि साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोश हैं, मोग्गल्लान कृत अभिधानप्पदीपिका[2] और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति) कृत एकक्खर कोस।[3] अभिधानप्पदीपिका (अभिधानप्रदीपिका) तीन भागों या काडो मे विभक्त है (१) सग्गकंड (स्वर्ग-काण्ड) जिसमे देवता बुद्ध शाक्यमुनि देव-योनि इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है। (२) भूकंड (भू-काण्ड) जिसमे पृथ्वी आदि संबंधी शब्दों के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है। (३) सामञ्ञकंड (श्रामण्य काण्ड) जिसमे प्रव्रज्या संबंधी आदि शब्दों के पर्यायवाची शब्दो का संकलन है।

---

१ वस्तुत हमसे अधिक पालि भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानो ने ही किया है जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए हैं। उनके इस संबंधी कार्य और उनकी व्याकरण संबंधी रचनाओं के परिचय के लिए देखिए गायगर पालि लिटरेचर एण्ड लंग्वेज पृष्ठ ५९ ६० तथा हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ ६३८ ६४०, लाहा ने पाश्चात्य विद्वानो के साथ साथ भारतीय विद्वानो के भी इस संबंधी कार्य का विवरण दिया है। बाद को प्रकाशित होने के कारण सम्भव है पालि महाव्याकरण (भिक्षु जगदीश काश्यप कृत) का उल्लेख वहाँ नहीं किया जा सका है। पालि व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह निधि का महत्त्वपूर्ण देन है।

२ सुभूति द्वारा संपादित द्वितीय संस्करण कोलम्बो १८८३ नागरी लिपि में मुनि जिनविजय द्वारा संपादित गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर अहमदाबाद सं० १९८०।

३ मुनि जिनविजय द्वारा संपादित उपर्युक्त 'अभिधानप्पदीपिका' के संस्करण 'एकक्खर कोस' भी सम्मिलित है अभिधानप्पदीपिका पृष्ठ ११७ १३०।

यह कोश पर्यायवाची शब्दों का सकलन ही है। ग्रंथ के अन्तिम भाग म ऐसे शब्दो की सूची है जो सदृश रूप वाले किन्तु भिन्नार्थक हैं। साथ ही अविभक्तिक उपसर्गों की सूची भी है। बरमा और सिंहली म इस ग्रंथ की रचना सस्कृत के अमर कोश के आधार पर हुई है। शैली और प्रक्रिया बिल कुल वही है।[1] जसा अभी कहा जा चुका है अभिधानप्पदीपिका मोग्गल्लानथेर की रचना है। यह स्थविर लकानिवासी भिक्षु थे। अभिधानप्पदीपिका म इन्होंने कहा है कि लकाधिपति परक्कम भुज नामक भूपाल के शासन काल म इन्होंने इस ग्रंथ की रचना की।[2] वहीं इन्होंने अपना निवास स्थान पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) मे 'महाजेतवन' नामक विहार बताया है।[3] जिस परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन काल म मोग्गल्लान स्थविर ने अभिधानप्पदीपिका' की रचना की वह विद्वानो के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासन-काल ११५३ ११८३ ई० ह और जिसके समय पालि के टीका साहित्य की अद्भुत समृद्धि हुई। अत मोग्गल्लान थेर का भी यही समय है। अभिधानप्पदीपिका के लेखक स भिन्न समझना चाहिए। वयाकरण मोग्गल्लान जैसा हम पहल देख चुके ह अनुराधपुर के थूपराम नामक विहार म रहत थे, जब कि कोशकार मोग्गल्लान ने अपना निवास स्थान पुलत्थिपुर या पोलोन्नरुवा का महाजेतवन विहार बतलाया है। गन्धवस मे कोशकार मोग्गल्लान को नवमोग्गल्लान कहा गया है[4] और वह निश्चयत वयाकरण मोग्गल्लान से उसकी भिन्नता दिखाने के लिए ही। चौदहवी शताब्दी के मध्य भाग म बर्मी राजा कित्तिसीहसूर (कीर्तिसिंह शूर) के शासन-काल म एक उच्च राजकीय पदाधिकारी द्वारा अभिधानप्पदीपिका पर 'सवण्णना' नामक टीका लिखी गयी। अठारहवीं शताब्दी मे बर्मी आणवर न अभिधानप्पदीपिका का बर्मी भाषा म अनुवाद किया। सिंहल म भी अभिधानदीपिका पर सन्न और 'टीका' लिखे गये जिनमे सन्न अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। 'एकक्खरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्त्ति) की रचना है। यह अरियवस के शिष्य थे। १४६५ ई० मे इस कोश की रचना की गई। यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दो की पद्यबद्ध सूची है। सस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोष का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसम अन्त म आता है—इति सद्धम्मकित्तिना महाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचितं एकक्खर-कोस नाम सद्दप्पकरणं परिसमत्तं। (सद्धर्मकीर्ति नामक महास्थविर द्वारा सस्कृत भाषा स रूपान्तरित करके विरचित एकाक्षरकोश नामक शब्द प्रकरण समाप्त)।

---

१ देखिए मललसेकर दि पालि लिटरेचर आव सिलोन पृष्ठ १८८ १८९।

२ परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो। लकायमासि तेजस्वी जयी केसरी विक्कमो॥ पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा सपादित नागरी सस्करण)।

३ सुभूति के सस्करण के अनुसार। परन्तु देवनागरी सस्करण मे पाठ है—महाजेतवनाख्यम्हि विहारे साधुसम्मते। सरोगामसमूहम्हि वसता सन्तवुत्तिना॥ सद्धम्मट्ठितिकामेन मोग्गल्लानेन धीमता। थेरेन रचिता एसा अभिधानप्पदीपिका॥ पृष्ठ १५६। यहाँ लत्थिपुर का उल्लेख नहीं है। ४ पृष्ठ ६२।

का प्राकृतलक्षण है, जिसमे ९९ सूत्रा म प्राकृत का विवेचन है। य सूत्र तीन अध्याया म विभक्त हैं। स्पष्ट ही यह विवचन बहुत सक्षिप्त है। मागधी तथा पैशाची पर तो क्वल एक एक सूत्र ही हैं। कुछ लागो की यह भी मायता है कि इस व्याकरण का प्राप्त रूप बहुत पुराना नहीं है।

प्राकृत का सबस अच्छा और लाकप्रिय व्याकरण वररुचि (छठी सदी) का प्राकृतप्रकाश है, जिसम कुल लगभग ५०० सूत्र है। ग्रथ १२ परिच्छेदा मे विभक्त है। प्रथम ९ परिच्छेदा म परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत (महाराष्ट्री) १०वें म पैशाची ११वें म मागधी तथा १२वें म शौरसेनी प्राकृत का विवेचन है। कुछ लोग प्राकृत प्रकाश का प्राचीनतम प्राकृतव्याकरण मानत हैं। प्राकृतप्रकाश पर कई टीकाए लिखी गई जिनम कात्यायन कृत प्राकृतमजरी (सातवी सदी) भामहकृत मनोरमा (आठवी सदी), वसतराजकृत प्राकृतसजीवनी (१४वीं सदी) सदानदकृत सदानदा तथा नारायणविद्याविनोद कृत प्राकृतपाद मुख्य हैं। रामपणिवाद ने कर्पूर मजरी गाहासत्तसई तथा कसवहो आदि स उद्धरण प्रस्तुत करत हुए इस पर टीका लिखी है। अग्रेजी (दिनशचद्र सरकार) गुजराती (के पी० त्रिवेदी) तथा हिन्दी (मथुराप्रसाद दीक्षित) आदि म इसके अनुवाद भी हो चुके हैं। इसके नियमा क स्पष्टीकरण के लिए चिह्नकाव्य नामक काव्य (केरल निवासी कृष्णलीलाशुक द्वारा) लिखा गया। प्राकृतप्रकाश के १०वें ११वें अध्याय भामह या अय किसी टीकाकार के माने जाते हैं। १२वा भी कदाचित् बाद का है।

लकेश्वर का ३४ सूत्रा का एक छाटा सा प्राकृत व्याकरण प्राकृतकामधेनु आज उपलब्ध है जिसके मगलाचरण स सकेत मिलता है कि लकेश्वर के किसी विस्तृत प्राकृत व्याकरण का यह सक्षिप्त रूप है।

हेमचन्द्र (१०८८ ११७२ ई०) के प्रसिद्ध व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवा अध्याय प्राकृता पर है। इस पर हेमचद्र (मूल लेखक), उदयसौभाग्य गणि नरचन्द्रसूरि आदि की वृत्तिया तथा टीकाए है। पहल तीन तथा आंशिक रूप म चौथे पाद म आप प्राकृत तथा चौथ के शेष भाग म शौरसेनी मागधी अर्ध मागधी पैशाची चूलिका पैशाची तथा अपभ्रश का विवेचन है।

क्रमदीश्वर (१२वी १३वी सदी) न सक्षिप्तसार नामक एक सस्कृत प्राकृत व्याकरण लिखा जिसके आठवें अध्याय प्राकृतपाद म प्राकृत का विवेचन है। वररुचि के प्राकृतप्रकाश पर आधारित इस प्राकृत पाद पर क्रमदीश्वर (मूल लेखक) तथा चडीदवशर्मा की टीकाए मिलती हैं।

पुरुषोत्तम (१२वी सदी) न प्राकृतानुशासन नामक प्राकृत व्याकरण २० अध्याया म लिखा था जिसके प्रथम दो अध्याय अनुपलब्ध हैं तथा तीसरे का भी प्रारम्भिक अश अप्राप्य है। प्राप्त ४९७ सूत्रा के आधार पर अनुमान लगता है कि पूरा व्याकरण लगभग ७०० सूत्रा का रहा होगा। प्रारम्भ म आठ अध्याय परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत के हैं तथा ९वें स १९वें तक क्रमश शौरसेनी प्राच्या, आवन्ती मागधी शाकारी चाडाली शाबरी टक्की के हैं। १९वें २०वें म वे क्रमश

पैशाची के दो भेदों—कैकेय तथा शौरसेनी—का किया गया है।

त्रिविक्रम (१३वीं सदी) कृत प्राकृत व्याकरण प्राकृतशब्दानुशासन है। यह हेमचंद्र पर मुख्यतः आधारित है। इसके सूत्र रामायण के रचयिता वाल्मीकि द्वारा रचित प्राकृत व्याकरण (जिसका नाम प्राकृत सूत्र या वाल्मीकि सूत्र था) के सूत्र माने जाते हैं। स्वयं त्रिविक्रम ने इन पर वृत्ति (प्राकृतसूत्रवृत्ति) लिखी है। ग्रंथ में तीन अध्याय तथा बारह (हर अध्याय में चार) पाद हैं। पहले दूसरे तथा तीसरे (केवल प्रथम पाद) अध्याय में प्राकृत के परिनिष्ठित साहित्यिक रूप का विवेचन है और उसके बाद शौरसेनी मागधी पैशाची तथा चूलिका पैशाची का लिया गया है।

सिंहराज (१५वीं सदी) का प्राकृत व्याकरण 'प्राकृतरूपावतार' है। इसे भी वाल्मीकि द्वारा रचित माना जाता रहा है। ६ भागों में इस व्याकरण में २२ अध्याय हैं। प्रथम १७ में परिनिष्ठित प्राकृत १८वें में शौरसेनी १९वें में मागधी, २०वें में पैशाची २१वें में चूलिका पैशाची तथा २२वें में अपभ्रंश है। इस व्याकरण का आधार त्रिविक्रम का प्राकृतशब्दानुशासन है।

रामशर्मा (१७वीं सदी) ने प्राकृतकल्पतरु नामक प्राकृत व्याकरण पूर्ववर्ती कई व्याकरणों (मुख्यतः प्राकृतानुशासन) के आधार पर लिखा। इसमें तीन शाखाएँ हैं। पहली में दस स्तबकों में महाराष्ट्री का विवेचन है। दूसरी शाखा तीन स्तबकों की है जिसमें शौरसेनी प्राच्या आवन्ती बाह्लीकी, मागधी अर्धमागधी दाक्षिणात्या तथा विभाषाओं (शाकारिका चाण्डालिका शाबरी आभीरिका टक्की) का संक्षिप्त विवेचन है। तीसरी में अपभ्रंश के कुछ रूपों (नागर व्राचड) के अतिरिक्त पैशाची का वर्णन है।

मार्कंडेय (१७वीं सदी) ने शाकल्य कोहल वररुचि (महाराष्ट्री वाला भाग इस पर आधारित है) भामह आदि के आधार पर प्राकृतसर्वस्व की रचना की। इस में २० पाद हैं। प्रथम आठ में महाराष्ट्री ९वें में शौरसेनी १०वें में प्राच्या ११वें में आवन्ती और बाह्लीकी १२वें में मागधी अर्धमागधी १३वें से १६वें तक विभाषाओं (शाकारी चाण्डाली शाबरी औड्री आभीरिका टक्की) १७ १८वें अपभ्रंश तथा १९-२०वें में पैशाची के तीन रूप (कैकेय, शौरसेन, पांचाल) विवेचित हैं।

लक्ष्मीधर (१६वीं सदी मध्य) की षड्भाषाचन्द्रिका में महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी, पैशाची, चूलिकापैशाची, और अपभ्रंश का विस्तृत विवेचन है। यह त्रिविक्रम तथा हेमचंद्र पर मुख्यतः आधारित है।

अप्पयदीक्षित (१५५३ १६३६ ई०) ने त्रिविक्रम हेमचंद्र लक्ष्मीधर के आधार पर प्राकृतमणिदीप नामक प्राकृत व्याकरण लिखा जिस पर श्रीनिवास गोपालाचार्य ने संस्कृत में टीका लिखी।

रघुनाथ (१८वीं सदी) के प्राकृतानंद में ४१९ सूत्र हैं जो मूलतः प्राकृत प्रकाश पर आधृत है।

विष्णुधर्मोत्तर में मार्कण्डेय उवाच करके ११ श्लोकों में प्राकृत लक्षण दिए गए हैं।

इनके अतिरिक्त वसतराज की प्राकृतसजीवनी भामकवि की षडभाषाचद्रिका दुर्गणाचार्य की षड्भाषारूपमालिका तथा षड्भाषामजरी, हृषीकेश का प्राकृत व्याकरण शुभचद्र (१६वी सदी) का शब्दचिंतामणि, श्रुतसागर (१६वी सदी) का औदार्यचिंतामणि, समन्तभद्र का प्राकृत व्याकरण रघुनाथ की प्राकृतयुक्ति नरसिंह की प्राकृतशब्द प्रदीपिका, शेषनाग का प्राकृतव्याकरणसूत्र कृष्ण पडित की प्राकृत चद्रिका वामनाचार्य की प्राकृतचद्रिका षडभाषासुबतादर्श प्राकृतकौमुदी, भाषा कवि षडभाषाविचार आदि अनेक ग्रथ ग्रथो म भी प्राकृतो का विवेचन है। कहा जाता है कि पाणिनि न भी प्राकृतलक्षण नामक एक व्याकरण लिखा था।

प्राचीन भारतीय परम्परा म ममवेनत लगभग चालीस प्राकृत व्याकरण ई री ४थी सदी से १८वी सदी तक लिखे गए। य सारे के सारे व्याकरण प्राय सस्कृत व्याकरणो की सूत्र शैली पर हैं। सस्कृत के इस अनुगमन के तीन कारण हैं (क) प्राकृत के वैयाकरणो म पाणिनि पतजलि जसा कोई प्रतिभाशाली वयाकरण नही हुआ जो व्याकरणलेखन की किसी नइ पद्धति की खोज करता। (ख) सस्कृत की वह प्रौढ परम्परा विद्वत्समाज के मस्तिष्क मे इतनी छा गइ थी कि उससे हटकर सोचना प्राय सभव नही था। (ग) सबस बडी बात यह है कि वह जानी परखी सस्कृत परम्परा भाषा विश्लेषण के लिए इतनी कारगर सिद्ध हुई थी कि उसे छोडन का कोई कारण या आवश्यकता भी नहा था।

प्राकृत व्याकरणो न सस्कृत की परपरा अपनाई तो किन्तु सस्कृत व्याकरणो की भाति वे बहुत व्यापक नही बन पाए। उदाहरण के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी पूरा लौकिक सस्कृत साहित्यिक पर लागू होती है किन्तु प्राकृत का कोई भी एसा व्याकरण नही है जिसने सभी प्राकृतो के पूरे आयाम को समेट लिया हो। प्राकृत वयाकरणो म मुख्य वररुचि हेमचद्र तथा पुरुषोत्तम हैं किन्तु किसी न भी सभी प्राकृतो की पूरी सरचना का विश्लेषण नही किया है। सबसे प्रामाणिक माना जान वाला वररुचि का प्राकृतप्रकाश भी अश्वघोष के नाटको को प्राकृत को तथा अर्धमागधी म रचित जैन आगमो आदि को नही समेटता। इस कमी के मुख्य कारण निम्नांकित हैं (क) सस्कृत के अध्ययन विश्लेषण की प्रौढ परम्परा प्राकृत के लिए नही बनी। जब प्राकृत पर अध्ययन को केंद्रित करन की आवश्यकता थी तब भी लोग सस्कृत मे ही व्याकरण लिखन म लगे रहे। (ख) वैयाकरणो म सस्कृत व्याकरण लिखना ही कदाचित् विद्वत्ता का लक्षण माना जाता था इसीलिए हेमचद्र आदि कइयो न सस्कृत पर लिखते लिखते प्राकृत पर भी विचार कर दिया। (ग) प्राकृतो के इतन अधिक क्षेत्रीय रूप विकसित हो गए थे कि सभी को समेटना बडा कठिन काम था। उसके लिए आधुनिक अर्थों म सुव्यवस्थित भाषा-सर्वेक्षण की आवश्यकता थी जिसका प्रारम्भ उस काल तक नही हुआ था। (घ) प्राकृत भाषा अपन आप तक विकसित होती रही और साहित्य म भी उसके नवविकसित रूपो का प्रयोग होता रहा इस कारण भी, कम स कम उसके प्रयोग काल के वयाकरण उसे पूरी तरह समेटन म असमर्थ थे। (ङ) प्राकृत के प्राप्य व्याकरणो मे केवल चड और वररुचि के ही ऐसे हैं जो उस

समय लिखे गए जब प्राकृत बोलचाल की भाषा थी शेष सारे बाद में बोलचाल में इसका प्रयोग समाप्त हो जाने पर लिखे गए। और इस सम्पूर्ण प्राकृत वाङ्मय का भाषिक विश्लेषण करने का अवसर नहीं मिला न तो इस विश्लेषण के प्रति कोई विशेष आकर्षण का कारण ही था। राज दरबारों में संस्कृत को जो सम्मान प्राप्त था वह प्राकृत को कभी नहीं मिला। गरुडपुराण (९८।१७) में तो प्राकृत पठन सुनने का निषेध किया गया है

नोच्चरेत न शृणुयाच्च प्राकृत म्लेच्छभाषितम ।
श्रोतव्य द्विजेनतद् अधो नयति तद् द्विजम ।।

प्राकृत व्याकरणों की दो धाराएँ (schools) मिलती हैं (१) पूर्वी (२) पश्चिमी। पूर्वी को वररुचि धारा भी कह सकते हैं क्योंकि इस धारा के प्रमुख वैयाकरण ये ही हैं। पूर्वी में अन्य वैयाकरण लंकेश्वर क्रमदीश्वर वसंतराज पुरुषोत्तम रामशर्मा, मार्कण्डेय आदि हैं। पश्चिमी धारा में प्राचीनतम वैयाकरण रामायणकार वाल्मीकि माने जाते हैं किन्तु उनका व्याकरण (जिसका नाम प्राकृत सूत्र या वाल्मीकि सूत्र था) अपने मूल रूप में आज प्राप्त नहीं है। कुछ लोगों ने इस धारा को वाल्मीकिधारा कहा है। मेरे विचार में इस धारा को हेमचंद्रधारा कहना अधिक समीचीन है क्योंकि ये ही इस धारा के सबसे बड़े तथा (प्राप्त) सबसे पुराने आचार्य हैं। त्रिविक्रम लक्ष्मीधर सिंहराज तथा अप्पय दीक्षित इस धारा के अन्य वैयाकरण हैं।

इन दोनों धाराओं में मुख्य अन्तर गणों का है। इसके अतिरिक्त और भी अन्तर हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमी धारा के वैयाकरणों ने जिसे पैशाची कहा है वह पूर्वी धारा की पैशाची से भिन्न है। पश्चिमी धारा में पैशाची की कई उपशाखाएँ भी बताई हैं तथा पूर्वी धारा की पैशाची को अप्रामाण्यपूर्ण मानते हुए उसे चूलिका पैशाची नाम से अभिहित किया गया है। पूर्वी धारा में पैशाची की तीन उपशाखाएँ मिलती हैं। दोनों धाराओं की पैशाची उपशाखाओं में समानता रही है।

प्राकृत व्याकरणों के बारे में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि प्राकृत के सारे व्याकरण संस्कृत में लिखे गए हैं प्राकृत भाषा में नहीं। शायद श्रुतिसागर सूरि ने प्राकृत का एक व्याकरण प्राकृत भाषा में लिखा था किन्तु वह अब उपलब्ध नहीं है।

अपभ्रंश के अध्ययन की प्राचीन सामग्री

भारत की प्राचीन भाषाओं में अपभ्रंश की ओर प्राचीन वैयाकरणों का सबसे कम ध्यान गया है। यही कारण है कि संस्कृत, पालि, प्राकृत के स्वतन्त्र व्याकरण तो कई लिखे गए किन्तु अपभ्रंश का कोई भी पुरानी परम्परा का स्वतन्त्र व्याकरण नहीं लिखा गया। अपभ्रंश के जो थोड़े-बहुत व्याकरणिक विश्लेषण हुए वे केवल प्राकृत के व्याकरणों में। इस दृष्टि से सबसे पहला नाम चन्द्र का आता है। चन्द्र (३री ४थी सदी) ने अपने ग्रन्थ प्राकृतलक्षण में एक सूत्र अपभ्रंश पर भी लिखा। इसी प्रकार लंकेश्वर के प्राकृतकामधेनु में भी अपभ्रंश पर एक ही सूत्र है। अपभ्रंश का सबसे विस्तृत विश्लेषण हेमचन्द्र (१२वीं सदी) ने अपने सिद्धहेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय में किया है। इसके चौथे पाद में एक सौ अट्ठारह (३२९ से ४४७) सूत्रों में अपभ्रंश का विश्लेषण है। पुरुषोत्तम (१२वीं सदी) ने अपने प्राकृतानुशासन के १७वें अध्याय में ६० सूत्रों में नागर अपभ्रंश का तथा १८वें अध्याय में २३ सूत्रों में व्राचड अपभ्रंश का वर्णन किया है। त्रिविक्रम (१३वीं सदी) के प्राकृतशब्दानुशासन के तीसरे अध्याय के ३, ४ पादों में अपभ्रंश का विवेचन है। सिंहराज (१५वीं सदी) के प्राकृतरूपावतार के २२वें अध्याय में भी अपभ्रंश से सम्बद्ध सूत्र हैं। रामशर्मा (१७वीं सदी) ने प्राकृतकल्पतरु की तीसरी शाखा के प्रथम स्तबक में नागर अपभ्रंश तथा द्वितीय में व्राचड अपभ्रंश का विश्लेषण किया है। मार्कण्डेय (१७वीं सदी) के प्राकृतसर्वस्व के १७वें १८वें पाद में नागर व्राचड तथा उपनागर अपभ्रंशों का विवेचन है। इनके अतिरिक्त लक्ष्मीधर तथा भाम कवि की षड्भाषाचन्द्रिका और दुर्गणाचार्य की षड्भाषारूपमालिका तथा षड्भाषामंजरी आदि में भी अपभ्रंश पर विचार किया गया है।

हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन

आचार्य हेमचन्द्रसूरि (१०८८ ११७२ ई०) संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के महान वैयाकरण हुए हैं। इनका जन्म गुजरात के प्रमुख नगर अहमदाबाद में हुआ था। इनका जन्म नाम चांगदेव था। हेम के समान कांति तथा चन्द्र के समान आह्लादकारी होने के कारण इन्हें हेमचन्द्र नाम से अभिहित किया गया था। हेमचन्द्र जैन मत के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। जैन ग्रन्थों में इन्हें कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। उन्होंने व्याकरण, न्याय, छन्द, काव्य, धर्म आदि कई विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है। अभिधान चिंतामणि, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, देशी-नाम माला, द्वयाश्रय काव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, शब्दानुशासन आदि उनके मुख्य ग्रन्थ हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनि, वररुचि, भट्टोजिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही किया है। उनका ग्रन्थ 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का व्याकरण है। उनके इस व्याकरण पर महाभाष्य, काशिका, कातन्त्र, शाकटायन, भोजराज आदि का प्रभाव है। इन ग्रन्थों के साथ साथ उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी, वररुचि के प्राकृत प्रकाश तथा अपने काल तक प्राप्त अन्य स्रोतों से भी सहायता ली है। हेमचन्द्र को जब अपने ही व्याकरण पर संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने प्राकृत अपभ्रंश में प्रयुक्त देशी शब्दों का परिचय देने के लिए देशी नाम माला ग्रन्थ की रचना की। इसकी रचना का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने कहा कि जो लक्षण 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' में प्रकृति प्रत्यय विवेचन द्वारा सिद्ध नहीं किये गये हैं अथवा संस्कृत के कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं या गौणी लक्षणा से सिद्ध नहीं हो सकते, इस संग्रह में उन्हीं शब्दों को स्थान दिया गया है[1]।

हेमचन्द्र का यह व्याकरण भारतीय व्याकरण साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इनके पूर्ववर्ती व्याकरणों में विस्तार, काठिन्य तथा क्रमभंग के अनेक दोष मिलते हैं। हेमचन्द्र ने इन व्याकरणों के सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन कर उन्हें पचा कर उनके शब्दों को बड़ी निपुणता से अपने सूत्रों एवं वृत्तियों में इस प्रकार समाविष्ट किया है कि उन्हें समझने में कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। शब्दानुशासन की शैली इतनी सरल, स्पष्ट एवं संक्षिप्त है कि व्याकरण की साधारण जानकारी रखने वाला व्यक्ति इसे भली भाँति समझ सकता है।

सिद्धहैमशब्दानुशासन में प्रारंभिक सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का तथा आठवें में प्राकृत और अपभ्रंश का अनुशासन है। इसका क्रम प्राचीन शब्दा

---

१ देशी-नाम माला कारिका ३।

नुशासना के समान नहीं है, अपितु प्रकरणानुसार है। इसम सूत्र, वत्ति के साथ प्रक्रिया तथा उदाहरण भी दिये गये हैं जो अन्य व्याकरणों मे प्राय नही मिलते।

सस्कृत व्याकरण से सबद्ध सात अध्याय और २८ पाद हैं। इसे हेमचन्द्र न अपने विश्लेषण को पाणिनि की अपेक्षा सरल बनाने का सफल प्रयास किया है। इसम उनकी दृष्टि पूर्णतया व्यावहारिक रही है। इसमे पाणिनि की अपेक्षा कम सज्ञाओ का प्रयोग किया गया है हेमचन्द्र ने स्वरो का ह्रस्व, दीर्घ प्लुत नामी, समान और सन्ध्यक्षर रूप म वर्गीकरण किया है[1]। और इसी प्रकार व्यजनो का विभाजन घुट वर्ग घोषवान्, अघोष, अन्तस्थ और शिट मे। विसग सधि को उन्होने व्यजन सधि म रखा है।

हेम ने विभक्ति पद नाम और वाक्य का जो वज्ञानिक विवेचन किया है वह पाणिनि की अष्टाध्यायी म नही मिलता। उन्होने एक शब्द की सभी विभक्तियो के समस्त रूपो की सिद्धि पूर्णतया न बता कर विशेष भाग म सूत्रो का निबधन किया है। इस प्रक्रिया से स्वरात शब्दो के साथ व्यजनात शब्दो का भी नियमन होता है। जैसे सख्या सायव रहस्याहन डौ वा[2] सूत्र स्वरात शब्दो क मध्य म व्यजनात शब्दो का भी नियमन करता है। नाम प्रकरण म वत्तिकार ने धातु विभक्ति वजमथवल्लिङ्गम' द्वारा लिंग सज्ञा का निर्देश किया है। हम न इसी ग्रथ को लेकर एरीत पदातेऽस्य लुक[3] सूत्र म नाम सज्ञा का वणन किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी म वाक्य की परिभाषा ही नही मिलती और बाद क व्याकरणाचार्य इसकी पूरी व्याख्या नही दे पाये किन्तु हेम ने सविशेषणमाख्यात वाक्यम्[4] सूत्र द्वारा विशेषणयुक्त आख्यात को वाक्य से कहा है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अथ है अव्यय, कारक कारक विशेषण और क्रिया विशेषण। हम अव्यय सज्ञा का निरूपण करते हुए निपात सज्ञा को अव्यय सज्ञा मे अन्तर्भूत कर देते हैं। उन्होने 'चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय स्वीकार किया है और यह उनके सक्षिप्तीकरण की दिशा म सुन्दर प्रयास है। कारक के प्रकरण मे पाणिनि ने कतुरीप्सितम कम 'कतु क्रियया आप्तुमिष्टतम कारक कमसज्ञ स्यात[5] अर्थात् क्रिया के द्वारा कर्ता जिस इष्टतम को प्राप्त करना चाहता है उसकी कम सज्ञा को कारक कहा है। हेम ने कम कारक की परिभाषा म 'कतुर्व्याप्य कम 'कर्त्रा क्रियया यद्विशषेणाप्तुमिष्यते तत्कारक व्याप्य कम च स्यात। तत्त्रेधा निवत्य विकाय व्याप्य च[6] अथात निवत्य, विकार्य और व्याप्य इन तीनो अर्थों म कमकारक स्वीकार किया है। इस प्रकार हेम ने पाणिनि के इष्टतम को व्याप्य म समाहित कर दिया है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने इस प्रकरण म कारक और विभक्ति को अलग अलग माना

---

१ शब्दानुशासन १।१।४ ३६। २ शब्दानुशासन १।४।५०।
३ वही १।२।२७। ४ वही १।१।२३।
५ अष्टाध्यायी १।४।४९। ६ शब्दानुशासन २।२।३।

अर्थात विभक्ति अर्थ की अपेक्षा रखती है और कारक शब्द-सापेक्ष है। हेम ने भी उसी प्रकार क्रियाविशेषणानां [1] तथा कालाध्वनोर्व्याप्तौ [2] का कर उनका समर्थन किया है।

समास के प्रकरण में संस्कृत व्याकरण में विस्तार आदि की जो प्रक्रिया थी हेम उसमें संक्षिप्तीकरण और सरलता ले आए। कई समासों में हेम ने पाणिनि से कुछ भिन्नता भी दिखाई है। जैसे कहीं दण्डा दण्डि आदि शब्दों को जहाँ पाणिनि ने बहुव्रीहि समास कहा है वहाँ हेम ने उन्हें अव्ययीभाव माना है। पाणिनि ने जातिवाचक शब्दों के बहुवचन का विधान कारक के अन्तर्गत नहीं किया है और उन्होंने जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् [3] सूत्र द्वारा विकल्प से जाति वाचक शब्दों में एक में बहुत्व का विधान कर उसे तत्पुरुष समास में स्थान दिया। हेम ने इस आशय वाले सूत्र जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् [4] को कारक के अंतर्गत रखा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हेम एकवचनांत या बहुवचनांत प्रयोग का नियमन भी कारक प्रकरण में करना उचित समझते हैं।

हेम का क्रिया प्रकरण पाणिनि की शैली पर आधारित नहीं है अपितु कलाप या कातंत्र की शैली पर आधृत है। कातंत्र के समान ही इसमें क्रिया की दस अवस्थाएं मानी गई है—वर्तमाना, सप्तमी पंचमी ह्यस्तनी अद्यतनी परोक्षा आशी श्वस्तनी भविष्यन्ती तथा क्रियातिपत्ति। लकारों का विधान हेम ने पाणिनि के समान नहीं किया है।

पाणिनि ने कृदन्त प्रत्ययों के वर्णन में उणादि प्रत्ययों के लिए एक अलग प्रकरण लिखा है और उनके नियमन के लिए सामान्य सूत्र उणादयो बहुलम् [5] की रचना की है जबकि हेम ने उणादि प्रत्ययों को अलग स्थान नहीं दिया वरन उन्हें संक्षिप्त कर प्रत्ययों के एक ही प्रकरण में उन्हें मिला दिया है। भोजराज ने स्त्री प्रत्यय का विवेचन बहुत ही पद्धति से किया है किन्तु हेम ने उसे एक सूत्र में बांध कर सुगम बना दिया है। इन सब के अतिरिक्त हेम ने भविष्यन्ती विभक्ति के प्रयोग की व्यवस्था पर उन सभी अर्थों में प्रकाश डाला है जिन जिन अर्थों में वह जिन जिन प्रत्ययों में संभव हो सकती है। इस प्रकार हेम ने विशेष विशेष अर्थों का विधान करने के लिए समस्त प्रत्ययों का विधान विशिष्ट परिस्थितियों में किया है। अतः हेम की प्रत्यय प्रक्रिया पाणिनि की अपेक्षा स्पष्ट एवं सुगम है। पाणिनि ने कुछ शब्दों के आगे ठक् आदि प्रत्यय लगाये हैं तथा ठ का इक करने के लिए ठस्येकः [6] सूत्र लिखा है, किन्तु हेम ने सीधे ही इक कर दिया है। इतना सब होते हुए भी हेम के अधिकतर सूत्र पाणिनि के सूत्रों के साथ भाव या शब्दों में कई स्थानों पर मेल खा जाते हैं।

---

१ वही २।२।४१।
२ वही २।२।४२।
३ अष्टाध्यायी १।२।५८।
४ शब्दानुशासन २।२।१२१।
५ वही ३।३।१।
६ अष्टाध्यायी ७।३।५०।

मना विशेपण के प्रकरण मे जहाँ सूत्रो से काम नही चल सका वहा हेम ने वृत्ति के आदेशो से काम चला लिया है। पाणिनि ने जहाँ समासात प्रत्ययो को तद्धित मानते हुए भी उन्हे समासात प्रकरण मे रखा है हेम ने उन्हे तद्धित प्रकरण मे रख कर ही उन्हे तद्धित माना है। द्विरुक्त प्रक्रिया मे प्लुत द्वित्व का हेम ने वर्णन किया है जब कि पाणिनीय परपरा मे इसका अभाव है। वस्तुत उस समय प्लुतो के प्रयोग के बढ जाने के कारण ही हेम ने इसे रखा है और यह उनकी भाषाशास्त्रीय प्रतिभा का परिचायक है।

संस्कृत शब्दानुशासन के पश्चात प्राकृत के व्याकरण का विवेचन आता है। वस्तुत हेम का यह व्याकरण अपने ही ढग का है जो संस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ का पूर्णतया ज्ञान कराने मे समर्थ है। शब्दानुशासन के आठवे अध्याय मे महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी, मागधी पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के साथ साथ आर्ष प्राकृत का भी विश्लेषण किया गया है। वहाँ वररुचि ने अपने बारह परिच्छेदो के प्राकृत प्रकाश मे जहा नौ परिच्छेदो मे प्राकृत का अनुशासन किया है वहा हेमचन्द्र ने आठवें अध्याय मे तीन पादो और चौथे पाद के कुछ सूत्रो मे प्राकृत व्याकरण का विवेचन किया है। अन्य वालो के अतिरिक्त स्वर विकार और व्यजन विकार का जो नियमन हेम ने किया है वह प्राकृत के अन्य व्याकरणो से नवीन एव विस्तृत है। इसमे लोप आगम विकार और आदेश आदि भी सम्मिलित हैं।

प्राकृत मे विजातीय सयुक्त व्यजनो के प्रयोग का निषेध है। प्राकृत व्याकरणाचार्यों के मतानुसार ख, घ थ ध फ और भ जसे व्यजन क+ह ग+ह त+ह द+ह प+ह और ब+ह से बने हैं अत इनके स्थान पर हकार का आदेश होता है मुख>मुँह गाथा>गाहा, शोभते सोहइ। इसी तरह असयुक्त ट ठ ड न प फ और ब के स्थान पर क्रमश ड ढ ल, ण व भ और व का आदेश है। उदाहरणार्थ घट>घड, पीठ>पीढ गमन>गमण आदि।

सयुक्त व्यजनो के आदेश के नियमन मे सयुक्त व्यजनो मे से आदि मध्य और अन्त के किसी व्यजन के लोप का विधान किया गया है और विशेष परिस्थितियो मे वर्णों के द्वित्व का निर्देश किया गया है। इस प्रकरण मे यह भी बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक विशिष्टता के कारण उच्चारण मे अपनी निजी विशेषता रखता है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का व्याकरण १२० सूत्रो मे (चतुर्थ पाद मे ३२६ से ४४८ सूत्र तक) विस्तार के साथ लिखा है और उन्हे समझाने के लिए जो उदाहरण दिये हैं वे जन साहित्य से लिये गये है। हेम के अपभ्रंश सूत्र विशेष महत्त्व के है। क्योकि उदाहरण समसामयिक साहित्य से लिये गये हैं। हेमचन्द्र तक अपभ्रंश किस रूप विकसित हुई थी, इसकी जानकारी इन उदाहरणो से मिल जाती है। हेम ने सूत्र स्वय लिखे हैं किन्तु उदाहरण दूसरो के दिये है। उनका यह विवेचन भाषा विज्ञान साहित्य और इतिहास तीनो दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे हेम ही ऐसे पहले व्याकरणाचार्य हुए हैं जिन्हे अपभ्रंश भाषा के सबध मे विस्तृत ज्ञान था। उन्होने भाषा की समस्त नई प्रवृत्तियो का नियमन प्रस्तुत एव विवेचन

बडे ही सुष्ठु ढग स किया है। उसस उनके व्याकरण म विस्तार और गाभीय दाना के दशन होते है।

हेमचन्द्र न संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तो म प्रचलित उपभाषाओ शौरसेनी, मागधी, पैशाची, तथा चूलिकापैशाची आदि की कुछ विशेषताए भी बताई हैं जो इनम अन्तर की अच्छी जानकारी देती है। जस शौरसेनी म यदि आदि म त थ न हा तो व द या ध और ह म बदल जात हैं जस महन्त > महन्दो यथा > जधा नाथ > णाध णाह आदि। मागधी म प और म के स्थान पर श हाता है जसे पुरुष—पुलिशे एष—एश। पैशाची म वग के ततीय चतुथ वण सयुक्त न हो और पदा के आदि म न हा तो उनके स्थान पर वर्गों के प्रथम और द्वितीय अक्षर होते है जस राजा—राचा मघ—मखो।

इस प्रकार हम दखते है कि आचार्य हेमचन्द्र का सिद्धहैमशब्दानुशासन भारतीय व्याकरण साहित्य म अपना विशेष स्थान रखता है। वास्तव म आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात व्याकरण के उत्कृष्ट मौलिक ग्रन्थो का रचनाकाल समाप्त हो जाता है। उनके बाद उस कोटि का कोई वयाकरण अभी आज तक नही हुआ।

हिन्दी-व्याकरण की परम्परा

(प्रारंभ से १९१० ई० तक)

हिन्दी-व्याकरण रचना का इतिहास १८ वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही माना जा सकता है यद्यपि इससे पूर्व सन् १६७५ ई० से पूर्व ही मीरजा खाँ ने 'तुहफ्त उल हिंद' शीर्षक से फारसी में 'व्रज भाषा' का व्याकरण प्रस्तुत किया था। व्याकरण के रूप में यह 'भारतवर्ष का उपहार' था। तत्कालीन परिस्थितियों में व्रज का विशेष महत्त्व था। फिर भी हिंदुस्तान की भाषा 'हिन्दी हिंदुस्तानी' की शब्दावली तथा व्याकरण की व्यवस्थित रूपरेखा सन् १७०४ ई० से प्रारंभ होती है जबकि इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रयास तुरानतनिस नामक कपूचिन संत (Fr n ciscuo M Turonensis) ने सूरत में 'Lexicon Linguae Indostanicae' की पाण्डुलिपि दो भागों में तैयार की। असुदुज्जी के समय में यह पाण्डुलिपि रोम के पुस्तकालय में सुरक्षित थी पर १८९० ई० में जब ग्रियर्सन ने इसकी खोज की तो उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी।

यह प्रयास तो शब्दावली की दिशा में था पर व्याकरण के क्षेत्र में प्रथम प्रथम नाम उभर कर आता है जान जाशुआ केटलर[1] (Johannes Josus Kate laer)। ये धर्म से लूथरन थे और कोटलर केसलर तथा केटलर के रूप में विख्यात एशिया के एलबिजेन नामक स्थान पर पैदा हुए थे। वह १८ वी शताब्दी के प्रारंभ में भारत आया था और डच राजदूत के रूप में मुगल दरबार में सन् १७११ ई० में प्रस्तुत हुआ। इस रूप में वह शाहआलम बहादुरशाह (१७०८ १७१२) जहांदार शाह (१७१२) के दरबार में डच प्रतिनिधि के रूप में रहा। इससे पूर्व सन् १७११ तक वह सूरत में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार निदेशक थे। १० दिसंबर १७११ को लाहौर के निकट पहुँचे जहांदारशाह के साथ दिल्ली लौटे और अन्त में १४ अक्टूबर १७१२ को वहां से चलकर २० अक्टूबर को आगरा पहुंचे। आगरा से सूरत गये।

इस बीच ही उसने भारत की भाषा का अध्ययन किया और जन प्रचलित हिन्दोस्तानी भाषा का एक व्याकरण तथा शब्दावली की रचना सन् १७१५ में Lingua Hindustanica शीर्षक से डच में की। इस ग्रंथ का प्रकाशन सन् १७४३

---

१ केटेलर के सम्बन्ध में सूचनाएँ ग्रियर्सन द्वारा प्रस्तुत 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' से ली गई है। केटेलर का व्याकरण प्रस्तुत करने का श्रेय डा सुनीति कुमार चाटुर्ज्या को है जिन्होंने अपने लन्दनप्रवास में इस महत्त्वपूर्ण व्याकरण की एक प्रति एक कबाडी के यहाँ से ढूंढ निकाली थी। महावीरप्रसाद अभिनन्दनग्रंथ में आपने एक खोजपूर्ण निबंध प्रस्तुत किया था जो अब ग्रन्थभाग में संकलित है।

ई० मे दावीद मिल या मिल्लिम (Daud Mill) नामक एक पडित ने अपनी Miscellanea Orientalia म किया। इमको ही डा० ग्रियसन ने डेविड मिल (David Mill) कहा है। डा० चटर्जी इसके विषय मे लिखते हैं पुस्तक लैटिन म है और इसम इस्लाम तथा यहूदी धर्मों के विषय म कई प्रबन्धो के साथ साथ लेटिन म केटलर का हिदुस्तानी व्याकरण[१] फारसी व्याकरण लटिन हिदुस्तानी फारसी धातु पाठ लटिन हिदुस्तानी फारसी अरबी शब्द कोष तथा हिदुस्तानी के समोच्चारण-युक्त कुछ शब्दो का सग्रह आदि है। मिल न अपनी भूमिका म लिखा है कि केटलर की पुस्तक हालड की भाषा डच म थी जिनका उहाने लटिन म अनुवाद किया। मिल[२] न स्वय इस ग्रथ म कुछ वृद्धि भी कर दी थी।

व्याकरण अत्यन्त छोटा है (पृष्ठ ४८६ ५०३) अर्थात् केवल १६ मुद्रित पृष्ठ हैं। इसम १४० क्रियाए (लटिन हिदुस्तानी फारसी) ६५० शब्द (लटिन हिदुस्थानी फारसी और अरबी) और उल्लिखित भाषाओ म पर्यायवाची शब्द लिये गये हैं। देवनागरी लिपि म भी वर्णमाला है जिसका रोमन लिपि म उच्चारणानुसार दिया गया है क ग ग घ ड का उल्लेख या किया गया है K K gha dgja nia। हिदुस्तानी व्याकरण के उदाहरणार्थ प्रभु की प्रार्थना और दस आज्ञाएँ दी गई हैं। लिपि रोमन है। शब्द म कर्तृ कारक तथा अय कारको के प्रातिपदिक म पार्थक्य नही है। सर्वनाम के रूप प्रत्यय का प्रयोग तद्धित के सयोग म विशेषण शब्द किस रीति स भाववाचक बन जाते हैं इनका विवरण है। डा० चटर्जी के अनुसार

विवरण अकादमिनियन त० अ० वाउएर के निबन्ध म मिलता है। वह रूस के पहले प्राच्यविद् थे जिन्होने भारत की आधुनिक भाषाओ के अध्ययन का सूत्रपात किया। इसके आसपास ही अकादमिनियन प० स० पल्लास अस्त्रखान म रहनवाले भारतीय व्यापारियो से हिन्दी शब्दो का सगृहीत कर रह थ।

सन् १७४५ ई० मे प्रसिद्ध मिशनरी शुल्टज (Schullzius) की पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी समय आपने Grammatica Hindustanica शीर्षक हिन्दोस्तानी की व्याकरण लैटिन म प्रस्तुत की। इसम हिंदोस्तानी शब्द फारसी अरबी लिपि म दिये गये हैं साथ म अनुवाद भी दिया गया है। नागरी लिपि की भी व्याख्या की गई है। वे मूर्धन्य वर्णो की ध्वनिया का और महाप्राणो को छोड दत थे। ग्रियसन का मत है कि व पुरुषवाचक सवनामो के एकवचन एव बहुवचन रूपो स परिचित है किन्तु सकर्मक क्रियाओ के भूतकालो के साथ प्रयुक्त होन वाले न क प्रयोग से अनभिज्ञ हैं।

इस व्याकरण के सम्बन्ध म प्राय राय अच्छी मिलती है

'Unquestionable proof of author s knowledge of the general structure of language nevertheless extermely deficient and very inadequate to the liberal purposes for which it was de igned of furnishing all European who might go to India with the means of acquiring the Hindustani Dialect "

सन् १७५७ ई० मे कपनी के एक नवयुवक आफीसर न हिन्दुस्तानी भाषा की व्याकरण' पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखा था। इसके लेखक गुलस्ता की मृत्यु हो जाने के कारण प्रकाशित न हो सका। हैडले (George Hadley) ने सन्१७६५ ई० म हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दुस्तानी की व्याकरण तथा शब्दावली पर काय किया जो सन् १७७२ ई० म लन्दन के केडेल द्वारा Grammatical Remark on the Practical and Vulgar Dialect of Indostana [१] शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक मे कप्तन जाज हैडने न स्वीकार किया है यह भाषा सावजनिक रूप स 'मूर' कही जाती है। इस पुस्तक मे अग्रेजी मूर शब्दावली भी दी गई है। फ़ारसी लिपि मे शब्दो को लिखा गया है जिनको बाद म समझाया गया ह। भाषा का मुहावरा समझान के लिए प्रयत्न किया गया है।

सन् १७७३ ई० मे लन्दन स प्रकाशित फर्गूसन महोदय (Ferguson) के

---

१ इसी पुस्तक मे आग यह विवरण दिया है

Commonly called Moors with a vocabulary English and Moors The spelling according to the Persian orthography wherein are references between words resembling each other in sound and differant in significations with literal translations and Explanat ions of the compounded words and circumlocutory Expressions, for the more easy attaining the idiom of the Language

कोश में 'हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण' भी दिया गया है।

इसके पाच वर्ष बाद हैडले से अच्छा व्याकरण सन् १७७८ ई० में लिस्बन से Grammatica Indostana शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही हैडले का व्याकरण पुनः संक्षिप्त रूप में लन्दन से प्रकाशित हुआ।

इन व्याकरणों के प्रकाशित होने के ४ वर्ष बाद जानबार्थविक गिलक्राइस्ट (John Borthwick Gilchrist) सन् १७८२ ई० में भारत में आये और इसी वर्ष से हिंदुस्तानी भाषा का अध्ययन आपने प्रारम्भ कर दिया। सन् १७८५ ई० की ७ जनवरी को आपने हिंदुस्तानी भाषा की व्याकरण तैयार करने हेतु सामग्री एकत्र करने के लिए एक वर्ष के अवकाश का प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया और इस के हिंदुस्तानी बोले जाने वाले फैजा-फजाबाद इलाहाबाद जौनपुर आदि स्थानों का भ्रमण[1] किया और अन्त में डिक्शनरी की तैयारी हेतु बनारस चले गये जहां से सन् १७८६ ई० में अंग्रेजी तथा हिंदुस्तानी कोश प्रकाशित हुआ। पुनः १७८७ ई० में आप उत्तर प्रदेश में स्थित गाजीपुर आकर रहे और यहीं हिंदुस्तानी भाषा की व्याकरण की रूपरेखा तैयार की। सन् १७९५ में कलकत्ता लौट गये और वहीं से सन् १७९६ ई० में हिन्दी की व्याकरण A *Grammar of the Hindoostanee Language*[2] प्रकाशित किया जिसका परिशिष्ट सन् १७९८ ई० में प्रकाशित हुआ। डिक्शनरी के परिशिष्ट के रूप में भी व्याकरण प्रस्तुत किया गया। सन् १८०४ में वह भारत से चले गये और इस बीच सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता की स्थापना होने पर वहाँ हिंदुस्तानी के प्रोफेसर पद पर कार्य किया। आपके ही कार्यकाल में लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की नियुक्ति हुई और खड़ी बोली गद्य की पुस्तकों का निर्माण किया गया। हिंदी भाषा भाषा-कोष तथा व्याकरण के क्षेत्र में गिलक्राइस्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। फोर्स ने गिलक्राइस्ट को फादर आव हिंदुस्तानी ग्रामर नाम से सम्बोधित किया है।

---

1 From Surat to Futihgurh I had innumerable *instances* in *every town*, and village we *visited of the universal currency of the* language I had been learning, *which served to* stimulate me the more, to complete the performance from which I expected so much public and private advantage

२ इस पुस्तक का शीर्षक इस प्रकार दिया गया है

A
Grammar
of the
Hindoostanee *Language*
or part third
of
Volume first of a System of
Hindustani Philology

सन् १८०१ से १८१० रूसी विद्वान् गरासिम लेबिदफ[1] भारतीय संस्कृति तथा कला के बडे उपासक थे और भारतवर्ष में काफी समय तक रहकर आपने जीवित भाषाओं का अध्ययन किया था। सन् १७८७ ई० में आप कलकत्ता में रहते हुए अन्य भाषाओं के साथ हिन्दी का भी विधिवत् अध्ययन करते रहे। पर्यटन में इन्हें विशेष प्रेम था जिसके फलस्वरूप आप बैंडमास्टर के रूप में सन् १७८५ में ईस्ट इन्डिया कम्पनी के जहाज पर सवार होकर भारत आये। पहले मद्रास में रहे और बाद में कलकत्ता। यहीं पर आपने एक थिएट्रिकल कम्पनी की स्थापना की। यहाँ रहकर जो ज्ञान प्राप्त किया उसके फलस्वरूप आपने लंदन लौटकर सन् १८०१ ई० में हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण प्रकाशित कराया। मुखपृष्ठ पर काफी विस्तार से पुस्तक का नाम दिया गया है जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं A Grammar of the Pure and mixed east Indian dialects with dialogues affixed spoken in all the eastern countries methodically arrranged at Calcutta

पुस्तक के दो खण्ड हैं (१) व्याकरण और (२) बातचीत में व्यवहार्य वाक्यों आदि का संग्रह।

व्याकरण खण्ड में कुल १८ छोटे छोटे अध्याय हैं। प्रथम में उपपद और परसर्ग, दूसरे में अनियमित संज्ञाएँ, तीसरे में संज्ञा की परिभाषा व्यक्तिवाचक, जातिवाचक का भेद है। कुछ संज्ञाओं के कारकीय रूप भी हैं। चौथे अध्याय में वचन की प्रक्रिया समझाते हुए लिखा है कि 'सब' और 'लोग' लगाकर बहुवचन बनाते हैं

एकवचन	बहुवचन
एक जहाज	सब जहाज (जहाज लोग नहीं)
बाप	बाप लोग (बाप सब नहीं)

पाँचवें अध्याय में विवेच्य विषय कारक है। यहीं लिंग पर विचार किया गया है। छठवाँ अध्याय सर्वनाम का है। सातवें अध्याय का शीर्षक लिंग है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के भी लिंग की दृष्टि से भेद करता है पु० उग स्त्री० उय, नपु० ए अय इऐ।

पुरुषवाचक सर्वनामों के तीन वर्ग किए गये हैं

१ मिश्रित गवारू बोली २ नियमित मिश्र बोली ३ शिष्ट मिश्रित बोली।

		एकवचन	बहुवचन
१	गवारू		
	कर्ता	मैं मँय	मैं सब मयँ सब
२	नियमित	मा म	मा सब
	शिष्ट	हम	हम लोग या लोक

इस प्रकार लोकप्रचलित सर्वनामों के सभी रूपों को लेबिदफ ने बड़े परिश्रम

---

१ डा० भोलानाथ तिवारी लेबिदेफ, सम्मेलन पत्रिका भाग ५०; संख्या २ ३ पर आधारित।

म इकट्ठा किया था।

११ वें अध्याय मे बहुत सक्षेप म विशेषण का विवरण है। १२वा अध्याय क्रिया से सम्बन्धित है। क्रिया के साथ क्रियाय तथा सहायक क्रियाम्रो का विवेचन भी मिलता है।

अन्तिम अध्याय क्रिया विशेषण पूव सग कृदन्त विस्मयादिबोधक तथा व्युत्पत्ति पर है। ये सभी पारिभाषिक शब्द आज स भिन्न अथ म प्रयुक्त हैं और लखक के निजी हैं। अन्त म समुच्चयवाचक तथा वाक्यो पर विवरण दिया गया है। डा० तिवारी के मत से इस व्याकरण की सबस विशेषता यह है कि भाषा के मतरीय रूप पर लेखक का ध्यान गया है। वस्तुत इस प्रकार का अध्ययन बहुत रोचक है किन्तु अभी तक किसी भी भारतीय भाषा या बोली पर इस प्रकार का काय नही हुआ है। इसको कलकतिया हिन्दी कहा जाना उचित होगा।

सन् १८०८ ई० म चाल्स स्टुअट का व्याकरण An Introduction to the study of Hindustani Language दक्षिण से प्रकाशित हुआ। कलकत्ते स प्रकाशित अमानुल्ला की कविता सबधी पुस्तक मे हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण भी सलग्न है। सन् १८१० ई० म रोएबक (Thomas Roebuck) का अग्रेजी हिन्दुस्तानी कोश The English and Hindustani Dictionary शीषक स प्रकाशित हुआ जिसम हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण भी सलग्न किया गया है।

सन् १८११ १८३० फाट विलियम कालेज के अधिकारियो ने हिन्दी तथा उसकी बोलियो की ओर विशेष ध्यान दिया। हिन्दी उदू के पृथक्-पृथक मुशी रखे गये और गिलक्राइस्ट के निर्देशन म पुस्तको का लेखन किया गया। हिन्दी के लिये नियुक्त लल्लूलाल ने हिन्दी तथा ब्रजभाषा की व्याकरण भी तयार की। काफी दिन तक कोई व्याकरण नहीं मिलता था पर इधर काफी प्रयत्न स ब्रजभाषा का व्याकरण प्राप्त किया गया और क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय से पुन प्रकाशित किया गया है। इस व्याकरण के मुखपृष्ठ पर इस प्रकार उल्लेख मिलता है

General Principles
of
Inflection and Conjugation
in the
Bruj Bhakha
or

The Launguage spoken by the Hindoos in the Country of Braj in the District of Golaiyur in the Dominions of the Raja of Bharat poor as also in the extensive countries af Bueswara Bulundasaur Untur and Boondelkhund Calcutta 1811

यहा यह उल्लेखनीय है कि इस समय तक हिन्दुस्तानी भाषा के प्रोफेसर कप्तन जान टेलर (Captain John Taylor) फोर्ट विलियम कालेज म थ और

ंहीं के निर्देशन में यह तैयार किया गया।

इस व्याकरण का माध्यम अंग्रेजी है और पारिभाषिक शब्दावली अरबी फारसी की ली गई है। एक नमूना दिया जा रहा है

माजी शरतीय बईद

जमए

मुतकल्लिम	हौं मैं गयौ होतो	हम गये होते
मुखातब	तू तैं गयौ होतो	तुम गये होते
गाइब	वह सो गयौ होतौ	वे ते गये होते

सन् १८१३ ई० में लन्दन से शेक्सपियर का 'A Grammar of Hindustani Language' लन्दन से प्रकाशित हुआ। सन् १८२३ ई० में कैप्टिन डब्ल्यू प्राइस का हिन्दुस्तानी व्याकरण प्रकाशित हुआ जिसके साथ अरबी और फारसी का व्याकरण भी था। इस वर्ष बम्बई में मुहम्मद इब्राहीम मुंशी ने 'तुहफाए एलफिन्स्टन' शीर्षक से हिन्दुस्तानी का व्याकरण प्रकाशित किया।

सन् १८२४ ई० में यटस (William Yates) का 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' प्रकाशित हुआ। कलकत्ते से प्रकाशित इस पुस्तक के तीन भाग हैं। प्रथम और तृतीय में क्रमशः व्याकरण और शब्दसमूह दिया गया है। व्याकरण ७६ पृष्ठों में है तथा अन्त में ११ पृष्ठों में परिशिष्टांश है। ध्वनि, संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, अव्यय तथा संयुक्त शब्दों का विवेचन किया गया है। प्रथम परिशिष्ट में पद परिचय तथा दूसरे में वाक्य सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ दी गई हैं। पुस्तक में विवेचन वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। पहले रूप प्रस्तुत किये गये हैं तदुपरान्त उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

सन् १८२७ ई० में एम० टी० आदम का हिन्दी भाषा का व्याकरण कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। फादर एडम्स (आदम) एक ईसाई प्रचारक थे जिन्होंने एक छोटा-सा व्याकरण ग्रंथ लिखा पर हिन्दी में अंग्रेजी के ढंग की यह प्रथम रचना थी। और उसके पारिभाषिक शब्द सम्भवतः बंगला से लिये गये थे। मध्ययुग की भाषा का प्रयोग ही इस ग्रंथ में किया गया था जिसमें स्थान स्थान पर वाक्य रचना की भूलें थीं। इस समय ही विलियम प्राइस ने स्वतन्त्र रूप से लन्दन से 'A New Grammar of Hindustani Language' प्रकाशित की।

सन् १८२९ में हलिओडोर के साथ पेरिस में गार्सां द तासी ने 'Rudiments de La Langue Hindustani' शीर्षक पुस्तक में हिन्दुस्तानी भाषा की आधारभूत बातों पर प्रकाश डाला। आगे चलकर स्वतन्त्र रूप से तासी का (De Tassy) का 'Grammaire de la Langue Hinduoi' शीर्षक से व्याकरण भी प्रकाशित हुआ। इस समय ही ई० ब्ल्यू० एनड्रू की व्याकरण भी लन्दन से प्रकाशित हुई। इसी वर्ष 'व्याकरण शब्द चन्द्रिका भाग १' भी हरगाबाद में प्रकाशित हुई। मि० चिचेली (Chichely Plowden) के कार्यकाल में भी एक मुंशी ने 'हिन्दुस्तानी ग्रामर' तैयार की जिस पर कोई नाम व तिथि नहीं दी गई है।

सन् १८३१ १८७० सन् १८३१ ई० में शाहजादा सरनाट का लन्दन से 'हिन्दुस्तानी भाषा का नया व्याकरण' प्रकाशित हुआ। सन् १८३८ ३९ में जे० आर० बैलण्टाइन का लन्दन से 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ। इस दूसरे ग्रंथ में ब्रज तथा दक्खिनी की व्याकरण भी प्रस्तुत की गई।

इस बीच कई छोटी छोटी व्याकरण प्रकाशित हुईं जिनमें से सन् १८४७ में प्रकाशित ईस्टविक की 'हिन्दुस्तानी भाषा का संक्षिप्त व्याकरण' उल्लेखनीय है। इस समय की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याकरण डंकन फार्ब्स (Duncan Forbes) की A Grammar of the Hindustani Languuge in the Orientul and Roman character (1855 ई०) है। इससे पूर्व आपकी 'हिन्दुस्तानी मैनुअल' भी प्रकाशित हो चुकी थी जिसमें दो भाग हैं एक में भाषा का संक्षिप्त व्याकरण तथा दूसरे में अंग्रेजी हिंदुस्तानी के आवश्यक शब्दों की सूची दी गई है। एक प्रकार से नया संस्करण इसका ही परिवर्द्धित रूप है जिसकी सहायता से हिन्दुस्तानी बड़ी सरलता से सीखी जा सकती है।[1]

साथ साथ ही रोमन उच्चारण भी दिया गया है। संपूर्ण पुस्तक एक प्रकार से उर्दू के रूप को ही प्रस्तुत करती है नागरी लिपि पर केवल ४ ५ पृष्ठ १३६ १४० तक हैं। इस व्याकरण का उल्लेखनीय भाग है खंड ५ जिसमें वाक्य रचना का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पीछे १४ अरबी लिपि की प्लेटें हैं। स्थान स्थान पर अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों की आलोचना[2] भी प्रस्तुत की गई है।

सन १८५३ में स्कूल बुक सोसायटी कलकत्ता से 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' प्रकाशित हुआ। सन १८५६ में श्री लाल कृत 'भाषा चन्द्रोदय' का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने अपनी व्याकरण की भूमिका में इसका उल्लेख किया है। इधर यह पुस्तक अप्राप्य थी पर हाल में ही म० म० हरप्रसाद शास्त्री के पुस्तकालय से अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा०

---

1 the Subject is now so simplified that a learner of ordinary capasity will have no difficulty in making some progress in this elementary part even if he should not have the aid of a teacher

१८६१ के सं० की भूमिका' से

२ 'ने' के प्रयोग पर टिप्पणी द्रष्टव्य है

Our great grammarians have succeeded wonderfully well in mystifying the very simple (though Singular) use and application of this particle ne Dr Gilchrist, in the first editon of his *grammar*, seems to have felt greatly embarrassed by it without exactly knowing what to make of it Those who have merely followed the learned doctor, with very few ideas of their own have contended themselves by calling it an *expletive* which luminous explanation has stood for years in one of the books पृष्ठ १०४, १८६२ ई० संस्करण।

रामसुरेश त्रिपाठी को प्राप्त हुई है। यह व्याकरण सिकन्दरा से प्रकाशित हुई थी और इसकी पद्धति प्राचीन है।

जब हिंदी का प्रसार होने लगा तो भारतीय भी हिंदी के व्याकरण की ओर उन्मुख हुए। इस दिशा में सन् १८६८ ई० में प्रकाशित 'भाषा तत्त्वबोधिनी (बनारस) उल्लेखनीय है जिसके लेखक श्री रामजसन नाम के व्यक्ति थे। इसी वर्ष सर विलियम मोनियर की चल्टनहम में Rudiments of Hindustani Grammar शीर्षक व्याकरण प्रकाशित हुई। विलियम मोनियर ने इसके दो वर्ष बाद 'हिन्दुस्तानी प्रीमियर' प्रकाशित की जिसका व्याकरण भाग नये विद्यार्थियों के लिए परम उपयोगी था। आपने ही एक व्यावहारिक हिन्दुस्तानी व्याकरण भी प्रस्तुत किया।

इस शताब्दी के सातवें दशक में नवीन चन्द्र राय का हिन्दी व्याकरण विशेष उल्लेखनीय है जो नवीन चन्द्रोदय शीर्षक से सन् १८६८-६९ ई० में प्रकाशित हुआ। आप पंजाब प्रांत में शिक्षाविभाग के उच्च अधिकारी थे। इस व्याकरण में संस्कृत की व्याकरण पद्धति का अनुसरण भी किया गया था। आप बंगाली सज्जन थे। इस व्याकरण का 'धातुविवेक' शीर्षक अध्याय (पृष्ठ १८४-१९७) विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार धातुओं से शब्द निष्पन्न होते हैं

धातु	अनुबन्ध	अर्थ	धातुनिष्पन्न शब्द
अंक	इ	चिह्न करना	अंक, अंकुर, अंकुश, पर्यङ्क
अट	डो	भ्रमण	अटन, अट, अद्रि
क्षुभ्	औ	भयाणेच्छा	क्षोभ, क्षुब्ध, शोभित

अनुबन्ध—अनुबन्ध—इ जिस धातु के पीछे है उसके उपधा में न का आगम होता है फेर वही न आगे पर वर्ण के वर्गानुसार ङ ञ ण म हो जाता है।

कप+इ = कम्पन

तम्+इ = तन्त्र

सन् १८७० में ही उन्नाव में शीतलप्रसाद गुप्त ने 'शब्दप्रकाशिका' शीर्षक व्याकरण लिखी जिसका प्रकाशन लखनऊ में हुआ। लखनऊ से ही प्रकाशित भाषालघु व्याकरण शीर्षक पुस्तक मुझे आगरा क० मुं० हिंदी विद्यापीठ के श्री उदयशंकर शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है जिसमें लेखक के नाम का अंश कुछ फट गया है शेष इस प्रकार है प० म० त्रिपाठि पण्डि (भैरव) प्रसाद साहिब डिप्युटी इन्स्पेक्टर मदारिस जिला उन्नाव ने रिसालह कवायद उर्दू के मुताबिक में देवनागरी भाषा में रचना किया। वस्तुतः यह लघु २५ पृष्ठ का व्याकरण है और उर्दू पर आधारित है जैसे अव्यय भेद (अक्सामहर्फ) अव्यय का विभक्त्यादि कार्य नहीं होता इसलिए उसे अविभक्तिक अथवा अव्यय कहते हैं—उनके चार भेद हैं

क्रियाविशेषण (हर्फ सिफ्त) शब्दयोगी (हर्फ जर) उभयान्वयी (हर्फ वस्ल) केवल प्रयोगी (हर्फ निदा)।

इस वर्ष ही नरसिंगोपाल पाध्ये की भाषातत्त्वदीपिका प्रकाश में आई। पाध्ये जी महाराष्ट्री थे इसलिये उन्होंने मराठी व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग

किया है।

१८७२ १८८० इसी वष पादरी एथरिंगटन ने बनारस और लन्दन म The Students Grammar of the Hindi Language शीर्षक व्याकरण अंग्रेजी म प्रकाशित हुआ जिस पर उन्ह ५०० रुपया का पुरस्कार प्रदान किया गया और इससे प्रेरित होकर ही आपने हिन्दी म भाषा भास्कर शीषक से सन १८७१ के अक्टूबर मास म प्रकाशित करवाया। हिन्दी म प्रकाशित व्याकरण मूल कृति का अनुवाद मात्र नही है वरन विष्णुदत्त जी की सहायता स पर्याप्त वद्धन हुआ है। व्याकरण की यह पुस्तक इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि इसके सस्करण अनेक स्थानो स हुए। इस व्याकरण की लोकप्रियता ही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। हिंदी शब्दानुशासन क प्रकाशकीय वक्तव्य म डा० श्री कृष्णलाल ने इस पर निम्न टिप्पणी की है

यह व्याकरण की पुस्तक बहुत दिनो तक छात्रोपयोगी व्याकरणो म सबस अधिक प्रामाणिक मानी जाती रही।

मूर्द्धन्य वैयाकरण कामताप्रसाद जी गुरु की टिप्पणी

'पादरी एथरिंगटन साहिब का प्रसिद्ध व्याकरण भाषाभास्कर प्रकाशित हुआ जिसकी सत्ता ४० वष स आज तक एक सी अटल बनी हुई है। यह पुस्तक अंग्रेजी ढग पर लिखी गई है और जिन पुस्तको मे इसका आधार पाया जाता है उनमे भी इसका ढग लिया गया है।

सपूर्ण व्याकरण तीन भागो म विभक्त है

१ वर्णविचार, २ शब्दसाधन, ३ वाक्यविन्यास।

वर्ण विचार के अन्तगत वर्णमाला के अतिरिक्त हिन्दी ध्वनिविज्ञान की कुछ ऐसी बातो की ओर भी सकेत है जो उस युग की दृष्टि स काफी आगे की बात कही जा सकती है जसे

१५ अनुस्वार और विसग भी एक प्रकार क व्यजन हैं

अनुस्वार हल नकार
विसग हकार

१६ जिनका उच्चारण मुख और नासिका स होता है उन्ह सानुनासिक कहते है और जो केवल मुख से बोले जाते हैं व निरनुनासिक कहाते है।

४१ ड ढ के सबध म टिप्पणी है चेत रखना चाहिए कि ड और ढ के दो दो उच्चारण होते हैं एक तो जब इन अक्षरो के नीचे बिंदु नही रहता तो जीभ का अग्र तालु पर लगाते है, डरना डाकू, डाल ढोल। दूसरा—जीभ का अग्र उलटा करके मूर्द्धा स लगाया जाता है, जैसे बडा थोडा पढना।

आगे नियम १०६ म हिंदी की प्रवृत्ति पर बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणी है चेत रखना चाहिए कि हिन्दी भाषा मे अकारान्त शब्द प्राय हलन्त के समान उच्चरित होते हैं।

शब्द साधन के अन्तगत अथबोधक शब्द तीन प्रकार क स्वीकार किय गय हैं।

संज्ञा, क्रिया, अव्यय।

'संज्ञा' को नामीनल के अर्थ में विस्तृत परिवेश में ग्रहण किया गया है और इस संदर्भ में ही इसके भेदों में गुणवाचक विभेदक (विशेषण) तथा सर्वनाम को सम्मिलित किया गया है। सर्वनाम संज्ञा के ना धर्म स्वीकार किये गये हैं

पुरुषवाचक जैसे मैं, तू वहानाभीमूत जैसे कौन—कोई आन—अन्य।

अव्यय के छह भेद किये गये हैं क्रियाविशेषण सम्बन्धवाचक उपसर्ग योजक विभाजक विस्मयादिबोधक।

संस्कृत पद्धति को भी स्थान दिया गया है जैसे आधार अधिकरण तीन प्रकार के माने गये हैं

"औपश्लेषिक—किसी अवयव से संयोग हो चटाई पर बैठना है।

वैषयिक—विषय का बोध भाग में उसकी इच्छा।

अभिव्यापक—जिसमें आधेय सम्पूर्ण रूप में व्याप्त ना आत्मा सबमें व्याप्त हैं।

जहाँ विष्णुदत्त जी में संस्कृत की आधारभूमि गार्सा गटन साहब को सहज ही प्राप्त हो गई वहाँ अंग्रेजी के व्याकरण शास्त्र का ज्ञान उन्हें स्वयं ही था। यद्यपि इसमें अंग्रेजी की शैली का अनुकरण था पर पहली बार इसमें क्रांति कारी बातों का उल्लेख मिलता है।

इसके बाद ही प्लेट्स (John T Platts) का A Grammar of the Hindustani or Urdu Language शीर्षक में हिन्दुस्तानी या उर्दू भाषा का व्याकरण सन १८७४ इ० में प्रकाशित हुआ। इसका ही परिवर्द्धित संस्करण सन १६२० ई० में प्रकाशित हुआ। सम्पूर्ण पुस्तक १२ अध्यायों में विभाजित है। वाक्य रचना में लेखक ने अपने को बाग ओ बहार तक सीमित नहीं रखा है। लेखक का मुख्य लक्ष्य रहा है

Writers are guided by usage rather than by rule and test the accuraey of a passage by the ear rather than by the recognized law

सन १८७४ ई० में ही दामोदर शास्त्री कृत 'भाषादर्श' आजिमगंज से प्रकाशित हुई। इसी वर्ष ही पैंजानी मानमिगनार की 'Grammatice Italianae Indostana प्रकाशित हुई।

इसके दूसरे वर्ष सन् १८७५ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द कृत हिन्दी व्याकरण लखनऊ से मुंशी नवलकिशोर ने प्रकाशित की जो उस समय की सर्वाधिक प्रशंसनीय व्याकरण समझी गई। सन १८७३-७४ में उत्तरीपश्चिमी सीमान्त प्रदेश के डाइरेक्टर ने यह सुझाव दिया था कि उर्दू हिन्दी की एक ही व्याकरण का निर्माण किया जाए और उसके अनुसार ही राजा शिवप्रसाद ने इस व्याकरण को बनाया है। इस पुस्तक की भूमिका में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार गिलक्राइस्ट के समय से हिन्दी उर्दू में भेद स्थापित किया गया और वह कालान्तर में बढ़ता गया है। इस पुस्तक के परिशिष्ट में संधि तथा कृदन्त का विवरण है। पहली बार व्याकरण की पुस्तक में छन्दशास्त्र को पृथक किया गया है। यह पहला प्रयास है

जिसमें संस्कृत के साथ साथ अरबी का भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। उदाहरणार्थ अध्याय २ में सर्वनाम लिखते समय उत्तम पुरुष की जगह नाम मरा बिचारा, फिदवी, कमतरीन गुलाम बन्दा खाकसार गुनहगार पुरतकसीर दाजिलाह खासी नियाजमन्द आदि लिये जा सकते हैं।

क्रियाओं का प्रकरण बड़े विस्तार से दिया गया है, जैसे सामान्य भूत के ४८ रूप दिये गये हैं।

४८ अन्यपुरुष बहुवचन स्त्रीलिंग सामान्यभूत—वे नहीं समझी गई। अरबी कारवाचक कर्मप्रधान।

प्रकरण में १२३ शब्दों के मसदर रूप प्रस्तुत किये हैं। यहाँ पर हिन्दी का प्रयोग हिन्दी कहा गया है जैसे ऊपम—उपमा मालमती—ममल।

इसी प्रकार अंग्रेजी फारसी अरबी-तुरकी शब्दों की सूची भी दी गई है।

राजा साहब की दृष्टि में हिन्दी से मतलब हिन्द या हिन्दुस्तान की उस बोली से है जो अब यहाँ के सर्वत्र दरबार और हाट बाजार में बोली जाती है, लश्कर के बाजार का तुर्की में उर्दू कहते हैं उर्दू ए मुअल्ला। व्याकरण में सार्थक शब्द तीन माने गये हैं—संज्ञा, क्रिया तथा उपसर्ग। संज्ञा की तीन किस्में हैं

१ धातु—जिससे क्रिया और धातुज बनाये जायें

२ धातुज—धातुज वह है जो किसी ठहराये हुए कायदे के साथ धातु से निकले और क्रिया न हो और उसमें धातु का चिह्न दूर रहकर धातु के अक्षर बजिस या कुछ बदला कर बाकी रहे और अर्थ भी बिल्कुल न बने जायें।

रूढ़ि { जातिवाचक
व्यक्तिवाचक इसके अन्तर्गत नाम सर्वनाम संकेतवाचक सापेक्षर सबंधवान सबोध्य रखे हैं।

हिन्दी उर्दू की पारिभाषिक शब्दावली को भी साथ के साथ रखा गया है जैसे अकर्मक—लाजिम, अकृत्रिम धातु—मस्दरि वजई

इस प्रकार यह व्याकरण बिल्कुल नवीन दृष्टिकोण से लिखा गया है और व्याकरण की परम्परा में अपना पृथक स्थान रखता है।

इसी समय भारतेन्दु की 'हिंदी व्याकरण' शीर्षक की एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित हुई। यह बाकीपुर पटना से सं० १८८४ में पुनः प्रकाशित हुई और उसमें केवल २० पृष्ठ हैं।

सन १८७५ ई० में केलोग (Rev S H Kellogg) की हिन्दी व्याकरण A Grammar of the Hindi Language प्रकाशित हुई जिसमें हिन्दी की विभिन्न बोलियों के रूप भी दिये गये हैं। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह ग्रंथ भी अंग्रेजी व्याकरण की पद्धति पर लिखा गया है। इसमें विभिन्न शब्द भेदों के विवेचन के अतिरिक्त वाक्य विन्यास पर पहली बार इतने विस्तार से लिखा गया है। अन्त में छन्दशास्त्र पर विस्तार से लिखा गया है। यह व्याकरण इतनी पसंद की गई कि केलोग महोदय को सन १८९३ ई० में इसका द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण

प्रस्तुत करना पड़ा। इस सस्करण म तो पुस्तक की कायापलट[1] ही हा गई है। वतमान सस्करण मे हिन्दी उच्चारण पर ग्राहम बेली के नोटस प्रारम्भ मे दिय गय है।

हिन्दी की सभी बोलिया के रूपा की तुलनात्मक तालिकाएँ प्रस्तुत को गई हैं। उदाहरणाथ

हाई हिन्दी कनौजी व्रज मारवाडी मेवाडी गढवाली
को तई को को कू कु ने ने सणि
कुमाउनी नेपाली बसवाडी अवधी रवाई भोजपुरी
कणि, क लाई वह वह क वह के को, लाग ला ले
तुणि लाई वाहु कु खातिर
मगही मथिली
के लागी लेल ला ले के क क क र्खी लागी लेल ल ल
खातिर खातिर

सन १८७७ म अयोध्याप्रसाद खत्री का हिन्दी व्याकरण बिहार बन्धु प्रेस बाकीपुर, पटना स प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की विशेषता यह है कि इसम एक साथ हिन्दी उर्दू तथा अग्रेजी म पारिभाषिक शब्द दिय गय है

स्वर हरूफ इल्लत स्वर Vowel

स्वर वह है जा व्यजन का सहायता द और जिसका उच्चारण आप ही हा सके। इसका एकमात्र कारण यही था कि खत्री जी की यह मान्यता था कि हिन्दी और उर्दू म अन्तर केवल लिपि के कारण है और यदि फारसी लिपि मे न लिखी जाए तो उर्दू हिन्दी ही है। इस सिद्धान्त के अनुरूप ही उन्होने हिन्दी व्याकरण की भी रचना की थी। यही कारण है कि समस्त पुस्तक म यही पद्धति अपनायी गइ है। यह पुस्तक केवल ३६ पष्ठो की है और इसमे ही चौथे भाग म व्याकरण के ही अग के रूप म विराम चिन्हा पर भी सक्षेप मे विचार किया गया है।

व्याकरण के पहले खड मे उच्चारण पर विचार किया गया है। इस भाग म व्यजन तथा स्वर के बदल जाने मे अथभेद की चर्चा करते हुए लघुतम युग्म लिखे गये हैं जसे,

व्यजन	सकल सव	शकल	चमडा	ग्रम	कथा	ग्रन	खट
स्वर	निन		वासर	दीन		दुखिया	

दूसरे खड म शब्द विचार' के अन्तगत शब्द शब्द क भेद मना लिंग सहित दिये गये हैं। वाक्यविवेचन म वालक तथा गया शब्दा के रूप सस्कृत की पद्धति

---

1 The br ef section in the Ist edition on Dialectic peculiarities has been enlarged to a full chapter The philological notes have been thoroughly revised, and to a conseidrable extent rewritten page V

पर आठा कारका म न्यि है। सवनाम के पाँच भेद स्वीकार किय गये हैं पुरुषवाचक, दशक, सबधी प्रश्नवाचक सामान्य। प्रश्नवाचक के अन्तगत स्वीकारवाचक तथा सुधि बोधक की चचा है।

कुछ बातें काफी भ्रामक भी हैं जस अव्यय का पाम्पराजीनन' कहा गया है जिसकी परिभाषा दी गई है, अव्यय वह है जो बिना सहायता दूसरे शब्द क अपना अथ न बताव—पटन स बनारस तक। यहाँ में' का अथ प्रारम्भ और तक का अथ समाप्ति (अन्त) है। अव्यय के अन्तगत क्रियाविशेषण विभक्ति समुच्चय बोधक विस्मयादिबोधक लिये गये हैं। तीसर खण्ड म वाक्यविचार की चर्चा है। वाक्य बनान की १६ रीतियाँ दी गई हैं। इस प्रकार कुछ स्थलो को छोडकर इस व्याकरण का कोई विशेष महत्त्व नही है फिर भी व्याकरण के अध्येताओ को इसका अवलोकन करना चाहिए।

सन् १८७९ ई० म गोविन्द देव शास्त्री का बालबोध मिर्जापुर स प्रकाशित हुआ।

१८८१ १८९० सन् १८८१ ई० म देवी प्रसाद कत भाषा तत्त्व दीपिका शीषक पुस्तक प्रकाशित हुई।

सन् १८८२ ई० म लन्दन स पामर कत हिन्दुस्तानी के साथ फारसी अरबी का सरल व्याकरण Simplified Grammar Hindustani Persian Arabic शीषक मे प्रकाशित हुआ। सन् १८८२ ई० म ही पिनाट न जो लन्दन स हिन्दी म युबक प्रकाशित किया उसम व्याकरण पर भी विचार किया गया है।

सन् १८८२ म ही सागर क श्री विनायक राव न व्याख्याविधि शीषक स गणपतिलाल चौबे इस्पेक्टर क आदश स चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस स प्रकाशित कराई। इसका दूसरा सस्करण सन् १८८७ म निकला। प्रस्तुत पुस्तक के प्रारभ म १८ पृष्ठो की व्याकरण की सक्षिप्त रूपरेखा देकर पृष्ठ १९ स व्याख्याविधि दी गइ है। शब्द-भेद के अन्तगत सना सवनाम विशेषण क्रिया, क्रियाविशेषण शब्दयोगी, उभयान्वयी विस्मयादिबोधक अव्यय का विवचन दिया गया है।

समुच्चयबोधक को उभयान्वयी कहा गया है जिसके दो भेद किये गए हैं

मिलाने—और तो फिर अथ, कि एव यदि यथा, जो भी पुन,

अलगाने—पर परन्तु वा, किंतु चाहे जा क्या, अथवा।

सन् १८८३ म सूय्य प्रसाद मिश्र का भाषाकुमुदबान्धव प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह सस्कृत पद्धति पर है फिर भी अग्रेजी का प्रभाव पडा है। इसके दूसरे वष ही शभूलाल कालूराम शुक्ल का भाषाचन्द्रिका शीषक मे व्याकरण इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय सस्करण सन् १८९८ मे पुन प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण पद्य म है शब्दन के सवध को शब्दयोगी दर्साय।

पास, साथ, ऊपर चले, बाहिर, भीतर जाय।

सन् १८८५ ई० म बिहारीलाल चौबे कत पदवाक्यबोध शीषक से एक लघु व्याकरण (पृष्ठ स० ६२) बिहार बधु प्रेस, बाकीपुर पटना, से प्रकाशित हुई। यह

वैज्ञानिक रीति से लिखी गई है।

सन् १८८६ ई० में सुल्तानपुर से माहनलाल कृत 'वैयाकरणरत्न' प्रकाशित हुआ। सन् १८८६ ई० में बनारस से दीनानाथ द्वारा 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' प्रकाशित हुआ।

सन् १८८७ ई० में रामचरणसिंह कृत 'भाषाप्रभाकर' शीर्षक से व्याकरण बाँकीपुर, पटना, से प्रकाशित हुई। व्याकरण १७६ पृष्ठों में है। इसका नवा सम्करण सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ। सम्पादक प० अम्बिकादत्त व्यास[1] की पर्याप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। शिवप्रसाद जी के व्याकरण की भी इसमें आलोचना की गई है और इस व्याकरण में ही यह घोषणा की गई कि 'मायभाषासूत्रधार' शीर्षक से पाणिनीय वररुचि हेमचन्द्र आदि की पद्धति पर हिन्दी की व्याकरण भी बनाई जाएगी। व्यास जी के योगदान के कारण इसमें मौलिकता के दर्शन होते हैं। जैसे—सत्ता के पाँच भेद भिन्न प्रकार से किए जा सकते हैं कर्तृवाचक—रेतनवाला, कर्मवाचक—रेतताहुआ, करणवाचक—रेती भाववाचक—रेतन क्रियाद्योतक—रेतता हुआ। कर्ता की परिभाषा का निरूपण किया गया है 'कर्ता उस कहते हैं जिसमें व्यापार हो अर्थात् जो क्रिया का करे। इसके तीन चिह्न हैं १ शून्य—शून्य से कोई यह न समझे कि एक सुन्ना दे देना चाहिए जिस रामo परन्तु यहाँ शून्य से तात्पर्य यही है कि चिह्नों का अभाव। और जान पडता है कि विभक्तियन्त का पद मानने के लिए न बुद्ध' को भी बुद्ध माना है। सस्कृत में ऐसे ठिकाने सवनाप कर देते हैं[2]। २ ने। ३ से।'

इस व्याकरण में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की व्याकरण भाषाचन्द्रिका हरगोपालापाध्याय प० दवीदीन आदि के व्याकरणों की आलोचना स्थान-स्थान पर है। जसे राजा शिवप्रसाद यहाँ, वहाँ को सत्ता मानते हैं जैसे यहाँ से वहाँ से यहाँ से माना गया है। इस व्याकरण की राय में इनको अव्यय ही मानना उत्तम है क्योंकि कर्तृकारक इनका नहीं होता है।

सन् १८९० ई० में लन्दन से कैम्पसन की 'The Syntax and Idiom of Hindutsani' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसी वर्ष सेंट क्विटिन क्रीडे का व्याकरण भी प्रकाशित हुआ। इन वर्षों प्रकाशित होने वाले व्याकरणों में स्मिथ का 'उर्दू व्याकरण' तथा बनारस से सुधाकर द्विवेदी का 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' (१८९३ ई०) उल्लेखनीय हैं। इसी वर्ष भागलपुर से प० अम्बिकादत्त व्यास की पुस्तक 'विभक्ति विलास' भागलपुर से प्रकाशित हुई।

१८९१ १९०० सन् १८९२ ई० में बाँकीपुर, पटना से कालिकाप्रसाद तिवारी कृत 'भाषाव्याकरणदर्पण' प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष देवीदयाल जी की 'भाषाशब्द निरूपण' प्रकाशित हुई।

---

१ भाषा प्रभाकर पृथक् से १८८५ ई० में प्रकाशित हुई।

२ आज पदविज्ञान में शून्य रूपिम की चर्चा विशेष महत्त्व रखती है।

सन् १८६३ ई० म दरभगा स इन्स्पेक्टिग पडित गोकुल प्रसाद कृत भाषा मार्तण्ड प्रकाशित हुई। इस व्याकरण म ६६ पृष्ठा म वर्णविचार शब्द विचार वाक्य विचार तथा छदरचना पर विचार किया गया है। सस्कृत क णत्व विधान तथा षत्व विधान पर भी चर्चा है। उच्चारण प्रक्रिया को समझान क लिए शब्दा क उच्चारण रोमन लिपि म दिये गय हैं। जैस—

वश Vansh वारिद V rid वग Varg।

दिल्ली आगरे की बोली को महत्त्व दिया गया है। लिंग निर्णय म नियम ८ देकर पृष्ठ १७ पर लिखत हैं जिस शब्द को अहल जबान अर्थात् दिल्ली आगरे वाले पुलिंग बोलत हो उसको पुलिंग और जिस शब्द को स्त्रीलिंग बोलते हो उसको स्त्रीलिंग बोलना उचित है जस काम बीज आदि पुलिंग हैं और आख आग हवा दवा झाडू लाडू इट दीवार आदि स्त्रीलिंग हैं।

अव्यय का विवेचन इस व्याकरण म भी नये ढग से है। इसके अतगत १ क्रियाविशेषण २ उभयान्वयी ३ शब्दयोगी वा सम्बन्धवाचक ४ विस्मयादिबोधक उभयान्वयी के पुन ५ भेद किय गय हैं समुच्चयवाचक कारणवाचक स्वरूपबोधक पक्षान्तरबोधक, सकेतार्थक आदि।

विस्मयादिबोधक के अन्तगत दुःख धिक्कारबोधक हष ध्वन्यनाबोधक, सम्मुखीकरण तीन भेद हैं।

सन् १८६५ इ० मे लफ्टिनट ग्रीन का आक्सफोड से A Practical Hindustani Grammar शीषक व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसी वष एल० मैकार्थी जी० रन्किग तथा जी० स्माल के छोटे छोटे व्याकरण प्रकाशित हुए। इन व्याकरणो का कोई विशेष महत्त्व नही है।

रायल एशियाटिक सोसायटी के जनल म भी कई लेख प्रकाशित होते रहे हैं जिनम स बलात्मक स्वाराघात पर सन् १८६५ म प्रकाशित लेख महत्त्वपूर्ण है।

सन् १८६६ ई० म बनारस स A Grammar of Modern Hindi शीषक स प्रकाशित हुई। इसके पूव सन् १८६५ ई० म ही ग्रीव्ज महोदय नोटस आन द ग्रामर आव तुलसीदास ज रामायण प्रकाशित करवा चुके थ। यह एक छोटा सा व्याकरण था जिसमे केवल २६ पृष्ठ थे। आपन हिन्दी व्याकरण म अग्रेजी पद्धति पर अग्रेजी भाषा भाषी लोगो के लिए हिन्दी भाषा बोलने तथा लिखन के नियमो का विश्लेषण प्रस्तुत किया था।

सन् १८६७ ई० म डा० रामनारायणसिंह का बाकीपुर, पटना, से 'हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण म भाषा के तीन रूप प्रस्तुत किये गय हैं स्वाभाविक, बोलने की लिखन की।

इस पुस्तक म ही हिन्दी के तद्भव शब्दो की एक सूची भी दी गई है जिस को अपभ्रश नाम दिया गया है।

सन् १८६७ मे ही श्री नारायण शास्त्री पटवधन कृत भाषाचद्रिका' राज राजश्वरी प्रेस, बनारस स प्रकाशित हुई। इसमे केवल ७२ पृष्ठ थे। व्याकरण कोई

विशेष महत्त्वपूर्ण नही थी। संज्ञा के अन्तर्गत ही जातिवाचक गुण, भाव तथा सर्वनामों को सम्मिलित किया गया था। इसी वर्ष मद्रास से भी एक 'हिंदुस्तानी भाषा सीखने का सरल तरीका' प्रकाशित हुआ।

सन् १८९९ ई० में जे० विन्सन की परिस से 'Manual de la Langue Hindustani' शीर्षक पुस्तक आयी।

गुरु जी का 'हिंदी व्याकरण' तो बहुत बाद में प्रकाशित हुआ और उससे बहुत पूर्व २१ मार्च १९०० को भाषावाक्य पृथक्करण पहिला भाग' शीर्षक से पुस्तक चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस से प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ में आगरकर कृत 'वाक्यमीमांसा' मि० पाध्ये कृत 'भाषातत्त्वदीपिका', मारले कृत 'एनालिसिस आफ सेन्टेन्सेज' तथा प्लाट कृत 'हिंदुस्तानी ग्रामर' का उल्लेख मिलता है। ५१ पृष्ठ के इस छोटे से ग्रन्थ में भाषा भास्कर से विशेष रूप से सहायता ली गई है। इस पुस्तक पर अंग्रेजी पद्धति का पूरा-पूरा प्रभाव दिखाई देता है।

इसके अनन्तर उन्होंने सरस्वती में अंग्रेजी से ग्रहण किये गये विराम चिह्नों के हिंदी रचनाओं में प्रयोग के सम्बन्ध में दो लेख लिखे थे। धीरे धीरे आगे चलकर जो गुरु जी ने हिन्दी व्याकरण प्रस्तुत की उसका बीजारोपण १९वीं शताब्दी के बिल्कुल अंतिम चरण में हो चुका था।

१९०१-१९१० सन् १९०१ में मुरादाबाद में 'भाषा प्रदीप' शीर्षक से एक व्याकरण पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके रचयिता मोहनलाल शर्मा थे। यह पुस्तक तीन भागों में प्रकाशित हुई। पहला भाग पृष्ठ सं० १ से १३ दूसरा भाग पृष्ठ सं० १४ से २९ तथा तीसरा भाग सन् १९०३ में प्रकाशित हुआ। पुस्तक साधारण है। सबोधनात्मक, समुच्चायक अपेक्षाद्योतक, धिक्कारात्मक, उपमाद्योतक, हर्षादिद्योतक आदि सभी निपात के अन्तर्गत स्वीकार किये गये हैं।

इसी समय बनारस में माधवप्रसाद पाठक के कई व्याकरण प्रकाशित हुए जिनमें से हिन्दी व्याकरण तत्त्वबोध तथा तत्त्वसार उल्लेखनीय हैं। इस व्याकरण के शिशु तथा मूल सूत्र रूप बाद में प्रकाशित हुए।

सन् १९०१ में ही रतलाम से पी० एन० दरयावसिंह कृत 'व्याकरणसार' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई।

सन् १९०२ में भागलपुर से राजाराम कृत 'भाषाप्रदीप' का छठा सस्करण प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण इससे पूर्व प्रकाशित हो चुका होगा। व्याकरण काव्य में है संज्ञा क्रिया अव्यय भाई। मायक के यह भेद बनाई॥

इस व्याकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

सन् १९०३ में बिहारबन्धु छापाखाना बाँकीपुर पटना में प० केशव राम भट्ट की हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुई। व्याकरण की परम्परा में यह व्याकरण विशेष महत्त्व रखती है। परवर्ती सभी वैयाकरणों ने इसकी प्रशंसा की है। व्याकरण के प्रारम्भ में ही मातृभाषा तथा ... लिखी गई है

साधुभाषा—इस में हिन्दी व्यवहार सभा प्रान्तों में साधारण व्यवहार पर लिखी, पढ़ी और बोली जाती है वह इन सब प्रान्तों की एक भाषा हिन्दी है। बनियों में से किसी एक प्रान्त की। प्रायः जिसमें राजधानी होती है। बोली टकसाली समझी जाती है अर्थात् वही सारे देश की साधारण साधुभाषा मान ली जाती है। यही हिन्दी राजभाषा के राज में हिन्दी ही सब राजधानी रही इसी से हिन्दी की बोलचाल टकसाली या खरी या सच्ची या पक्की समझी जाती है। अतएव हिन्दी बोल लिंग वचन विभक्ति क्रियाओं के रूप रोजमर्रा और मुहावरा (वाग्धारा) आदि का व्यवहार जैसा करते हैं उसी को ठीक मान कर उसका अनुसरण यथासम्भव सब किसी को करना चाहिए।

हिन्दी ध्वनि विधान की दृष्टि से भी इस व्याकरण का महत्त्व है। अरबी फारसी की क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि ध्वनियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है जैसे ज़—मज़्हब मुज़्दा आदि शब्दों में ज़ का वैसा ही उच्चारण होता है जैसा अंग्रेजी के (Pleasure) में—यह स निकलाया जाएगा। उस युग को देखते इतना स्पष्ट विवेचन विशेष महत्त्व रखता है। फारसी की धातु—भाजमा तराश पाश तथा अरबी की धातु—कत्ल, इल्म, गुरु तलब आदि की पूरी सूची दी गई है।

विदेशी शब्दों में अरबी फारसी तुर्की यूरोपीय आदि शब्दों की सूचियाँ प्रस्तुत की गई हैं। अव्यय के दो भेद किये गये हैं। व्युत्पन्न—कृदन्त तद्धितान्त लुप्तविभ०, समस्यन्त लिये गए हैं। अव्युत्पत्तिक—इनकी सूची दी गई है जिसमें तो ताभी तौ तथापि आदि लिए गए हैं।

व्याकरण में पद परिचय लाघव वाग्धारा (मुहावरा) रोजमर्रा वाक्य विन्यास चिह्नविचार आदि पर भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यही व्याकरण भाषासारसुधार्णव नाम से भी है।

सन् १६०४ ई० में पन्नालाल की छोटी सी पुस्तक लिंगबोध प्रकाशित हुई।

सन् १६०५ में मुजफ्फरपुर से रामदासराय की व्याकरण वाक्यबोध शीर्षक से प्रकाशित हुई।

सन् १६०६ ई० में बाबू श्यामसुन्दर दास की 'हिन्दी उर्दू की ग्रामर' का भाग १ प्रकाशित हुआ। सम्पूर्ण व्याकरण चार भागों में है १ वर्णमाला, शब्दभेद (पार्ट आव स्पीच) २ व्युत्पत्ति (एटीमोलाजी) ३ वाक्यविचार (सिन्टैक्स) ४ प्राजाडी छन्दविचार। यह पुस्तक भी कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती।

इस वर्ष डा० ह्न्टरायड का लाहौर और लन्दन से एक साथ Hindustani for every day शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई।

सन् १६०७ में अंग्रेजी व्याकरण के ढंग पर इंडियन प्रेस से गंगाप्रसाद कृत हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण में संज्ञा, विशेषण सर्वनाम क्रिया, क्रियाविशेषण सम्बन्धवाचक समुच्चयवाचक विस्मयादिबोधक आदि शीर्षकों में विचार किया गया है। यही आधार आगे के सभी व्याकरणों में अपनाया गया। इस पुस्तक

के अन्त म हिंदी व्याकरण का नक्शा' प्रस्तुत किया गया है जिसम छद विभाग वाक्यविभाग, शब्द विभाग, वर्ण विभाग आदि उपशीर्षक हैं।

इसी वर्ष प्रयाग स प्रकाशित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी भाषा की उत्पत्ति' म भी व्याकरण सम्बन्धी सामग्री यत्र तत्र है। लदन से एफ० पी० ल्यूजी की पुस्तक प्रकाशित हुई है। मन्न मोहन की हिंदी व्याकरण' आगरा म आयी। सन् १९०७ ई० म प्रयाग स माणिक्यचद जन की 'हिंदी व्याकरण' प्रकाशित हुई।

सन् १९०९ ई० म फिलौट की लन्दन मे व्याकरण सम्बन्धी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका विवरण इस प्रकार है, Hindustani stumbling Block, being difficult points in the Syntax and Idiom of Hindustani explained and exemplified'

सन् १९१० म मुगेर म बद्रीनारायण सिंह की छोटी सी ३९ पृष्ठो म व्याकरण भाषादिवाकर शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह व्याकरण विशेष रूप से विहारवालो के लिए लिखी गई थी।

इस वर्ष ही इन्दौर के कन्हैयालाल उपाध्याय लिखित 'हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका निर्णयसागर प्रेस ववई से प्रकाशित हुई। इस व्याकरण म स्पष्ट रूप से यह लिखा गया कि कोई कोई ॠ तथा 'ऋ' को भी स्वरो म गिना लेते हैं परन्तु ये स्वर नहीं है। व्यजनो का असली रूप हल चिह्न ( ) व्यजन सहित है जैसे, क ख ग, घ ङ परन्तु भाषा म इनका हल चिह्न उडाकर लिखने की परिपाटी पड गई है। संस्कृत की पद्धति पर जो वर्तनी चल रही थी और उच्चारण नितान्त भिन्न हो चुका था उन शब्दो की नई वर्तनी की ओर स्पष्ट सकेत किया गया जसे—

काच काच न कि काञ्च।
बूद, बूद न कि बून्द
भाति, भाति न कि भान्ति

नियम २३ म 'औ के उस समय प्रचलित उच्चारण को देने का प्रयास किया गया है

नौकर—नऔकर
और —अऔर

नियम ३४ म लिखा गया है भाषा म अकारान्त शब्दो का हलन्त जसा उच्चारण होता है जसे किस—किस्, जप—जप्, मन—मन्।

व्याकरण काव्यमय भी है, जसे क्रियाविशेषणो को इस प्रकार पद्यबद्ध किया गया है

बहुत, कुछ ऐसे ही इत्यादि
अतिशय अधिक विरले, दारेग।
इधर, उधर नेरे जहाँ तहाँ
दूर निकट समीप, यहाँ, वहाँ।

इसका दूसरा भाग सन् १९२२ मे प्रकाशित हुआ।

बीसवी शताब्दी के इस प्रथम दशक के व्याकरणो म केदारराम भट्ट के व्या

करण के बाद दूसरा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व्याकरण म० म० पं० कामताप्रसाद शर्मा का है। अभिनव हिन्दी व्याकरण जो भाषाविज्ञान के आधार पर तैयार किया गया हिन्दी व्याकरणकार गोविन्द म सन् १९१० म हिन्दी ट्रांसलेशन सोसाइटी कलकत्ता म प्रकाशित हुआ। पुस्तक कब लिखी गई इस सम्बन्ध म शर्मा जी ने उपोद्घात म लिखा है कई वर्ष हुए मैंने निबन्धमाला के आधार पर एक नवीन शैली के व्याकरण की रचना कर हिन्दी म प्रकाशित कराया था। यह व्याकरण शैली का नया आविष्कार है। इस व्याकरण का इस देवनागर के सम्पादन का बड़ा उपकार हुई कि इस शैली का एक विस्तृत व्याकरण बन पर प्रयत्न के अभाव म ऐसा व्याकरण नहीं बन सका। तब तक बंगीय शिक्षा विभाग के अध्यक्ष महाशय के आदेशानुसार मैंने हिन्दी व्याकरण और वाक्यरचना के पढ़ाने के प्रकार पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखा था और उसम यह सूचित किया था कि प्राचीन शैली के व्याकरण अशुद्धियों से भरे हैं।

इस प्रकार इस व्याकरण का श्रेय देवनागर के सम्पादक बाबू यशोदानन्दन अखौरी को है।

यह व्याकरण वस्तुतः नवीन शैली म है। प्रारम्भ म सिद्धान्त रूप म एक या दो परिच्छेद दिए जाते हैं और बाद म उनके आधार पर ही प्रश्न। इस व्याकरण म कुछ मौलिक बातों की ओर सर्वप्रथम संकेत मिलता है यद्यपि पारिभाषिक शब्दावली परम्परागत ही प्रयोग म लाई गई है जिसमें भ्रम उत्पन्न हो सकता है फिर भी जो कुछ लिखा गया है वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है

संज्ञा के दो लिंग दो विभक्ति और दो वचन होते है।

नाम से और धातु से कुछ प्रत्यय लग जाते हैं जिन्हें विभक्ति कहते हैं। नाम म दो विभक्तियाँ आती हैं—प्रथमा और द्वितीया। इस पर पादटिप्पणी दी गई है संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं म सात विभक्तियाँ को देखकर हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं म भी विचारशून्य व्याकरण लेखकों ने सात विभक्तियों की कल्पना की है। आगे स्पष्ट दिखलाया गया है कि हिन्दी म दो ही विभक्तियाँ हैं। संस्कृत की विभक्तियों के बदले हिन्दी मे कैसे काम चलता है सो आगे दिखाया गया है।

प्रथमा दो प्रकार की होती है साधारण और सम्बोधनार्थक। प्रथमा और द्वितीया दोनों म दो वचन होते है—एकवचन और बहुवचन। एक को कहना हो तो एक वचन होता है और एक से अधिक कहना हो तो बहुवचन आता है।

प्र० सा०	द्वि०	प्र० स०
घोड़ा	घोड़े	घोड़ा घोड़े
घोड़े	घोड़ों	घोड़ो

अव्यय के चार विभाग किए गए हैं—कारकार्थक क्रिया विशेषण, योजक समुच्चायक और क्षेपक। कारकार्थक वे हैं जो दो शब्दों का सम्बन्ध बताते है। जैसे को ने इत्यादि। जो दो वाक्यों का संबंध बताते है वे योजक हैं जैसे और या इत्यादि। जो क्रिया या गुण म विशेषता बताते है वे क्रिया विशेषण है। जैसे—

सूत्र धीरे इत्यादि। जा अपने ही स पूण अथ देकर एक ही शब्द का अलग वाक्य बनाते हैं वे क्षेपक हैं। जैस 'आ अरे ओ इत्यादि।

कुछ नवीन पारिभाषिक शब्द दिये गय हैं जस नामधातु के लिए नामज धातु और कृदन्त के लिए 'धातुज नाम'।

अन्त म वाक्यविभाजन और पदनिर्देश, वाक्य परिवतन' 'विराम लेख नी पर विवेचन है। क्रिया के अनुसार वाक्य के तीन भेद अथ के अनुसार वाक्य के चार भेद, सम्बन्ध के अनुसार वाक्य के दो प्रकार तथा व्याप्ति के अनुसार वाक्य के दो भेद किये गये हैं समस्तगामी और अल्पगामी। स्वरूप के अनुसार वाक्य तीन प्रकार के मान गये है—शुद्ध ससृष्ट आर सकीण।

व्याकरण की परम्परा मे यह व्याकरण कुछ लीक मे हटकर लिखी गइ है। लेखन के पीछे मौलिक चिन्तन है और हिन्दी की प्रकृति तथा प्रवृत्ति का ध्यान रखा गया है। पता नही क्या इस व्याकरण का प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी न अपना पुस्तक हिन्दी कौमुदी म उल्लख करत हुए भी महत्त्व की दृष्टि म केलाग तथा केशवराम भटट की व्याकरण के बाद इसका उल्लेख नही किया है ? इस दशक में सन् १६०२ इ० म रूसी विद्वान् यगेल्ला द्वारा रचित हिन्दुस्तानी व्याकरण का भी प्रकाशन हुआ।

हिन्दी व्याकरण की यह दीघ परम्परा ही कामताप्रसाद गुरु के हिन्दी व्याकरण की आधारशिला बनी है।



हिंदी भाषा-विश्लेषण की परंपरा

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में हिंदी का अपना विशिष्ट स्थान है। पिछले लगभग ३५० वर्षों से हिंदी भाषा का विश्लेषण किया जा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण विश्लेषण का उचित आकलन किया जाए। यह तभी सम्भव है जब विश्लेषित सम्पूर्ण सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो। प्रस्तुत लेख में यही प्रयास किया गया है। प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की पुरानी हिंदी तथा प० चन्द्रबली पाडेय के अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जो किसी वर्ग विशेष में विभाजित करके प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। पाडेय जी के बहुत से छोटे बडे ग्रंथ आज सहज उपलब्ध भी नहीं हैं। फिर भी भाषा विश्लेषण की दृष्टि से इन ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। प्रस्तुत लेख में हिंदी भाषा विश्लेषण की परम्परा को तीन वर्गों में रख कर प्रस्तुत किया जा रहा है (१) व्याकरण (२) भाषा विज्ञान (३) कोश। निबंध के अंत में विभिन्न व्यक्तियों के विशिष्ट योगदान का उल्लेख भी किया गया है।

१ व्याकरण[1]

हिंदी व्याकरण के अध्ययन का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी के अन्त्य चरण में मानना होगा। तुहफतु उल हिन्द शीर्षक से फारसी भाषा में ब्रजभाषा के व्याकरण काव्य और अलकार से सम्बद्ध ग्रंथ का उल्लेख डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने ऋतम्भरा नामक निबंधसग्रह में किया है (पृ० १४३ १४४)। इस पुस्तक में ध्वनि और रूप रचना सम्बन्धी व्याकरणिक नियम दिए गए हैं। डा० चाटुर्ज्या ने इसे हिंदी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कहा है। इसके पश्चात् कुछ अन्य प्रयास किए गए जो आज उपलब्ध नहीं हैं। बाद में सन् १७१५ ई० में जान जाशुआ कटेलेर के डच भाषा में लिखे गए हिंदुस्तानी व्याकरण के दावीद मिल (Daud Mill) द्वारा लैटिन भाषा में अनूदित ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रंथ सूरत आदि दक्षिणी भू भाग के इंग्लैंड की बाजारू हिंदुस्तानी[2] सीखने सिखाने के लिए उपयोगी था। पुस्तक के अंत में लैटिन हिंदुस्तानी अरबी फारसी का एक छोटा-सा शब्दकोष है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

व्याकरण की इस परम्परा को रूसी तथा अनेक मिशनरी विद्वानों ने आगे बढ़ाया जिनमें शाउएर, लेबिदेफ, शुल्ज, हडले जे० फर्ग्युसन गिलक्राइस्ट आदि

---

१ इस विवेचन में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गए व्याकरणों का सकेत करके ही छोड़ा जा रहा है।

२ ऋतम्भरा—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृष्ठ १५७।

के नाम उल्लेखनीय हैं।[१] इस दिशा में 'मौलवी अमानतुल्ला' के कलकत्ते से प्रकाशित हिंदुस्तानी भाषा के संक्षिप्त व्याकरण का विशेष महत्व है। ग्रंथ सन् १८१० ई० में प्रकाशित हुआ तथा इसका नाम सर्फ ए उर्दू है। बाद में १८११ ई० में लल्लू जी लाल ने ब्रजभाषा का व्याकरण लिखा जो संस्कृत और अंग्रेजी दोनों अध्ययन पद्धतियों से प्रभावित है। इस व्याकरण का माध्यम अंग्रेजी है तथा इसमें अरबी फारसी की शब्दावली ग्रहण की गई है। तत्पश्चात् सन् १८४८ तक अनेक विदेशी विद्वानों के ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जो विशेषकर लन्दन पेरिस तथा कलकत्ते में प्रकाशित हुए। सन् १८४८ में इंशा अल्लाह खां और मुहम्मद हसन की पुस्तक दरया-ए-लताफत' मुर्शिदाबाद में प्रकाशित हुई जिसमें उर्दू (हिंदुस्तानी) भाषा के व्याकरण और मुहावरा पर प्रकाश डाला गया है। सन् १८५४ में देवीप्रसाद ने पानी ग्लोट व्याकरण कलकत्ते में प्रकाशित किया जिसमें फारसी अंग्रेजी, अरबी हिन्दी उर्दू और बंगाली के पाठ भी दिए गए हैं। सन् १८५६ में श्रीलाल कृत 'भाषा-चन्द्रोदय' प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की विवेचन-पद्धति प्राचीन है। लल्लू जी लाल के पश्चात भारतीयों द्वारा लिखे गए व्याकरणों में इस ग्रंथ का नाम सर्वप्रथम आता है।

सन् १८५७ के लगभग लिखे गए रामजसन के 'भाषा-तत्व-बोधिनी ग्रंथ का उल्लेख किया जाता है। यह ग्रंथ बनारस से १८५८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् सन् १८६६ ई० में 'नवीन चन्द्रोदय' शीर्षक से हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इसके लेखक बाबू नवीन चन्द्र राय हैं। यह पुस्तक भी संस्कृत विश्लेषण-पद्धति से प्रभावित है। सन् १८७० में हरिगोपाल पाध्ये की 'भाषा-तत्त्व-दीपिका' तथा शीतल प्रसाद गुप्त की 'शब्द प्रकाशिका' पुस्तक प्रकाशित हुई। सन् १८७१ में लखनऊ से 'हिन्दी लघु व्याकरण' प्रकाशित हुआ। इसके लेखक भरतप्रसाद मिश्र हैं। हिन्दी व्याकरण अध्ययन के इतिहास में पादरी एथरिंगटन का नामोल्लेख करना भी आवश्यक है। इनके व्याकरण 'भाषा भास्कर' की प्रशंसा हिन्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पं० कामताप्रसाद गुरु ने भी की है। इस ग्रंथ के निर्माण में पं० विष्णुदत्त जी ने विशेष सहायता की थी। सन् १८७३ में सदासुख लाल ने इलाहाबाद से जा ऐंग्लो उर्दू नाप प्रकाशित किया उसमें व्याकरण सम्बन्धी महत्वपूर्ण बातें भी दी गई हैं। जान टी० प्लेटस का प्रसिद्ध व्याकरण इसके एक वर्ष पश्चात् लन्दन से प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष (सन् १८७४ ई०) रामावतार शास्त्री की पुस्तक 'भाषा दर्श' प्रकाशित हुई। सन् १८७५ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की हिन्दी व्याकरण और उर्दू व्याकरण की पुस्तक 'उर्दू सर्फ व नहो' प्रकाशित हुई। हिन्दी व्याकरण में नए ढंग से विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। व्याकरण की

---

१ व्याकरण-परम्परा की विस्तृत सूची के लिए देखिए—श्री पुरुषोत्तम दास टंडन अभिनन्दन ग्रंथ—'हिन्दी भाषा के अध्ययन की परम्परा' लेख जो प्रस्तुत लेखक द्वारा ही लिखा गया था।

परम्परा मे यह ग्रन्थ इतना विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसी वर्ष (सन् १८७५ ई०) केलाग का प्रसिद्ध व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में विस्तार से हिन्दी की विभिन्न बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है। सन् १८७७ में अयोध्या प्रसाद खत्री का लघु ग्रन्थ हिन्दी व्याकरण', पटना से प्रकाशित हुआ। सन् १८८१ ई० में देवीप्रसाद कृत 'भाषा-तत्त्व दीपिका तथा सन् १८८३ में सूर्य प्रसाद मिश्र कृत 'भाषा कुमुद बान्धव प्रकाशित हुए। दूसरी पुस्तक संस्कृत और अंग्रेजी दोनों पद्धतियों के अनुकरण पर लिखी गई है। सन् १८८६ ई० में दो पुस्तकें प्रकाशित हुई—एक दीनानाथ डवी हिन्दुस्तानी व्याकरण तथा दूसरी मोहनलाल कृत वैयाकरण रत्न। रामचरण सिंह का भाषा प्रभाकर शीर्षक से ग्रन्थ सन् १८८७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। सन् १८६० में हीरालाल काव्योपाध्याय लिखित छत्तीसगढ़ी बोली का व्याकरण सामने आया जिसका ग्रियर्सन ने अनुवाद और सम्पादन किया था। यह व्याकरण बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल (Vol IX) में प्रकाशित हुआ था। १९२१ ई० में यह अलग से छपा।

सन् १८६२ में कामताप्रसाद तिवारी का भाषा व्याकरण दर्पण' तथा देवीदयाल का भाषा शब्द निरूपण प्रकाशित हुआ। सन् १८६३ में व्याकरण सम्बन्धी तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—(१) 'हिन्दी भाषा का व्याकरण—सुधाकर द्विवेदी (२) भाषा मार्त्तण्ड—प० गोकुलप्रसाद (३) विभक्ति विलास'—प० अम्बिकादत्त व्यास। इनमें दूसरा व्याकरण अधिक उपयोगी है। इस ग्रन्थ में वर्ण शब्द और वाक्य तीनों पर विचार किया गया है। आवश्यक स्थलों पर विभिन्न नियमों का निर्देश भी किया गया है। सन् १८६४ में गंगादत्त उपरेती की कुमाऊँ और गढ़वाल के मुहावरों से सम्बन्धित पुस्तक प्रकाशित हुई तथा बाद में सन् १६०० में इन्होंने पहाड़ी बोलियों पर एक ग्रन्थ अल्मोड़ा से प्रकाशित किया। इसी वर्ष (सन् १६०० ई०) प० कामताप्रसाद गुरु ने भाषा वाक्य पृथक्करण ग्रन्थ बनारस से प्रकाशित कराया। सन् १६०१ में प० रामकरन शर्मा कृत मारवाड़ी व्याकरण प्रकाशित हुआ। सन् १६०३ में प० केशवराय कृत हिन्दी व्याकरण प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण की स्पष्टता सभी वाद के वैयाकरणों द्वारा प्रशंसित है। सन् १६०४ में लिंग बोध शीर्षक से छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित हुई जिसके लेखक पन्नालाल कासलीवाल थे। इसके एक वर्ष बाद प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अव नाम की पुस्तक मिलती है। सन् १६०७ में दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई—(१) महावीर प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी भाषा की उत्पत्ति। इसके उपसंहार में कुछ व्याकरणिक विशेषताएं यत्र तत्र उद्धृत की गई हैं। (२) गंगाप्रसाद लिखित हिन्दी व्याकरण। इस ग्रन्थ पर अंग्रेजी प्रभाव स्पष्ट है। सन् १६०८ में बालमुकुन्द गुप्त कृत हिन्दी भाषा' पुस्तक प्रकाशित हुई। सन् १६१० में तीन व्याकरण प्रकाशित हुए—(१) भाषा दिवाकर—बद्रीनारायण सिंह (२) हिन्दी व्याकरण प्रवेशिका—कन्हैयालाल उपाध्याय (३) हिन्दी व्याकरण सार—प० रामावतार शर्मा। इनमें

तीसरा ग्रंथ बाबू यशोदानन्दन अखौरी की प्रेरणा से भाषा विज्ञान के आधार पर तैयार किया गया था। इस ग्रन्थ की शैली नवीन तथा प्रभावशाली है। सम्पूर्ण विवेचन में वैज्ञानिकता अपनाने का प्रयास किया गया है। सन् १६११ में गोविन्द नारायण मिश्र कृत 'विभक्ति विचार' पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् ग्रियर्सन के 'भारत के भाषा सर्वेक्षण' के विभिन्न भाग प्रकाशित हुए जिसका भाग ६ हिस्सा १ सन् १६१६ में प्रकाशित हुआ जिसमें पश्चिमी हिंदी पर विस्तार से विचार किया गया है। तत्पश्चात् सन् १६२० में पं० कामताप्रसाद गुरु का 'हिंदी व्याकरण' प्रकाशित हुआ। यह व्याकरण विस्तृत है तथा इसमें सैद्धांतिक और प्रयोगात्मक दोनों दृष्टियों से विचार किया गया है। व्याकरण की परम्परा में इस ग्रंथ का स्थान आज भी सर्वोपरि है। इसके 'मध्यम', 'संक्षिप्त' अनेक संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं।

गुरु जी के व्याकरण के पश्चात् सन् १६२४-२५ में बाबू श्यामसुन्दर दास की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई जो मूलतः भाषा वैज्ञानिक हैं। यत्र तत्र उनमें व्याकरणिक सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार १६२६ में दुनीचन्द की प्रसिद्ध पुस्तक 'पंजाबी और हिन्दी का भाषा विज्ञान' प्रकाश में आई। यह पुस्तक भाषा विज्ञान की है फिर भी इसमें पंजाबी हिन्दी व्याकरण पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इसी वर्ष डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या की 'बंगाली भाषा की उत्पत्ति और विकास' अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। इसमें बिहारी की विभिन्न बोलियों के भी उदाहरण दिए गए हैं। इसके पश्चात् लगभग १० वर्षों तक विद्वानों का ध्यान भाषा विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १६३७ में डा० धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक 'ब्रजभाषा व्याकरण' प्रकाशित हुई। आकार में संक्षिप्त होते हुए भी इसमें वैज्ञानिकता का आधार ग्रहण किया गया है। इसके बाद पं० किशोरीदास वाजपेयी लिखित 'ब्रजभाषा का व्याकरण' प्रयाग से प्रकाशित हुआ, इसका दूसरा संस्करण सन् १६४३ में छपा। वाजपेयी जी का 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' ग्रंथ सन् १६४६ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। सन् १६५० में दुनीचंद की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण' होशियारपुर से प्रकाशित हुई। गुरु जी के व्याकरण के पश्चात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर लिखी गई यह पहली पुस्तक थी जो सर्वत्र विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुई है। यह व्याकरण मूलतः वर्णनात्मक है। कहीं कहीं ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से भी विचार किया गया है। तत्पश्चात् सन् १६५७ में पं० किशोरीदास वाजपेयी लिखित 'हिन्दी शब्दानुशासन' ग्रंथ प्रकाशित हुआ। व्याकरण तथा भाषा विज्ञान दोनों दृष्टियों से यह ग्रंथ का योगदान महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण ग्रंथ रोचक शैली में है तथा विद्वान् लेखक के मौलिक चिंतन का परिचायक है। सन् १६५८ में तीन व्याकरण प्रकाशित हुए—(१) डॉ० भोलानाथ तिवारी लिखित 'हिन्दी भाषा का सरल व्याकरण', (२) भारत सरकार द्वारा अंग्रेजी में 'आधुनिक हिन्दी का मूल व्याकरण' (३) शान्ति कण्ठ मिश्र तथा सानचन्द्र आप्टे का 'हिन्दी व्याकरण'। इनमें तीसरा **व्याकरण** वस्तुतः पहले लिखा गया था। १६५८ में इसका तीसरा संस्करण **प्रकाशित हुआ**। इसी

प० किशोरीदास वाजपेयी कृत हिन्दी शब्दानुशासन, और डॉ० ज म दीमशित्स कृत हिन्दी व्याकरण की रूपरेखा। दीमशित्स रूसी विद्वान हैं तथा अन्य दोनों विद्वान् भारतीय हैं। वस्तुत एक अच्छे व्याकरण की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है।

२ भाषा विज्ञान

हिन्दी म भाषावैज्ञानिक साहित्य का प्रारम्भ सन् १९२४ ई० म माना जा सकता है किन्तु लगभग १९५० ई० तक कुछ सैद्धान्तिक ग्रथो के अतिरिक्त इस दिशा म बहुत कम काय हुआ। तत्पश्चात् भाषा विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो म सम्बद्ध ग्रथ प्रतिवर्ष निरन्तर प्रकाशित होते रहे हैं। बहुत सी पुस्तकें तो केवल छात्रोपयोगी हैं। ये पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयो म छात्रो के पाठ्य क्रम को ध्यान म रखकर लिखी गई हैं। इस प्रकार के ग्रथो न भाषा विश्लेषण परम्परा को न तो आगे ही बढाया है और न चिन्तन की स्वस्थ परम्परा का विकास ही किया है। कुछ ग्रथ एस भी प्रकाशित हुए हैं जो शीर्षक स व्याकरण ग्रथ हैं किन्तु उनमे प्रस्तुत विवेचन मूलत भाषा वैज्ञानिक है। इसी प्रकार विभिन्न व्याकरण ग्रथो म भी भाषावैज्ञानिक सामग्री उपलब्ध हो जाती है। प्रस्तुत लेख म पुनरावृत्ति को बचाने का यथावत् प्रयत्न किया गया है। अत विषय के आधार पर पीछे व्याकरण अश म तथा यहा भाषाविज्ञान अश मे ग्रथो को पृथक पृथक वर्गीकृत करके दिया जा रहा है।

भाषावैज्ञानिक साहित्य को निम्नलिखित ६ वर्गों म रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है। इस वर्गीकरण का आधार यही है कि प्रवृत्ति के आधार पर सम्बद्ध ग्रथ एक साथ रखे गए हैं—

(क) सैद्धान्तिक ग्रथ

(ख) भाषा के इतिहास ग्रथ,

(ग) हिन्दी भाषा के किसी एक अग विशेष अथवा प्रवृत्ति स सम्बद्ध ग्रथ

(घ) हिन्दी भाषा की एक बोली विशेष से सम्बद्ध ग्रथ

(ङ) किसी कवि अथवा ग्रथ की भाषा के अध्ययन स सम्बद्ध ग्रथ,

(च) अभिनन्दन ग्रथ भूमिकाएँ तथा निबन्ध सग्रह।

(क) सैद्धान्तिक ग्रथ —भाषा विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष स सम्बन्धित ग्रथ निम्नलिखित तीन वर्गों म रखकर प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

(१) **मौलिक**—भाषाविज्ञान शीर्षक स सन् १९२४ मे डा० श्यामसुन्दर दास का ग्रथ प्रकाशित हुआ। इसे भाषा विज्ञान की पहली पुस्तक कहा जा सकता है। हिन्दी भाषा को आधार बनाकर कुछ ग्रथ पहले भी प्रकाशित हो चुके थे किन्तु सैद्धान्तिक भाषा विज्ञान के प्रारम्भ का श्रेय इसी ग्रथ को है। इसके एक वर्ष पश्चात् तुलनात्मक भाषा विज्ञान छपा। यह डा० मगलदेव शास्त्री का ग्रथ है। आज इस ग्रथ का ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। सन् १९४३ म डॉ० बाबूराम सक्सेना का सामान्य भाषा विज्ञान ग्रथ प्रकाशित हुआ। इस ग्रथ ने भाषा विज्ञान के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न करने म बहुत सहायता दी है। सन् १९५० मे बाबू श्यामसुन्दर दास

की पुस्तक 'भाषा रहस्य' छपी। इसके एक वर्ष पश्चात् 'भाषा विज्ञान' नाम से डॉ० भोलानाथ तिवारी का ग्रंथ प्रकाशित हुआ। तब से लेकर आज तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य इस बात में है कि प्रत्येक संस्करण में भाषा विज्ञान की नवीनतम सामग्री जोड दी जाती है। इस रूप में यह ग्रंथ विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी रहा है। सन् १९५३ में पं० सीताराम चतुर्वेदी कृत 'भाषालोचन' छपा। सन् १९५८ में 'ध्वनि विज्ञान' को लेकर गोलोक विहारी ने एक लघु पुस्तक प्रकाशित कराई। हिंदी में भाषा विज्ञान के किसी विशिष्ट अंग से सम्बद्ध यह प्रथम व्यवस्थित अध्ययन कहा जा सकता है। सन् १९५९ में पं० किशोरी दास वाजपेयी का ग्रंथ 'भारतीय भाषा विज्ञान' प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के लेखक का ध्यान विषय की महत्ता पर अधिक केन्द्रित रहा है। तत्पश्चात् पिछले १०-१२ वर्षों में लगभग १५ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें रामस्वरूप अग्निहोत्री —'भाषा विज्ञान' जयवंशी झा— भाषा विज्ञान' पद्म नारायण— आधुनिक भाषा विज्ञान, जयकुमार जलज— भाषा शास्त्र' अमर बहादुर सिंह— भाषा शास्त्र प्रवेशिका' मनमोहन गोतम—'सरल भाषा विज्ञान' जे० सुमन— भाषा विज्ञान के सिद्धांत' राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी— भाषा विज्ञान' डा० हरीश शर्मा—'भाषा विज्ञान की रूपरेखा' अंबाप्रसाद सुमन— भाषा विज्ञान: सिद्धांत और प्रयोग' और रामेश्वर दयाल अग्रवाल— भाषा विज्ञान के सिद्धांत सामान्य स्तर' की पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त सन् १९६३ में डॉ० उदयनारायण तिवारी कृत 'भाषा शास्त्र की रूपरेखा' ग्रंथ छपा। इस ग्रंथ में 'वर्णनात्मक भाषा विज्ञान' की अनेक नई दिशाओं पर विस्तार से विचार किया गया है। सन् १९६४ में प्रकाशित डा० देवी शंकर द्विवेदी की पुस्तक 'भाषा और भाषिकी' भी महत्त्वपूर्ण है। सन् १९६६ में डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा की 'भाषाविज्ञान की भूमिका' पुस्तक छपी। ग्रंथ में सामग्री अन्य पुस्तकों की तुलना में अधिक उपयोगी तथा व्यवस्थित है। सन् १९६९ में डा० भोलानाथ तिवारी का ग्रंथ 'शब्दों का अध्ययन' छपा। ग्रंथ में लेखक की निर्भ्रांत दृष्टि तथा विवेचन की स्पष्टता सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

भाषा शिक्षण से सम्बद्ध सैद्धान्तिक ग्रन्थ दो हैं जो उल्लेखनीय हैं—(१) भाषा शिक्षण की रूपरेखा—लक्ष्मीनारायण गुप्त (२) अन्य भाषा शिक्षण—डा० महावीर शरण जैन। इनमें दूसरा ग्रन्थ अधिक उपयोगी है।

(२) अनुवादित—सन् १९६३ में डा० गुणे के ग्रन्थ का डा० भोलानाथ तिवारी ने 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' नाम से अनुवाद प्रकाशित कराया। मैक्समूलर द्वारा दिए गए भाषण का हिन्दी अनुवाद 'भाषाविज्ञान पर भाषण' नाम से सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। अनुवादक डा० हेमचन्द्र जोशी हैं। जगवंश किशोर बलवीर ने जा० वान्द्रियेज के ग्रन्थ का 'भाषा' शीर्षक से सन् १९६६ में अनुवाद किया। रूसी विद्वान एफ० ए० फातुनातोव के ग्रन्थ का डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ने 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया इधर सन् १९६८ में प्रसिद्ध भाषा विज्ञान वेत्ता ब्लूमफील्ड के Language का अनुवाद भी प्रकाशित हुआ, इसके अनुवादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद हैं। सैद्धान्तिक विषय से सम्बन्ध न होते हुए भी दो अन्य अनुवाद ग्रन्थों का यहां उल्लेखकरण अनुचित न होगा। पिशेल के प्रसिद्ध ग्रन्थ का डा० हेमचन्द्र जोशी ने 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' नाम से अनुवाद किया। इसी प्रकार T Burrow के ग्रन्थ का 'संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक से भोलाशंकर व्यास ने अनुवाद प्रस्तुत किया।

(३) **संस्कृत भाषा में विवेचित भाषा वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बद्ध**—इस प्रकार के चार ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। डा० कपिलदेव द्विवेदी कृत 'अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन' युधिष्ठिर मीमांसक का 'वैदिक स्वरमीमांसा' डा० सत्यकाम वर्मा का 'भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय' और श्री शिवनारायण शास्त्री का 'निरुक्तमीमांसा'। वस्तुतः इस दिशा में बहुत कार्य होना शेष है।

(ख) **भाषा के इतिहास ग्रन्थ**—बहुत से सैद्धान्तिक ग्रन्थों में भाषा के इतिहास से सम्बद्ध सामग्री प्रकाशित हुई है। यहां उन ग्रन्थों का उल्लेख किया जा रहा है जो स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप में इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। सन १९३३ में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने पहली बार हिन्दी भाषा का इतिहास लिखकर इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ किया। तत्पश्चात सन १९५८ में डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने अपने ग्रन्थ का 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' नाम से अनुवाद करके प्रस्तुत किया। लेखक का ध्यान भाषा के इतिहास पर अधिक रहा है। सन १९५९ में डा० उदय नारायण तिवारी द्वारा अनुवादित 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। यह ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण के प्रथम खण्ड प्रथम भाग का ही अनुवाद है। सन १९६१ में बाबू श्याम सुन्दर दास का 'हिन्दी भाषा' लघु ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। डा० उदय नारायण तिवारी ने सन १९६२ में 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसी प्रकार की अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—'हिन्दी भाषा और लिपि का ऐतिहासिक विकास'—सत्यनारायण त्रिपाठी 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान'—डॉ० नामवर सिंह 'हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (द्वितीय भाग)' 'हिन्दी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप'—डा० अम्बाप्रसाद सुमन 'हिन्दी शब्दानुशासन'—प० किशोरीदास वाजपेयी 'हिन्दी भाषा'—डा० भोलानाथ तिवारी 'भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास'—जगदीश प्रसाद कौशिक 'हिन्दी भाषा की भूमिका'—डा० शिवशंकर प्रसाद वर्मा 'हिन्दी भाषा विकास और विश्लेषण'—डा० चन्द्रभान रावत तथा 'हिन्दी भाषा का विकास'—डा० देवेन्द्र नाथ शर्मा तथा रामदेव त्रिपाठी।

(ग) **हिन्दी भाषा के किसी एक अंग विशेष अथवा प्रवृत्ति से सम्बद्ध ग्रन्थ**—हिन्दी में सबसे अधिक ग्रन्थ इसी विषय से सम्बद्ध हैं। निबन्ध की सीमा को देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि सभी का उल्लेख यहां किया जाए। इस दिशा में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'हिन्दी प्रयोग' प० राम चन्द्र वर्मा 'मुहावरा मीमांसा'—डॉ० ओमप्रकाश गुप्त, 'हिन्दी में प्रत्यय विचार'—डा० मुरारी लाल उप्रेति 'हिन्दी समास रचना का अध्ययन'—डा० रमेशचन्द्र जैन 'हिन्दी शब्द रचना'—भाई दयाल जैन, 'हिन्दी कारकों का विकास'—शिवनाथ 'हिन्दी तद्भव शास्त्र'—मुरलीधर

श्रीवास्तव 'हिन्दी भाषा का ऐतिहासिक विकास'—डॉ० शिवनाथ 'खड़ी बोली का स्वरूप'—शारदा नाथ शर्मा, 'हिन्दी की मापानुभूत शब्दावली', 'हिन्दी की विचार हिन्दी शब्दगम'—केन्द्रीय हिन्दी संस्थान आगरा 'हिन्दी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन' डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया 'हिन्दी लक्ष्मीसागर तथा अच्छी हिन्दी' 'हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द विश्लेषण'—प० किशोरी दास वाजपेयी 'हिन्दी भाषा पर फारसी और अंग्रेजी का प्रभाव'—डॉ० भोलानाथ तिवारी 'हिन्दी प्रदीप'—डॉ० बद्री नाथ कपूर 'हिन्दी ध्वनि और ध्वनिमी'—डॉ० रमेश चन्द्र मल्होत्रा, 'हिन्दी क्रिया स्वरूप और विवेचन'—डॉ० बालमुकुन्द 'हिन्दी भाषा में अभार तथा शब्द की सीमा'—डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया 'हिन्दी की शब्द सम्पदा' डा० विद्यानिवास मिश्र तथा 'हिन्दी वाक्य विन्यास'—डॉ० सुधा कालरा। जैसा कि इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है डॉ० पुरण सिंह ने 'दखनी' का विवेचन किया है। यह ग्रन्थ प्रकाशनाधीन है।

(घ) हिन्दी भाषा की बोली विशेष से सम्बद्ध ग्रन्थ—इस अध्ययन की दिशा का प्रारम्भ डा० बाबूराम सक्सेना के ग्रन्थ 'अवधी' से मानना होगा। यह ग्रन्थ १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। सन् १९५४ में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के फ्रेंच भाषा में प्रकाशित शोध प्रबन्ध का हिन्दी रूपान्तर 'ब्रजभाषा' नाम से छपा। इसी वर्ष डॉ० उदयनारायण तिवारी का 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सन् १९५५ में डा० तेस्सितोरी के ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'पुरानी राजस्थानी' शीर्षक से छपा। इसके अनुवादक डा० नामवरसिंह हैं। इधर १५ वर्षों में इस क्षेत्र में लगभग २५ से ऊपर ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस प्रकार हैं—'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य'—डा० शिवप्रसाद सिंह, 'राजस्थानी भाषा और साहित्य'—डा० हीरा लाल माहेश्वरी 'मालवी एवं भाषा शास्त्रीय अध्ययन' डा० चिंतामणि उपाध्याय, 'आगरा जिले की बोली'—डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी 'ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन'—डा० कैलाशचन्द्र भाटिया 'बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन'—डा० रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल 'शेखावटी बोली का वर्णनात्मक अध्ययन'—डा० कैलाशचन्द अग्रवाल 'मथुरा जिले की बोली'—डा० चन्द्रभान रावत 'राजस्थानी भाषा'—डा० चाटुर्ज्या 'मगही भाषा'—डॉ० योगेश्वर, 'मध्य पहाड़ी भाषा का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध'—डा० गुणानन्द जुयाल 'मगही व्याकरण कोश'—सम्पत्ति अर्याणी 'बुलन्दशहर एवं खुरजा तहसीलों की बोलियों का सकालिक अध्ययन'—डा० महावीरशरण जैन, 'छत्तीसगढ़ी बोली' 'व्याकरण और कोश' 'Linguistic Survey of Manbhumi Dalbhumi'—डा० विश्वनाथप्रसाद तथा 'ताजुववेकी'—डा० भोलानाथ तिवारी। इनमें बहुत कम ग्रन्थ ऐसे हैं जो भाषा-भूगोल की वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर तयार किए गए हैं। इस दिशा में सैद्धान्तिक ग्रन्थ की आवश्यकता अभी बनी हुई है।

इस दिशा में दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेखकरण आवश्यक है। एक ग्रन्थ अंग्रेजी में है एक हिन्दी में। डा० सुभद्र झा ने मैथिली भाषा पर विस्तार से काय किया है

उनका ग्रंथ अंग्रेजी में प्रकाशित है। इसी प्रकार नलिनीमोहन सान्याल ने बिहारी भाषाओं पर विस्तार से कार्य किया है।

(ङ) किसी कवि अथवा ग्रंथ की भाषा के अध्ययन से सम्बद्ध ग्रंथ—इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ सन १९५५ में प्रकाशित 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा' से मानना होगा। यह अध्ययन डा० शिवप्रसाद सिंह द्वारा किया गया था। इसके पश्चात डा० नामवर सिंह कृत 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' सन १९५६ में प्रकाशित हुआ। ग्रंथ में रासो के मुख्य भाग कनवज्ज समय को आधार बनाया गया है। इस आधार पर ग्रंथ का नाम भ्रामक है। फिर भी सम्पूर्ण ग्रंथ वैज्ञानिक विश्लेषण-पद्धति के अनुसरण का संकेत देता है। सन १९५७ में डा० प्रेम नारायण टंडन द्वारा लिखित सूर की भाषा ग्रंथ में अनेक सैद्धांतिक भ्रांतियां हैं फिर भी विवेचन महत्त्वपूर्ण है। इसी वर्ष डॉ० देवकीनंदन श्रीवास्तव का तुलसीदास की भाषा ग्रंथ भी विद्यमान है। भाषा के आधार पर तुलसी की रचनाओं का वर्गीकरण का अंश उल्लेखनीय है। सन १९६२ में डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने राउलवेल और उसकी भाषा ग्रंथ प्रकाशित कराया। शिलांकित राउलवेल को पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत कर तथा उसकी भाषा का विवेचन करके लेखक ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसी वर्ष डा० निर्मला सक्सेना का सूरसागर शब्दावली (एक सांस्कृतिक अध्ययन)' प्रकाशित हुआ। ग्रंथ तथ्यात्मक अधिक है। सूर द्वारा प्रयुक्त सनाशब्दों को व्यवस्थ करके लेखिका ने उपादेय कार्य किया है। सन १९६५ में डा० माता बदल जायसवाल का 'कबीर की भाषा' ग्रंथ छपा। कबीर की भाषा को तत्कालीन हिंदी मानने में लेखक का दुराग्रह ही प्रकट होता है। इसी वर्ष जायसी की भाषा नाम से डा० प्रभाकर शुक्ल का ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में डा० भगवत प्रसाद दुबे कृत कबीर-काव्य का भाषाशास्त्रीय अध्ययन' दिल्ली से प्रकाशित हुआ। ग्रंथ के अन्त में सापेक्षिक प्रयोग्य वृत्तियों की तालिकाएँ दी गई है। इन तालिकाओं से निकाले गए निष्कर्षों से सहमत होना सम्भव नहीं है क्योंकि उस पद्धति का आधार वैज्ञानिक नहीं है। प्रस्तुत लेख के लेखक का ग्रंथ कबीर की भाषा सन् १९६६ में ही दिल्ली में प्रकाशित हुआ। भाषावैज्ञानिक अध्ययन खंड १ में दिया गया है। सन १९७२ में डा० विद्युमाधवमिश्र कृत कबीर ग्रंथावली की भाषा छपा। ग्रंथ में वर्णनात्मक विवेचन के साथ ऐतिहासिक विवेचन भी है।

(च) १ अभिनंदन ग्रंथ, २ भूमिकाएँ तथा ३ निबंध-संग्रह—

(१) अभिनंदन ग्रंथ—भाषावैज्ञानिक दृष्टि से दो अभिनन्दन ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी अनुशीलन का धीरेंद्र वर्मा विशेषांक सन १९६० में प्रकाशित हुआ। इसमें अनेक देशी विदेशी विद्वानों के लेख संगृहीत हैं। इसका 'प्रथम खंड भाषा वैज्ञानिक विवेचन से सम्बद्ध है जिसमें अधिकारी विद्वानों के २८ लेख दिए गए हैं। लेखों में विषय से सम्बंधित गम्भीर चिन्तन लक्षित होता है। यह ग्रंथ भारत में भाषा विज्ञान की स्वस्थ परम्परा के प्रति आश्वस्त करता है। सन [illegible] श्री पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनन्दन ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ।

भाषाविज्ञान खंड में १५ लेख हैं। इस खंड के सम्पादक डा० बाबू राम सक्सेना तथा डा० भोलानाथ तिवारी हैं। इन लेखों में डा० सिद्धेश्वर वर्मा का 'भाषा ध्वनि विज्ञान का मूलतत्त्व' शीर्षक लेख सैद्धान्तिक भाषा विज्ञान से सम्बन्धित अध्ययन है, शेष लेख हिन्दी भाषा अथवा उसकी विभिन्न बोलियों से सम्बन्धित अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। सभी लेख महत्त्वपूर्ण हैं तथा इसी आधार पर यह अभिनन्दन ग्रन्थ हिन्दी विद्वानों की परम्परा के ज्ञान वर्द्धन में विशेष योग देता है।

(२) भूमिकाएँ—सन् १६५४ ई० में ढोलामारूरा दूहा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक हैं—श्री रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक तथा श्री नरोत्तम स्वामी। ग्रन्थ की प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध भाग में 'भाषा और व्याकरण' का विवेचन है। इसमें प्राकृत और उसमें आधुनिक राजस्थानी तक भाषा विकास विवेचित है। इसी उत्तरार्द्ध में ढोलामारूरा दूहा की भाषा के व्याकरण पर भी विचार किया गया है। यह अंश भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कुछ उपयोगी है। यह दूसरी बात है कि उसमें वर्णित सभी मतों से सहमत होना कठिन है फिर भी इस अंश का अपना विशिष्ट महत्त्व है। सन् १६५७ में बुद्धचरित का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा Light of Asia का काव्य रूपान्तर है। मूल ग्रन्थ से पूर्व काव्य भाषा शीर्षक के अन्तर्गत भाषाविचार से सम्बन्धित सामग्री भी दी गई है। ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली तीनों बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(३) निबन्ध संग्रह—अब तक भाषा विज्ञान के विषयों से सम्बद्ध अनेक निबन्धसंग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें ८ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विचार धारा—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का निबन्ध संग्रह है जो सन् १६४१ में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह के 'भाषा' खंड में हिन्दी भाषा से सम्बद्ध उपयोगी सामग्री है। निबन्धों में लेखक की तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि सर्वत्र लक्षित होती है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का 'भारत की भाषाएँ तथा भाषा सम्बन्धी समस्याएँ' ग्रन्थ सन् १६५७ में प्रकाशित हुआ। इसके संपादन महत्त्व माना है। संग्रह में विचारों की मौलिकता पूर्णरूप से परिलक्षित है। बंगला भाषा में लिखे इस मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद सफल है। डॉ० चटर्जी का ही दूसरा निबन्धसंग्रह 'ऋतम्भरा' नाम से सन् १६५८ में छपा। सभी निबन्धों में लेखक का वैज्ञानिक दृष्टिकोण दृष्टिगत होता है। सन् १६६२ में डॉ० रामचन्द्र वर्मा के निबन्धों का संग्रह 'शब्द और अर्थ' नाम से प्रकाशित हुआ। प्रकाशित सभी इस नवीन अध्ययन से सम्बन्धित विभिन्न लेख महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० हरदेवलाल शर्मा तथा श्री प्रकाश चन्द्र अग्रवाल द्वारा सम्पादित निबन्धसंग्रह 'भाषा विज्ञान' नाम और तथ्य' शीर्षक से सन् १६६८ में छपा। ग्रन्थ में विभिन्न विद्वानों के लेख संगृहीत हैं। लेखों के विषयों में अव्यवस्था है यही कारण है कि कुछ महत्त्वपूर्ण लेखों के होते हुए भी संग्रह अधिक उपयोगी नहीं बन पाया है। डॉ० रमेशचन्द्र महरोत्रा तथा डॉ० शान्तिलाल शुक्ल द्वारा सम्पादित संग्रह 'भाषिकी के दस लेख' नाम से सन् १६६८ में प्रकाशित हुआ। इसमें ६ लेख हिन्दी में तथा ८

अंग्रेजी में हैं। पुस्तक में संगृहीत लेखों में शोधकर्ताओं की जिज्ञासु दृष्टि का परिचय मिलता है। सन् १६०० में डा० रमेशचंद्र महरोत्रा की 'भाषिकी' नाम से ११ लेखों का संग्रह छपा। इसमें सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के निबन्ध हैं। डॉ० भोलानाथ तिवारी द्वारा दिए गए विभिन्न भाषणों तथा समय पर प्रकाशित लेखों का संग्रह 'भाषा चिन्तन' नाम से सन १६७१ में प्रकाशित हुआ। संग्रह में सैद्धान्तिक लेख कम हैं तथा व्यावहारिक अधिक हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ लेखक के चिन्तन गाम्भीर्य का परिचायक है।

इन ६ वर्गों के ग्रन्थों के विवेचन के पश्चात कुछ अन्य बातों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इधर तीन पत्रिकाएँ ऐसी हैं जिनमें भाषा विश्लेषण से सम्बन्धित सामग्री निरंतर प्रकाशित हो रही है। 'भाषा' स० श्रीमती तारा तिक्कू, 'अनुवाद' स० डॉ० भोलानाथ तिवारी तथा श्री महेन्द्र चतुर्वेदी और 'भाषिकी' स० डा० भोलानाथ तिवारी तथा डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव। 'भाषिकी' का प्रकाशन हाल ही में प्रारम्भ हुआ है जबकि 'भाषा' और 'अनुवाद' पिछले कई वर्षों से प्रकाशित हो रही हैं। 'अनुवाद' पत्रिका में अनुवाद सम्बन्धी लेखों और अनूदित रचनाओं के अतिरिक्त भाषा विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों से सम्बद्ध लेख प्रकाशित हुए हैं। 'भाषा' में हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के विषय में भी लेख छपे हैं।

अधुनातन दृष्टि से पाश्चात्य विद्वान् पाइक और नाइडा की परम्परा को अपनाते हुए टग्मीमिक सिद्धान्त (Tagmemics) के आधार पर भारत में डॉ० रमानाथ सहाय तथा डा० विश्वजीत ने हिंदी भाषा पर कार्य किया है। ध्वनि से सम्बन्धित कार्य करने वालों में लन्दन स्कूल के फर्थ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारत में डॉ० विश्वनाथ प्रसाद इन्हीं के शिष्य थे जिन्होंने भोजपुरी और हिंदी ध्वनियों पर कार्य किया था। फर्थ के ही शिष्य हैलिडे ने अपने मौलिक चिंतन के आधार पर नई विश्लेषण व्यवस्था को जन्म दिया है जिसे Systemic Grammar कहते हैं। भारत में इनके एकमात्र अनुयायी डॉ० शिवेन्द्र किशोर वर्मा हैं जिन्होंने हिन्दी तथा हिन्दी अंग्रेजी क्रिया-वर्गों की तुलना पर कार्य किया है। अमरीकी विद्वान चॉम्स्की (Chomsky) ने रूपान्तरण (Transformational) पद्धति का विकास किया है। इस क्षेत्र में डा० एम० के० वर्मा और यमुना काचरू के नाम उल्लेखनीय हैं। लेनिनग्राद स्कूल में प्रशिक्षित डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने लेनिनग्राद स्कूल, चॉम्स्की शैलीविज्ञान तथा केस ग्रामर आदि की दृष्टि से हिन्दी भाषा पर बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

भाषा विज्ञान के अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें हिन्दी भाषा को आधार बनाकर अभी कार्य प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। सैद्धान्तिक दृष्टि से बोली भूगोल का क्षेत्र ऐसा है जिसमें बहुत कुछ कार्य होना चाहिए। प्रस्तुत लेख का लेखक इस दिशा में कार्य कर रहा है जो शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगा। इधर डॉ० भोलानाथ तिवारी भी कोश विज्ञान व्याकरण विज्ञान तथा अनुवादविज्ञान आदि कुछ सैद्धान्तिक विषयों को

लकर काम पर रहे हैं।

३ कोश

हिन्दी का कोश साहित्य संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के कोशों से प्रभावित है। व्याकरण के समान कोश-साहित्य का भी विपुल भंडार विद्यमान है। इस सम्पूर्ण साहित्य के वर्गीकरण और मूल्यांकन की समस्या अभी भी बनी है। परिणामत कुछ अपवादों को छोड़कर अपेक्षित स्तर के कोशों का निर्माण नहीं हो पाया है। डा० भोलानाथ तिवारी ने अपने एक लेख में हिन्दी कोशों की परम्परा को १३ कोटियों में वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया है।[1] जैसा कि उन्होंने स्वयं ही संकेत कर दिया है यह वर्गीकरण वैज्ञानिक न होकर सामान्य मिला जुला वर्गीकरण' है इस कारण इसमें अनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति देखने को मिलती है। फिर भी समग्र रूप में एक स्थान पर एकत्रित सामग्री की सूचना देने में यह लेख बहुत उपयोगी है।

हिन्दी में प्रकाशित कोष साहित्य का निम्नलिखित वर्गों में विभक्त करके प्रस्तुत करना अधिक वैज्ञानिक होगा। संस्कृत परम्परा के कुछ अनेकार्थी कोश १५६८ ई० और १६०० ई० के बीच में बने थे। वस्तुत इस प्रकार के कोशों का हिन्दी में अभाव है।

(क) पर्यायवाची कोश—संस्कृत के अमरकोश और 'शब्दार्णव' की परम्परा में तयार किए गए कोश प्राय नाममाला के नाम से हिन्दी में प्रचलित हुए। ये मुख्यत पर्यायकोश हैं। इस प्रकार के कुछ कोशों में समानार्थी के साथ-साथ अनेकार्थी या एकाक्षरी अंश भी है। सन् १५६१ में लगभग डिंगल नाममाला लघुग्रंथ हरराज द्वारा तैयार किया गया था। हिंदी में धातुओं का प्रथम कोश गुजराती कवि द्वारा भाषा धातु माला' नाम से सन् १७१३ ई० में निर्मित किया गया। तब से लेकर सन् १८०६ तक लगभग दो दर्जन इसी प्रकार के कोश तैयार हुए जो अधिकांशत संस्कृत के अमर कोश के यथावत् या छायानुवाद हैं। सन् १८७३ में फैलन ने हिंदुस्तानी पर्यायवाची शब्द प्रकाशित कराया। यह यूरोपीय परम्परा का कोश है। सन् १९३५ ई० में श्रीकृष्ण शुक्ल ने भारतीय और यूरोपीय दोनों परम्पराओं के अनुकरण पर हिंदी पर्यायवाची कोश बनारस से प्रकाशित कराया। वस्तुत इसे किसी भारतीय व्यक्ति के द्वारा लिखित हिंदी का प्रथम पर्यायवाची कोश कहा जा सकता है। तत्पश्चात् सन् १९५४ में डा० भोलानाथ तिवारी का वृहत् पर्यायवाची कोश प्रकाशित हुआ। यह कोश अंग्रेजी के 'थेसारस' कहे जाने वाले कोशों की पद्धति पर तयार किया गया है। अब तक इस कोश का संशोधित संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। सन् १९६५ में बदरी नाथ कपूर कृत राजकमल अंग्रेजी हिंदी पर्याय वाची कोश दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इधर सन् १९६८ में श्रीकृष्ण शुक्ल के कोश का संशोधित परिवर्धित संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। वस्तुत इस दिशा में अभी

---

१ भाषा चिन्तन, डा० भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ ७४ १०८

भी सुधार की अपेक्षा है।

(ख) मुहावरा कोश—स्वतन्त्र सग्रह के रूप म १९२३ म हिन्दी मुहावरे नाम स ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसे प० रामदहिन मिश्र न तैयार किया था और यह बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् रसूल अहमद का हिन्दुस्तानी मुहावरा कोश छपा। सन् १९३२ मे लाहौर म बहादुरचन्द्र कृत लोकोक्तियाँ और मुहावरे नाम स ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात १९३५ ई० म बगलौर से और १९३७ ई० में इलाहाबाद स 'हिन्दी मुहावरा कोश' ग्रन्थ छपे। दोनो का नाम एक ही था किन्तु पहले का जम्बुनाथन ने तथा दूसरे का श्री आर जे सरहिन्दी न सकलन किया था। इसके एक वर्ष पश्चात् ब्रह्मस्वरूप शर्मा दिनकर न हिन्दी मुहावरे कलकत्ता स प्रकाशित किया। सन् १९४० मे 'हिन्दुस्तानी मुहावरे' नाम स एक सकलन अम्बिका प्रसाद वाजपेयी न तैयार किया जो कलकत्ता स छपा। इसके लगभग १० वर्ष तक कोई अच्छा मुहावरा कोश प्रकाश मे नही आया। सन् १९५१ म डा० भोलानाथ तिवारी 'हिन्दी मुहावरा कोश' तैयार किया जिसका दूसरा सस्करण बाद म सन् १९६४ में प्रकाशित हुआ। यह कोश अपनी कमियो के बावजूद भी महत्त्वपूर्ण है। सन् १९५९ म पटना मे प० रामदहिन मिश्र ने 'बृहद् मुहावरा कोश' का प्रथम भाग प्रकाशित कराया। वस्तुत प्रासगिक स्तर पर इस दिशा म कार्य होना अभी बाकी है।

(ग) लोकोक्ति कोश—इस प्रकार का प्राचीनतम सग्रह जायसी का 'मसलानामा' है किन्तु आधुनिक ग्रथ मे थामस रोबक न A Collection of Provesbs and Proverbial Phrases in the Persian and Hindoostanee Language नाम से सन् १८२४ म कोश प्रकाशित किया यह ग्रथ कलकत्ता मे प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् सन् १९०२ तक कुछ एस सग्रह प्रकाशित हुए जिनम हिन्दी के साथ-साथ अन्य भाषाओ की भी कहावत सगृहीत थी। सन् १९०२ म 'कहावत सग्रह' नाम से सत प्रसाद ने एक कोश तैयार किया। सिद्धेश्वर शर्मा न १९०७ मे लोकोक्ति या कहावत प्रकाशित कराया। रामरत्न अध्यापक का रामरत्न लोकोक्ति सग्रह' बहुत पहले तैयार हुआ था किन्तु इसका दूसरा सस्करण १९१५ मे प्रकाशित हुआ। हिन्दी लोकोक्ति कोश नाम स सन् १९२३ म विश्वनाथ खत्री न कलकत्ता से एक कोश प्रकाशित किया। सन् १९३२ म बहादुर चन्द्र का कोश प्रकाशित हुआ जिसमें लोकोक्तिया और मुहावरों दोनो का सग्रह किया गया था। इसके पश्चात् घाघ भड्डरी गढवाली मवाडी राजस्थानी मराठी मालवी कुमाऊनी आदि बोलिया मे भी अनेक कोश प्रकाशित हुए जिनम सम्बद्ध बोलियो की लोकोक्तिया सगृहीत की गइ। इधर सन् १९५६ मे 'कहावत कोश' नाम से भुवनेश्वर नाथ मिश्र न एक कोश प्रकाशित कराया जिसमे भोजपुरी मगही मथिली की लोकोक्तियाँ दी गई है। हिन्दी उड़िया तथा हिन्दी मलयालम की लोकोक्तिया के तुलनात्मक कोश भी प्रकाशित हुए हैं। जसा कि इन पक्तियो के लेखक को ज्ञात है सन् १९६६ मे डा० भोलानाथ तिवारी न बृहद् लोकोक्ति कोश' का सम्पादन

किया था। इसमें हिन्दी के साथ [illegible] के पर्यायों की [illegible] का तुलनात्मक रूप भी दिया गया है। [illegible] प्रकाशित हो [illegible]।

(ख) हिन्दी हिन्दी कोश—हिन्दी में इस प्रकार के कोशों की परम्परा सन् १८७१ ई० में प्रारम्भ हुई। [illegible] द्वारा हिन्दी कोश प्रकाशित किया गया। इसके पश्चात् सन् १९०३ तक लगभग १० [illegible] कोश प्रकाशित हुए जिनका उल्लेख डॉ० भोलानाथ तिवारी ने [illegible] में किया है। परन्तु ये सभी साधारण कोटि के ही कोश हैं। इस प्रकार का एक प्रयत्न [illegible] सन् १९०७ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से [illegible] द्वारा किया गया। सन् १९०९ में श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्मा आदि विद्वानों के सम्पादकत्व में [illegible] क्रमशः १९१६, १९२०, १९२४ तथा १९ ८ में प्रकाशित हुए। [illegible] के बावजूद आज भी इस कोश का महत्त्व बना हुआ है। इसके [illegible] कोश संस्करण आज तक प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९३३ में रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर प्रकाशित हुआ जो [illegible]। इसके भी [illegible] संस्करण प्रकाशित हुए हैं। इससे पूर्व तीन महत्त्वपूर्ण कोश सामने आ चुके थे—(१) [illegible]—द्वारकाप्रसाद शर्मा (२) हिन्दी शब्द कल्पद्रुम—रामनरेश त्रिपाठी (३) हिन्दी शब्द संग्रह—मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव। सन् १९३६ में डॉ० [illegible] 'भाषा शब्द कोश' प्रकाशित हुआ। रामचन्द्र वर्मा का प्रामाणिक हिन्दी कोश बनारस में १९४९ ई० में छपा। सन् १९५० में तीन कोश प्रकाशित हुए बनारस से रामचन्द्र पाठक का आदर्श हिन्दी कोश तथा सालिगराम त्रिपाठी प्रवासी का 'प्रचारक हिन्दी कोश', पटना से रघुवर जी का नालन्दा विशाल शब्द सागर। सन् १९२५ में बनारस से ही कालिका प्रसाद श्रीवास्तव तथा अन्य कृत 'वृहद् हिन्दी कोश' छपा। इसका नवीन संस्करण सन् १९६४ में छपा है। इस संस्करण में १,३८,००० शब्द संख्या दी गई है। सन् १९५६ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा भारतीय हिंदी कोश प्रकाशित कराया गया। सन् १९५२ के आसपास 'साहित्य सम्मेलन' इलाहाबाद से एक कोश का कार्य प्रारम्भ हुआ जिसके प्रधान डा० भोलानाथ तिवारी थे। बाद में यह कार्य रामचन्द्र वर्मा ने पूरा कराया और उन्हीं के सम्पादकत्व में 'मानक हिंदी कोश' के रूप में पाँच भागों में (१९६२ १९६२ १९६३ १९६४ १९६५) प्रकाशित हुआ। यह कोश अधिक सामग्री से पूर्ण है और अब तक प्रकाशित कोशों की तुलना में विस्तृत भी है। यद्यपि इसमें व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से प्रामाणिक हिन्दी कोश की सामग्री का अधिक उपयोग किया गया है।

इधर हिंदी की कुछ बोलियों के कोश भी प्रकाशित हुए हैं। सन १९५५ में रामाज्ञा द्विवेदी समीर कृत 'अवधी कोश' इलाहबाद से प्रकाशित हुआ। राजस्थानी सबदकोस–सीताराम लालस–स० नित्यानन्द सन १९६१ में छपा। मगही व्याकरण

कोश-सम्पत्ति ग्रर्याणी' दिल्ली से सन १९६५ मे प्रकाशित हुआ। डा० कान्ति कुमार के ग्रंथ 'छत्तीसगढी बोली, व्याकरण और कोश मे 'छत्तीसगढी कोश' भी है यह ग्रथ सन १९६६ ई० मे प्रकाशित हुआ। डा० प्रेम नारायण टडन ने सन् १९६२ म सूर-व्रजभाषा कोश प्रकाशित कराया था। वस्तुत इसमे सूर शब्दावली ही है, कुछ थोडे स व्रजभाषा मे प्रयुक्त होने वाले ग्रन्य शब्द भी ले लिए गए हैं। जैसा कि इन पक्तियो के लेखक को ज्ञात है डॉ० भोलानाथ तिवारी ने ताजुब्बेकी कोश सम्पादित किया था। किन्तु स्वतन्त्र ग्रथ के रूप म यह अभी भी अप्रकाशित ही है। सोवियत सघ मे बोली जाने वाली हिन्दी की इस बोली का सक्षिप्त शब्दकोश उन्हा ने अपने ग्रन्थ ताजुज्बेकी' म प्रकाशित करा दिया है। यह ग्रथ दिल्ली से सन् १९७० म प्रकाशित हुआ है।

(ङ) हिन्दी अन्य भाषा अथवा अन्य भाषा हिन्दी कोश—इस प्रकार के कोशो को अनेक उपवर्गों म रखकर देखा जा सकता है।

(१) हिन्दी फारसी कोश—सन १६७५ ई० म तयार किए गए लुगतए हिन्दी को इस वर्ग का प्रथम कोश मानना अनुचित न होगा। इस से पूर्व खालिक-बारी का उल्लेख मिलता है जो अमीर खुसरो की रचना है जिसके रचना-काल के विषय म आज भी सदेह विद्यमान है। इस प्रकार के कोशो की परम्परा १८०० ई० के पश्चात आगे नही बढ पायी।

(२) हिन्दी अंग्रेजी कोश—१७वी १८वी और १९वी शती मे मिशनरी विद्वानो द्वारा इस प्रकार के कोशो की रचना हुई है। हिन्दी सस्कृत अंग्रेजी का प्रमाणिक विश्वकोश सन १९१५ मे प० राम स्वरूप द्वारा तयार किया गया। किसी भारतीय द्वारा इस दिशा का यह पहला कोश कहा जा सकता है। इसी पद्धति पर सन १९६२ म दीपचन्द त्रिलोक चन्द तथा अन्य कृत हिन्दी इगलिश सिंधी शब्दकोश' प्रकाशित हुआ। सन् १९४६ म बनारस स रामचन्द्र पाठक का भार्गव हिन्दी अंग्रेजी कोश' छपा। इधर १९६६ मे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय न व्यावहारिक हिन्दी अंग्रेजी शब्द कोश' प्रकाशित कराया है। सन् १९७० मे इसी प्रकार के दो कोश प्रकाशित हुए हैं (१) राममूर्ति सिंह कृत मानक हिन्दी अंग्रेजी कोश, (२) महेन्द्र चतुर्वेदी तथा डा० भोलानाथ तिवारी द्वारा सम्पादित व्याव-हारिक हिन्दी अंग्रेजी कोश'। इनम दूसरा कोश वैज्ञानिक पद्धति पर तयार किया गया है।

(३) हिन्दी-अन्य भारतीय भाषा कोश—वस्तुत इस प्रकार के कोष दूसरी भाषा सीखने सिखाने के लिए उपयोगी हैं। इनके द्वारा भाषा विश्लेषण की परम्परा मे विशेष सहायता नही मिलती। एक भाषा के प्रचलित शब्द लेकर ये कोश तयार किए जाते हैं। हिन्दी के साथ उर्दू, पजाबी, गुजराती बगाली मराठी सिंधी, सथाली तथा दक्षिण भारतीय भाषाओं के कोश तैयार किए गए हैं। सबसे अधिक कोश हिन्दी-मराठी के हैं। हिन्दी के साथ दक्षिण भारतीय भाषाओ के कोशो को तैयार करने म दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का विशेष योगदान रहा है।

(४) संस्कृत हिन्दी कोश—इस प्रकार का पहला कोश सन् १९१० में द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी ने तैयार किया था। इन्होंने सन् १९२८ में एक अन्य कोश संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ नाम से प्रकाशित कराया। यह कोश अधिक प्रामाणिक तथा उपयोगी भी है। इधर आप्टे के प्रसिद्ध कोश का हिन्दी अनुवाद भी दिल्ली से सन् १९६६ में प्रकाशित हो चुका है।

(५) प्राकृत हिन्दी कोश—सन् १९२८ में हरगोविन्द दास त्रिकमचन्द सेठ कृत पाइअ-सद्द-महण्णवो प्रकाशित हुआ। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के सम्पादकत्व में इसका दूसरा संस्करण सन् १९६३ में प्रकाशित हुआ। यह कोश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अच्छा है। सन १९६० में बेचरदास जीवराज दोशी का संक्षिप्त कोश भी प्रकाशित हुआ।

(६) अंग्रेजी हिन्दी कोश—इस प्रकार के कोश पहले मिशनरी विद्वानों द्वारा तैयार किए गए थे। सन् १८६५ में मथुरा प्रसाद मिश्र ने अंग्रेजी उर्दू हिन्दी कोश प्रकाशित किया था। इसके पश्चात् सन् १८८७ में मुन्शी लाल का अंग्रेजी हिन्दी कोश प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् रामचन्द्र पाठक, मुक्ताराम नारायण अग्रवाल तथा अन्य गोपीनाथ श्रीवास्तव, डॉ० सूर्यकान्त, केदारनाथ भट्ट, कामिल बुल्के, डॉ० हरदेव बाहरी और राममूर्ति सिंह के अंग्रेजी हिन्दी कोश छपे। इनमें डॉ० बाहरी का वृहत अंग्रेजी हिन्दी कोश अधिक अच्छा है।

(७) अन्य भारतीय भाषा हिन्दी कोश—इस प्रकार के कुछ कोशों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। बंग, भीली, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि के पृथक से कोश भी प्रकाशित हुए हैं। १६ भाषाओं का तुलनात्मक शब्दकोश 'भारतीय व्यवहार कोश' नाम से बम्बई भाषा विभाग द्वारा तैयार किया गया है।

(८) उर्दू हिन्दी कोश—सन् १८६६ में चिरंजीलाल वंशीधर द्वारा 'उर्दू हिन्दी अंग्रेजी शब्द समूह' नाम से कोश तैयार किया गया था। इसके पश्चात 'उर्दू-हिन्दी कोश'—रामचन्द्र वर्मा का सन १९३६ में प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व कुछ अन्य छोटे कोश भी छपे किन्तु वे बहुत ही सामान्य स्तर के थे। इसी वर्ष जगन्नाथ का 'उर्दू हिन्दी कोश' भी छपा। सन् १९४९ में कुलकर्णी और भिवरे का उर्दू हिन्दी मराठी कोश प्रकाशित हुआ। अलीगढ़ से १९५५ में अंजुमन तरक्की कृत 'उर्दू हिन्दी कोश' छपा। इसी वर्ष इलाहाबाद से भी केदारनाथ भट्ट कृत उर्दू हिन्दी कोश प्रकाशित हुआ। सन १९५९ में लखनऊ से मुहम्मद मुस्तफा खाँ मद्दाह का उर्दू हिन्दी शब्दकोश छपा। अब तक प्रकाशित कोशों में यही सर्वोत्तम है।

(९) रूसी हिन्दी कोश—इधर सन १९५७ में दो रूसी हिन्दी शब्दकोश भी प्रकाशित हुए हैं एक मास्को से दूसरा दिल्ली से। मास्को से यह कोश व० म० बेस्क्रोवनी ने और दिल्ली से वीर राजेन्द्र ऋषि ने तैयार किया है।

(१०) पारिभाषिक शब्दकोश—विभिन्न विषयों के अनेक पारिभाषिक कोश भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित है। यह कोश सन १९५५ में A Comprehensive English Hindi Dictionary

नाम से दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसमे पारिभाषिक और सामान्य दोनो प्रकार के शब्द हैं। मनोविज्ञान, जीवविज्ञान विद्युत खनिज, चिकित्सा, व्यवसाय, अर्थशास्त्र गणित, पत्रकारिता पुस्तकालय, दर्शन, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, कृषि, समाजशास्त्र, राजनीति, शासन, भूगोल, साहित्य और भाषाविज्ञान विषयों के पारिभाषिक कोश भी प्रकाशित हो चुके हैं। इन कोशों की सहायता से विषयों को समझने में विशेष सहायता मिलती है। साहित्य से सम्बन्धित सन १९५८ मे हिंदी साहित्य कोष' डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुआ। सन १९६९ में मुरलीधर श्रीवास्तव का हिन्दी धातु कोश छपा। मानविकी पारिभाषिक कोश' का साहित्य खंड डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित है। यह १९६५ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार भाषा विज्ञान से सम्बद्ध दो महत्त्वपूर्ण कोश प्रकाशित हो चुके हैं—(१) राजेन्द्र द्विवेदी कृत 'भाषा शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश (१९६३ ई०), (२) डा० भोलानाथ तिवारी कृत भाषाविज्ञान कोश (१९६४ ई०)। इनमे दूसरा कोश अधिक पूर्ण है।

(छ) व्यक्ति तथा कृति-कोश—इस प्रकार का पहला कोश विलियम प्राइस का था जिसने प्रेमसागर के शब्दों का 'हिन्दी अंग्रेजी कोश सन १८६४ मे तैयार किया था। सन १९२८ में महावीर प्रसाद मालवीय का विनय पत्रिका' के मुख्य शब्दों का विनय कोश प्रकाशित हुआ। सन् १९४८ में केदारनाथ भट्ट का रामायण कोश छपा। डा० भोलानाथ तिवारी कृत तुलसी शब्द सागर सन १९५४ मे प्रकाशित हुआ। डा० प्रेम नारायण टंडन ने इसी प्रकार ब्रजभाषा सूर-कोश निर्मित किया जो सन १९६२ मे लखनऊ से प्रकाशित हुआ। प्रसाद से सम्बद्ध दो कोश छपे हैं (१) हरदेव बाहरी का प्रसाद साहित्य कोश (१९५७ ई०)। (२) सुधाकर पांडेय का प्रसाद काव्य कोश (१९५७ ई०)। अब कबीर कोश का कार्य भी पूरा हो चुका है और यह प्रकाशनाधीन है। इसे प० परशुराम चतुर्वेदी तथा इन पंक्तियों के लेखक ने तैयार किया है। जैसा कि मुझे ज्ञात है मीरा कोश भी पूर्ण है जो डा० शशिप्रभा शुक्ल ने तैयार किया है।

(ज) विश्वकोश—हिन्दी मे प्रथम विश्वकोश नगेन्द्रनाथ वसु का हिन्दी विश्वकोश सन १९२५ मे प्रकाशित हुआ था। इधर नागरी प्रचारिणी सभा ने विश्वकोश' प्रकाशन की विस्तृत योजना बनाई थी। कार्य बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुका था तथा इस कोश के कई खंड प्रकाशित हो चुके हैं। वस्तुतः इस दिशा मे ये दोनों कार्य सामान्य ही कहे जा सकते हैं। अच्छे स्तर के विश्वकोश की प्रकाशन-योजनाएं बनाई जानी चाहिए। हिन्दी में आशा है इस प्रकार के कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ होंगे।

प्रथम परिशिष्ट

हिंदी भाषा के क्षेत्र मे कार्य करने वालों में कुछ मुख्य नाम हैं अंबाप्रसाद 'सुमन' अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, अनिल विद्यालंकार, अमरबहादुर सिंह, अशोक केलकर, आनन्द स्वरूप पाठक, आर० एन० साहा, आर्येन्द्र शर्मा ईश्वरी, उदयनारायण

तिवारी, ऋषि गापाल, एम० टी० प्रादम, एम० पी० जायसवाल एल० एन० मित्तल, एल०बी० राम एम० मगामी प्रोमप्रकाश कविता निवास कपिलदेव द्विवेदी, कपिल देव शास्त्री करुणापति त्रिपाठी कामिकुमार कामताप्रसाद गुरु कालीचरण बहल काशीराम किशोरीदास वाजपेयी कृपाशंकर सिंह कृष्णकुमार गोस्वामी, कृष्णगोपाल रस्तोगी, कृष्णलाल हस, कृष्णानन्द कैलाशचन्द्र अग्रवाल कैलाशचन्द्र भाटिया गणदत्त उपरेती गणेशदत्त इद्र गिरीन्द्रनाथ दत्त गुणानन्द जुयाल गोपालबिहारी दत्त, गोविंद चन्दारी, गोविंद चातक, गोविन्द नारायण मिश्र गोरीशंकर भट्ट गोरीशंकर शुक्ल गोरीशंकर हीराचद ओझा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी चद्रवली पाण्डेय चद्रभान रावत, चतुर्भुज द्विवेदी, चतुर्भुज सहाय चमनलाल अग्रवाल चारु रानी सचदेव चितामणि उपाध्याय जदुनाथ जगदेव सिंह, जनार्दनप्रसाद काला, डी० डी० शर्मा तारिणी चरण, दयानन्द श्रीवास्तव दामोदर शर्मा दीनानाथ डे दुनीचद दुर्गा प्रसाद देवकीनन्दन श्रीवास्तव देवीदयाल देवीप्रसाद देवीशंकर द्विवेदी देवेन्द्रनाथ शर्मा धीरेन्द्र वर्मा नगेन्द्रनाथ वसु नरेन्द्र व्यास नरोत्तम स्वामी नलिनी मोहन सान्याल, नवीनचद्र राय, नानक सरन निगम नामवरसिंह निगमानन्द परमहंस पद्म सिंह शर्मा पन्नालाल कासलीवाल पुरुषोत्तम लाल मेनारिया पुष्पचंद जैन पूर्णसिंह डबास प्रेमनारायण टंडन बदरीनाथ कपूर बद्रीनाथ भट्ट बहादुर चद बहादुर सिंह बाबूराम सक्सेना बालगोविन्द मिश्र बालमुकुन्द गुप्त ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव ब्रह्मस्वरूप दिनकर भगतसिंह, भगवत प्रसाद दुबे भगवती प्रसाद शुक्ल भगवद्दत्त भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भालचन्द्र राव तैलंग, भैरवप्रसाद मिश्र भोलानाथ तिवारी भोला शंकर व्यास मंगलदेव शास्त्री, मणीन्द्रकुमार वर्मा मधु खत्री महावीरप्रसाद द्विवेदी, महावीर सरन जैन महेन्द्र माणिक्लाल चतुर्वेदी माताबदल जायसवाल, माताप्रसाद गुप्त मुरलीधर व्यास मुरलीधर श्रीवास्तव, मुरारी लाल उप्रैति मोतीलाल मेना रिया, यदुवंशी यमुनाकाचरू युगेश्वर रतीलाल रमानाथ सहाय रमेशचद्र जैन रमेशचद्र महरोत्रा रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव रविशंकर शुक्ल राजगोपालन, राजाराम तिवारी, राजा शिवप्रसाद रामकरन शर्मा रामचद्र गर्ग रामचद्र वर्मा रामचद्र शुक्ल, रामचरण सिंह रामलहिन मिश्र रामनरेश त्रिपाठी रामदेव त्रिपाठी, राममूर्ति महरोत्रा, रामरजपाल द्विवेदी रामरतन रामविलास शर्मा रामसजन, रामसिंह तोमर रामस्वरूप चतुर्वेदी रामाधीन मिश्र रामावतार शर्मा रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल लक्ष्मीधर, वशीधर पंडा वासुदेवशरण अग्रवाल विद्यानिवास मिश्र विश्वजीत विश्वनाथ त्रिपाठी विश्वनाथ प्रसाद विश्वम्भर नाथ शर्मा वीरेन्द्र श्रीवास्तव, शशि प्रभा शितिकंठ मिश्र शिवदास शिवनाथ, शिवनारायण शास्त्री शिवप्रसाद सिंह शिवप्रसाद सितारे हिंद शिवेन्द्र किशोर वर्मा शीतलप्रसाद गुप्त शुकदेव सिंह श्यामसुन्दर दास सतप्रसाद सतोष जैन सपत्ति अर्याणी सत्यनारायण त्रिपाठी सदासुख लाल, सरयू प्रसाद अग्रवाल सिद्धेश्वर वर्मा सीताराम चतुर्वेदी सुधा कालरा सुनीतिकुमार चटर्जी सुभद्र झा सूर्यकांत, हरदेव बाहरी, हरिशंकर जोशी हरिहरप्रसाद गुप्त हरीचद हरीश शर्मा हीरालाल काव्योपाध्याय हीरालाल महेश्वरी तथा हेमचद्र जोशी ।

)

द्वितीय परिशिष्ट

हिन्दी म भाषा के क्षेत्र मे कुल जितने लोगो ने काम किया है या जो कर रहे हैं उनकी सख्या सौ से ऊपर है। इनम मुख्य विद्वान् निम्नांकित हैं

कामता प्रसाद गुरु ग्रन्थ—हिंदी व्याकरण। इसके दो (मध्यम तथा सक्षिप्त) छोटे सस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी का किसी हिन्दीभाषी द्वारा लिखा गया यह प्रथम व्यवस्थित, विस्तृत और गम्भीर व्याकरणिक विश्लेषण है। इसके लेखन म लेखक ने भारतीय तथा यूरोपीय दोनो ही परम्पराओ का यथावसर उपयोग किया है। हिन्दी के व्याकरण के विवेचन के साथ इस व्याकरण मे दिए गए व्याकरण दर्शनविषयक सक्षिप्त सकेत बडे महत्त्वपूर्ण हैं और भाषा के क्षेत्र म हुई नवीनतम खोजो से काफी मेल खाते हैं।

श्यामसुन्दर दास ग्रथ—(१) भाषारहस्य (२) भाषाविज्ञान, (३) हिन्दी भाषा का विकास। बाबू श्याम सुन्दर दास हिंदीशब्दसागर' के सम्पादको मे थे अत कोशकला को भी आप की देन महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी भाषा का विकास पुस्तक मूलत इस कोष की भूमिका का एक अश था। 'भाषारहस्य' पुस्तक भारतीय भाषाओ मे भाषाविज्ञान पर उच्च स्तर की पहली पाठ्य पुस्तक थी। हिन्दी के पाठ्यक्रम म भाषाविज्ञान को रखवाने का श्रेय श्यामसुन्दर दास जी को ही है। इस रूप मे हिंदी भाषा म इस दिशा म जो कुछ काय हुआ है उसके मूल प्रेरणास्रोत के रूप म आप का नाम अविस्मरणीय है।

रामचन्द्र वर्मा ग्रथ—(१) प्रामाणिक हिन्दी कोश (२) अच्छी हिन्दी (३) शब्द-साधना (४) शब्दार्थ मीमासा, (५) मानक हिन्दी कोश, (६) उर्दू-हिंदी कोश (७) हिन्दी प्रयोग, (८) मानक हिन्दी व्याकरण (९) कोशकला (१०) शब्दार्थ विवेचन (११) शब्द और अर्थ (१२) शब्दार्थ दर्शन। वर्मा जी हिंदीशब्द सागर' के सम्पादको मे थे और बाद मे आपने उसका एक सक्षिप्त सस्करण हिन्दी शब्द सागर प्रकाशित किया था। वर्मा जी की प्रतिभा का मुख्य श्रेय कोश-कला है। भारतीय भाषाओ म अब तक के कोशकारो मे वर्मा जी का श्रेय मूर्द्धन्य है। प्रयोग के क्षेत्र मे भी आपकी देन महत्त्वपूर्ण है।

धीरेन्द्र वर्मा ग्रथ—(१) हिंदी भाषा का इतिहास, (२) व्रजभाषा व्याकरण (३) व्रजभाषा (४) ग्रामीण हिन्दी, (५) हिन्दी-साहित्य कोश (सम्पादित) (६) हिन्दी भाषा का विकास (सम्पादित)। श्याम सुन्दर दास ने हिन्दी में भाषा विज्ञान की जो नाव रखी थी उसे यूरोपीय शिक्षा से प्राप्त अपने अधुनातन ज्ञान तथा व्यवस्थित अध्ययन अध्यापन से पल्लवित किया वर्मा जी ने। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त आपने भाषा तथा लिपि सम्बन्धी अनेक लेख भी लिखे जिनमे कुछ उनके सग्रह विचार धारा' मे प्रकाशित हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका हिंदी भाषा और लिपि' नाम से अलग भी प्रकाशित हो चुकी है।

बाबूराम सक्सेना ग्रथ—(१) सामान्य भाषाविज्ञान (२) अवधी का विकास (३) अर्थविज्ञान (४) संस्कृतव्याकरणप्रवेशिका (५) दक्खिनी हिंदी।

विकास' हिन्दी की किसी बोली का प्रथम सर्वेक्षण तथा व्यवस्थित इतिहास है तथा उस स्तर का अभी तक कोई दूसरा काय प्रकाश म नहीं आया। हिन्दी प्रदेश म भाषा विश्लेषण की परम्परा को वैज्ञानिक धरातल पर आगे बढ़ाने वाला म सक्सेना जी का नाम अग्रतम है। पारिभाषिक शब्दावली आयोग के अध्यक्ष के रूप म सक्सेना जी ने भारतीय भाषाओं म पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और निश्चयन के क्षेत्र म महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

किशोरीदास वाजपेयी ग्रंथ—(१) ब्रजभाषा का व्याकरण (२) अच्छी हिन्दी का नमूना (३) राष्ट्रभाषा का इतिहास (४) राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण, (५) हिन्दी निरुक्त (६) हिन्दी शब्दानुशासन, (संक्षिप्त रूप—सरल शब्दानुशासन) (७) हिन्दी शब्द निर्णय (८) अच्छी हिन्दी (९) हिन्दी शब्द मीमांसा (१०) भारतीय भाषा विज्ञान (११) हिन्दी की वर्तनी तथा शब्द विश्लेषण। वाजपेयी जी हिन्दी भाषा के विश्लेषण को चिंतन के धरातल पर गहराई देने वाले प्रथम विद्वान् हैं अंग्रेजी का ज्ञान न होने का लाभ उठाते हुए वाजपेयी जी न पश्चिम के प्रभाव म अछूते रहकर भारतीय परम्परा के अध्ययन मनन स अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया है और उन्हीं के आधार पर हिन्दी का विश्लेषण किया है। वाजपेयी जी का पाठक उनके स्वभाव के अनुकूल अक्खड किंतु रोचक और व्यंग्यात्मक शैली को कभी कभी वैज्ञानिक विषय विवेचन क अनुकूल नहीं पाता किन्तु उस अक्खडता और व्यंग्य के भीतर निश्चित रूप से पाणिनि की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कडी के दर्शन होते हैं। वाजपेयी जी का मुख्य क्षेत्र व्याकरण है।

विश्वनाथप्रसाद ग्रंथ—(१) कविकोश (२) भाषा (ब्लूमफील्ड की Language का अनुवाद)। आपने भोजपुरी ध्वनियों पर (A phonetic and phonological study of Bhojapuri) फर्थ के माडल पर शोधकार्य किया था जो अप्रकाशित है। हिन्दी ध्वनियों के सम्बन्ध म आप के कई लेख हैं। आपका मुख्य विषय ध्वनि है। फर्थ के माडल पर ध्वनि के क्षेत्र म काम करने वाले आप प्रथम भारतीय थ। हिन्दी की भाषावैज्ञानिक शब्दावली के क्षेत्र मे भी आपने काम किया था। शब्दावली आयोग क अध्यक्ष क रूप म भारतीय पारिभाषिक शब्दावली को भी आप का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

उदयनारायण तिवारी ग्रंथ—(१) भोजपुरी भाषा और साहित्य, (२) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास (३) भारत का भाषा सर्वेक्षण (ग्रियर्सन के सर्वेक्षण के प्रथम खण्ड का अनुवाद), (४) पाणिनि के उत्तराधिकारी, (५) भाषा शास्त्र की रूपरेखा। तिवारी जी का विशेष योगदान भोजपुरी तथा मानक हिन्दी क व्याकरणिक रूपों के इतिहास के क्षेत्र मे है।

हरदेव बाहरी ग्रंथ—(१) हिन्दी अर्थ विचार (Hindi Semantics), (२) बृहद् अंग्रेजी हिन्दी कोश (३) हिन्दी उद्भव विकास और रूप (४) ग्रामीण हिंदी बोलियाँ (५) शुद्ध हिन्दी (६) प्रसाद साहित्य कोश। बाहरी जी की विशेष देन अर्थ विज्ञान तथा अंग्रेजी हिन्दी कोशों के क्षेत्र म है।

भोलानाथ तिवारी ग्रंथ—(१) भाषाविज्ञान, (२) शब्दों का जीवन, (३) शब्दों का अध्ययन, (४) भाषा चिंतन, (५) हिन्दी भाषा, (६) ताजुब्बकी, (७) हिंदी भाषा का सरल व्याकरण, (८) भाषाविज्ञान प्रवेश, (९) हिन्दी मुहावरा कोश, (१०) बृहद् पर्यायवाची कोश, (११) भाषाविज्ञान कोश (१२) तुलसी शब्द सागर (१३) कथाकोश, (१४) हिंदी साहित्य की अन्तकथाएँ, (१५) संक्षिप्त हिन्दी शब्द कोश, (१६) हिन्दी अंग्रेजी व्यावहारिक कोश (श्री महेन्द्र चतुर्वेदी के साथ) (१७) तुलनात्मक भाषाविज्ञान (गुणे की पुस्तक का अनुवाद) (१८) हिंदी ध्वनियाँ और उनका उच्चारण (यंत्रस्थ) (१९) बृहद् हिंदी लोकोक्ति कोश (यंत्रस्थ), (२०) अनुवादविज्ञान (यंत्रस्थ)। तिवारी जी अनुवाद (मुख्यतः व्यावहारिक भाषाविज्ञान की पत्रिका) तथा 'भाषिकी' (मुख्यतः सैद्धांतिक ध्वनिविज्ञान की पत्रिका) दो पत्रिकाओं के सम्पादक हैं। हिंदी में भाषा के क्षेत्र में आपने सर्वाधिक कार्य किया है और ये कार्य लगभग सभी अपरिचित दिशाओं में हैं। आपके विशेष क्षेत्र हैं शब्दविज्ञान ध्वनिविज्ञान तथा व्यावहारिक भाषाविज्ञान।

कैलाशचन्द्र भाटिया ग्रंथ—(१) ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन (२) हिंदी में अंग्रेजी के आगत शब्दों का भाषातात्विक अध्ययन, (३) हिंदी की बेसिक शब्दावली (४) हिंदी भाषा में अक्षर तथा शब्द की सीमा (५) भाषा भूगोल (यन्त्रस्थ)। डा भाटिया की व्यावहारिक भाषाविज्ञान में विशेष रुचि है। सामयिक समस्याओं पर भी आपका ध्यान जाता रहा है। आजकल आप हिंदी तथा द्रविड भाषाओं की समान शब्दावली पर कार्य कर रहे हैं।

डा रमेशचन्द्र महरोत्रा ग्रंथ—हिंदी ध्वनिकी और ध्वनिमी। डा महरोत्रा का विशेष विषय ध्वनिविज्ञान है।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ग्रंथ—शैली विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका। हिंदी के व्यंजन संयुक्त व्यंजनों का आपने ऑसिलोग्राफ तथा स्पेक्टोग्राफ पर विश्लेषण किया था जिस पर आपको वेनिनग्राद से डॉक्टर की उपाधि मिली थी। ध्वनिविज्ञान, व्याकरण तथा शैलीविज्ञान आपके विशेष विषय हैं। रूपांतर व्युत्पादक व्याकरण, तात्विक व्याकरण तथा व्युत्पादक ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से आपने हिंदी पर महत्वपूर्ण कार्य किए हैं। आप के कई निबन्ध विदेशी तथा भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

शिवेन्द्रकिशोर वर्मा—हैलिडे के Systemic Grammar के माडल पर आपने अंग्रेजी और हिन्दी क्रियाओं पर शोधकार्य किया है। आपका मुख्य विषय व्याकरण है। भारतीय तथा विदेशी पत्रिकाओं में आप के कई निबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

मराठी व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास

मराठी भाषा के व्याकरण से सम्बद्ध सामग्री सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है जिनमें मराठी भाषा का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—(१) वे जिनमें मराठी भाषा का बाह्यपरक इतिहास प्रस्तुत किया गया है तथा (२) वे जिनमें भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण दिया गया है। दूसरी कोटि के ग्रन्थों में ही व्याकरण से सम्बद्ध सामग्री मिलती है। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों में संस्कृत और प्राकृत से मराठी भाषा का विकास दिखाया गया है। इन ग्रन्थों में प्रमुख हैं—आर बी जोशी कृत मराठी भाषेची घटना बी ए भिडे का मराठी भाषेचा व वाङमयाचा इतिहास' के पी कुलकर्णी का मराठी भाषा उद्गम व विकास जी बी निम्तर कृत मराठी भाषेचा अभ्यास और वाई आर. दाते कृत महाराष्ट्र भाषाभ्यास । मराठी व्याकरण की कुछ ऐतिहासिक समस्याओं पर अनेक लेखों के अतिरिक्त वी के राजवाडे की कृतियाँ सुबन्तविचार' और तिङन्तविचार भी उल्लेखनीय है। प्रथम में मराठी संज्ञाओं और दूसरे में मराठी क्रियाओं के इतिहास की कुछ समस्याओं पर विचार किया गया है[1]। मराठी व्याकरण की ऐतिहासिक समस्याओं पर लिखे गये विवेचनात्मक लेखों में महत्त्वपूर्ण लेख हैं—एस कोनो के महाराष्ट्री और मराठी (I A 1903) तथा मराठी के भूतकाल पर टिप्पणी (J R A S 1902), बी एन सरदेसाई का मराठी में अनुनासिकता की कुछ समस्याएं (J R A S 1930), आर बी जहागीरदार का पुरानी मराठी पर कन्नड का प्रभाव' (ABORI XI)। ये सभी लेख अंग्रेजी में है। १९४८ में आर एस वेले ने अपने शोध ग्रंथ में मराठी के क्रियात्मक प्रयोगों पर विचार किया। पर सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो मराठी के ऐतिहासिक व्याकरण पर लिखा गया वह है जे ब्लाक का फ्रांसीसी भाषा में लिखा गया La formation de la langue marathi । बाद में वी जी पराजपे ने इसका अनुवाद मराठी में मराठी भाषेचा विकास नाम से किया। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि न तो अंग्रेजी में और न मराठी में ही मराठी भाषा का कोई अच्छा ऐतिहासिक व्याकरण उपलब्ध है।

यदि मराठी विद्वानों ने मराठी के प्राचीन उत्कृष्ट गौरव ग्रन्थों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से सम्यक विवेचन किया होता तो भी मराठी व्याकरण समृद्ध हो सकता था। पर खेद का विषय है कि ज्ञानेश्वरी को छोड़कर अन्य गौरव ग्रन्थों का इस दृष्टि से सम्यक अध्ययन नहीं किया गया। हाँ, ज्ञानेश्वरी पर अवश्य काम किया गया। इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—डब्ल्यू डोडरेट की पुस्तक

)

'The Grammar of Jñanes vari' (BJOS 1926), और राजवाडे की कृति ज्ञानेश्वरीतील मराठी भाषेचें व्याकरण (१९०९)। 'ज्ञानेश्वरदर्शन' में संकलित एन एच नने की एच निजसुरे तथा वाई जी कानटकर के लेख भी महत्त्वपूर्ण हैं। १९१४ ई० में के के जोशी ने लीपजिग विश्वविद्यालय के लिए लिखे गये अपने शोध प्रबन्ध Declension of nouns in Marathi as seen in ज्ञानेश्वर's works में मराठी के संज्ञारूपों पर काम किया था। फिर भी ज्ञानेश्वर की रचनाओं पर अब तक कोई व्यापक व्याकरण नहीं लिखा गया। मराठी भाषा के विकास के अन्य युगों में मराठी भाषा की स्थिति पर भी कुछ ग्रन्थ और शोध प्रबन्ध लिखे गये जैसे जी वी ग्रामोपाध्ये की पुस्तक 'पेशवे दफ्तरातील मराठी भाषा' के एस मर्ढेकर का 'शिवकालीन मराठीची मौखिक पहाणी' एम एस कनाडे का दासबोधाचा भाषाशास्त्रीय अभ्यास', तथा यू एस पठान का मराठी बखरीतील फारसीचें स्वरूप।

मराठी के वर्णनात्मक व्याकरण से सम्बद्ध साहित्य प्रचुर भी है और वैविध्यपूर्ण भी। प्रारंभिक मराठी व्याकरण और वैयाकरणों का परिचय हम एम एम माने की पुस्तक 'मराठी भाषेचे व्याकरणकार' (१९२७ ई०) तथा ए के प्रियोळकर की पुस्तक मराठी व्याकरणाची लघुकथा' (१९२६ ई०) में मिलता है[२]।

मराठी के वर्णनात्मक व्याकरण पर तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये हैं (१) वे व्याकरण ग्रन्थ जो १९ वी शताब्दी के आरंभिक चरण में लिखे गये और जिनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है। ये व्याकरण-पुस्तकें बोलचाल की मराठी भाषा पर अंग्रेजी में लिखी गई हैं और उनके लेखक प्राय विदेशी हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—डा० विलियम केरी की Grammar of the Mahratta language' (१८०५) स्टीवेंसन की 'The principles of Marathee Grammar (१८३३) बलेंटाइन की 'A grammar of the Mahratta language (१८३९) बरगर की Grammar of the Marathi language' (१८५४) तथा कारणी भाषा पर लिखी गयी कुछ व्याकरण पुस्तकें। इन व्याकरणों की पुस्तकों का उद्देश्य विदेशी शासकों को मराठी भाषा सिखाना था अत इन पुस्तकों का वैज्ञानिक मूल्य अधिक नहीं है। इनके लेखक यूरोपीय विद्वान् थे, अत मराठी भाषा का विवेचन करते समय उन्होंने पृष्ठभूमि में लैटिन व्याकरण की गठन का ध्यान में रखा जिसके फलस्वरूप इनके विवेचन का वैज्ञानिक मूल्य कम हो गया है।

मराठी भाषा बोलने वालों को उसके व्याकरण के तत्त्व सिखाना आवश्यक था यह बात आरम्भ में ही अनुभव की गयी। अत इस आवश्यकता को पूरा करने और कक्षा में विद्यार्थियों को व्याकरण सम्बन्धी पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध कराने के लिए प्रारम्भिक व्याकरण लिखने के अनेक प्रयत्न किये गए। व्याकरण की ये पुस्तकें भारतीय विद्वानों द्वारा लिखी गयी। ये विद्वान् एक ओर पारम्परिक संस्कृत व्याकरण में पूर्ण निष्णात थे और दूसरी ओर अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की व्याकरण

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है 'महाराष्ट्र भाषेचें व्याकरण'। इस ग्रन्थ के लेखक थे तीन मराठी पण्डित—[illegible] और [illegible]। इस ग्रन्थ [illegible] में हम देखते हैं कि संस्कृत परम्परा एवं पश्चिम के व्याकरण [illegible] सिद्धान्तों और विवेचन की पद्धति के कारण विकृत हो गयी है। [illegible] के उद्देश्य के कारण [illegible] हो गया है और इसमें न तो विविध दृष्टिकोण [illegible] है और न विवेचना ही उपलब्ध होता है।[3] [illegible] सन् १८३६ में [illegible] के लिए एक छोटा-सा व्याकरण [illegible] लिखा जिसका नाम था 'महाराष्ट्रभाषेचें व्याकरण'[4]। इसी प्रकार की अन्य मराठी व्याकरण की पुस्तकें हैं—[illegible] की 'बाल व्याकरण' [illegible] द्वारा [illegible] की 'मराठी भाषेचें व्याकरण' गंगाधर शास्त्री [illegible] द्वारा लिखी गयी लघु व्याकरण (१८५६ ई०) गोडबोले की 'व्याकरण सार' तथा [illegible] की 'मराठी भाषेचें पद्यात्मक व्याकरण'। व्याकरण की ये सभी पुस्तकें प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं के लिए लिखी गयी थीं। इनमें [illegible] पुस्तकें थीं—[illegible] की मराठी लघुव्याकरण और [illegible] की [illegible] 'मराठीचें व्याकरण'। इस दिशा में इधर की ओर किये गये प्रयत्नों में उल्लेखनीय हैं—डी डी भावे की 'व्याकरण प्रवेशिका', जी एम तावसकर की पुस्तक Students Marathi Grammar बी बी देवधर की पुस्तक Resume of Marathi Grammar जी एम वलकर की 'मराठी व्याकरणाची मूलतत्त्वें' एम एम गोगटे की पुस्तक माध्यमिक व्याकरण। इसके अतिरिक्त पश्चिमी विद्यार्थियों के लिए एम एन [illegible] ने एक पुस्तक 'Marathi Language Course for English Student' और [illegible] जोगलेकर ने हिन्दी भाषा भाषियों के लिए 'मराठी का बालबोध व्याकरण' लिखा।

संस्कृत व्याकरण की मूल धारणा और पश्चिम की व्याकरण परम्परा पर आधारित व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण में स्पष्ट अन्तर है। मराठी व्याकरण लिखने वालों ने व्याकरण लिखते समय इन दोनों परम्पराओं का उपयोग किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठी भाषा की सामग्री और संरचना का जो विश्लेषण हुआ, वह परस्पर विरोधी था। इसी मतभेद ने प्रायः तीव्र विवाद को जन्म दिया। शब्द भेद संयुक्त क्रियारूपों, कारकों की संख्या, पुरुषों का नामकरण और वाक्य विश्लेषण से सम्बद्ध समस्याओं पर पर्याप्त विचार विमर्श हुआ जिसके फलस्वरूप अधिक वैज्ञानिक मूल्य वाले व्यापक व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—डी पी तारखाडकर का महाराष्ट्र भाषेचें व्याकरण, कृष्णशास्त्री गोडबोले का *मराठी भाषेचें नवीन व्याकरण*, जी जी *आगरकर का वाक्यविचार* जिसका अंग्रेजी रूपान्तर आर वी जोशी ने 'A Comprehensive Marathi Grammar' नाम से किया, ए के सेर का 'A Higher Marathi Grammar' एम के दामले का १००० पृष्ठों से भी अधिक का शास्त्रीय मराठी व्याकरण (१९११), एम पी सबनीस का आधुनिक मराठीचें उच्चतर व्याकरण'[5]। मराठी व्याकरण पर कतिपय मूल्यवान् निबन्ध भी लिखे गये—लेखक थे कृष्णशास्त्री

चिपलूणकर, ग्रार बी गुंजीकर तथा जी के मोदक[६]। ये सभी रचनाएं विद्वत्तापूर्ण तथा उपयोगी थीं, परन्तु उनके लेखकों का दृष्टिकोण पुराना था तथा उन्होंने विगत २० वर्षों में विकसित भाषा विश्लेषण की अधिक परिष्कृत पद्धतियों का उपयोग नहीं किया था। इन नयी पद्धतियों का उपयोग करते हुए मराठी व्याकरण लिखने का केवल एक प्रयत्न हुआ। वह है श्री ए ग्रार केलकर का शोध प्रबंध Phonology and Morphology of Marathi। पर यह शोध प्रबंध अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। इसी प्रकार के अन्य शोध प्रबंध हैं—डी पी अग्निहोत्री का 'मराठी वर्णोच्चारविकास', श्री पोद्दार का 'मराठी ग्रर्थप्रक्रिया', एन एच पुरन्दरे का 'मराठी ग्रर्थसिद्धि'। पर प्रकाशित न होने के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वैज्ञानिक दृष्टि से इनका क्या मूल्य और महत्त्व है।

मराठी की वर्तनी (orthography) भी विवाद का विषय रही है और अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है। इस विवाद के फलस्वरूप इस विषय पर बहुत सा साहित्य लिखा गया है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह बहुत महत्त्व का विषय नहीं है, फिर भी उसका सम्बन्ध साक्षरता तथा मुद्रण से है अतः उसे यों ही नहीं टाला जा सकता। वस्तुतः बोलचाल की भाषा का अच्छा सा वर्णनात्मक विश्लेषण अभी तक नहीं हो पाया है। इसीलिए वर्तनी सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समस्याएं स्वरों की मात्रा (length in vowels) सध्वनिक अनुनासिकता मूर्धन्य ऊष्म वर्णों (allaphonic status of a retroflex sibilant) अभी भी अनिर्णीत हैं। काल क्रमानुसार शुद्धलेखनसम्बन्धी ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—ग्रार वी ग्रोक मराठी शुद्ध लिहिण्याविषयीं ग्रनुगम (१८६४), जी जे केल्कर मराठी शुद्ध लिहिण्या विषयीं नियम (१८६७) ग्रार बी गुंजीकर महाराष्ट्र भाषची लेखनशुद्धि (१८७८) टी एन गोडबोले शुद्ध लेखनविचार (१८९३), जी एन मादगांवकर मुलेखन विद्या (१८९१), एन डी जोशी शुद्धलेखनबोध (१८९५) के एन साने मराठी भाषेची लेखनपद्धति (१९०५) एन बी ग्राप्टे शुद्धलेखनशिक्षा (१९११), एम के दामले शुद्धलेखन (१९०५) बी पी जोशी मराठी भाषची शुद्धलिपि (१९१२) वी वी गोमानी शुद्धलेखनज्ञान (१९१३), जी ग्रार कुलकर्णी लेखनशुद्धि ग्रथवा शुद्धलेखनदीपिका (१९१८) वी एल कुलकर्णी मराठी शुद्धलेखन (१९२०) बी ग्रार माने सुगम शुद्धलेखन (१९२८), जी एम चिपलूणकर शुद्ध लेखनाचा राजमार्ग (१९२७) एन डी बनहट्टी मराठी भाषची लेखनपद्धति (१९३२) एम एन गोसन मराठीचें शुद्धलेखन (१९३३) म सा परिषद् द्वारा प्रकाशित शुद्ध लेखनाचे नवे नियम (१९३५) वी जी ऊक्षरण मराठी शुद्धलेखन (१९३५) वी एम कोल्हटकर शुद्धलेखन (१९३७), पी एन बनहट्टी सुगम शुद्धलेखन (१९५१), गाम्बले ग्रौर दामले मराठी शुद्धलेखन महायक (१९५०) एम ग्रा-

जाय और उसका अधिकाधिक प्रचार किया जाए। यदि ऐसा किया गया तो आशा है कि सब सहमत हो सकेंगे। सबसे बड़ी समस्या मराठी में संस्कृत शब्दों की स्थिति, कतिपय ध्वनियों के ध्वनिग्रामिक भेद तथा कुछ व्याकरणिक विभेद की है। यह समस्या आधुनिक वर्णनात्मक विश्लेषण द्वारा हल की जा सकती है। यह भी ध्यान रखना होगा कि शुद्ध लेखन पद्धति ऐसी हो जो केवल एक बोली के लिए ही नहीं अनेक बोलियों के लिखने के लिए उपयोगी हो। अतः आवश्यक है कि वह ध्वनिग्राम-गठन पर आधारित हो।

शब्दों की व्युत्पत्ति की समस्या पर मराठी विद्वानों ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इसका प्रधान कारण कदाचित यह है कि अब तक संस्कृत प्राकृत और पालि भाषाओं के तुलनापरक कोष उपलब्ध नहीं हैं। दूसरे इस क्षेत्र में कार्य करने वाले व्युत्पत्ति से सम्बद्ध मूल सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं अतः उन्होंने मराठी शब्दों की व्युत्पत्ति सीधे संस्कृत शब्दों से जोड़ी है बीच की अवस्थाओं की ओर ध्यान नहीं दिया है। इस क्षेत्र में किये गये आरम्भिक प्रयत्न, जैसे गो० स० वापट 'विवर्त' के 'शब्दसिद्धिनिबंध' या कृष्ण शास्त्री गोडबोले और अयन्य के इसी नाम के ग्रंथ का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। बाद के ग्रन्थ जैसे भ्र० वी० जोशी का 'शब्दसिद्धि' किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते। वी० के० राजवाडे का ग्रन्थ 'नामादिशब्दव्युत्पत्तिकोश' और के० पी० कुलकर्णी के दो ग्रंथ 'मराठी व्युत्पत्तिकोश' एवं 'शब्द: उद्गम आणि विकास' भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि न तो लेखक व्युत्पत्ति के किसी ठोस सिद्धान्त से परिचित थे और न उनको भारत इतर सामग्री ही उपलब्ध थी।[८] हाँ कतिपय मूल्यवान् व्युत्पत्तियाँ और व्युत्पत्ति सिद्धान्त सम्बन्धी कुछ सुझाव विभिन्न लेखों में अवश्य मिलते हैं। अतः मराठी भाषा का व्युत्पत्तिपरक कोष लिखने से पूर्व इस बिखरी सामग्री का संकलन उपयोगी ही नहीं किन्तु आवश्यक भी होगा।

मराठी बोलियों और उपबोलियों के वर्गीकरण का प्रश्न भी विवादास्पद है। कोंकणी मराठी की एक प्रधान बोली है और इसका विवेचन भी पर्याप्त हुआ है। पर विवेचन करने वालों ने कोंकणी के उसी स्वरूप का विवेचन किया है जो सुदूर समुद्र तटवर्ती प्रदेश में बोली जाती है। उत्तरी तथा मध्यवर्ती कोंकण में बोली जाने वाली बोलियों पर प्रायः कार्य नहीं किया गया है। उन पर कार्य करना नितान्त आवश्यक है। गोआ की दक्षिणी कोंकणी पर पर्याप्त व्याकरण साहित्य है। पुर्तगाली ईसाई मिशनरियों ने इस भाषा की अनेक व्याकरण पुस्तकें लिखीं। यह कार्य उन्होंने १६३५ ई० से आरम्भ किया। उन्होंने १८०७ में 'कोंकणी भाषेचे लघु व्याकरण' प्रकाशित किया। १९१०, १९२६ और १९३३ में उन्होंने पुर्तगाली भाषा में तीन व्याकरण पुस्तकें लिखीं। परन्तु कोंकणी भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखने का श्रेय श्री एस० एम० कत्रे को है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Formation of Konkani' में इस बोली का ध्वनि विज्ञान और तुलनात्मक शब्द संग्रह भी दिया है। वी० पी० चावन ने एक छोटी सी पुस्तक 'The Konkan and

the Konkani language' म इस बोली और उसके साहित्यका सामान्य तथा संक्षिप्त परिचय दिया है। इस बोली के कुछ शब्द-कोष भी मिलते हैं जैसे 'Konkani English Dictionary तथा 'Konkani Portuguese Dictionary'। इसके अतिरिक्त बी पी चावन ने कोकणी कहावतों का भी संग्रह किया है। फिर भी कोकणी व्याकरण पर एक अच्छी सी पुस्तक लिखी जाने की आवश्यकता है। साथ ही इस विभाषा के समुचित ज्ञान के लिए यह भी आवश्यक है कि कोकणी-मराठी शब्द-कोश तैयार किया जाये।

जहाँ तक मराठी की अन्य बोलियों का सम्बन्ध है उनके विषय म हमारा ज्ञान बहुत कम है। 'The Linguistic Survey of India' के सातवें खण्ड म मराठी की बोलियों का सामान्य परिचय दिया गया है। मराठी भाषा शास्त्र पर लिखी गयी पुस्तकों म भी एक एक अध्याय मराठी बोलियों पर है। मराठी की तीन मुख्य बोलियों का विवरण हमे एन जी कालेलकर की पुस्तक प्रादेशिक बोली आणी लोकभाषा' मे मिलता है। इसके अतिरिक्त कुछ लेखों और प्रतिवेदनों म भी कुछ सामग्री मिलती है। जिन बोलियों पर सामग्री मिलती है वे हैं—डागी बोली खानदेशी तथा दापाली ताल्लुके के माहारो की बोली।

इधर मराठी बोलियों का सर्वेक्षण हो रहा है और इसके कुछ खंड प्रकाशित हुए हैं।

मराठी शब्द-कोशों को तीन विभागों म बांटा जा सकता है प्रथम वर्ग म वे शब्द-कोश आते हैं जिनम मराठी शब्दों के अंग्रेजी समानार्थी शब्द दिए गए हैं। जसे डब्लू कैरी द्वारा लिखा गया शब्द कोश 'Dictionary of the Mahratta Language (१८१०), बी बी आपटे का A Marathi English Dictionary (१८७१) खेडकर का मराठी इग्रजी कोश (१८८८)। जी म देव का 'मराठी इग्रजी कोश (१९१०), एस जी वाजे का Marathi English Dictionary (१९११) और 'Marathi English Dictionary' (१९१९)। परन्तु इन सबमे सर्वोत्कृष्ट शब्द-कोश है मोलसवर्थ का 'A Marathi and English Dictionary (१८५७)। लेखक का लक्ष्य इसके द्वारा मराठी भाषा की सेवा करना था जबकि अन्य शब्दकोशों का उद्देश्य महाराष्ट्र के अंग्रेजी बोलने वालों को अंग्रेजी शब्दों का ज्ञान कराना था।

दूसरे वर्ग मे वे शब्द-कोश आते हैं जिनमे मराठी शब्दों के मराठी अर्थ दिये गये है। उनमे उल्लेखनीय हैं—जगन्नाथ शास्त्री क्रमवन्त का 'महाराष्ट्र भाषेचा कोश', पद्म जी का 'शब्दरत्नावली', गोडबोले का 'मराठी भाषेचा नवीन कोश', बापट का 'शुद्ध मराठी कोश', जोशी का 'मराठी भाषेचा बृहत् कोश' भिडे का मराठी भाषेचा सरस्वती कोश आप्टे का 'मराठी शब्द रत्नाकर' और दाते का सात खण्डों म विभाजित 'महाराष्ट्र शब्द कोश'। 'मराठी धातु' अपने प्रकार का अकेला महत्व पूर्ण ग्रन्थ है।

मराठी कहावतों और मुहावरों से सम्बद्ध कुछ ... शित किए गये

हैं। काल क्रम से उनकी सूची इस प्रकार है—एन जी चार्ने का 'मराठी व्यवहारातील म्हणी (१८७०)', जी जी सपकार की 'मराठी प्रचारातील म्हणी', के ब फडके का महाराष्ट्र भाषेतील वहवचनें अथवा म्हणी ज पी धारप का 'म्हणी आणि दाखले ए मानवारिग का Marathi Proverbs collected and translated', जी एन देशपांडे का Dictionary of Marathi Proverbs' तथा 'मराठी म्हणीचा कोश वी जे आप्टे का मराठी भाषच सम्प्रदाय व म्हणी, वी वी भिडे का मराठी भाषचे वाक्प्रचार जी एस मुके का Hand book of Marathi phrases and proverbs explained in English, एन एन फडनीस का मराठी म्हणी रत्नकोश और दात तथा कर्वे द्वारा सपादित दो भागों मे विभक्त महाराष्ट्र वाक्सम्प्रदाय कोश'।

अतिम वर्ग उन शब्दकोशों का है जिनमे अन्य भाषाओं हिंदी बगाली फारसी आदि के शब्दों के मराठी पर्याय दिये गये हैं। कुछ पुस्तकों म मराठी शब्दावली का अध्ययन है तो एक मे मराठी पर्यायों पर काम किया गया है। शब्दकोशों के क्षेत्र म पर्याप्त काय हुआ है, फिर भी एक ऐसे शब्दकोश की आवश्यकता है जिसम शब्दों के ऐतिहासिक एव वर्णनात्मक पक्ष पर बल हो तथा जिसम मराठी शब्दों को मराठी तथा अंग्रेजी दोनो म समझाया गया हो।

टिप्पणियाँ

१ १६११ ई० में प्रकाशित पाध्ये भट्टजी की स्वर व्यजन व्यवस्था' भी व्याकरणसम्बन्धी अच्छा काय है।

२ मराठी व्याकरण का आद्य ग्रन्थ और ग्रन्थकार कौन सा है इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ समय पूव तक यह धारणा थी कि सत्रहवीं शताब्दी म फादर स्टीफन्स न रोमन लिपि म बाईबिल लिखी और उसी समय मराठी व्याकरण से सम्बद्ध कुछ नियम निर्धारित किए। उन्होने A Grammar of the Konkani Language नामक पुस्तक भी लिखी थी। परन्तु अब यह स्पष्ट हो चुका है कि उनस पूव ही तेरहवीं शताब्दी म महानुभाव पडित भीष्माचाय न मराठी व्याकरण से सम्बद्ध कुछ प्रकरण लिखे थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने ग्रन्थ मे ग्यारहवीं शताब्दी के महानुभावी व्याकरणकारों का भी उल्लेख किया है। पडित भीष्माचाय महानुभाव का व्याकरण शास्त्र पर उल्लेखनीय ग्रन्थ है 'नामविभक्ति । अन्य महानुभाव पडितों—कवीश्वर व्यास ज्ञानराज व्यास विश्वनाथ बधनस्थ—ने भी व्याकरण पर काम किया था, पर उनकी रचनाए उपलब्ध नहीं हैं और न यह पता चलता है कि उनम विषय प्रतिपादन किस प्रकार का है। पर पूना के महानुभाव मठ के अधिपति गोविन्दराज न जो पत्र रा० विट्ठल रामजी शिंदे को लिखा था उससे इतना तो स्पष्ट है कि महानुभाव पडितों के कुछ व्याकरण ग्रन्थ मठ मे हैं।

३ इन तीनों पडितों को यह काय करने के लिए सन् १६२२ ई० मे न ट कोम्पनी के प्रमुख सदस्य कर्नल जॉज जर्विस ने नियुक्त किया था।

४ १८३६ ई० में प्रकाशित दादोबा पांडुरंग का 'महाराष्ट्र भाषेचें व्याकरण' भी उल्लेखनीय है। लोकप्रिय होने के कारण इसका दूसरा संस्करण १८५० ई० में प्रकाशित हुआ और १८७४ ई० तक चौबीस आवृत्तियाँ हुईं।

५ गोडबोले की पुस्तक में विचार किया गया है कि संस्कृत से प्राकृत के बाद होते हुए मराठी भाषा का विकास कैसे हुआ। इसमें ऐतिहासिक और व्युत्पत्ति की दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया गया है। साथ ही इस व्याकरण ग्रंथ में वाक्य विश्लेषण, पदविचार और प्राकृत भाषा का संक्षिप्त व्याकरण भी दिया गया है।

६ १८७५ ई० के लगभग कृष्णशास्त्री चिपलूणकर ने जो उस समय पूना के 'मेन ट्रेनिंग कालिज' के प्रिंसिपल थे, विद्यार्थियों के लिए व्याकरण सम्बन्धी कतिपय समस्याओं पर विचार किया और दादोबा के व्याकरण ग्रंथ पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा जो 'शालापत्र' में प्रकाशित हुआ। इस लेख से आगे के व्याकरणकारों का लेखन-मार्ग प्रशस्त हुआ। रामचन्द्र भिकाजी गुंजीकर ने भी रामचन्द्र [illegible]के व्याकरण ग्रंथ पर एक आलोचनात्मक लेख लिखा। वह भी चिपलूणकर के लेख के समान मार्मिक है। इसके अतिरिक्त इन्होंने १८८६ में सुबोध व्याकरण नाम से एक अन्य छोटी-सी पुस्तक भी लिखी।

७ बरिस्टर विनायक दामोदर सावरकर ने 'केसरी' में मराठी लेखन शुद्धि सम्बन्धी लेख लिखकर इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

८ इस क्षेत्र में काम करने वालों में उल्लेखनीय हैं—रामभाऊ जोशी, शिवरामपंत परांजपे, रामजी शिंदे और डॉ० विट्ठल पांडुरंग चव्हाण।

पंजाबी कोश एवं व्याकरण की परम्परा

कोश निर्माण और व्याकरण लेखन का कार्य पंजाबी में १९वीं सदी के मध्य में आरम्भ हो गया था। इस कार्य का श्रेय मिशनरियों (क्रिश्चियन ईसाई पादरियों) को है। १८५४ ई० में लुधियाना मिशन की ओर से रोमन अक्षरों में पंजाबी का पहला कोश प्रकाशित हुआ था जिसका तत्कालीन भाषा के आधार पर (विशेषकर लुधियाना उपखंड की भाषा के आधार पर) निर्माण हुआ था। भाषा विभाग पंजाब पटियाला, से यह कोश सन १९६१ में पुनर्मुद्रित हो चुका है जिसमें गुरुमुखी का भी प्रयोग किया गया है।

उपलब्ध प्राचीनतम कोशों में 'डिक्शनरी आफ दी पंजाबी लैंग्वेज' (लुधियाना मिशन द्वारा प्रकाशित सन १८५४) 'डिक्शनरी आफ दी जटकी लहंदा पंजाबी लब्ज' (जुक्स ए कृत सन १९०० तथा पुनः भाषा विभाग पटियाला पंजाब सन १९६१ में मुद्रित), 'पंजाबी कोश' (माया सिंह कृत सन १८९५) तथा 'पंजाबी शब्द भण्डार' (बिशनदास पुरी कृत सन १९२२ में प्रकाशित) महत्त्वपूर्ण कोश माने जा सकते हैं। पंजाबी के वर्तमान रूप को ध्यान में रखकर भाई कान्ह सिंह ने सन १९३० में 'गुरु शब्द रत्नाकर महान् कोश' का निर्माण किया जो कुछ त्रुटियों के बावजूद महत्त्वपूर्ण है। भाषा विभाग पंजाब (पंजाबी विभाग) पटियाला की ओर से हिंदी शब्द सागर की शैली पर पंजाबी का एक बृहत् कोश ५ खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। अबतक इसके तीन खंड (न तक) प्रकाशित हो चुके हैं और अन्तिम खंड तैयार किया जा रहा है।

पंजाबी का पहला व्याकरण डॉ० केरी द्वारा सन १८१२ में लिखा गया था। १८५१ में टी० ग्राहम बेली तथा न्यूटन साहिब ने पंजाबी का व्याकरण लिखा जो सन १९६१ में भाषा विभाग पंजाब पटियाला द्वारा पुनर्मुद्रित हो चुका है। प्रो० दुनीचन्द्र के कथनानुसार १८६६ ई० में गुरुमुखी अक्षरों में 'पंजाबी वियाकरण' बिहारी लाल ने लिखा था। अनुपलब्ध होने के कारण उसके विषय में कुछ नहीं लिखा जा सकता। आगे भी यह परम्परा चलती रही तथा छोटे मोटे कई व्याकरण प्रकाशित हुए जिनमें मुख्य न्यूटन तथा बेले का 'पंजाबी मैनुअल एंड ग्रामर', हजारा सिंह का 'पंजाबी लघु वियाकरण', राम सिंह का 'वड्डा पंजाबी वियाकरण (२ भाग)' है। तथा दुनी चन्द्र का 'पंजाबी भाषा दा वियाकरण'। स्कूल स्तर के सामान्य व्याकरणों की बात छोड़ दें तो पंजाबी के मुख्य व्याकरण ये हैं

पंजाबी वियाकरण	केरी	—	१८१२	(अप्राप्य)
पंजाबी वियाकरण	निमदल	—	—	(अप्राप्य)

पजाबी विग्राकरण	विहारी लाल पुरी	लुधियाना	१६६६	(अप्राप्य)
पजाबी म युग्रल एण्ड ग्रामर	वले एव न्यूटन	लुधियाना/ पटियाला	१८६२-१६१२ १६६१	(अप्राप्य)
पजाबी लघु विग्राकरण	ज्ञानसिंह	—	१८६६ नानक सम्वत् ४७७	(प्राप्य) (प्राप्य)
वड्डा पजाबी विग्राकरण (दो भाग द्वितीय भाग उपलब्ध)	रामसिंह	ग्रमृतसर	१६१४/३०	(प्राप्य)
ग्रमाल पजाबी विग्राकरण	एम एम ग्रमोल	ग्रमृतसर	१६३१	(अप्राप्य)
पजाबी विग्राकरण	नागा वाल करम सिंह	—	१८३५	(अप्राप्य)
सिन्ताक्र ग्रानरस इन पजाबी	निहालसिंह सूरी	—	१६४४	(अप्राप्य)
विग्राकरण मिक्खिग्रा (४ भाग)	बलदेव सिंह	ग्रमृतसर	१६४०/ १८४५	(अप्राप्य)
पजाबी विग्राकरण	भाई मोहनसिंह	ग्रमृतसर	१६४७	(प्राप्य)
विग्राकरण	रणजीतसिंह दिलशाद	भटिंडा	१६५१	(अप्राप्य)
पजाबी विग्राकरण	हरिलाल	—	१६५२	(अप्राप्य)
पजाबी भाषा दा विग्राकरण	सन्त सिंह सेखा	पटियाला	१६६१	(प्राप्य)
रफरन्स ग्रामर ग्राफ दी पजाबी लग्वज	गिल तथा ग्लीसन यू एस ए		१६६३	(प्राप्य)
पजाबी भाषा दा विग्राकरण	दुनीचन्द्र	चडीगढ	१६६४	(प्राप्य)
नवीन प्रणाली पजाबी विग्राकरण	सुरिन्दर सिंह माहो	—	१६६५	(प्राप्य)

गुरुवाणी व्याकरण

श्री गुरु वाणी व्याकरण	करतार सिंह दाखा	ग्रमृतसर	१६४५	(प्राप्य)
गिग्राणी विग्राकरण	निहाल	ग्रमृतसर	१६४६	(प्राप्य)
गुरुवाणी विग्राकरण	साहिब सिंह	ग्रमृतसर	१६५०	(प्राप्य)

सामान्य या स्कूली स्तर की व्याकरणें

ग्रभिन पजाबी विग्राकरण	महिताब सिंह	दिल्ली	१६५२	(अप्राप्य)
मनोहर पजाबी विग्राकरण ते हार रचना	उजागर सिंह	लुधियाना	१८५३/६०	(अप्राप्य)
पजाबी विग्राकरण ते लेख रचना	करतार सिंह	लुधियाना	१६६०	(अप्राप्य)
उच्चतम पजाबी विग्राकरण ते लेख रचना	दीवान सिंह ग्रार सेवा सिंह	ग्रमृतसर	१६६३	(प्राप्य)

भाषा तथा व्याकरण आदि मिश्रित रूप

पंजाबी भाषा दा इतिहास	विद्या भास्कर अरुण	लुधियाना	१९५९	(प्राप्य)
पंजाबी ते लहिंदी	हरदेव बाहरी	पटियाला	१९६८/७०	(प्राप्य)
पंजाबी भाषा दा विकास	दुनीचन्द	चंडीगढ़	१९५६	(प्राप्य)
पंजाबी भाषा दा निकास ते विकास (नवीन संस्करण, दो भाग)	प्रेमप्रकाश सिंह	लुधियाना	१९५७/१९७१	(प्राप्य)

पंजाबी कोशों का निम्नांकित रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है

१ गुरु बानी से सम्बन्धित एक भाषी कोश

(इसी शीर्षक के अन्तर्गत पर्याय तथा भाषा कोश भी रखे गए हैं)

(क) पर्याय कोश

आदिग्रन्थ श्री गुरुग्रन्थसाहिब जी दे पर्याय	सुते प्रकाश	१८९८	अमृतसर
पर्याय श्री गुरुग्रन्थजी	चन्दा सिंह	१९०२	अमृतसर
पर्याय श्री ग्रन्थ साहिब जी आदि (३ भाग)	हरीसिंह गुरदित्त सिंह	१९०३	अमृतसर
पर्याय श्री ग्रन्थसाहिब जी आदि	गोबिन्ददास	१९२६	अमृतसर
पर्याय श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी	शामसिंह	१९३६	अमृतसर
पर्याय श्री दशम ग्रन्थ	बाबा ठाकुर सिंह		अमृतसर

(ख) भाषा कोश

श्री गुरु ग्रन्थ कोश	तारा सिंह	१८९५	पटियाला
श्री गुरु ग्रन्थ कोश (दो भाग)	हजारा सिंह	१८९९/ १९५५	अमृतसर
श्री गुरबानी प्रदूली कोश	महिताब सिंह	१९२३	अमृतसर
श्री गुरु शब्द प्रकाश	वीर सिंह	१९२६	पेशावर
गुरु शब्द रत्नाकर महानकोश	काहन सिंह	१९३०	अमृतसर
श्री गुरुग्रन्थकोश (अर्थात् ग्रन्थ साहब की शब्द सूची)	वीर सिंह	१९३१	अमृतसर
कोश श्री दशम ग्रन्थ	मान सिंह	१९४९	संगरूर
गुरु बानी कोश	प्यारा सिंह पद्म	१९६०	अमृतसर
श्री गुरु ग्रन्थ कोश	गुरमुखसिंह निमना	—	अमृतसर

२ अभिधान कोश (या स्वतन्त्र रूप में एक भाषी कोश)

नाममाला कोश	सुदर्शन प्रेस	१९३९	अमृतसर

३ पारिभाषिक कोश (चिकित्सा सम्बन्धी)

चिकित्सा कोश (चार भाग)	गुरदित्तसिंह साधु	१८८८	अमृतसर

४ लोकोक्ति या मुहावरा कोश

पंजाबी मखौण	भागुदत्त	१८९१	लाहौर

पजाबी वुभारता अर्थात् (फारसी लिपि के कोश)	शिवदयाल	१९२१	लाहौर
पजाबी अखोतां	जीवन सिंह	१९२८	अमृतसर
पजाबी अखान भडार	इन्द्रसिंह गिल	१९४४	अमृतसर
अखाना दी खान	किरपाल सिंह बलबीर सिंह	—	अमृतसर
पजाबी साहज प्रकाश (अर्थात् मुहावरे तथा कहावतें)	साहिब सिंह महिताब सिंह	१९४१/ १९५२	लाहौर

५ पर्याय कोश

एक नाम अनक नामावली	लाल हरी	—	अमृतसर

६ भाषा कोश

पजाबी शब्द भडार	किशन सिंह पुरी	१९२२	लाहौर
पजाबी कोश	पप्सू पजाबी विभाग पटियाला	१९५५	पटियाला
मरन पजाबी कोश	—	१९५६	अमृतसर

७ बोली या उपभाषा कोश

शब्द कोश बावन अरथ सजम	पजाबी भाषा विभाग	१९५०	पटियाला
पोथोहारी शब्दकोश	पजाबी भाषा विभाग	१९६०	पटियाला
पुआधी शब्द कोश	पजाबी भाषा विभाग	१९६०	पटियाला

द्विभाषी कोश

(क) पजाबी–अंग्रेजी

१ भाषा कोश

डिक्शनरी आफ दी पजाबी लग्वेज	लुधियाना मिशन प्रैस	१८५४/ १९६१	लुधियाना पटियाला
दि पजाबी डिक्शनरी	भाषा विभाग पजाब मयासिंह	१८९५ १९६१	लाहौर पटियाला
पजाबी इग्लिश डिक्शनरी	गुरचरन सिंह मरन सिंह	—	अमृतसर

२ बोली या उपभाषा कोश

डिक्शनरी आफ दी जटकी एण्ड वेस्टन पजाबी लग्वेज	जुक्स ए/ भाषा विभाग पजाब	१९००/ १९६१	लाहौर पटियाला
ग्रामरी आफ दी मुलतानी लग्वेज एड साऊथ वेस्टन पजाबी	ओ ब्री ई	१९०३	लाहौर

३ पारिभाषिक कोश

(अ) तकनीकी कोश

टेकनीकल टर्म्स इन पजाबी	टक्सटबुक सासाइटी		

एग्लो पजाबी डिक्शनरी प्राफ टाईटिलज एण्ड पजाबी भाषा विभाग १९५३ पटियाला

४ कोश तथा व्याकरण (मिश्रित रूप म)

{पजाबी ग्रामर विद एग्लो-गुरमुखी एण्ड वाकाबुलरी | गुरमुखी मा | १८९६ | लुधियाना

पजाबी अग्रेजी और अग्रेजी पजाबी व्याकरण | गुरमुखी मा | —/ | लुधियाना

{अर्थात् पाठाभ्यास पजाबी व्याकरण तथा शब्दावली सहित कोश | | १९०१ | पटियाला

५ बोली या उपभाषा कोश

{ग्रामर एण्ड डिक्शनरी ग्राफ वेस्टर्न पजाबी शाहपुरी डिस्ट्रिक्ट | विल्सन | १८९९ | लाहौर

६ साहित्य कोश

साहित्य सकेत | सम्पा०—शैदास सिह प्रेमसिह आदि | १८६६ | जालधर

(ख) अग्रजी पजाबी कोश

१ भाषा कोश

इग्लो गुरुमुखी डिक्शनरी	सालिग्राम	१८८७ १८९३	लाहौर
एग्लो पजाबी डिक्शनरी	बजार ए हिन्द प्रेस	१९१५	अमृतसर
पजाबी वोकेबुलरी ग्राफ ५,८०० वर्ड्स	टी ग्राहम बैले	१९१९	कलकत्ता
दी स्टडड इग्लिश पजाबी डिक्शनरी (५ भाग)	पजाबी भाषा विभाग	१९५३	शिमला
एग्लो पजाबी डिक्शनरी	तेजा सिह	१९५४	लुधियाना
दि जूनियर रीडस बेसिक डिक्शनरी	वी एस सग्गू	१९५५	लुधियाना
पजाबी डिक्शनरी (अग्रेजी म)	ह्यूस वाल्टर पुलिन	१९२९	लायलपुर
		१९६५	जालधर
अग्रजी गुरुमुखी डिक्शनरी कोश	—	—	—
इग्लिश टु पजाबी डिक्शनरी	—	—	—
स्टुडेंट्स जवाहर इलस्ट्रेटिड एग्ला डिक्श०	हरमिन्दर सिह	१८६६	अमृतसर

२ लोकोक्ति मुहावरा कोश

ए गाइड टु पजाबी या कहावते मुहावर | ए सी पाल एण्ड सस | १९३० | अमृतसर

अग्रेजी पजाबी शब्दावली (तृतीयसंस्करण)

पजाबी कहौता दा सग्रह (पजाबी अग्रजी) | रेखासहित | — | —

३ व्याकरण सगुम्फित कोश

अग्रेजी पजाबी कोश व्याकरण की रूपरेखा सहित | — | —

४ वतनी कोश (एकभाषी)

शब्द जोड कोश (गुरमुखी लिपि म) | पजाबी वि० वि० | १८६८ | पटियाला

(ग) फारसी पजाबी

निमव ए दमनी अथात ए पर्शियन पजाबी वाक्वुलरी इन वस विद मार्जिनल नाट्स इन पर्शियन	खुदावक्श	१८६८ ७४	लाहौर
फारसीनामह विद नम्स्वाटी अर्थात फोर पर्शियन पजावा ताबूलराज इन वस		१८७४	लाहौर

(घ) पजाबी रूसी कोश

पजाबस्की रूस्की स्लावार	आई एम राविनोविच तथा आइ डी विग्रायोव	१९६१	मास्को

(ङ) हिन्दी पजाबी कोश

हिन्दी-पजाबी कोश	भाषा विभाग पजाब	१९६१	पटियाला

कश्मीरी व्याकरण तथा कोशों की परंपरा

कश्मीरी भाषा का इतिहास भाषागत सस्कारो के कारण अवश्य ही बहुत प्राचीन एव महत्त्वपूर्ण है। इस भाषा की भाषात्मक सरचना जहा आर्यभाषा के समान ही है पर कुछ एक विशेषताए अवश्य अति चिरतन हैं। भारतीय भाषाए जहा सयोगात्मक शैली की ओर प्रवृद्ध हुई है वही कश्मीरी भाषा अभी भी अपनी सश्लेषात्मक शैली को लिए बैठी है। सलग्न विभक्तिया के कारण भारतीय एव विदेशी विद्वानो को बडी विभ्रान्ति का सामना करना पडता है। दूसरी ओर कश्मीरी भाषा का उच्चारण दो भिन्न प्रक्रियाओ म चलता है प्रथम—जब शब्द नितान्त स्वतन्त्र हो और द्वितीय जब शब्द वाक्य विन्यास म सघटित हो। यद्यपि यह नियम समस्त भाषाओ पर लागू होता है पर जिस सूक्ष्मता स इसका प्रयोग कश्मीरी भाषा म होता है वह न तो शिना मे उपलब्ध है न गुरेसी भाषा म। इस भाषा का आदिम स्रोत वैदिक भाषा है। डा० सुनीति कुमार चटर्जी इस मत को मान्य ठहराते है। कश्मीरी भाषा की क्रियाए अब भी वैदिक क्रियाओ की जटिलता को ग्रहण किए हुए हैं और ध्वनिसमूह वैदिकी के अनुरूप है। वैदिक शब्दो की जितनी प्रचुरता इस भाषा म है अन्य भारतीय भाषाओ म कदाचित् ही है। इस भाषा का प्राचीनतम वाङमय छुम्म सम्प्रदाय के वह त्रिकाण छन्द है जो ईसा की नवी शती के आसपास लिखे गये है। इस तरह साहित्य रचना तो बहुत पहले आरभ हो चुकी थी किंतु इस भाषा के विश्लेषण की ओर लोगो का ध्यान काफी बाद म गया। कश्मीरी का प्रथम प्राप्त व्याकरण ईश्वर कोल का कश्मीर शब्दामृत है। इसकी पाण्डुलिपि का काल १६ वी सदी का प्रथम चरण है किंतु १७ वी सदी म इस ग्रन्थ के उल्लेख स अनुमान लगता है कि इसका रचना काल १६वी सदी माना चाहिए। कश्मीर शब्दामृत १० प्रकरणो म विभक्त है

(१) सधि प्रकरण (सूत्र सख्या ११) (२) लिङ्ग प्रकरण—(क) लिङ्गपाद (सूत्रसख्या ७६) (ख) लिङ्ग प्रकरण सनुद्धिपाद (सू० स० ३१) (ग) लिङ्ग प्रकरण सर्वनाम पाद (सूत्र सख्या ४६) (३) स्त्री प्रत्यय (सू० स० ३१) (४) समास (सू० स० १४) (५) तद्धित (सू० स० १६०) (६) अव्यय (सू० स० ५) (७) धातु पाठ (६३६ धातु) (८) परिशिष्ट धातु (२४ धातु) (९) आख्यात प्रक्रिया—(क) वर्तमान काल (सू० स० ५६) (ख) भूतकाल (सू० स० ६७) (ग) भविष्य काल (सू० स० ३५) (घ) अनुवाद (सू० स०) (१०)—(क) कृत्क्रिया (सू० स० ५१) (ख) भाववाद (सू० स० ६२)।

अट्ठारहवी शती के प्रारम्भ म वहा उद्दीन मत्तू ने निशाति कश्मीरी नामक एक कश्मीरी व्याकरण लिखा। इस व्याकरण को मुद्रण का सौभाग्य अभी नहीं मिला है। इसकी पाण्डुलिपि रायल एशियाटिक सोसायटी बगाल म सुरक्षित है। इसकी अन्य प्रति कश्मीर प्रदेश के राजकीय शोध विभाग म है। इस व्याकरण पर फारसी और अरबी व्याकरण का प्रभाव है। लिङ्ग सधि एव धातु पर लेखक का

ध्यान नहीं गया है। अब्दू नसर ने एक अरबी फारसी-कश्मीरी का तुलनात्मक रूप में 'व्याकरणमिश्रित शब्दकोष' उन्नीसवीं शती में लिखा था। इसकी पाण्डुलिपि कश्मीर प्रदेश के राजकीय शोध विभाग के पाण्डुलिपि-कक्ष में है।

ईश्वर कौल ने 'कश्मीर शब्दामृत' के अतिरिक्त एक 'कश्मीरी कोष' की भी रचना की थी। ग्रियर्सन के अनुसार ईश्वर कौल मात्र 'क' अक्षर तक ही यह कोष बना सके थे कि उनका देहान्त हो गया, किन्तु महामहोपाध्याय का कथन है कि कोष की सुलेख कापी 'व' 'क' अक्षर तक कर सके थे या पूरा कोष उन्हीं का है। कश्मीरी का यह प्रथम कोष है जिसका संपादन १९३१ में चार भागों में समाप्त हुआ। दूसरा 'कश्मीरी कोश' उन्नीसवीं शती रचित 'दशमावतोन्य' है। इसमें फारसी पर्याय के अतिरिक्त संस्कृत और कश्मीरी शब्दावली भी है। इसके लेखक के विषय में अभी अन्तिम निर्णय संभव नहीं है। कश्मीरी पर पुराने कार्य केवल ये ही हैं। इस सदी में इस दिशा में काफी कार्य हुआ है। प्राणनाथ त्रसल ने १९६४ में 'कश्मीरी भाषा का वर्णनात्मक व्याकरण' शीर्षक शोधप्रबंध प्रस्तुत किया। यह अध्ययन श्रीनगर के शिक्षित-वर्ग की भाषा का ही प्रतिबिम्बित करता है। इसमें कश्मीर के प्रमुख दो ज़िले कामराज और मराज का प्रतिनिधित्व नहीं है। ब्रजबिहारी काचरू ने ई० १९६६ में 'कश्मीरी व्याकरण' का प्रकाशन किया। यह भी पूरी कश्मीरी भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। श्री काचरू ने इसके अतिरिक्त कश्मीरी भाषा का संक्षिप्त व्याकरण भी लिखा है। डा० त्रसल और केलकर ने संयुक्त योजना के अन्तर्गत कश्मीरी ध्वनियों पर एक विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। राजकीय सरकार ने कश्मीरी कोष के निर्माणार्थ श्रीकान्त तोशाखानी की अध्यक्षता में एक बोर्ड की स्थापना की है। कश्मीरी भाषा-कोष का प्रथम भाग प्राय तैयार है। यह कश्मीरी का प्रथम वैज्ञानिक कोष होगा। इसकी लिपि फारसी है। सुल्तान कश्मीरी ने १९६२ में 'कश्मीरी भाषा की प्रथा' शीर्षक पुस्तक लिखी जिसमें कश्मीरी के मुहावरे और कहावतें हैं, तथा उन पर संक्षिप्त टिप्पणी भी है। डा० शिमन कृष्ण रैणा ने कश्मीरी कहावतों और मुहावरों के तुलनात्मक अध्ययन पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण की है। इसके अतिरिक्त वितस्ता पत्रिका में स्थायी स्तम्भ के रूप में 'कश्मीरी शब्द वातायन' में कश्मीरी भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति का एक बृहद् शब्द भण्डार प्रकाशित हुआ है।

यूरोप में जान क्रिस्टाफ, एडिगवर्थ लीच, ग्रियर्सन, रनिंघम, कामन्डर बौनिंग हिडन, वाड, नारेंस ग्राहम बेली आदि कई विद्वानों ने कश्मीरी भाषा पर काम किया है। कुछ एक अ-कश्मीरी भारतीय विद्वानों ने भी कश्मीरी व्याकरण के निर्माण में अपना योगदान दिया है। इनमें सर्वप्रथम विद्वान् नारायण पण्डित हैं जिनका उर्दू कश्मीरी व्याकरण है। इसका प्रकाशन १८७३ ई० में लाहौर में हुआ था। उर्दू में लिखित व्याकरणों में इसका स्तर अच्छा है। इसी प्रकार सिद्धेश्वरनाथ वर्मा ने 'कश्मीरी ध्वनि एवं अक्षर विन्यास' पर महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है। कुछ छोटे मोटे फुटकर कार्य और भी हुए हैं।

तेलुगु भाषा के व्याकरण

तेलुगु भाषा के (स्वतन्त्र भाषा के रूप में) व्यवहार के प्रमाण नवीं शताब्दी ईस्वी से प्राप्त होते हैं। उस समय के शिलालेखों में तेलुगु भाषा के गद्य तथा पद्य के अनेक नमूने मिलते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी तक—जब कि राजमहेन्द्रपुरम् में चोल राज्य की एक शाखा राजराजनरेन्द्र के आधिपत्य में स्थिर हुई, इस भाषा को राजादर प्राप्त हुआ और शासन भाषा के रूप में संस्कृत या प्राकृत के स्थान पर तेलुगु या आन्ध्र भाषा का व्यवहार होने लगा। इस शताब्दी की एक अतिमहत्त्वपूर्ण घटना आन्ध्रमहाभारतमु की रचना है जो संस्कृत 'महा भारत' का तेलुगु अनुवाद है। इसकी रचना आन्ध्रभाषा के पितामह माने जानेवाले नन्नय भट्टारक ने की। वास्तव में यह अनुवाद तीन कवियों के द्वारा सम्पन्न किया जा सका। नन्नय के पश्चात् काल में एर्रांप्रेगड और 'तिक्कन' नामक दो अन्य कवियों ने इस अनुवाद कार्य को पूरा किया जिनका समय तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी था। नन्नय की रचना ने तेलुगु भाषा के स्वरूप को स्थिर रूप दिया और वही परम्परा आगे के साहित्य में स्वीकृत की गई, आज भी यह महाभारत मापदण्ड प्रस्तुत करता है। साहित्य की भांति ही तेलुगु-व्याकरण एवं काव्य लक्षण के प्रारम्भक भी नन्नय ही हैं। नन्नय भट्टारक द्वारा संस्कृत के आर्यावृत्त छन्द में लिखित एक छोटा ग्रन्थ आन्ध्रशब्दचिन्तामणि तेलुगु का प्रथम व्याकरण है तथा काव्यलक्षणग्रन्थों में भी प्रथम रचना के रूप में इस कृति की परिगणना होती है। उस समय जितने भी भाषा व्याकरण रचे गये वे काव्य लक्षणों को भी प्रतिपादित करते हैं क्योंकि इन ग्रन्थों का निर्माण कवित्व शिक्षा देने के लिए होता था। तोल्काप्पियम् (ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी) में भी ये लक्षण पाये जाते हैं। कन्नड भाषा का कविराजमार्ग जो कि संस्कृत के (दण्डिकृत) काव्यादर्श पर आधारित है प्रमुख तथा काव्य-लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए प्रयोग साधुत्व की भी चर्चा करता है। जिस प्रकार संस्कृत के पाणिनीयादि व्याकरणों की भामह आदि के काव्य लक्षणों की परम्परा से भिन्न एक स्वतन्त्र परम्परा विकसित हुई वैसी इन देशभाषाओं में नहीं हुई। संस्कृत में भी प्रथम काव्यलक्षण ग्रन्थ 'भरतनाट्यशास्त्रम्' में भाषा प्रयोगों का विवेचन किया गया है। तेलुगु की यह लक्षण-लक्षण परम्परा सोलहवीं शताब्दी तक चलती ही रही। सत्रहवीं शताब्दी में भाषा विश्लेषणपरक नियमों को बताने वाले स्वतन्त्र व्याकरणग्रन्थों की रचना हुई।

तेलुगु में प्राप्त इन समस्त व्याकरण ग्रन्थों को विविध दृष्टियों से परख सकते हैं और विभिन्न वर्गों में रख सकते हैं। एक तो भाषा भेद से—संस्कृत में लिखित और तेलुगुभाषा में लिखित—ग्रन्थों के दो वर्ग किए जा सकते हैं। संस्कृत में लिखित ग्रन्थ हैं आन्ध्रशब्दचिन्तामणि अथर्वणकारिकावलि अहोबलपण्डितीयम् कृत उदाहरणा

की व्याख्या जो 'विकृतिविवेक' तथा 'अहोवलपंडितीय' नाम से विख्यात है आन्ध्रकौमुदी तथा हरिकारिका ग्रन्थ हैं। दूसरे वर्ग में आन्ध्रभाषा भूषणमु, काव्यालंकार चूडामणि, कविलोकचिंतामणि, कविजनसंजीवनी, अप्पकवीयमु, कविशिरोभूषणमु, सर्वलक्षणसारसंग्रहमु आदि ग्रन्थ हैं।

इनका वर्गीकरण एक और प्रकारसे भी हो सकता है। छन्द या पद्य के रूप में निर्मित तथा सूत्रों के रूपमें निर्मित—दो वर्ग हैं। तीसरा वर्ग व्याख्याओं अथवा टीकाओं का है जो गद्यरूपमें हैं। कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें लक्षण पद्यमें हैं और लक्ष्य गद्य में।

इन व्याकरणग्रन्थों की प्रतिपादनशैली, भाषा सम्बन्धी दृष्टि तथा विवेचन पद्धति को दृष्टि में रखते हुए इन्हें कालक्रम के अनुसार निम्नलिखित प्रकारसे वर्गीकृत किया जा सकता है—१ प्रारम्भिकयुग—ग्यारहवीं शतीसे तेरहवीं शती ईस्वी तक, २ द्वितीय चरण—तेरहवीं शती से सोलहवीं शती ईस्वी तक ३ तृतीय चरण—सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती ईस्वी तक ४ आधुनिक युग—उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती।

प्रारम्भिक युग—इस युग की दो प्रमुख कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं ये हैं नन्नय भट्टारक कृत आन्ध्रशब्दचिंतामणि (ग्यारहवीं शती) और अथर्वणकारिकावली अथर्वण के द्वारा लिखित व्याख्या अथवा वृत्ति जो नन्नय कृत चिंतामणि पर लिखी गई है (तेरहवीं शती)। इस युगमें कदाचित् ये दो ही कृतियां लिखी गयी थीं। ये दोनों संस्कृत में हैं और श्लोक रूप में हैं। इनमें तेलुगु भाषा व्याकरण के अतिरिक्त काव्य लक्षणों की भी चर्चा है। आन्ध्रशब्द चिन्तामणि यह स्पष्ट घोषणा करती है कि संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के व्याकरण तेलुगु भाषा प्रयोग के लिए अवश्य अध्येय हैं क्यों कि तेलुगु भाषामें संस्कृत प्राकृतप्रयोग अधिक मात्रा में आते हैं। नन्नय ने उन अंशों की चर्चा अपने ग्रन्थ में नहीं की है जो संस्कृत के पाणिनीय तथा प्राकृत के वाल्मीकीयादि व्याकरणों में चर्चित हैं। उन्होंने केवल उन अंशों की चर्चा की है जो तेलुगुभाषा के लिए विशिष्ट हैं और संस्कृत प्राकृत व्याकरणों में अप्राप्य हैं। इन दोनों ग्रन्थों में कहीं संस्कृत के उन पारिभाषिक शब्दों की परिभाषा भी नहीं दी गई है जो पाणिनीय में आये हैं किन्तु उन शब्दों का प्रयोग तेलुगु व्याकरणों में बराबर होता रहा है, जैसे संज्ञा क्रिया अव्यय समास अच हल् निट् तद्धित, कृत् इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि ये तेलुगु व्याकरण पाणिनीयादि व्याकरणों के संपूरक ग्रन्थों के रूप में ही निर्मित थे, न कि पूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में। नन्नय ने तेलुगु के लिए आवश्यक कुछ नये पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये हैं और उनकी परिभाषा भी दी है। जैसे तेलुगु भाषा के शब्दों को रचना की अथवा स्वर संगठन की दृष्टि से दो वर्गों में रखा गया है द्रुतप्रकृतिक शब्द वे हैं जिनकी समाप्ति न में हो, कल (अकारान्त) शब्द वे हैं जो न से समाप्त न हो। नन्नय कृत चिंतामणि का एक नमूना है—

विश्वश्रेयः काव्यं,तद्दोषौ, परिकृतौ च वाग्यौ।

सा वाग या रसवृत्ति साध्योऽय हि रसो यथायय कविभि ॥ (श्लोक १)

[काव्य वह है जिसमे विदष का श्रेय होता है, दोषहीन गुण अलकार युक्त वाग्य ही काव्य है काव्यगत वाक रसपूर्ण होती है कवियो के द्वारा उपयुक्त रीति स रस साध्य किया जाता है]

स्वस्थानवेशभूषाभिमनास्तन्नो रसप्रबुधधिय ।
लोके बहु मयते वक्तकायानि चायदपहाय ॥ (श्लोक २)

[रस के आस्वादन में तत्पर जिनका हृदय है एसे स त विद्वान् लोग आन्ध्र प्रदेश में अपने स्थान के योग्य वेषभूषा म अभिमानयुक्त होते हैं और वक्त काव्य —अर्थात् तेलुगु भाषीय काव्या को ही—अन्य सस्कृत प्राकृत काव्यो को छोड कर आदर दृष्टि से स्वीकार करते हैं।]

सिद्धिर्लोकाद् द्वयो लोकोऽन्यादृशश्च नित्यश्च ।
सस्कारनियतो नियमाद् ग्राम्य हि यदवभ्रन ॥ (श्लोक ३)

[शब्दो की साधुता लोक व्यवहार से अर्थात् शिष्टजन व्यवहार स सिद्ध होती है जो व्यवहार परिवर्तनशील न हो नित्य ही उसी को लोक शब्द म ग्रहण किया है। (अर्थात् सामान्य व्यवहार म निरतर उच्चारण म अथवा व्याकरणिक प्रयोग म भिन्नता प्राप्त करने वाले व्यवहार ग्राह्य नही है शिष्टव्यवहार भाषा के स्थिर रूप का ग्रहण करता है) ऐसे शिष्टव्यवहार के सस्कार के लिए व्याकरणिक नियम दिये जाते हैं। जो इन नियमो को ग्रहण न करे वह व्यवहार ग्राम्य माना जाता है और वही अपभ्रश है]।

उपयुक्त चिन्तामणि श्लोको स यह प्रकट है कि तत्त्वय को दृष्टि म काव्य रचना ही भाषीय साधु प्रयोगो के नियम देने का मुख्य लक्ष्य है शिष्ट व्यवहार ही आदर्श भाषा है और उसका रूप स्थिर होता है। सस्कृत प्राकृत की परपरा म तेलुगु का जोड देने का यह प्रयत्न इतना सफल हुआ कि आगे के लक्षणकारो तथा वैयाकरणो ने भी तेलुगु का इसी दृष्टि म विवेचन किया और स्वतत्र विवेचन नही किया।

अब अथर्वणकारिकावली का एक नमूना लीजिए जो चिन्तामणि की वृत्ति है

भाषा महार्हा सा मूल सवस्वति निगद्यते।
तदनुसरस्य कायस्य वक्ता भवति पाणिनि ॥
श्रुतेन्यायाद्धे प्रोक्ते वा प्रमाणम् पाणिनि स्मरेत्।
अथवा फणिनामीश चिन्तयेद् बहुणो बुध ॥
प्राकृते षड्विध चापि वाल्मीकि वा महेश्वरम्।
व्याघवस्य तु मावेश स्मरेत् पडितमतम ॥

(अथवण श्लोक ४ ५ ६)

(सस्कृत भाषा प्रान्मि है धयन्त पूज्य है सभी भाषाओं का मूल है—ऐसा कहा जाता है। उस विकृति स्वभाव वाला अन्य भाषाओ के व्याकरणो म जो प्रमुख है उसका वक्ता पाणिनि है (अथात् संस्कृत भाषाओं का प्रकृति है जिसका व्याकरण पाणिनि न दिया है)। अब मराठ स्वय कहा या सुने ता

पाणिनि का स्मरण करें। अथवा फणिराय के राजा (महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि) का स्मरण करें। छः प्रकार की प्राकृत भाषाओं में अपशब्दों का प्रयोग करें या सुनें तो (प्राकृत व्याकरणकर्ता) महेश्वर और वाल्मीकि का स्मरण करें। इस तेलुगु भाषा में यदि अपशब्द प्रयोग हो जाएँ तो हम दोनों का—अर्थात् चिन्तामणिकर्ता नन्नय और अथर्वणकारिकावली के रचयिता अथर्वण—का स्मरण करें।]

अथर्वण ने यह भी कहा है कि आन्ध्रभाषा को अपभ्रंश नहीं कह सकते क्योंकि यह संस्कृतमूलक है, रूढ़ है और शिष्टजन के द्वारा स्वीकृत है।

नन्नय तथा अथर्वण के द्वारा स्थिरीकृत ये आधार ही आगे के सभी लक्षणकारों के लिए आदर्श बन गये। अतः उन लोगों की रचनाओं में भाषा सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र या इससे भिन्न चिन्तन नहीं प्राप्त होता है। उन सबने संस्कृत प्राकृत व्याकरणों को यथावत् स्वीकार करके तेलुगु के विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन किया है यह अवश्य है कि संस्कृत प्राकृत प्रयोगों में से कुछ ही को तेलुगु के लिए ग्राह्य माना गया, कुछ प्रयोग तेलुगु के लिए अनावश्यक करार दे दिये गये हैं। इह तु प्रव्याहार्यं संकेतिनसुप्रसिद्धमेव पदम् —अर्थात् इस (तेलुगु) भाषा में संस्कृत प्राकृत के वे ही पद प्रयोग-योग्य होते हैं जो विवक्षित अर्थ का संकेत देने में समर्थ हों, अन्य पद नहीं।

द्वितीय चरण में 'केतन' (अकारान्त शब्द) का नाम प्रथम ग्राह्य है। (तेरहवीं शती) इनकी एक पद्यकृति दशकुमारचरित' अत्यन्त सुन्दर काव्य है। इनका रचित व्याकरण तथा काव्य लक्षण ग्रन्थ है— आन्ध्रभाषाभूषणम्। यह तेलुगु भाषा के छन्दों में विरचित है। ग्रन्थ के आरम्भ में इन्होंने कहा है कि नन्नय आदि ने संस्कृत प्राकृत के तत्सम शब्दों का लक्षण तो प्रतिपादित किया, किन्तु तेलुगु भाषा के बारे में बहुत कुछ कहना रह गया अतः नन्नय आदि की कृपा से मैं ये लक्षण कह रहा हूँ मुनुनु सनुगुनकु लक्षण मेन्द्राडु जेवक्कडुनु जेपपर ए जेपवद" (केतन कृत आन्ध्रभाषाभूषणम् पद्य २), यह ग्रन्थ छोटा है, तो भी तेलुगु और संस्कृत भाषागत अन्तर को दृष्टि में रखते हुए सन्धि समास, विभक्ति आदि का सोदाहरण प्रतिपादन करता है। दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ है काव्यालंकारचूडामणि जिसके रचयिता हैं 'विन्नकोट पेद्दन' (पन्द्रहवीं शती) इसमें नौ अध्याय हैं आठ अध्यायों में काव्यांगों का निरूपण है और नवम अध्याय में तेलुगु का व्याकरण है संज्ञा, तत्सम शब्द सन्धि विभक्ति, तद्धित रूप, क्रियारूप—आदि का विवेचन है।

इसी समय के एक अन्य विद्वान वेल्लंकि तातभट्ट विरचित 'कविलोक चिंतामणि' है। इसमें भी व्याकरण के साथ काव्यांगों का विवेचन है।

सोलहवीं शती के मुद्दगजुरामन्' कृत 'कविलोकचिंतामणि' में जो कि पद्यों में है यतिप्रासप्रकरण, शब्दप्रकरण समासप्रकरण, सन्धिप्रकरण नाम से चार प्रकरण हैं इनके नामों से ही प्रतिपाद्य विषय का संकेत मिलता है।

तृतीय चरण में—अर्थात सत्रहवीं अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ हुई जिनका प्रचार आज भी प्रचुर है। इनमें अत्यधिक लोकप्रिय

तथा गद्य ग्रंथ हैं —

'बालसरस्वतीयम्' जो आंध्रशब्दचिन्तामणि की टीका है, इसमें आंध्रशब्दचिन्तामणि के श्लोकों को सूत्र बनाकर लिया गया है तथा व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आधुनिक युग में वास्तव में इसी टीका के प्राप्त होने से मूलग्रंथ चिन्तामणि का पता चला। इसके रचयिता थे '[illegible]सूरि बालसरस्वति'—जो प्रसिद्ध अध्यापक थे।

दूसरी प्रसिद्ध कृति है अप्पकवीयमु (सत्रहवीं शती) जिसके रचयिता हैं 'काकुनूरि अप्पकवि'। वास्तव में यह आंध्रचिन्तामणि पर आधारित है, किन्तु अनेक अन्य लक्षणग्रंथों का आधार लेकर प्रामाणिक लक्ष्यों या उदाहरणों को देते हुए इसमें विस्तार से भाषा तथा काव्य के लक्षण बताये गये हैं। इसमें पाँच 'आश्वास' हैं, पहले चार आश्वासों में काव्यलक्षण है और अन्तिम में तेलुगु व्याकरण—मुख्यतः संधि। ऐसा प्रतीत होता है कि आंध्रशब्दचिन्तामणि के समान इसमें भी भाषा के अन्य लक्षण—अजन्त, हलन्त, क्रिया शब्द आदि का विवेचन करना अभीष्ट था किन्तु अन्य वे भाग प्राप्त नहीं होते कदाचित् ग्रंथ अपूर्ण ही रह गया। तृतीय प्रसिद्ध कृति है कविशिरोभूषणमु जिसके रचयिता अहोबलपंडित हैं। अतएव यह ग्रंथ 'अहोबल पंडितीयम्' नाम से ज्ञात है। यह आंध्रशब्दचिन्तामणि तथा अथर्वणकारिका पर लिखित भाष्य है, बालसरस्वतीयम् का आधार इसमें लिया गया है। चिन्तामणि कारिकावलि के साथ अहोबलपंडितीय का भी अध्ययन किया जाता है जैसे कि संस्कृत में पाणिनि वररुचि के साथ पतञ्जलिकृत महाभाष्य पढ़ा जाता है। अन्य ग्रंथ हैं (१) आंध्रकौमुदी (सोलहवीं शती) मडनरसिंह कविकृत संस्कृत में लिखित सूत्र। (२) सर्वलक्षणसारसंग्रहमु (सोलहवीं शती) गणपवरपु वेंकटकविकृत। इसका प्रत्येक अध्याय एक स्वतन्त्र ग्रंथ माना जाता है जिनके नाम हैं—आंध्रनिघंटु, गणयतिप्रास लक्षण, अलंकार, काव्यलक्षण, रसविचार इत्यादि। व्याकरण भाग का नाम है 'आंध्र कौमुदी' जो एक हजार चरण वाला एक बड़ा छन्द है। (३) सर्वलक्षणसारसंग्रहमु (१८वीं शती) कूचिमंचि तिम्म कवि कृत। इसमें तीन आश्वासों में भाषीय विवेचन है। आनंद रंगराट्छन्दमु (१८वीं शती) कस्तूरि रंगकविकृत। इसका प्रधान प्रतिपाद्य छन्दलक्षण है, व्याकरण विषय गौण है। कविसंशयविच्छेदमु (१८वीं १९वीं शती में स्थित) अडिदमुसूर कवि के द्वारा विरचित व्याकरणपरक पद्यग्रंथ जो बहुत प्रसिद्ध हुआ। हरिकारिकलु (१८वीं शती) शिष्टु कृष्णमूर्ति कृत। यह संस्कृत में है और रचयिता ने स्वयं इसकी तेलुगु व्याख्या भी की है।

आधुनिक युग में प्रसिद्ध व्याकरण कर्त्ता हैं चिन्नयसूरि जिनका बाल व्याकरण तेलुगु भाषा का प्रामाणिक तथा अपेक्षाकृत पर्याप्त व्याकरण माना जाता है। संस्कृत प्राकृत व्याकरणों से निरपेक्ष होकर स्वतन्त्र रूप में समग्र तेलुगु भाषा का विवेचन करना इस ग्रंथ का उद्देश्य है और इस उद्देश्य में यह बहुत हद तक सफल हुआ है। यह अवश्य है कि इस ग्रंथ की निर्माण पद्धति प्रयोग-व्याप्ति आदि पर विवाद होते रहे हैं अनेक पूर्वकवि प्रयोग इसमें स्वीकृत नहीं हुए समकालिक प्रयोग कुछ छूट गये। फिर भी तेलुगु भाषा के व्याकरण के रूप में यह पंडितों का

आदर प्राप्त कर सका है, इस बात का एक प्रमाण इस ग्रंथ पर लिखी व्याख्याओं की संख्या से ही प्राप्त है। इससे अधिक व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। इसकी अत्यंत प्रामाणिक व्याख्या है 'संजीवनी' जिसके रचयिता हैं 'आन्ध्रव्याकरणसंहितासर्वस्व' नामक अत्यंत पांडित्यपूर्ण ग्रंथ के रचयिता वज्झल चिन सीताराम स्वामि शास्त्री। शास्त्री जी के अनुसार बालव्याकरण आन्ध्रशब्दचिन्तामणि तथा अथर्वणकारिका पर आधारित है।

बालव्याकरण में दस परिच्छेद हैं और सवा पाँच सौ के करीब सूत्र हैं। इन परिच्छेदों में क्रमशः संज्ञा, संधि, तत्सम शब्द, आच्छिकशब्द (अर्थात् शुद्ध तेलुगु शब्द) कारक, समास, तद्धित, क्रिया, कृदंत तथा प्रकीर्ण विषयों की चर्चा की गयी है। तेलुगु के वर्ण, सवर्णता संधिनियम इत्यादि उसी पद्धति में दिये गये हैं जिस पद्धति से अष्टाध्यायी में दिये गए हैं। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द अधिकतर संस्कृत व्याकरणों में प्रसिद्ध ही हैं, किंतु अनेक तेलुगु पारिभाषिक शब्द भी दिये गये हैं, ये तेलुगु पारिभाषिक शब्द आन्ध्रशब्दचिंतामणिकार के द्वारा प्रयुक्त ही हैं।

इसके कुछ सूत्रों के नमूने हैं —

संज्ञापरिच्छेद —संस्कृतमुनकु वर्णमुलेबदि (संस्कृत के पचास वर्ण हैं)। प्राकृतमुनकु वर्णमुलु नलुवदि (प्राकृत के चालीस वर्ण हैं)। तेनेगुनकु वर्णमुलु मुप्पदियारु (तेलुगु के छत्तीस वर्ण है)। नकारबु द्रुतबु (नकार 'द्रुत' कहलाता है)। द्रुतांतमुलगुनपदमुलु द्रुतप्रकृतिकमुलु (द्रुतांत पद द्रुत प्रकृतिक कहलाते हैं)। द्रुतप्रकृतुलु गानि शब्दबुलु कळलनबडु (जो द्रुतप्रकृतिक नहीं है वे पद 'कल' कहलाते हैं।

बाल व्याकरणकर्ता ने तेलुगु पदों के नियम बनाते समय प्रकृति प्रत्ययों का विखंडन मनमाने ढंग से कर दिया है और विभिन्नकालिक (अर्थात् प्राचीन तथा आधुनिक) प्रयोगों में कोई अंतर स्पष्ट न करते हुए एक समान नियम बना दिये— इत्यादि आरोपण किये जाते हैं। इस बाल व्याकरण में छूटे कुछ पदों के नियम बनाते हुए बहुजनपल्लि सीतारामाचार्य ने 'त्रिलिंगलक्षणशेषमु' नाम से एक ग्रंथ व्याकरण की रचना की। यह बाल व्याकरण का पूरक ग्रंथ है। अतएव यह प्रौढ व्याकरण नाम से विख्यात हो गया है। फिर भी बालव्याकरण के समान इसमें समग्रता नहीं आयी है।

बीसवीं शताब्दी में स्कूलों तथा कालेजों के पाठ्य ग्रंथ के रूप में अनेक व्याकरण ग्रंथों की रचना की गयी इनका आधार एक ओर बालव्याकरण है और दूसरी ओर अंग्रेजी व्याकरण शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न भी है। प्रयोग सिखाने के उद्देश्य से लिखित इन व्याकरणों में विशेष मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती है। फिर भी कुछ विद्वत्तापूर्ण व्याकरण लिखे गये—जैसे आन्ध्रवाल्मीकि वाविलिकोलनु सुब्बरावु कृत सुलभ व्याकरणमु —जो चार भागों में प्रकाशित हुआ तथा सरल व्याकरण वैश्यव्याकरण नैषधव्याकरण आदि अन्य कुछ ग्रंथ।

इनके साथ ही आन्ध्रशब्दचिंतामणि अथर्वणकारिका आदि की व्याख्याएँ भी लिखी जाती रही हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—चर्ला नारायणशास्त्रिकृत पद्यात्मक

विवेचन, इनके सुपुत्र गणपति शास्त्रि विरचित व्याख्या आदि। बालसरस्वती अरण्यमु, आन्ध्रभाषाशासनमु (मल्लादि सूर्य नारायण शास्त्री कृत) वज्झल चिन सीताराम स्वामि शास्त्रिकृत अनेक शोधात्मक ग्रंथ उल्लेखनीय है।

इधर आन्ध्रप्रदेश में व्यावहारिक भाषा तथा ग्राथिक भाषा को लेकर पंडितों में एक बड़ा शास्त्रार्थ चल पड़ा है। तेलुगु भाषा का बोलचाल में जैसा रूप हो गया है वह प्राचीन पारंपरिक ग्रंथप्रयुक्त शैली से भिन्न है। अतः कुछ विद्वानों का कथन है कि बोलचाल में प्रचलित (तथा कथित अपभ्रष्ट) रूपों को मान्यता दी जाए और साहित्य रचना में उन्हें प्रयुक्त किया जाए। किंतु परंपरावादी इस मत का विरोध करते रहे हैं। इस शास्त्रार्थ के दौरान अनेक ऐसे शोधात्मक-निबंधों का प्रकाशन हुआ जिनमें तेलुगु भाषा की संरचना पर उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है।

भाषा विज्ञान के विकास के साथ-साथ तेलुगु तथा द्राविड परिवार की भाषाओं के अनेक विवेचन प्रकाशित हुए है। आज से एक सौ वर्ष पूर्व ही काल्डवेल ने 'द्राविड भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा और पहली बार वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध किया कि तेलुगु भाषा मूलत द्राविड परिवार का अंग है और उसकी संरचना संस्कृत प्राकृत संरचना से भिन्न प्रकार की है। इसी दिशा या प्रक्रिया में अनेक ग्रंथों तथा शोध पत्रों का प्रकाशन हुआ है जिनका पूर्ण विवरण लेख के विस्तार की अपेक्षा रखता है। कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ है—चिलुकूरि नारायण राव कृत आन्ध्रभाषाचरित्रमु जिसमें काल्डवेल के सिद्धांतों का खंडन करके तेलुगु को आर्यपरिवार का अंग सिद्ध करने का यत्न किया गया है।

किंतु यह यत्न पूर्णतया सफल नहीं हो पाया। कोराड रामकृष्णय्य का मधि नामक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। विद्वान जि ज सोमयाजुलु ने आन्ध्रभाषा विकासमु नामक शोधग्रंथ की रचना की है। इसमें चिलुकूरि नारायण राव के मत की समालोचना की गयी है। आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्वानों ने भी तेलुगु की रचना-संरचना व्याकरण शब्दावली आदि का विवेचन आधुनिक प्रक्रिया से प्रस्तुत किया है। इन विद्वानों में भारतीय तथा अन्यदेशीय व्यक्ति सम्मिलित है। इनका पूर्ण विवरण इस छोटे निबंध में देना संभव नहीं है।

अंत में हम यह कहना चाहते हैं कि लगभग एक हजार वर्ष की अवधि में विभिन्न व्याकरण ग्रंथों ने तेलुगु भाषा प्रयोगों को स्थिर करने तथा तेलुगु साहित्यकारों की सहायता देने के कार्य में अत्यंत सफलता प्राप्त की है, और तेलुगु में भाषा चिंतन तथा भाषीय चर्चा को विकसित करने में योग दिया है। तेलुगु वाङ्मय इन ग्रंथों पर गर्व कर सकता है।

मलयालम व्याकरण की परम्परा

मलयालम भाषा का व्याकरण अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं के आधुनिक व्याकरणों के समान संस्कृत भाषा के व्याकरण ग्रन्थों से अधिक प्रभावित नहीं है। यद्यपि संस्कृत के व्याकरण ग्रन्थों के अनुवाद मलयालम में मिलते हैं। तथा संस्कृत के और भी अनेक लक्षण ग्रन्थों के एक से अधिक अनुवाद हुए हैं। परन्तु संस्कृत व्याकरण के आदर्श पर मलयालम का कोई सर्वांगपूर्ण व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा गया। वैसे कहा जाता है कि मलयालम का प्रथम व्याकरण सन् १३८१ ई० में लिखा गया था परन्तु इसका रचयिता अज्ञात है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उस अज्ञात साहित्यकार ने तब की थी जबकि कविगण व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करते हुए अपने मनोभावों के अनुसार मणिप्रवाल शैली में पुस्तकें लिखने लगे थे। इसमें ग्रन्थकार ने यह दिखाया है कि मणिप्रवाल शैली में लिखित उत्तम रचना किस प्रकार की होनी चाहिए तथा प्रान्तीय एवं संस्कृत भाषा के शब्दों के लिए यह ग्रन्थ सचमुच ही एक रत्न की खान है। इसने तत्कालीन कवियों पर बड़ा प्रभाव डाला और अंकुश का सा काम किया।

तदुपरान्त दीर्घकाल तक किसी नवीन व्याकरण ग्रन्थ की रचना मलयालम में नहीं हुई और संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों की छत्रछाया में मलयालम साहित्य पनपता रहा। सन् १७९९ में रावर्ट ड्रमण्ड ने मलयालम भाषयुट व्याकरणम् (मलयालम भाषा का व्याकरण) नामक ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों को आधार बनाकर मलयालम व्याकरण को नवीन रूप में उपस्थित करने की कोशिश की। इसके कई दशकों के पश्चात् सन् १८४१ में रावर्ट पिट ने 'The Grammar of the Malayalam Language' की रचना अंग्रेजी पद्धति को अपनाते हुए की। उसमें वे कोई ठोस सामग्री देने में असमर्थ रहे हैं। हाँ इसके ऐतिहासिक महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

इस समय रचे गये व्याकरण ग्रन्थों में प्रथम स्थान डा० गुण्डर्ट के व्याकरण का दिया जाना चाहिए। डा० गुण्डर्ट ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए सन् १८३८ में केरल आये थे। विभिन्न भाषाओं के अध्ययन करने की उनकी विशेष रुचि थी। मलयालम, तेलुगु, तमिल, कन्नड जैसी द्राविड भाषाएँ उन्होंने अच्छी तरह सीख ली थी। लोगों के आचारविचार दंतकथाओं आदि का ज्ञान भी जनता के निकट सम्पर्क से उन्होंने प्राप्त किया था। सरकार ने नवीन शिक्षा-पद्धति के अनुसार विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम निर्माण का भार उन्हीं को सौंप दिया था। तब उन्होंने 'मलयालम व्याकरण' की रचना की। सन् १८६२ में उनका व्याकरण प्रकाशित हुआ। दस वर्ष

तक अथक परिश्रम करके उन्होंने १८७२ में एक कोश प्रकाशित किया जिसमें शब्दों की उत्पत्ति अथभेद आलंकारिक अर्थ उच्चारण की रीति आदि विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। उनका व्याकरण भी उनके इसी तरह के गम्भीर पाण्डित्य का प्रतीक है।

कहा जाता है कि तिरुविताकूर (आज त्रिवेन्द्रम के नाम से प्रसिद्ध) के राजा आयिल्यम तिरुनाल ने अपने दीवान की सहायता से मलयालम भाषा की प्रगति के लिए अनेक कार्य किये। अच्छे ग्रन्थ के लेखकों को पुरस्कार भी दिये। उस पुस्तक प्रतियोगिता में विजेता एक ईसाई पुरोहित जार्ज मातन ने सन् १८६३ में एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। यह व्याकरण अंग्रेजी शैली पर लिखा है तथा एक उत्तम ग्रन्थ है इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'बालाभ्यसनम्' नामक उत्तम निबंधसंग्रह की भी रचना की है जिस पर उन्हें पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

वलियकोयित्तम्पुरान के समकालीन पाच्चुमूत्तत ने मलयालम भाषा को अमर बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा कई संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता थे। उनके द्वारा रचित 'तिरुविताकूर राज्य का इतिहास' का गद्यप्रणाली के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है। सन् १८७६ में उनका 'केरल भाषा व्याकरण' नामक मौलिक ग्रन्थ प्रकाश में आया जिसका केरल की जनता ने हृदय से स्वागत किया।

सन् १६१७ में आट्टूरकृष्ण पिशोरटी ने 'भाषापदपरणम्' नामक एक वहत्काय ग्रंथ की रचना की जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। सस्कृत के उद्भट विद्वान् होने के नाते इन्होंने सस्कृत की पद्धति को ही अपना आधार बनाया है। सन् १६३१ में गातुवट एल० ने 'व्याकरण सग्रहम्' नामक ग्रन्थ की रचना करके मलयालम व्याकरण का सुदर और सरल रूप में उपस्थित करने की कोशिश की है।

इस सदी में सन् १६३६ में विद्वान् वेलायुधन् आचारी एन० ने 'व्याकरण कौमुदी' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसमें सुधी लेखक ने पूर्वरचित व्याकरणों का आधार बनाकर एक नये रूप में सुव्यवस्थित ढंग से मलयालम व्याकरण को उपस्थित करने का उपक्रम किया है। सन् १६४१ में सस्कृत के वरिष्ठ प्रवक्ता एवं उद्भट विद्वान् वासुदेव मूसद के० (केरल में के० वी० एम० नाम से प्रसिद्ध) ने 'व्याकरणकौमुदी' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम व्याकरण को अत्यधिक सुव्यवस्थित ढंग से मलयालियों के समक्ष उपस्थित करने का सफल प्रयास किया है। मलयालम के सुप्रतिष्ठित समालोचक तथा सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित कुट्टिकृष्ण मारार ने सन् १६४२ में स्कूलों में शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 'भाषापरिचयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम भाषा के व्याकरण को बड़े ही सरल, सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप में लिखने की कोशिश की है।

सन् १६४२ में ही मलयालम के आर्युक्ति के के राजा ने '...कौमुदी' नामक एक कृति की रचना की जिसमें उन्होंने मलयालम भाषा के व्याकरण का निचोड़ देने की कोशिश की है। सन् १६४४ में आई० सी० चाक्को का 'पाणिनि प्रद्योतम्' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इस व्याकरण ग्रंथ का विद्वज्जनों ने बहुत सम्मान किया है। केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने इस ग्रंथ पर पुरस्कार देकर इसका उचित आदर किया है। मलयालम् व्याकरण की परम्परा में इसका एक विशिष्ट स्थान है। सन् १६४५ में एन० कु...विराम पिल्ल ने 'श्रीचित्रव्याकरणम्' नामक ग्रंथ की रचना की। श्री पिल्ल ने सस्कृत और अंग्रेजी में लिखे गये व्याकरणों तथा अपने से पूर्व लिखित मलयालम व्याकरणों को आधार बनाकर ही इस ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ पूर्वलिखित व्याकरणों का अनुकरण मात्र न होकर इस व्याकरण-परम्परा के विकास में सहायक ग्रंथ है। सन् १६४८ में एक और व्याकरण ग्रंथ प्रकाशित हुआ—वर्गीस टी० का 'नवीन व्याकरण पाठावली'। इसमें विद्वान् अध्यापक ने बच्चों को व्याकरण समझाने की नवीन पद्धति को अपनाया है। इसमें अंग्रेजी भाषा का आश्रय लिया गया है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों के लिए अत्यधिक उपयोगी है। यह ग्रंथ चार भागों में विभक्त है।

इन ग्रंथों के अलावा फारनमयर एल० जे० (Farlinmayer L. J.) द्वारा रचित व्याकरण ...ि प्राथमिक पाठ... भी एक उल्लेखनीय ग्रंथ है। साथ ही साथ महाकवि जी० ...र कुरुप की साहित्य परिचय और 'भाषा प्रवेशिका' भी उल्लेखनीय रचनाएं हैं। प्रो० ...र कुञ्ञिमनन ने 'भाषालक्षणामृतम्' नामक ग्रंथ लिख

कर मलयालम भाषा की महती सेवा की है।

उपरिलिखित व्याकरण ग्रंथों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी मलयालम में लिखे अवश्य गये होंगे। परन्तु उनका उल्लेख न तो किसी इतिहास में मिलता है और न वे पुस्तकालयों में ही उपलब्ध होते हैं। मलयालम भाषा में समालोचना का इतना अभाव है कि मुझे इस लघु लेख तैयार करने के लिए इन पुस्तकों को खोजना पड़ा है और इनकी प्रकाशन तिथियाँ देखनी पड़ी हैं। आज तक मलयालम की व्याकरण परम्परा पर कोई भी लेख प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रस्तुत लेख में मलयालम की परम्परा का विहगावलोकन ही सम्भव हो सका है। अस्तु।

कन्नड के प्राचीन व्याकरण : एक टिप्पणी

कन्नड भाषा के प्राचीन प्रयोग के प्रमाण छठी सदी से मिलने लगते हैं किंतु जैसा कि स्वाभाविक है इस भाषा के विश्लेषण की परम्परा काफी बाद में प्रारम्भ हुई कन्नड के प्रथम ज्ञात वैयाकरण नागवर्मा (१२ वीं सदी) हैं। इन्होंने दो व्याकरणों की रचना की। पहला व्याकरण कन्नड भाषा में छंद पद्यों में रचित है। यह वस्तुतः स्वतन्त्र ग्रंथ न होकर नागवर्मा के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्यावलोकन' का पहला अध्याय है। इनका दूसरा व्याकरण कर्णाटकभाषाभूषण है जो पाणिनि की शैली में संस्कृत भाषा में सूत्रों (कुल २६९ सूत्र) में लिखा गया है। अपने सूत्रों पर ग्रंथकार ने स्वयं एक टीका भी लिखी है। यों तो इन दोनों व्याकरणों के पहले भी ९ वीं सदी के एक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ कविराजमार्ग में कन्नड भाषा की कुछ बातों का विवेचन है, किन्तु उसे व्याकरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। कर्नाटक भाषाभूषण में कुल दस अध्यायों में कन्नड भाषा की ध्वनियां उसकी रूपरचना तथा शब्द रचना आदि पर गहराई से विचार किया गया है। यह व्याकरण पाणिनि से स्पष्टतः प्रभावित है। कन्नड के दूसरे प्रसिद्ध वैयाकरण केशिराज (१३ वीं सदी) हैं जिनका ग्रंथ 'शब्दमणिदर्पण' है। केशिराज ने नागवर्मा के दोनों ग्रंथों से पर्याप्त सामग्री ली है किन्तु साथ ही अपने समय की कन्नड का विश्लेषण करते हुए आवश्यक संशोधन भी किया है। कन्नड का चौथा प्रसिद्ध व्याकरण है शब्दानुशासन' (कुल ५९२ सूत्र)। इसके लेखक हैं भट्टाकलंक (रचना १६०० ई० के आसपास)। यह अनुशासन भी पाणिनि से पूर्णतः प्रभावित है। इन्होंने स्वयं अपने सूत्रों पर भाषा मंजरी नाम की टीका लिखी और फिर उसका भी विस्तृत विवेचन 'मंजरीमकरंद' नामक एक व्याख्या में किया। पाणिनि परम्परा में पाणिनि के सूत्र कात्यायन के वार्तिक तथा पतंजलि का महाभाष्य प्रसिद्ध है। कन्नड भाषा के लिए भट्टाकलंक ने अपने तीनों ग्रंथों द्वारा यह तीनों कार्य किए। भट्टाकलंक ने भी नागवर्मा से बहुत कुछ लिया है। कन्नड के इन प्राचीन व्याकरणों की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत करना आवश्यक हो गया (१) आज जैसे ध्वनिग्रामविज्ञान में न्यूनतम विरोधी युग्मों के आधार पर दो ध्वनियों में विरोध दिखलाते हैं भाषाभूषणकार ने ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए ऐसे ही उदाहरण दिए हैं। (२) संधि के प्रकरण में यह संकेत स्पष्ट है कि संस्कृत के संधिनियम तत्सम शब्दों तक ही सीमित रखे जायें कन्नड के अपने शब्दों में नहीं। (३) कन्नड के अपने शब्दों को देशज कहा गया है तथा तद्भव को अपभ्रंश। (४) कारक छः हैं। संबंध तथा संबोधन कारक नहीं हैं। (५) एक कारक के लिए दूसरे की विभक्ति का प्रयोग हो सकता है। स्पष्ट ही यहाँ बाह्य संरचना और आंतरिक संरचना जैसी बात है। (६) नागवर्मा का ध्यान ऐतिहासिक ध्वनिविज्ञान की ओर भी गया है। उन्होंने संस्कृत शब्दों के कन्नड में होने वाले परिवर्तन का विश्लेषण किया है।

वस्तुतः इन चारों व्याकरणों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि [illegible] के पूर्व ही कन्नड विद्वानों ने पाणिनीय परंपरा के आदर्श प[illegible] गहरा[illegible] करना प्रारंभ कर दिया था।

A manual of Gujrati Grammar—D D Dalal, Bombay, 1889

गुजराती व्याकरण ना मूल तत्त्व—भगवान स० भट्ट, १६०१।

गुजराती भाषानु वृहद व्याकरण—कमलाशंकर प० त्रिवेदी, बबई, १६१६।

Gujrati Language and literature—N B Divatia Bombay, 1921

Accent In Gujrati—G N Saswadkar, M A London dissertation, 1629

गुजराती भाषा नी उत्क्रांति—बी जे दाशी बबई १६४३।

अक्षर अने शब्द—के के शास्त्री, १६४५।

The Language of Mahagujrat—T N Dave, Bombay 1948

शब्द अने अर्थ—बी जे सदेसरा बबई १६५४।

गुजराती रूपरचना—के के शास्त्री बम्बई १६५८।

गुजराती भाषानु पारपरिक व्याकरण—के के शास्त्री, १६६०।

Vowel system of Gujrati—Patel and Modi Baroda 1961

Phonemic and Morphemic analysis of Gujrati Language poona 1966

गुजराती भाषानु ध्वनिस्वरूप अने ध्वनिपरिवर्तन — पी० बी० पंडित अहमदाबाद १८६६।

बंगला

A Bengali Grammar for Natives—श्यामाचरण सरकार कलकत्ता १८६०।

व्याकरणमंजरी—ब्रजनाथ तर्करत्न कलकत्ता १८७८।

व्याकरण प्रभा—नित्यानन्द चक्रवर्ती कलकत्ता १८७८।

व्याकरण मनु—व्रजनाथ विद्यासागर १८७८ कलकत्ता।

Rudiments of Bengali Grammar in English—K P Benerji Calcutta 1893

The Origin and Development of Bengali language—S K Chatterjee Calcutta 1926

Bengali Phonetic Reader—S K Chatterjee, Landon 1928

सरलभाषा बांगला व्याकरण—चर्टर्जी तथा सेन कलकत्ता १६३७।

भाषा बाय बांगला व्याकरण—चर्टर्जी तथा सेन कलकत्ता १६३६।

बांगला भाषातत्त्वर भूमिका—सु० कु० चटर्जी कलकत्ता १६४०।

सरल प्रकाश बांग्ला व्याकरण—सु० कु० चटर्जी, कलकत्ता १६४१।

सिंधी

Sindi Grammar in Sindhi—D V Mirchandani, 1904

बाल सिंधी व्याकरण—मेहरचन्द मेम्मन हैदराबाद (सिन्ध) १६२५।

सवना सिन्धी व्याकरण—छन्नमल माहनदास, ताताराम, १६३०।

सिंधी व्याकरण—कलीच बेग भेरूमल अडवानी, करांची १९४१।
सिंधी बोली जी तारीख—भेरूमल करांची, १९४१।
सिंधी ग्रामरू—नागपाल तथा पुमवानी सक्खर, १९४७।
नवो सिंधी ग्रामरू—आगा खा ताज मोहम्मद खा कराची १९४७।
सिंधी व्याकरण—उकराम गमा कल्याण, १९५३।
सिंधी भाषा का संक्षिप्त परिचय—के टी जेतली, पूना १९५७।
The Phonology and Morphonemics of Sindhi—L M Khubchandani (M A Dissertation) 1961
सिंधी व्याकरणु—मिर्जा कलीच बेग (४ भागों में), कराची १९६०।
सिंधी अलफ वे जी इनिका—अब्दुल करीम लागरी एम ए (सिंध) का डिस्टेंसल १९६२।
The Acculturation of Indion Sindhi to Hindi (Ph D Thesis)—L M Khubchandani 1963
सिंधी व्याकरण (देवनागरी में)—मीरचदानी बंबई, १९६४।
Morphology of Sindhi (Vilochi)—K T Jetli Ph D (Poona) Thesis, 1965
सिंधी भाषा लिपि और साहित्य—मोहनलाल जानवनी दिल्ली १९६६।
Descriptive Analysis of Kacchi—S K Rohra 1966 Ph D Thesis Poona

भारतीय भाषावैज्ञानिक शब्दावली की परम्परा

भापा विश्लेपण के भी पारिभापिक शब्द अन्य विपयों की ही भाँति अलग होते हैं। भारत में भाषा विषयक चिंतन और विश्लेषण की परंपरा अत्यंत प्राचीन है यही कारण है कि इस विषय की पारिभापिक शब्दावली की परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है। शायद यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि भाषाविज्ञान विषयक पारिभापिक शब्दावली का प्रयोग भारत में ही सर्वप्रथम हुआ। और यही नहीं चूँकि प्राचीन भारत में भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण की परम्परा बड़ी ही सम्पन्न रही है, इसीलिए हमारा भाषा वैज्ञानिक साहित्य भी पारिभापिक शब्दावली की दृष्टि से काफी सम्पन्न रहा है और आधुनिक युग में पश्चिमी भाषा विज्ञान जैसे-जैसे प्राचीन भारतीय भाषा विज्ञान से प्रभावित होता गया है वैसे वैसे उसकी पारिभाषिक शब्दावली भी एक सीमा तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वैचारिक धरातल पर प्राचीन भारत की भाषावैज्ञानिक पारिभापिक शब्दावली से प्रभावित होती रही है। संधि तथा तत्पुरुष आदि समासों के नाम तो पश्चिमी भाषावैज्ञानिक साहित्य में अनेक लेखकों द्वारा इसी रूप में प्रयुक्त भी होने रहे हैं।

हमारी पारिभापिक शब्दावली सातवीं आठवीं सदी ईस्वी पूर्व में पन्द्रहवीं सोलहवीं सदी ईस्वी तक न्यूनाधिक रूप में बराबर सम्पन्न होती गई है। यह सम्पन्नता संस्कृत में ही सर्वाधिक है और पश्चिम को भी उसी ने प्रभावित किया है। पालि प्राकृत अपभ्रंश में इस दिशा में कोई उल्लेख्य प्रगति नहीं हुई। हाँ दक्षिण भारत में द्रविड़ साहित्य विशेषत तमिल का भाषावैज्ञानिक साहित्य भी इस दृष्टि से काफी सम्पन्न रहा है। या वह भी मूलत संस्कृत का ही ऋणी रहा है।

भारत की आधुनिक भाषावैज्ञानिक शब्दावली में मुख्यत दो प्रकार के शब्द हैं

(क) भाषा विश्लेषण विषयक परंपरागत संकल्पनाओं के लिए। इनमें तीन प्रकार के शब्द हैं —(अ) भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत से गृहीत शब्द। (आ) द्रविड़ परिवार की भाषाओं में संस्कृत या प्राचीन द्रविड़ साहित्य से गृहीत शब्द। (इ) उर्दू तथा सिंधी आदि में अरबी फारसी से गृहीत शब्द हैं। (ख) भाषा विश्लेषणविषयक नई संकल्पनाओं के लिए। इनमें भी तीन प्रकार के शब्द हैं — (अ) पश्चिमी भाषाओं मुख्यत अंग्रेजी, के पारिभापिक शब्दों के शब्दानुवाद। (आ) पश्चिमी भाषाओं के शब्दों के आधार पर निर्मित नए शब्द। (इ) कुछ बहुत थोड़े स्वतन्त्र रूप से निर्मित शब्द।

संस्कृत में भाषा वैज्ञानिक पारिभापिक शब्दावली का प्रयोग वैदिक संहिताओं में ही मिलने लगता है। प्राचीनतम वैदिक संहिता ऋग्वेद में पद वाक् नाम तथा अक्षर

शब्दों का प्रयोग हुआ है —

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति (ऋग्वेद १।१६४।४५)
इसी प्रकार ८।१००।१० ११ भी द्रष्टव्य है ।
त्रि सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति विद्वान् पदस्य गुह्या यदवोचत । (७।८७।४)
वाक्न वाकम द्विपदा चतुष्पदा अक्षरेण मिमते सप्त वाणी । (१।१६४।२४)

यहाँ वाणी अर्थात भाषा को अक्षर से वनने वाला बताया गया है । ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में यह शब्दावली अपेक्षाकृत और भी अधिक मिलने लगती है । इससे स्पष्ट है कि जैसे-जैसे भाषाचिन्तन बढ़ता गया वैसे वैसे आवश्यकतानुसार भाषा वैज्ञानिक शब्दावली भी बढ़ती गई । और इन ग्रन्थों में ऐसे अनेक नए शब्द प्रयुक्त हुए जो वैदिक संहिताओं में नहीं मिलते ।

यास्क का निरुक्त विभिन्न प्रातिशाख्य एव शिक्षा ग्रंथ भाषावैज्ञानिक क्षेत्र में भारत की प्राचीनतम उपलब्धि हैं । इन ग्रन्थों में सर्वप्रथम भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है । ये पारिभाषिक शब्द मुख्यतः ध्वनि विज्ञान तथा व्याकरण के हैं । उदाहरण के लिए यास्क के निरुक्त में कुछ मुख्य पारिभाषिक शब्द ये हैं —व्याकरण आख्यात उपसर्ग निपात धातु प्रत्यय गुण प्रथमपुरुष मध्यमपुरुष, उत्तम पुरुष अभ्यास वृत्ति, सर्वनाम विभक्ति वचन लोप उपधा, संहिता उदात्त अनुदात्त स्वरित तथा ह्रस्व आदि । आगे आगे चलने पर हम संस्कृत व्याकरण के विभिन्न सम्प्रदाय मिलते हैं जिनमें व्याकरण सबधी पारिभाषिक शब्दावली प्रभूत मात्रा में मिलती है । इन सम्प्रदायों में ऐन्द्र पाणिनि चान्द्र, जैनेन्द्र शाकटायन हेमचन्द्र कातंत्र सारस्वत तथा वोपदेव मुख्य हैं । इन सभी सप्रदायों की भाषाविज्ञानविषयक व्याकरणिक शब्दावली दो प्रकार की है एक तो वह है जो परम्परागत रूप से प्राचीन काल से आ रही थी और एक सीमा तक कुछ अपवादों को छोड़कर प्राय सभी सम्प्रदायों को मान्य थी । दूसरी वह है जो सभी सम्प्रदायों की अपनी अलग है । उदाहरण के लिए वोपदेव में धातु के लिए पारिभाषिक शब्द धु है तथा वृद्धि के लिए व ।

उपर्युक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त तथा कुछ अन्य लोगों में भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावलीविषयक कुछ बड़ी मनोरंजक बातें मिलती हैं । उदाहरण के लिए विसर्ग के प्राचीन नाम अभिनिष्ठान विसर्जनीय तथा विसृष्टि आदि मिलते हैं । प्रातिशाख्यों तथा पाणिनि आदि में विसर्ग शब्द नहीं है । सम्भवत विसर्ग शब्द का प्रथम प्रयोग हेमचन्द्र ने किया है । दुर्गसिंह विसर्जनीय को समझाते हैं— कुमारी स्तनयुगाकृतिवर्णो विसर्जनीयसंज्ञो भवति । अर्थात् कुमारी के दोनों स्तनों की आकृति के वर्ण की संज्ञा विसर्जनीय है ।

शब्द का जो रूप है उसके लिए वचन का नहीं धर्म का ... उन्होंने सर्वनाम के स्थान पर अन्यनाम का प्रयोग किया है।

तन्त्रों की भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली की बहुलता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि एक ही पारिभाषिक शब्द के लिए विभिन्न तन्त्रों ने अलग अलग पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए —

संज्ञा—नाम, गुर्व। सन्धि—संहिता। सर्वनाम—सर्वादि सभी लिए सर्वादि प्रतिनाम ... नाम आदि। लट्—वर्तमान की वर्तमाना। लिङ्—विधि विधिलिङ् ही। लोट्—विधाता की पंचमी। लङ्—भूतकाल या ह्यस्तनी। लुङ्—भूत की अद्यतनी। लिट्—परोक्ष की परोक्षा। लृट्—की भविष्यन्ती। पद—... प्रवण। प्रातिपदिक—लिंग ... शब्द नामन्। प्रत्यय—...। लिंग-...। पुल्लिंग—पण्ड पुरुषात्म लिंग। स्त्रीलिंग—... लिंग। वचन—...। एकवचन—एक या एकत्व। बहुवचन—बहु या बहुत्व।

प्रसिद्ध भक्त जीवगोस्वामी द्वारा निर्मित एक व्याकरण है जिसका नाम है हरिनामामृतव्याकरण। लेखक ने भगवान् भक्ति की छाप व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों पर भी लगा दी है। इनके द्वारा प्रयुक्त कुछ पारिभाषिक शब्द हैं—

पुरुषोत्तमलिंग (पुल्लिंग के लिए)। लक्ष्मीलिंग (स्त्रीलिंग के लिए)। उपेन्द्र (उपसर्ग के लिए)। कृष्णनाम (सर्वनाम के लिए)।

इसी प्रकार कुछ शाक्त व्याकरणों में दस महाविद्याओं के नाम प्रयुक्त हुए हैं काली तारा, षोडशी भुवनेश्वरी भैरवी छिन्नमस्ता धूमावती बगुला मातङ्गी कमला।

पालि व्याकरणों में अधिकांश पारिभाषिक शब्द तो ऐसे हैं जो मूलतः संस्कृत के ही हैं और जो पालि भाषा के ध्वनिनियमों के अनुसार परिवर्तित होने के कारण कुछ भिन्न हैं, किंतु कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे भी हैं जिन्हें पालि वैयाकरणों का अपना विशेष प्रयोग माना जा सकता है। उदाहरण के लिए अनुस्वार को पालि वैयाकरण निग्गहीत (निगृहीत) अथवा बिन्दुस्सरानुग (बिन्दुस्वरानुग) कहते थे। प्राकृत तथा अपभ्रंशों में भी लगभग यही स्थिति थी।

हिंदी मे भाषावैज्ञानिक साहित्य के नाम पर प्रारम्भ में संस्कृत के व्याकरण ग्रंथों या कोश ग्रंथों के भाषानुवाद हुए या इस प्रकार के कुछ छोटे मोटे मौलिक प्रयत्न भी हुए। मुसलमानों ने भी 'खालिकबारी' या ब्रजभाषाव्याकरण जैसे कुछ प्रयास किए। यौरोपीय संपर्क के बाद भाषा के प्रति जागरूकता एक नए रूप में आई। किंतु प्रारम्भ में भाषा के क्षेत्र में जो काम हुए उनके कर्ता योरोपीय ही थे और उनकी भाषा भी प्रायः अंग्रेजी फ्रेंच आदि योरोपीय भाषाएं ही थीं। १८५० के बाद कुछ हिंदी भाषियों ने हिंदी व्याकरण लिखे जिनकी शब्दावली या तो संस्कृत की थी या अंग्रेजी से अनुवाद थी। शुद्ध भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हिंदी माध्यम से काय करने का प्रारम्भिक श्रेय नलिनी मोहन सान्याल (तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपक्रमणिका) डा० श्यामसुन्दर दास (भाषा रहस्य तथा भाषाविज्ञान) डा० मंगल

देव शास्त्री (तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान), डा० बाबूराम सक्सेना (सामान्य भाषाविज्ञान, अर्थविज्ञान) तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा (हिंदी भाषा का इतिहास तथा ब्रजभाषा) आदि की है। इन लागा न तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार कुछ शब्द सस्कृत से लिए कुछ अग्रेजी से लिए तथा कुछ अग्रेजी शब्दा के आधार पर हिंदी म बनाए। उदाहरण के लिए सान्याल ने 'Stem के लिए 'अग affirmat ive' के लिए 'अस्तिवाचक', 'prothesis के लिए 'आदि मे वर्णागम, 'analogy' के लिए 'उपमान' Monosyllable के लिए एकाच Morphology के लिए 'गठन-तत्त्व तथा Glottis के लिए ग्लोटिस' आदि शब्द दिए हैं। इसी तरह डा० श्यामसुन्दर दास ने Linguistic Paleontology के लिए भाषामूलक प्राचीन शोध Semantics लिए अर्थ विचार', Morphology के लिए रूप विचार, Primary Suffixes के लिए धातु प्रत्यय' तथा Secondary Suffixes के लिए अधातु प्रत्यय Morpheme के लिए रूप मात्र तथा Semanteme के लिए अर्थ मात्र' का प्रयोग किया है।

डा० सक्सेना ने हिंदी की भाषा वज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को गहराई सटीकता आदि दृष्टियो से आगे बढाया। उनके ग्रथा म पारिभाषिक शब्दों की सख्या लगभग एक हजार होगी। कुछ उदाहरण हैं bilingual के लिए द्विभाषा भाषी', allophone के लिए व्यष्टि ध्वनिग्राम' morphology के लिए पदरचना-विज्ञान infix के लिए मध्यविन्यस्त प्रत्यय आदि। इस प्रसग म डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। व इलाहाबाद विश्वविद्यालय म हिंदी के माध्यम से काफी समय तक भाषाविज्ञान पढाते रहे और आवश्यकतानुसार ऊपर सकेतित तीना ही स्रोता से हिंदी के शब्दभडार को सम्पन्न बनाते रहे। डा० वर्मा द्वारा निर्मित कुछ शब्द हैं Glottal के लिए स्वरयत्रमुखी' International phonatic Alphabet के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि चिह्न, low vowel के लिए निम्नस्थानीय स्वर तथा loan word के लिए 'उद्धत शब्द आदि।

इसके बाद हिंदी की भाषावज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को आर बढाने का श्रेय डा० उदयनारायण तिवारी (हिंदी भाषा का उदगम और विकास भोजपुरी भाषा और साहित्य तथा भाषाशास्त्र की रूपरेखा) को है। डा० उदयनारायण तिवारी न कुछ शब्द तो स्वय बनाए हैं और कुछ एसे शब्दो का प्रयाग किया है जो भाषा विज्ञान म पहले से चले आ रहे थे। उदाहरण के लिये बगला से गृहीत कुछ शब्द हैं पुर-क्षय प्रतिनिहित असपन्न विप्रकर्ष घटमान घटमान समाप्त अतीत तथा पुराघटित वतमान आदि।

इस दिशा मे उपयुक्त विद्वाना के काम को आगे बढाने का श्रेय डा० भोलानाथ तिवारी को है। डा० तिवारी ने हिंदी माध्यम स भाषाविज्ञानविषयक सर्वाधिक ग्रथा (भाषाविज्ञान शब्दो का जीवन भाषाविज्ञान कोश हिंदी भाषा शब्दो का अध्ययन ताजुब्बरी तथा भाषा चिंतन) की रचना की है। जसा कि काफी लिखन के कारण ... के पारिभाषिक शब्दो की

ढूँढना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने इस क्षेत्र में काफी शब्दों की रचना की। डा० तिवारी ने जिन नए शब्दों को बनाया है वे दो प्रकार के हैं। एक तो वे हैं जो अंग्रेजी के शब्दों के लिए हैं। जैसे glottochronology के लिए भाषा कालक्रम विज्ञान, linguistic ontogeny के लिए व्यक्तिभाषाविकास, idiograph के लिए भावसूचक लिपि, morphophonemics के लिए रूपस्वनि ग्राम विज्ञान, infix के लिए मध्यसर्ग, Psycholinguistics के लिए मनोभाषा विज्ञान, Transformational generative grammar के लिए रूपान्तरण उत्पादक व्याकरण, Spoonerism के लिए आद्याक्षर विपर्यय, immediate constituent के लिए निकटस्थ अवयव, तथा exocentric, endocentric के लिए बहिर्केन्द्रिक, अन्तर्केन्द्रिक आदि। दूसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो किसी अन्य परिभाषा शब्द के प्रतिशब्द नहीं हैं बल्कि जिनकी मूल संकल्पना डा० तिवारी की अपनी है। उदाहरण के लिए भाषाविज्ञान में प्रायः Phonetics, Morphology, Semantics तथा Syntax इन चार का ही शाखा के रूप में प्रयोग होता रहा है। डा० तिवारी ने शब्दों के अध्ययन को एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में स्वीकार किया और इसके लिए अंग्रेजी में wordology तथा हिन्दी में शब्दविज्ञान शब्द की रचना की है। इसी प्रकार प्रयोगविज्ञान, अज्ञातव्युत्पत्तिक (देशज के स्थान पर) तथा परवर्ती तद्भव (अर्धतत्सम के लिए) आदि संकल्पना के स्तर पर भी उनके अपने शब्द हैं।

वस्तुतः डा० श्यामसुन्दर दास, बाबूराम सक्सेना, डा० धीरेन्द्र वर्मा, भोलानाथ तिवारी आदि ने काफी नए शब्दों का प्रयोग किया है और उन शब्दों में से काफी शब्द इतने चल पड़े हैं कि आज ठीक-ठाक यह बता पाना अनुसंधान का विषय है कि इन नए शब्दों में कौन सा शब्द मूलतः इन विद्वानों में किसका बनाया हुआ है।

हिंदी में भाषासंबंधी पारिभाषिक शब्दों के कोशों की भी एक समृद्ध परम्परा रही है। यों तो अपनी पुस्तकों में डा० श्यामसुन्दर दास, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० उदयनारायण तिवारी तथा डा० भोलानाथ तिवारी आदि ने पारिभाषिक शब्दों की संक्षिप्त सूचियाँ भी दी हैं किंतु उनसे अलग भी शब्दकोशों की रचना हुई है। हिंदी में प्रयुक्त भाषावैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों का पहला कोश हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा संकलित करवाया गया था जिसका अन्तिम रूप से संपादन डा० भोलानाथ तिवारी ने १९५३ में किया था। यह कोश अभी तक अप्रकाशित है। इसके कुछ ही दिनों बाद डा० विश्वनाथ प्रसाद ने इस प्रकार के शब्दों का एक कोश तैयार करवाया किंतु यह भी प्रकाशित नहीं हुआ। १९६२ में डा० भोलानाथ तिवारी ने भाषा विज्ञान कोश का संपादन किया जिसके परिशिष्ट में भाषाविज्ञान की हिन्दी अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली की काफी लंबी सूची है। वस्तुतः हिन्दी में प्रकाशित भाषावैज्ञानिक शब्दावली इस कोश में पहली बार इतने विस्तृत रूप में आई है। इसमें कुल लगभग पाँच हजार शब्द हैं। इस कोश का प्रकाशन १९६४ में हुआ। इसी बीच श्री राजेन्द्र द्विवेदी का 'भाषाशास्त्रकोश' भी प्रकाशित हुआ किंतु उसमें स्वतन्त्र रूप से शब्दावली नहीं दी गई है।

इधर इस तरह का अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कार्य भारत सरकार ने करवाया है। शिक्षामंत्रालय के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने मानविकी शब्दावली खण्ड पांच के अन्तर्गत भाषाविज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी हिन्दी तथा हिन्दी अंग्रेजी कोश प्रकाशित किया है। इसे तैयार करने में हिंदी विद्वानों में डा० बाबूराम सक्सेना, डा० विश्वनाथ प्रसाद, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० सत्यप्रसाद अग्रवाल, डा० रमानाथ सहाय तथा डा० भोलानाथ तिवारी आदि ने काम किया है। हिंदीतर विद्वानों में डा० कत्रे, डा० सुकुमार सेन, डा० घाटके, डा० पण्डित, डा० कक्कर आदि का इन कामों को तैयार करने में सहयोग मिला है। सच पूछा जाए तो इस काम के रूप में भारतीय तथा हिन्दी भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली को अच्छा आधार मिला है, किंतु ऊपर उल्लिखित विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयासों की तरह ही इस महाप्रयास के भी सभी शब्द बहुत उपयुक्त नहीं हैं। वर्षों का प्रयोग ही यह निर्णय कर पाएगा कि इन शब्दों में कितने हमारे काम के हैं और कितने व्यर्थ। जैसाकि ऊपर भी कहा जा चुका है इस शब्दकोष में भी पारिभाषिक शब्द तीन प्रकार के हैं एक तो वे जो संस्कृत से आए हैं। जैसे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, स्वर, व्यञ्जन आदि। दूसरे वे हैं जो अंग्रेजी से ज्यों के त्यों या कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ले लिए गए हैं। जैसे noeme के लिए नोइम, cliche के लिए क्लीशे, click के लिए क्लिक, cedilla के लिए सेडिला तथा ceneme के लिए 'सिनिमी' आदि। तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो नवनिर्मित हैं। जैसे Phoneme के लिए 'स्वनिम', acoustic के लिए 'ध्वनिक', allophone के लिए 'उपस्वन', bilabial के लिए 'उभयोष्ठ्य' तथा binony के लिए 'द्विचर' आदि।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, डा० रमेशचन्द्र मेहरोत्रा, डा० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, डा० दयानंद द्विवेदी आदि अनेक अन्य विद्वानों ने भी अपने लेखों या पुस्तकों आदि में आवश्यकतानुसार नए शब्दों का निर्माण और प्रयोग किया है।

महरोत्रा ने 'ध्वनिकी' कहा है तो भायोग ने 'स्वनविज्ञान' कहा है तथा डा० सक्सेना, डा० भोलानाथ तिवारी आदि ने 'ध्वनिविज्ञान'।

अंत में भारतीय भाषावैज्ञानिक शब्दावली के संबंध में दो तीन बातों का संकेत आवश्यक है। पहली तो यह कि हमारी भाषाओं में शब्दावली की सम्पन्नता केवल कोशों और शब्दों के निर्माण से नहीं आ सकती। आवश्यकता है मौलिक तथा अनूदित ग्रंथों में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की। प्रयोग से ही शब्द जीवंत बनता है। इस तरह इस विषय का पर्याप्त साहित्यनिर्माण हमारे लिए आवश्यक है। दूसरे भाषावैज्ञानिक अभिव्यक्ति की संपन्नता की दिशा में केवल पश्चिम के अनुकरण से काम नहीं चलेगा। इस क्षेत्र में मौलिक चिंतन और मौलिक लेखन पश्चिम से अलग अवधारणा के स्तर पर हमारी शब्दावली को सम्पन्न बनाएगा। तीसरी बात एकरूपता की है। यों तो कुछ न कुछ अनेकरूपताएं सभी क्षेत्रों में रहती हैं किंतु इस दिशा में एकरूपता का प्रयोग किया जाना चाहिए। इससे पारस्परिक बोधगम्यता का मार्ग प्रशस्त होगा।

भारत और भाषा-विज्ञान[1]

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दो सहस्राब्दियों से भी अधिक प्राचीन भारतीय भाषा विज्ञान में ही आज के पश्चिमी जगत् के आधुनिक भाषा विज्ञान का सूत्रपात हुआ है। अतः उसके ऐतिहासिक विकास का पर्यवेक्षण संभवतः उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[2]

उत्तर पश्चिमी भारत के वैदिक लोगों का धर्म वैदिक संहिता ग्रंथों पर आधारित था जो परंपरानुसार साक्षात्कृत माने जाते रहे हैं। संसार के अन्य धर्मों के लोग भी अपने धर्म ग्रंथों को भी इसी प्रकार समझते हैं परन्तु वैदिक लोगों के लिए वेदों के संहिता अर्थात् ग्रंथ रूप की अपेक्षा उनका वाक् रूप उच्चरित भाषा का रूप सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। अतः संहिताओं के उच्चरित रूप को यथावत् सुरक्षित रखना उनका प्रधान कर्तव्य था। वैदिक संहिताओं तथा उनके विषय में उक्त मान्यता के विकास के विविध सोपानों के विषय में सम्प्रति कुछ भी नहीं कहा जा सकता है परन्तु यह निश्चित है कि इतिहास में एक ऐसा समय आया जब कि सामान्यतः भाषाओं में घटित होने वाले परिवर्तनों में वेदों को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए विशेष प्रयास करने पड़े। वैदिक मनीषियों ने अपनी भाषा को यथावत् सुरक्षित रखने के लिए जो वैज्ञानिक प्रयास किए वैसे प्रयास अन्यत्र कहीं नहीं हुए। इसका मूल कारण यही था कि वैदिक धर्म में 'शब्द' अर्थात् वेदों का सर्वाधिक महत्त्व था। वैदिक संहिताओं पर आधारित समस्त कार्यानुष्ठानों के नियामक ये साक्षात्कृत 'शब्द' ही थे। क्योंकि वैदिक आर्य सुप्रयुक्त अर्थात् सम्यग् उच्चरित 'शब्द' में मनोवाञ्छित फल और दुरुक्त शब्द में दुष्परिणाम प्रदान करने की शक्ति मानते थे, अतः भाषा में क्रमशः घटित होते रहने वाले निरन्तर परिवर्तनों के विपरीत वैदिक भाषा को यथावत् सुरक्षित कैसे रखा जाए यही उनके लिए मूल प्रश्न था। ऐसी समस्या का सामना संसार के अन्य लोगों ने भी किया है परन्तु वैदिक ऋषियों ने इस का सर्वाधिक श्रेष्ठ निदान किया। वस्तुतः वैदिक ऋषि 'शब्द शुद्धता' की इस साधना के परिणामस्वरूप ही उस समय सूक्ष्म द्रष्टा ध्वनि-वैज्ञानिक बन गए थे जबकि संसार के अन्य सभी लोग या तो इस दिशा में कुछ भी नहीं जानते थे या कुछ भ्रामक कल्पनाओं में उलझे हुए थे। (इन ध्वनि-वैज्ञानिकों का समय ईसवी पूर्व की प्रथम सहस्राब्दी या उससे कुछ पूर्व या बाद माना जाता है।) इन ध्वनि वैज्ञानिकों के प्रयासों का ही परिणाम है कि आज ऋग्वेद का सर्व शुद्ध पाठ उपलब्ध है।[3] ऋक्-प्रातिशाख्य का ध्वनि विवेचन निश्चित ही इस बात का प्रमाण है कि तीन . . . जाने के बाद भी

वैदिक मन्त्रों का यथावत् सुरक्षित रखने के लिए मात्र ध्वनि विधान ही पर्याप्त नहीं हो सकता था उसके लिए अर्थ का भी महत्त्व था। अतः वेदों की परम्परा के सर्वाङ्ग मुनियों ने शब्द सूचियाँ अर्थात् निघण्टु भी तैयार किए जिससे वैदिक संहिताओं के कोशों का प्रयोजन सिद्ध हुआ। जैसे जैसे परवर्ती काल में वेदों का अर्थ दुरूह होता गया ये शब्द सूचियाँ विकसित होती गईं तथा उन पर टीकाएँ भी लिखी जाने लगी थीं। प्राचीन संहिताओं के मर्मोद्घाटन या सम्यक् अर्थ परिज्ञान के लिए उनका पद वैज्ञानिक दृष्टियों से भी विश्लेषण विवेचन आदि भी महत्त्वपूर्ण था और यह निश्चित है कि इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य भी हुआ होगा परन्तु इस समय उस समय का कोई ऐसा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है जिसमें केवल वैदिक भाषा का व्याकरण हो।

प्राचीन भारतीय उच्चतर संस्कृति (प्रसून और प्रभावित संस्कृति) की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें बौद्धिकता की जितनी व्याप्ति है उतनी ही तीव्र अभिलाषा उसमें सिद्धान्तों की तर्कसंगत स्थापना तथा तथ्यों के विश्लेषण और वर्गीकरण आदि प्रस्तुत की है। सामान्यतः इस बात की ओर संकेत किया जाता है।

गया न पथ या माग के रूप मे अपने आपको दूसरा म भिन्न बताया है । कभी कभी एक ही धार्मिक पथ या माग म उपासना पद्धति के अन्तर के कारण कुछ उपवर्ग बन गए हैं । परन्तु इन सभी पथो, मार्गों तथा दर्शनो के मूल मे एक विशेष प्रकार का एकात्मता है ।

प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययना म भी बौद्धिकता का वही स्तर दृष्टिगोचर होता है जो अन्य शास्त्रो या दर्शना म दृष्टिगोचर होता है तथा व्याकरणिक अध्ययन जो साक्षात्कृत वेद का यथावत् सुरक्षित रखने के मौलिक प्रयोजन म प्रेरित हो कर प्रारम्भ हुए थे आगे चल कर भारतीय मनीषा की उपलब्धि के अन्य रूप म सिद्ध और प्रसिद्ध हुए । सामान्यत वैदिक भाषा का कुछ ध्वनि शास्त्रीय विवेचन (Phonetic description) के साथ साथ रूप एव वाक्य शास्त्रीय (Morphological and Syntactical) अध्ययन तो वेद की सुरक्षा के लिए पर्याप्त माना जा सकता है परन्तु यह मान्यता पश्चिमी जगत् म तो सम्भव हो सकती है किन्तु बुद्धि वादी के लिए नही । इसीलिए व हजारो वर्ष पहले व्याकरण के लिए व्याकरण बनाने मे प्रवृत्त हुए थे । वे बहुत पहले ही साधारण ध्वनिक विशेषताओं के सामान्य उल्लेखो के बहुत आगे आधुनिक दृष्टि से सस्कृत की ध्वनि व्यवस्था (Phonology) का स्वनिमात्मक वर्णन (Phonemic description) करने लग थे । क्योंकि उनको अपनी भाषा की सरचना (linguistic structure आधुनिक अर्थ म) की सुरक्षा ही अभीष्ट और उद्दिष्ट थी । इसके पश्चात् भारतीय वैयाकरणो का ध्यान भाषा के पद (morpheme) तथा वाक्य सरचना (syntax) के अध्ययन पर विशेष रूप से केन्द्रित रहा, तथा सस्कृत भाषा का वर्णनिक विश्लेषण एव वर्णन इस पूर्णता के साथ किया कि इसे मात्र पवित्र वेदो की सुरक्षा व धार्मिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए किए गए कार्य के रूप म कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि विभिन्न वैयाकरणो द्वारा रचित समस्त व्याकरणो म सर्वश्रेष्ठ पाणिनि का व्याकरण[4] इतना उत्तम था कि उनके कारण केवल वैदिक

के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पश्चात् ही संस्कृत भाषा न केवल भारत की एक सब सामान्य राष्ट्रभाषा सिद्ध हुई थी वरन वह समूचे एशिया में एक अन्तर्देशीय भाषा के रूप में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थी।) वास्तव में अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है क्योंकि पाणिनि ने स्वयं अपने व्याकरण शास्त्र के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। ऐसी स्थिति में यह भी सत्य हो सकता है कि जिस भाषा का रूप-वर्णन पाणिनि ने कर दिया वही उनके कारण भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई।[*] यहाँ इस समस्या के विषय में विशेष कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि लटिन और ग्रीक दोनों ही भाषाओं की दीर्घजीवी साहित्यिक परम्पराएँ रही हैं यद्यपि आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय दृष्टियों से उनके अच्छे व्याकरण नहीं थे तथा परवर्ती काल में ग्रीक तथा लैटिन की अच्छी साहित्यिक कृतियों के आदर्शों का सामान्यतः अनुकरण भी हुआ है जिसके परिणाम कभी अच्छे हुए हैं और कभी बुरे। परन्तु जिस प्रकार का आदर्श व्याकरण भारत में संस्कृत के लिए सम्भव हुआ था उसी प्रकार का व्याकरण लटिन और ग्रीक भाषाओं का भी होता तो परवर्ती कृतियों में रूपात्मक (morphological) वाक्यात्मक (syntactical) तथा शब्द प्रयोग विषयक जो विविध प्रकार के परिवर्तन (Variations) दृष्टिगोचर होते हैं वे न हुए होते। परन्तु यह सत्य है कि भाषा में स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तनों को तो संस्कृत जैसी देव भाषा के श्रेष्ठ वैयाकरण भी नहीं रोक सकते थे। फलतः मध्यकालीन संस्कृत की वाक्य संरचना तथा शब्द प्रयोग अनेक दृष्टियों से पाणिनि की समकालीन या उनके आस पास के समय की संस्कृत भाषा की वाक्य संरचना तथा शब्द प्रयोग से भिन्न है। पाणिनि के नियन्त्रण के बावजूद भी समय के साथ विकसित होती गई तथा उसके विकास के भी वैसे ही कालखण्ड संस्कृत भाषा हैं जैसे लटिन भाषा के विकास के हैं।

पाणिनि के व्याकरण लेखन का संदर्भ कुछ भी क्यों न रहा हो (वह निश्चित ही एक ऐसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसके विषय में अन्तिम रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता) परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण में अपने विषय की परिपूर्णता तथा व्याप्ति कुछ ऐसी है कि उसको देखकर मानना पड़ता है कि उसका लेखक भारतीय मनीषियों के उस समूह का है जिनमें अपने विवेच्य विषय के मात्र प्राविधिक सिद्धान्तों के अनुरूप सूक्ष्मतम विश्लेषण करने के उच्चतम हिन्दू-बुद्धि-जीवी के सभी लक्षण स्पष्टतः और पूर्णतः परिलक्षित होते हैं।

उच्च हिन्दू संस्कृति का एक दूसरा पहलू और भी है जिसके कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की सर्वश्रेष्ठता पा सके हैं। हिन्दू दृष्टि में मानवीय सत्ता के उन रूपों या अवस्थाओं का विशेष महत्त्व रहा है जिन्हें न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है और न अचेतन या अवचेतन तथा जो बिना किसी प्रयास के अपने आप घटित होती हैं अर्थात् जो या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओं के लम्बे समय तक प्रशिक्षण के परिणाम स्वरूप होती हैं। जैसे श्वास प्रश्वास तथा पाचन की

प्रक्रिया मनुष्य मे अपने आप घटित होती हैं और उन्हे सीखा भी नही जाता, परन्तु सकेतन और वाग्व्यवहार अपने आप तो घटित होते हैं, परन्तु उन्हे सीखा जाता है। हिंदुओं की मानवीय चेतना के रूपों मे इतनी विशेष रुचि थी कि उन्होंने इनके सूक्ष्म अध्ययन तथा उपयोग प्रयोग करने की अनेक प्रविधियाँ या तकनीक विकसित कर ली थीं। जैसी कि हिंदुओं की मोक्ष विषयक मान्यता है उसी के अनुरूप उनकी, इस क्षण भगुर ससार चक्र से आत्मा की मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा के परिणाम स्वरूप उन्हे यह बात उपयोगी प्रतीत हुई होगी कि इस भौतिक शरीर की सहज प्रवृत्तियो एव प्रक्रियाओं पर भी आत्मा का अधिकार रहे। मोक्ष को, इसीलिए, आत्म-स्वातन्त्र्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के मनो शारीरिक अध्ययन के आधार पर ऐसी प्रविधियो को खोजा गया, जिनके द्वारा श्वासोच्छ्वास, पाचन एव रति प्रक्रिया आदि का सयमन सम्भव हुआ। परिणामस्वरूप प्राचीन हिंदू मनीषा द्वारा योग-दर्शन एव शास्त्र विकसित हुआ। अत उसके विकास के मूल मे भी उनकी पूर्वोल्लिखित आत्म मोक्ष विषयक तीव्र इच्छा को ही स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत यह मुमुक्षा मानवीय उदात्त तत्त्वो के पूर्ण चैतन्य के रूप मे उन्नयन का ही दूसरा नाम है जो भारतीय संस्कृति के सभी ललित रूपों मे प्रति बिम्बित है। शास्त्रीय हिंदू नृत्य भी मूलत प्रशिक्षित किन्तु सहज मुद्राओं का ही सकेतीकरण तथा उनका विस्तार एव प्रस्तार है तथा उसके मूल मे हिंदू मोक्ष दृष्टि ही प्रतीत होती है। वैदिक भाषा मे जिसे ऋत कहा गया है वही नृत्य मे नियमित गति द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अग सचालन (गति तत्त्व) के द्वारा मुद्रा विन्यास (स्थायी तत्त्व जिसे वैदिक भाषा मे 'सत्य' कहा गया है) के माध्यम से भाव या रूप की सृष्टि सभव होती है जिसे निश्चित ही शास्त्रीय हिंदू नृत्य का सारतत्त्व माना जा सकता है तथा यही सार तत्त्व सभी हिंदू साधना पद्धतियो मे भी मुद्रा न्यास आदि के विस्तार मे दृष्टिगत होता है जिसके अतर्गत सामान्य ईश्वर नाम-कीर्तन आदि से लेकर विविध तान्त्रिक सम्प्रदायो मे ॐ से लेकर हूं, ह्रीं, 'ह्रां' फट आदि बीज मत्रों तक के विकास को स्वीकार किया जा सकता है। निश्चित ही मानवीय वाग्व्यवहार या भाषा के विश्लेषण तथा उसके सैद्धान्तिक विनियोग के लिए भारतीय भाषाविज्ञान का विकास इसी तथ्य का एक दूसरा निदर्शन है जिसके मूल मे सस्कार जन्य किन्तु उदात्त मानवीय क्रिया का पूर्ण चैतन्य रूप मे उन्नयन-रूपी हिंदू मोक्ष दृष्टि ही कारण भूत प्रतीत होती है। क्या यह उल्लेखनीय नही हैं कि प्राचीन भूमध्य सागरीय देश क्योंकि अवचेतन के विषय मे अत्यधिक अजिज्ञासु थे इसीलिए वे श्रेष्ठ व्याकरणिक प्रविधान न कर सके? तथा क्या यह और भी अधिक महत्वपूर्ण नही है कि आधुनिक युग मे विवरणात्मक भाषा विज्ञान (Descriptive Linguistics) मे पाश्चात्त्य जगत् की विशेष रुचि तथा अवचेतन के मनोविज्ञान (Psychology of Subconscious) का विशेष विकास बहुत कुछ समान एव समकालीन है?"

हिंदू व्याकरण शास्त्र के लिए अब तक ' ' तथा सर्वांगीण' शब्दो

के आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित हो सके। (पाणिनि के पश्चात् ही सस्कृत भाषा न केवल भारत की एक सब सामान्य राष्ट्रभाषा सिद्ध हुई थी वरन वह समूचे एशिया म एक अतर्देशीय भाषा के रूप म प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थी।) वास्तव म अभी तक यह एक उलझी हुई समस्या ही है क्योकि पाणिनि न स्वय अपन व्याकरण शास्त्र के विषय मे कुछ भी नही कहा है। ऐसी स्थिति म यह भी सत्य हो सकता है कि जिस भाषा का रूप वर्णन पाणिनि ने कर दिया वही उसके कारण भारत की एक सामान्य साहित्यिक भाषा सिद्ध हो गई।[१] यहाँ इस समस्या के विषय म विशेष कुछ और कहने की आवश्यकता नही है। परन्तु इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि लटिन और ग्रीक दोना ही भाषाओ की दीर्घजीवी साहित्यिक पर म्पराएँ रही हैं यद्यपि आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय दृष्टियो स उनके अच्छे व्या करण नहा थे तथा परवर्ती काल म ग्रीक तथा लटिन की अच्छी साहित्यिक कृतियो के आदर्शों का सामान्यत अनुकरण भी हुआ है जिसके परिणाम कभी अच्छे हुए हैं और कभी बुरे। परन्तु जिस प्रकार का आदर्श व्याकरण भारत म सस्कृत के लिए सम्भव हुआ था उसी प्रकार का व्याकरण लैटिन और ग्रीक भाषाओ का भी होता तो परवर्ती कृतियो मे रूपात्मक (morphological) वाक्यात्मक (syntactic l) तथा शब्द प्रयोग विषयक जो विविध प्रकार के परिवत (Variations) दृष्टिगोचर होत हैं वे न हुए होते। परन्तु यह सत्य है कि भाषा मे स्वाभाविक रूप से होने वाले परिवर्तनो को तो सस्कृत जसी देव भाषा के श्रेष्ठ वैयाकरण भी नही रोक सकते थे। फलत मध्यकालीन सस्कृत की वाक्य सरचना तथा शब्द प्रयोग अनेक दृष्टियो से पाणिनि की समकालीन या उसके आस पास के समय की सस्कृत भाषा की वाक्य सरचना तथा शब्द प्रयोग से भिन्न हैं। पाणिनि के नियन्त्रण के बावजूद भी समय के साथ विकसित होती गई तथा उसके विकास के भी वसे ही कालखड सस्कृत भाषा हैं जस लटिन भाषा के विकास के है।

पाणिनि क व्याकरण लेखन का सदभ कुछ भी क्यो न रहा हो (वह निश्चित ही एक एसा उलझा हुआ प्रश्न है कि जिसक विषय म अन्तिम रूप स कुछ भी नही कहा जा सकता) परन्तु यह सत्य है कि पाणिनि के व्याकरण मे अपन विषय की परिपूर्णता तथा व्याप्ति कुछ एसी है कि उसको देखकर मानना पडता है कि उसका लखक भारतीय मनीषियो क उस समूह का है जिनमे अपने विवेच्य विषय के मात्र प्राविधिक सिद्धान्तो के अनुरूप सूक्ष्मतम विश्लेषण करने के उच्चतम हिन्दू-बुद्धि जीवी के सभी लक्षण स्पष्टत और पूर्णत परिलक्षित होते है।

उच्च हिन्दू सस्कृति का एक दूसरा पहलू और भी है जिसके कारण उनके व्याकरणिक अध्ययन एक प्रकार की सवश्रेष्ठता पा सके है। हिन्दू दृष्टि म मानवीय सत्ता क उन रूपो या अवस्थाओ का विशेष महत्व रहा है जिन्हे न पूर्ण चेतन कहा जा सकता है और न अचेतन या अवचेतन तथा जो बिना किसी प्रयास के अपन आप घटित होती हैं अर्थात् जो या तो सहजात होती हैं या सहज क्रियाओ के लम्ब समय तक अभ्यास के परिणाम स्वरूप होती हैं। जस श्वास प्रश्वास तथा पाचन की

प्रक्रिया मनुष्य म अपने आप घटित होती हैं और उन्हे सीखा भी नही जाता, परन्तु सचेतन और वाग्व्यवहार अपने आप तो घटित होते हैं परन्तु उन्हे सीखा जाता है। हिन्दुओं की मानवीय चेतना के रूपों मे इतनी विशेष रुचि थी कि उन्होंने इनके सूक्ष्म अध्ययन तथा उपयोग प्रयोग करने की अनेक प्रविधियाँ या तकनीक विकसित कर ली थीं। जैसी कि हिन्दुओं की मोक्ष विषयक मान्यता है उसी के अनुरूप उनकी इस क्षण भंगुर ससार चक्र से आत्मा की मुक्ति प्राप्त करने की तीव्र इच्छा के परिणाम-स्वरूप उन्हें यह बात उपयोगी प्रतीत हुई होगी कि इस भौतिक शरीर की सहज प्रवृत्तियों एव प्रक्रियाओं पर भी आत्मा का अधिकार रहे। मोक्ष को इसीलिए, आत्म स्वातन्त्र्य के रूप म स्वीकार किया गया है। व्यक्ति के मनो शारीरिक अध्ययन के आधार पर ऐसी प्रविधियो को खोजा गया, जिनके द्वारा श्वासोच्छ्वास पाचन एव रति प्रक्रिया आदि का सयमन सम्भव हुआ। परिणामस्वरूप प्राचीन हिन्दू मनीषा द्वारा योग-दर्शन एव शास्त्र विकसित हुआ। अत उसके विकास के मूल म भी उनकी पूर्वोल्लिखित आत्म मोक्ष विषयक तीव्र इच्छा को ही स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत यह मुमुक्षा मानवीय उदात्त तत्त्वो के पूर्ण चैतन्य के रूप मे उन्नयन का ही दूसरा नाम है जो भारतीय संस्कृति के सभी ललित रूपो म प्रति-बिम्बित है। शास्त्रीय हिन्दू नृत्य भी मूलत प्रशिक्षित किन्तु सहज मुद्राओं का ही सकेलीकरण तथा उनका विस्तार एव प्रस्तार है तथा उसके मूल म हिन्दू मोक्ष-दृष्टि ही प्रतीत होती है। वैदिक भाषा म जिसे ऋत कहा गया है वही नृत्य म नियमित गति द्वारा अभिव्यक्त होता है तथा अग सचालन (गति तत्त्व) के द्वारा मुद्रा विन्यास (स्थायी तत्त्व जिसे वैदिक भाषा मे 'सत्य' कहा गया है) के माध्यम स भाव या रूप की सृष्टि सभव होती है जिसे निश्चित ही शास्त्रीय हिन्दू नृत्य का सारतत्त्व माना जा सकता है, तथा यही सार तत्त्व सभी हिन्दू साधना पद्धतियो मे भी मुद्रा न्यास आदि के विस्तार म दृष्टिगत होता है जिसके अतर्गत सामान्य ईश्वर नाम-कीर्तन आदि से लेकर विविध तान्त्रिक सम्प्रदायो म ॐ स लेकर हु', ह्री, 'ह्रा' फट् आदि बीज मत्रो तक के विकास को स्वीकार किया जा सकता है। निश्चित ही मानवीय वाग्व्यवहार या भाषा के विश्लेषण तथा उसके सैद्धान्तिक विनियोग के लिए भारतीय भाषाविज्ञान का विकास इसी तथ्य का एक दूसरा निदर्शन है जिसके मूल मे सस्कार जन्य किन्तु उदात्त मानवीय क्रिया का पूर्ण चैतन्य रूप म उन्नयन-रूपी हिन्दू मोक्ष दृष्टि ही कारण भूत प्रतीत होती है। क्या यह उल्लखनीय नही हैं कि प्राचीन भूमध्य सागरीय देश क्योंकि अवचेतन के विषय म अत्यधिक अजिज्ञासु थे, इसीलिए वे श्रेष्ठ व्याकरणिक प्राविधान न कर सके? तथा क्या यह और भी अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है कि आधुनिक युग मे विवरणात्मक भाषा विज्ञान (Descriptive Linguistics) म पाश्चात्य जगत् की विशेष रुचि तथा अवचेतन के मनोविज्ञान (Psychology of Subconscious) का विशेष विकास बहुत कुछ समान एव समकालीन है?[७]

हिन्दू व्याकरण शास्त्र के लिए अब तक हमने 'श्रेष्ठ तथा 'सर्वांगीण' शब्दों

का ही प्रयास किया है यद्यपि कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने उसके लिए और भी अधिक प्रशंसात्मक शब्द कहे हैं (उदाहरणार्थ विलियम ड्वाइट ह्विटनी के उद्‌गार 'जर्नल' नामक पत्रिका के खण्ड ५ पृष्ठ २०७ २७६ में अंकित हैं) किन्तु भारतीय भाषाविज्ञान के समुचित मूल्यांकन के लिए उसका स्पष्ट व्याख्यात्मक विवेचन आवश्यक है।

किसी भी वस्तु या तथ्य राशि का वर्गीकरण वर्णनात्मक विवरण कहला सकता है जो वर्ण्य वस्तु या तथ्य राशि में संभव सभी समानताओं का पता लगाने का प्रयास करता है उन समानताओं को कुछ वर्गों (classes) में संयोजित करता है तथा इन वर्गों को पुनः उत्तरोत्तर अधिक व्यापक समावेशक वर्गों (inclusive classes) में संयोजित करता जाता है जब तक कि वर्गों के अत्यन्त समावेशक वर्ग सिद्ध नहीं हो जाते? वर्ण्य वस्तु या तथ्य राशि में प्राप्त समानताओं तथा आंशिक समानताओं के खोजने की प्रविधि के विषय में यहाँ चर्चा करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता और न ही यह कहने की आवश्यकता है कि वर्णनात्मक विवरण सदा वर्ण्य वस्तु की यथार्थता तथा समग्रता का होता है तथा उसके अध्ययन की व्याख्या तथा उसके विषय में प्रावधान लाना भी निर्दोष स्पष्ट एवं लघु (सूत्र) होते हैं क्योंकि वर्णनात्मक अध्ययन तथा विवरण की उक्त प्रविधियाँ वर्णनात्मक के बीच सतानुगतियों में पाई जाती हैं। हाँ यद्यपि वर्णनात्मक विवरण के मान्य सिद्धान्तों के विषय में भाषा विज्ञान के पश्चिम कुछ शताब्दियों में ही अधिक प्रचलित हैं तथा भाषाओं के वर्णनात्मक विवरणात्मक अध्ययनों में क्रमशः उत्तरोत्तर उनका आधार स्वीकार किया जा रहा है। परन्तु पाणिनि द्वारा किया गया संस्कृत भाषा का विश्लेषण वर्णनात्मक विवरण के सभी सिद्धान्तों के विनियोग का एक ऐसा अनुपम उदाहरण है कि उससे सीखा जा सकता है कि भाषाओं का वर्णनात्मक विवरण कैसे किया जाना चाहिए तथा पाश्चात्य भाषाविज्ञान में वाक्य विन्यास तथा विवरण के अपवाद के साथ अन्य सभी क्षेत्रों में यह (पाणिनि द्वारा किया गया भाषा विवरण) निश्चित ही अब तक एक ऐसा आदर्श है जिससे उत्तम नहीं बनाया जा सका है। वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण में वाक्य को छोड़कर अन्य सभी स्तर—वर्ण और पद के स्तर—पर संस्कृत भाषा में प्राप्त सभी समानताओं को वस्तुपरक विन्यास के आधार पर अलग अलग किया गया है उन्हें वर्गों में विभाजित किया गया है तथा वर्गों को इस प्रकार व्यापक रूप से उच्चतर वर्गों में विभाजित किया गया है कि उससे भाषा का सारा विवरण अपेक्षाकृत कम वर्गों तथा उपवर्गों द्वारा संभव हो जाता है।

ब्लूमफील्ड और तथा वर्निक आदि ने अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में विन्यास का ऐसा ही प्रयास भी किया तथा उन्होंने अपनी भाषाओं के सम्बन्ध में विन्यास तथा विवरण में पाणिनि की प्रविधि को आधार वर्णनात्मक अनुक्रमिक विन्यास पर आधारित किया है। किन्तु वर्गीकरण या वर्गीकरण भी मानना है तो यदि पाणिनि ने भी आगे चलकर भाषाओं के व्याकरणों का रूप माना था उस भी उन्हीं प्रकार प्रतीत था। ... क्रियापदों (Conjugations) के विव

चल या लिया जा सकता है जिसमें क्रियाओं के धातु रूपों (roots) मूल प्रत्ययों (Stem Suffixes) तथा विकारी प्रत्ययों (Inflexional Suffixes) के अध्ययन का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है तथा विविध क्रिया रूपों में प्राप्त एस साम्यों की ओर भी कम ही ध्यान दिया गया है जितना विवेचन किया जा सकता था। निश्चित ही हिन्दुओं द्वारा किए गए संस्कृत भाषा के ध्वनि वैज्ञानिक ध्वनिमात्मक (संधियों के) विश्लेषण की तुलना में यूनान और मध्यकालीन ग्रीक तथा लटिन भाषाओं की ध्वनि व्यवस्था का विवेचन अपरिपक्व तथा भामक रहा जाएगा। संस्कृत तथा ग्रीक एव लटिन भाषाओं के व्याकरणों के उक्त अन्तर का एक परिणाम यह है कि अनेक बार हम कल्पना ही करनी पड़ती है कि ग्रीक और लटिन प्राचीन अथवा मध्यकाल में किस प्रकार उच्चरित की जाती थी जबकि पाणिनि के समय में संस्कृत भाषा किस प्रकार उच्चरित होती थी, इसके विषय में निश्चित प्रामाणिक जानकारी हमारे पास है। यह बात केवल शब्दों के विषय में ही सत्य नहीं है भारतीय ऋषियों की दृष्टि वाक्य रूप में उच्चरित वाग्व्यापार पर थी अतः उन्होंने वाक्य में होने वाले सभी ध्वनिक विकारों का भी विवरण दिया है। वस्तुतः संस्कृत भाषा संग्रथित वाक्यों के रूप में ही लिखी जाती है। दूसरे शब्दों में संस्कृत की लेखन व्यवस्था के अनुसार वाक्य के शब्दों को पृथक् नहीं किया जाता। क्योंकि हिन्दू दृष्टि में उक्ति या वाक् मूलतः वाक्यात्मक है मात्र अलग अलग शब्दों की शृंखला के रूप में भाषा की कल्पना जैसी कि रोमन विचारकों ने की थी तथा आज तक पश्चिम में यही दृष्टिकोण अधिक प्रचलित है भारतीय भाषा शास्त्र में स्वीकार्य नहीं है। इस दृष्टि से ग्रीक विचारकों का भाषा दर्शन कुछ भिन्न प्रतीत होता है जैसा कि ग्रीक भाषा के वाक्यों में सुर (tone) अंकन की व्यवस्था से प्रमाणित होता है। परन्तु ग्रीक भाषा के सुर अंकन से वैदिक संहिताओं के सुर अंकन की व्यवस्था निश्चित ही श्रेष्ठ कही जाएगी।

रूपिम या रूप विज्ञान (Morpholo y) के क्षेत्र में तो भारतीय भाषाविज्ञान की उपलब्धियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि पश्चिम में अभी कुछ ही दशाब्दियों में उन्हें होने के मान की स्थिति हो पाई है। परन्तु फिर भी संस्कृत के भाषा वैज्ञानिक विवरण से श्रेष्ठ किसी अन्य भाषा का भाषा वैज्ञानिक विवरण अभी तक संभव नहीं हो सका है। सहरूपिमों (allomorphs) का विधान सहरूपिम के रूप में शून्य (zero) की संकल्पना (अर्थात् लोप) का भाषा वैज्ञानिक विवरण में प्रयोग एवं सहरूपिमों के विविध वर्गों या गणों (sets), जिन्हें आजकल रूप स्वनिम (morphophonemes) कहते हैं अर्थात् संधि में परस्पर समान उपकरणों या समानताओं का व्यवस्थित निर्देश और विशेषकर कुछ सूत्र भाषिक संकल्पनाओं के वर्णन की मुकरता के लिए विशिष्ट रूप स्वनिमों की संकल्पना (उदाहरणार्थ ऋ की स्थिति) तथा पद तथा वाक्य दोनों स्तरों पर भाषिक वर्गों या कोटियों (clas es) के अर्थों के विषय में स्पष्ट व्यवस्था तथा इसी प्रकार की अनेक विशेषताएँ संस्कृत के पद तथा वाक्य के विश्लेषण में दृष्टिगोचर होती हैं जिनका विचार अत्यन्त विज्ञान सम्मत

शाली में हुआ है। ग्रीक और संस्कृत व्याकरण की तुलना के संदर्भ में इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि संस्कृत व्याकरण में 'गुण' और 'वृद्धि' के रूप में सह रूपिमों के सम्बन्ध का जो विश्लेषण किया गया है वह मूलतः मूल भारोपीय भाषा की स्वर क्रम व्यवस्था (Ablout System) का विवेचन है। परन्तु संस्कृत भाषा में गुणात्मक स्वर-क्रम (Qualitative ablaout) समाप्त हो चुका था तथा भारतीय वैयाकरण अन्य किसी भारोपीय भाषा से कदाचित् परिचित भी नहीं थे, (अथवा यदि वे परिचित भी थे, तो उसमें उनकी कोई रुचि नहीं थी), जिसके साथ वे तुलना कर सकते। इसके विपरीत ग्रीक भाषा में गुणात्मक तथा परिमाणात्मक (Quantitative) दोनों प्रकार की स्वर-क्रम व्यवस्था स्पष्टतः सुरक्षित थी फिर भी ग्रीक व्याकरण तथा १६वीं शताब्दी तक उनका अनुकरण करने वाले अन्य सभी पाश्चात्य वैयाकरण भी स्वर-क्रम सम्बन्धी व्याख्या का ऐसा कोई विवरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे जिसकी तुलना पाणिनि द्वारा किए गए विवेचन के साथ की जा सके।

आधुनिक काल में व्याकरणिक विवरण मूलतः तीन प्रकार का होता है एक तथ्य इकाई और उनके संयोजन (Item and arrangement) का विवरण दूसरा तथ्य इकाई और प्रक्रिया (Item and process) का विवरण और तीसरा शब्द और उनकी रूपावलियों का वर्णन (word and paradigm) तथा इस दृष्टि से संस्कृत व्याकरण निश्चित ही दूसरे प्रकार का माना जा सकता है।[१] वस्तुतः पाणिनि के व्याकरण की सम्भवतः सर्वाधिक चमत्कारी विशेषता वह व्यवस्था है कि जिसके द्वारा संज्ञा और क्रिया वर्ग के प्रत्येक अत्यन्त बहुसहरूपिमात्मक रूपिम (पद) (Poly allomorphic morphemes) के लिए एक आधार भूत सहरूपिम स्थापित किया गया है। अर्थात् प्रत्येक क्रिया अथवा संज्ञा के मूल में किसी न किसी धातु तथा/अथवा प्रकृति के रूप में एक प्रातिपदिक का स्वीकार किया गया है तथा इन्हीं मौलिक इकाइयों के साथ सभी भाषिक रूपों का सम्बन्ध संधिविषयक व्यापक प्रक्रियाओं के माध्यम से स्थापित किया गया है। क्योंकि संस्कृत में क्रिया और संज्ञा रूपिमों में [illegible] समानता है अतः पाणिनि ने एक ऐसी व्युत्पत्ति-व्याख्या (system of derivation) का [illegible] किया है जिसमें सभी संज्ञा रूपिमों या प्रातिपदिकों की [illegible] किया धातुओं से की जा सके या ऐसी हो [illegible] धातुओं से की जा सके [illegible] के [illegible] स्वीकृत किया जा सकता है यद्यपि ये दूसरे प्रकार की [illegible] है कि जो [illegible] शब्द मूल [illegible] या प्रातिपदिक (noun stems) [illegible] है। व्युत्पत्ति और [illegible] के [illegible] सिद्धान्त के [illegible] में [illegible] का [illegible] संस्कृत के वैयाकरण भली भाँति परिचित हैं। परन्तु [illegible] के समय में [illegible] का [illegible] ही सर्वमान्य था, जो उनकी अष्टाध्यायी [illegible] है तथा [illegible] भारतीय वैयाकरणों का सर्वमान्य मान्य [illegible] है।[२] [illegible] और [illegible] के [illegible] सिद्धान्तों का [illegible] अंग्रेजी का

[illegible] सहज [illegible] Hammer [illegible] के [illegible] सम्बन्धी समस्या

और नाइडा द्वारा ब्लूमफील्ड द्वारा प्रस्तावित पाणिनि जैसे हल की अस्वीकृति का स्मरण हो आता है। वस्तुत ब्लूमफील्ड द्वारा प्रस्तावित हल से नाइडा की असहमति पूर्णत तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होती।'[11]

संस्कृत व्याकरण शास्त्र अथवा भारतीय व्याकरणिक विवरण की जसी कि अब तक व्याख्या की गई है उसके अनुसार यद्यपि उसे मूलत प्रक्रिया (Process) परक विवरण ही कहा जा सकता है। परन्तु अभी तक यह पूर्णत स्पष्ट नहीं है कि उसकी उक्त व्याख्या ही उचित है या नहीं। क्योंकि यह निश्चित करने के लिए कि पाणिनि की विश्लेषण एव वर्णन पद्धति स्पष्टत सयोजन और 'प्रक्रिया' परक ही है या उसमे इन दोनो प्रविधियो का समन्वित रूप मिलता है पाणिनि की अष्टाध्यायी और उस पर लिखी गई टीकाओ के गहन अध्ययन की अभी बडी आवश्यकता है।

१८वी शताब्दी के अत मे सस्कृत और उसके स्थानीय वैयाकरणो का कुछ ज्ञान पाश्चात्य जगत् म पहुचा था। सर विलियम जोंस ने बडे उत्साह के साथ करीब साढे आठ वर्षों तक सस्कृत का गहन अध्ययन किया तथा २ फरवरी १७८६ मे एशियाटिक सोसायटी के अपने तृतीय वार्षिक अभिभाषण म यह प्रसिद्ध घोषणा की कि सस्कृत भाषा चाहे कितनी प्राचीन हो उसकी सरचना निश्चित ही आश्चर्य जनक है। वह न केवल ग्रीक से भी अधिक पूर्ण तथा लटिन स भी अधिक व्यापक है, अपितु दोनो स अधिक परिष्कृत भी है। साथ ही क्रिया धातुओ और व्याकरण के रूपो दोनो म सस्कृत की ग्रीक और लटिन के साथ अधिक समानता है जो बिना किसी मौलिक सम्बन्ध के सम्भव नहीं हो सकती। वस्तुत इन तीनो भाषाओ की समानताओ की व्याख्या यह मान बिना नहीं की जा सकती कि ये तीनो एक ही समान स्रोत म विकसित हुई हैं जो अब बिलकुल खो चुका है। इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर गौथिक और कैल्टिक भाषाओ के विषय म भी कहा जा सकता है, कि य भी सस्कृत क समान ही एक ही मूल भाषा स विकसित हुई थी यद्यपि इन्होंने कालान्तर मे एक भिन्न प्रकार का मुहावरा विकसित कर लिया था और यदि प्राचीन फारसी की प्राचीनता स सम्बद्ध प्रश्न पर भी यहा विचार किया जाए तो इस भाषा परिवार मे उसे भी जोडा जा सकता है।'[12]

निश्चित ही प्राचीन परम्परा के स्थानीय विद्वानो के साथ अध्ययन करके ही जोंस ने सस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था तथा स्थानीय पारम्परिक व्याकरण की किसी पाठ्यपुस्तक के माध्यम स ही वह इस प्रकार का अनुमान लगा सका होगा। जिन यूरोपीय भाषाओ को वह भली भाति जानता था उनम और सस्कृत में सुनिश्चित प्रकार की समानताओ का लक्ष्य कर ही वह इस निष्कर्ष पर पहुचा होगा तथा उसने उक्त घोषणा की होगी जिसे विद्वानो न इसके बाद बार बार उद्धृत किया है। यद्यपि अठारहवी शताब्दी मे सामान्यत दृष्टिगत होने वाली ऐतिहासिकता की भावना को जोंस की उक्त खोज की भूमिका के रूप म स्वीकृत किया जा सकता है परन्तु सम्प्रति एसा और कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है जिसस यह

द्वारा भाषा का वर्णन करता है। वस्तुत सना तथा क्रिया के प्रमुख रूपिमा (रूपा वलियां) के विवरण स न तो भाषा की सभी रूपिम इकाइयां (morphological units) का स्पष्ट निर्देश हो पाता है और न ही विविध प्रकार की सधियां का विश्लेषण सम्भव होता है। इस प्रकार यूरोपीय रूपावलि मूलक व्याकरण मात्र शब्द को ही एक इकाई के रूप म वर्णन करता है, निश्चित ही उसके माध्यम स पाणिनीय व्याकरण की श्रेष्ठता नही देखी जा सकती। हां, यह किसी शिक्षार्थी को भाषा सिखाने के लिए अधिक उपयोगी हो सकता है।[१४] दूसरे शब्दों म यह कहा जा सकता है कि व्हिटनी आदि पाणिनीय व्याकरण की सनातन विवरणात्मक पद्धति (Descriptive technique) को पहिचानने मे असफल रहे और अन्य भाषाओं के विश्लेषण विवरण के लिए उस पद्धति का प्रयोग करने के विषय म भी विचार नही कर सके। हां, उस समय अपवादस्वरूप कुछ ऐसे श्रेष्ठ भाषा विवरण प्रबन्ध हुए हैं जिन्हें पाणिनीय परम्परा के अनुरूप कहा जा सकता है।[१५]

यहां इस बात का उल्लेख कर देना परमावश्यक है कि उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध म एक सक्षम पाश्चात्य विवरणात्मक भाषाविज्ञान के प्रखर विकास के कारण के रूप मे, सपूर्णत या नहीं तो बहुत अंशों तक भारतीय वैयाकरण ही थे। स्वय सर विलियम जोन्स द्वारा लिखित 'A dissertation on the orhography of Asiatick words in Roman Letters' मे उनके भारतीय ध्वनि विज्ञान के ज्ञान का परिचय मिल जाता है। विगत कुछ वर्षों मे अंग्रेज ध्वनि वैज्ञानिक तथा भाषा विज्ञान के अन्य पंडितों ने जोन्स के उक्त प्रबन्ध स पाश्चात्य ध्वनि विज्ञान के विकास का प्रारम्भ माना है तथा उसमे लेप्सियस, विलियम डी० व्हिटनी, ए०ज० ऐलिस और बेल एव स्वीट आदि जसे महान् विशेषज्ञों का योगदान प्रतिपादित किया है।[१६] परन्तु इतना स्पष्ट है कि यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य ध्वनि विज्ञान की अनेक उपलब्धियाँ हैं तथा उनके परिणामस्वरूप अब उच्चारण प्रक्रिया (articulatory processes) के विषय मे बहुत कुछ निश्चित रूप स कहा जा सकता है, परन्तु यूरोपीय भाषा विवरणों मे ध्वनि वैज्ञानिक विवेचन तभी कुछ श्रेष्ठ होने लगा था, जबकि यूरोपीय संस्कृत पंडित भारतीय ध्वनिविज्ञान से भली भाँति परिचित हो गए थे तथा उनके द्वारा वह ज्ञान यूरोपीय विद्वत्ता की सामान्य परम्परा का अंग बना दिया गया था।

पश्चिम मे व्याकरणिक विश्लेषण के अन्य क्षेत्रों जसे स्वनिम विज्ञान (Phonemics) रूप विज्ञान *(Morphology)* *तथा वाक्य विज्ञान* *(Syntax)* पर भारतीय व्याकरण का प्रभाव काफी लम्बे समय तक बहुत अधिक नहीं था। पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिकों को भारतीय भाषा विश्लेषण की पद्धति तथा विवरण के विधान की श्रेष्ठता (सूत्रात्मक कथन) का परिचय बनफी और व्हिटनी के संस्कृत व्याकरण तथा भाषा और भाषा विज्ञानविषयक कुछ पुस्तकों के माध्यम से ही प्राप्तव्य था। परन्तु उसके परोक्ष प्रभाव से भी उसके अनुसरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए जिन्हे अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए। काफी समय तक पश्चिमी जगत् म भाषाओं

के व्याकरण पारम्परिक यूरोपीय व्याकरण के अनुरूप ही लिखे जाते रहे। हाँ साइबेरिया की 'तुर्किक याकूत' (Turkic Yakut) भाषा का व्याकरण अन्यत्र एक अपवाद है जिसे प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ तथा पाणिनि के विशेषज्ञ ओटो बोटलिंक (Otto Bohtlingk) ने एक शताब्दी से भी अधिक पहले सन् १८५१ में प्रकाशित किया था।[१६] भाषा विश्लेषण तथा विवरण की एक श्रेष्ठ आदर्श-पद्धति के प्रयोग के रूप में इस की प्रशंसा एडवर्ड सपीर ने अनेक स्थानों पर की है। इस व्याकरण या भाषा विवरण में पाणिनि की शैली में ध्वनि प्रक्रिया (Phonology) रूप प्रक्रिया (Mhphology) तथा वाक्य-संरचना (Syntax) का सविस्तार और पूर्ण विवेचन है। यहाँ इस बात को भी बिना किसी शंका के कहा जा सकता है कि ओटो बोटलिंक के संस्कृत और पाणिनि के गहन अध्ययन के परिणामस्वरूप ही इस व्याकरण में उक्त पद्धति दृष्टिगोचर होती है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इस में सर्वत्र भाषा के साम्प्रत विवरण (Syncrhonic description) के साथ साथ उसके ऐतिहासिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है, जिसे आधुनिक विवरणात्मक भाषा विज्ञान के पक्षधर अन्यथा रूप में भी समझ सकते हैं।

यह निश्चित ही अत्यधिक आधुनिक समय में सम्भव हुआ है जबकि विवरणात्मक भाषाविज्ञान में विशेषकर अमेरिका में विवरणात्मक पद्धति के लिए पाणिनि का अनुसरण असफलतापूर्वक हुआ है। फ्रंज बाएज (Frans Boas) का जहाँ तक व्याकरण शास्त्र मे व्यावहारिक प्रशिक्षण था वह सम्पूर्णतः प्राचीन यूरोपीय व्याकरण परम्परा मे ही था। उन्होंने मूल अमरीकी भाषाओं (American Indian languages) के जो विवरणात्मक अध्ययन किए थे व उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा के अनुसार ही किए थे। निश्चित ही उनकी तकनीक अपाणिनीय थी। हाँ, पाणिनि के समान उन्होंने भी भाषा का प्रक्रिया परक वर्णन किया है। परन्तु तकनीक की दृष्टि से उनकी तकनीक उतनी सशक्त नहीं कही जा सकती जितनी कि पाणिनि की है। बाएज के शिष्यों मे एडवर्ड सपीर ने निश्चित ही पाणिनि का अध्ययन किया था तथा उन्होंने उसकी प्रशंसा भी की है। उन्होंने भी प्रक्रिया-परक पद्धति मे भाषा विवरण किया है। लेकिन यह सत्य है तथा इसे मैं सपीर का शिष्य होने के नाते व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ, कि उन्होंने भारतीय वैयाकरणों से कोई प्रेरणा ग्रहण नहीं की थी। परन्तु लिओनार्ड ब्लूमफील्ड की बात दूसरी थी। वह एक ऐसा विद्वान् था जिसने पाणिनि का गहन अध्ययन किया था तथा वह पाणिनि पर लिखे गए व्याख्यात्मक साहित्य से भी परिचित था। उसने हिन्दू वैयाकरणों की पद्धति तथा उनके परिणामों की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है।[२०] पाणिनि मे उन्हें जो कुछ श्रेष्ठ प्राप्त हुआ था तथा जिसे वे भाषा विज्ञान के अन्य विद्वानों के लिए भी प्राप्तव्य समझते थे उसका बड़ा ही स्पष्ट विवरण लीबिश ((Liebich) की Konkrdanz Panini candra' नामक पुस्तक की समीक्षा मे मिलता है जो Language पत्रिका की जिल्द V १६२६) पृष्ठ २६७ ७६ में प्रकाशित हुई थी। ब्लूमफील्ड का यह लेख भाषा

विज्ञान के अध्येता तथा पंडितों के बीच अधिक प्रसिद्ध नहीं है विद्वानों को गंभीरतापूर्वक उसका अध्ययन करना चाहिए। ब्लूम्फील्ड पर भारतीय भाषाविज्ञान के प्रभाव के सन्दर्भ में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है कि जिस भाषा वैज्ञानिक प्रविधि का विधान ब्लूम्फील्ड ने अपनी 'Language' नामक पुस्तक में किया है वह बहुत कुछ अंशों में उनके भारतीय व्याकरण शास्त्र के अध्ययन का ही परिपाक है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगा कि यदि ब्लूम्फील्ड ने भारतीय व्याकरण शास्त्र का गहरा अध्ययन न किया होता, तो मुश्किल से ही स्वनिम विज्ञान रूपिम विज्ञान तथा वाक्य विज्ञान में उनकी विश्लेषण की पद्धतियाँ ऐसी होतीं जैसी कि हैं, या जैसी पद्धतियों का विधान उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। ब्लूम्फील्ड, वस्तुत भारतीय व्याकरण शास्त्र के अपने गहन अध्ययन के कारण ही उसकी 'वैज्ञानिक गहनता' (Scientific Condensation) जो भाषा के विवरण में उसके प्रत्येक उपलक्षण (feature) को उसका उपयुक्त सन्दर्भ प्रदान कर देती है उसकी 'पूर्णता' *(Completeness)* तथा विधान की लाघवता व स्पष्टता' *(Brevity and stringency of statement)* के परम प्रशंसक थे। (तुलनीय है Language Vol 5 P 27 47)। अमरीकी सेना के लिए तैयार किए गए मैन्युअलों' (A S T P पुस्तकमाला में प्रकाशित) के अतिरिक्त उनके जीवन के उत्तरार्ध में इस प्रकार की उनकी वैज्ञानिक विवरणात्मक रचनाएँ इतनी कम प्रकाशित हुई हैं कि उनके द्वारा मान्य भाषा विवरण के आदर्श का पूरा चरितार्थ रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। फिर भी जो पाणिनि से परिचित है वह उनके सेना के लिए लिखे गए मैन्युअल अथवा Linguistic Structure of Native America[21] में Algonquian पर लिखे उनके अध्यायों को उन पर भारतीय प्रभाव को पहिचाने बिना नहीं पढ़ सकता। Algonquian पर लिखा अध्याय इसलिए भी विशेष महत्त्वपूर्ण है कि उसमें यह देखा जा सकता है कि किसी तुलनात्मक-व्याकरण (Comparative Grammar) की रचना में भी विवरणात्मक 'गहनता' (Descriptive Condensation) पूर्णता' (Completeness) तथा कथन या विधान की 'सुस्पष्टता' का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। अमरीकी भाषा विज्ञान के अधिकांश नवीन विद्वानों पर ब्लूम्फील्ड के व्यापक प्रभाव की सविस्तार चर्चा करने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे विशेष लक्षण जिनके आधार पर भाषा विज्ञान के अन्य सम्प्रदायों से अमरीकी-सम्प्रदाय का पार्थक्य स्थापित किया जाता है, अधिकांश में मूलत ब्लूम्फील्डीय ही है, तथा यदि मेरी व्याख्या ठीक है, तो उनमें से अनेक विशेषताओं को पाणिनीय कहा जा सकता है।[22] सम्प्रति ऐसे पाणिनीय लक्षण, मुश्किल से ही, भाषाविज्ञान के विद्वानों के किसी अन्य समूह या सम्प्रदाय की विशेषता के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं।

कुछ समय से अमरीकी भाषा विज्ञान में भाषा विवरण की प्रक्रिया-परक पद्धति तथा प्रक्रिया विषयक विधानों या कथनों से बचना एक फैशन बन गया है यद्यपि विवरणात्मक भाषा विज्ञान में सर्वत्र स्वीकृत एवं प्रचलित भाषा विवरण

के पूर्वोल्लिखित सभी मानक रूपा या आदर्शों (Models) के आधुनिक काल में हुए परीक्षण के आधार पर भी उक्त प्रक्रिया-परक पद्धति को स्वीकार करने म किसी प्रकार का विरोध नही पाया गया।[२३] यह फैशन हो या न हो परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जाना चाहिए कि भाषा विज्ञान के विद्यार्थियो को अपने शास्त्र या विषय के मूल उत्स से अपरिचित नही रखा जाना चाहिए तथा उन्हें रूपिम-वज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सकुल अपनी भाषा के लिए हिन्दुओ द्वारा विकसित भाषा विश्लेषण तथा विवरण की एक सशक्त पद्धति का परिज्ञान अवश्य कराया जाना चाहिए। निश्चित ही उसका परिज्ञान उसी प्रकार के सकुल रूपिमा के वैज्ञानिक विवरण मे उपयोगी सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार बाएज (Boas) सपीर (Sapir) तथा अन्य विद्वाना की ऐसी ही तकनीकें उपयोगी सिद्ध हुई हैं। मेरी दृष्टि से पाणिनी की पद्धति के परिचय के स्पष्ट उद्देश्य से भाषा विज्ञान के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए सस्कृत का अध्ययन अनिवाय होना चाहिए चाहे थोडा ही क्यो न हो सस्कृत का अध्ययन भाषा विज्ञान के विद्यार्थी के लिए निश्चित ही उपकारक होगा तथा जितना साद्देश्य यह काय होगा उतना ही अधिक सफल होगा।[२४]

सम्प्रति स्वन विज्ञान (Phonetics) स्वनिम विज्ञान (Phonemics) रूपिम विज्ञान (Morphology) तथा वाक्य विज्ञान (Syntacs) के क्षेत्रो मे आधुनिक भाषा वज्ञानिको को सभवत हिन्दू वयाकरणा स कुछ विशेष सीखने को न मिले। परन्तु यह भी हम निश्चित रूप से तब तक नही कह सकते जब तक आधुनिक भाषा विज्ञान मे प्रशिक्षित विद्वान् पाणिनि का उक्त क्षेत्रो म पुन परीक्षण उसी प्रकार नही कर लेते जिस प्रकार स्वर विज्ञान के क्षेत्र मे किया गया है।[२५] परन्तु भाषा विज्ञान के अन्तगत अर्थ विज्ञान के क्षेत्र म, जिसका कि विकास अभी कुछ समय से पश्चिम म धीरे धीरे हो रहा है निश्चित ही पश्चिम भारत से बहुत कुछ सीख सकता है। भारत म वयाकरणा काव्यशास्त्र के आचार्यों तथा दार्शनिको का सम्बन्ध अर्थ की समस्या के साथ रहा है और उन्होने इस विषय म काफी चिन्तन किया है और लिखा है। निश्चित ही सभी व्यावहारिक भाषा वज्ञानिक दृष्टियो से पश्चिम अभी इस क्षेत्र मे विशेषज्ञता प्राप्त नही कर पाया है। साथ ही यह उल्लेखनीय है कि इस विषय के भारतीय ग्रथ, कठिन शैली मे लिखे गए हैं और पश्चिम म, सस्कृतज्ञ दार्शनिक और भाषा वैज्ञानिक के रूप मे इन ग्रथो का अध्ययन करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी बहुत कम हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि इस दिशा म जो भी प्रयास होंगे उनके अच्छे ही परिणाम निकलेंगे। अत यह एक ऐसा विषय है कि पश्चिम मे इसके अध्ययन की सस्तुति की जा सकती है।[२६]

पाणिनि और उनके प्रारम्भिक व्याख्याताओ के साथ भारतीय व्याकरण अपनी गौरवशाली पूर्णता को प्राप्त कर चुका था। ऐसा लगता है कि जब एक व्याकरणिक अध्ययन का कथित उद्देश्य अर्थात वदो की भाषा की सरक्षा और भाषा के विवरण मे वयाकरणा की रुचि का विस्तार सिद्ध हो गया, तो आगे उस दिशा म विशेष कुछ करने की उनकी लालसा जस कि समाप्त हो गई थी। सभवत इसी

लिए मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का आंशिक वर्णन ही व्याकरणों में हुआ और यह भी मुख्यत संस्कृत की तुलना में उनमें घटित अंतरों के अध्ययन के रूप में ही हुआ है। वस्तुत ईसवी सन् के पूर्ववर्ती महान् दिनों के पश्चात् से भारतीय व्याकरण प्रतिभा सोई हुई है। इस संदर्भ में सन् १९४० में तिरुपति में हुए अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन (All India Oriental Conference) में स्वयं महापंडित श्री विष्णु सीताराम सुक्थनकर द्वारा किए गए पुनर्जागरण के आह्वान का स्मरण कराया जा सकता है[२९] तथा इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में अब भाषावैज्ञानिक पुनर्जागृति के संकेत भी मिलने लगे हैं।

आधुनिक भाषा विज्ञान के पाश्चात्य विद्वान् प्रारम्भ से ही अनेक रूपों में भारत में भारत को अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय मानकर अपने वैज्ञानिक प्रयासों का केन्द्र मानते रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत तथा भारोपीय भाषाओं के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुए हैं जिन्हें मूलत पाश्चात्य जगत् को संसार के सभी देशों के मनुष्यों तथा उनकी भाषाओं के विषय में वैज्ञानिक जानकारी पाने की सामान्य अभिलाषा के परिणाम-स्वरूप माना जा सकता है।

वस्तुत प्रारम्भिक काल में संस्कृत के एक विराट् शब्द कोश की बड़ी आवश्यकता थी तथा सन् १८५५ में ओटो बोर्तलिंक (Otto Bohtlingk) और रूडोल्फ रोथ (Rudolph Roth) ने (Kaiserliche Akademie der Wissenschaften) सेंट पीटर्सबर्ग में अपने Sanskrit Worterbuch का प्रथम खंड प्रकाशित किया था जिसे पश्चिम में प्राच्य विद्या के विकास की एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का पूरा प्रकाशन तो बीस वर्ष बाद हुआ था परन्तु यह ग्रन्थ प्रारम्भ से ही भारतीय भाषाओं के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाने लगा था और अब भी अनेक दृष्टियों से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यद्यपि परवर्ती समय में नवीन खोजों के परिणामस्वरूप ऐसी अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं कि जिनके विषय में इस कोश के संकलन-कर्ताओं को कोई जानकारी नहीं थी। अत इस प्रकार के एक नये कोश के संकलन की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है। यह उचित ही है कि भारत में इस प्रकार के एक नए कोश का कार्य प्रारम्भ हो चुका है।

संस्कृत-नाटकों में प्राप्त होने वाले मध्य भारतीय आर्य भाषाओं के कुछ नमूनों से तो पाश्चात्य विद्वान् सर विलियम जोन्स के समय से ही परिचित थे, परन्तु सन् १८३० के आस-पास से प्रिंसेप (Prinsep) द्वारा पढ़े जाने के बाद काफी समय से पूर्णत विस्मृत तथा अज्ञात बौद्ध सम्राट् अशोक के मध्य भारतीय आर्यभाषा में लिखे गए शिलालेखों का अध्ययन प्रारंभ हुआ। इसी प्रकार विविध मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में लिखे गये जैनों और बौद्धों के धार्मिक साहित्य से भी पाश्चात्य विद्वान् परिचित हुए। अनेक भारतीय विद्वानों के साथ साथ अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में लिखे अशोक के शिला लेखों के अतिरिक्त अन्य शिला-लेखों तथा सिक्कों की खोज की उनका संग्रह किया तथा उन्हें प्रकाशित भी

किया । सन् १९०० में पिशेल (Pischel) द्वारा समस्त प्राकृत भाषाओं के विविध रूपों का तुलनात्मक विवरण तथा ऐतिहासिक व्याकरण प्रकाशित किया गया । इसी प्रकार अपभ्रंश की प्राप्त किए गए ग्रन्थों के आधार पर ... (Franklin Edgerton) ने बौद्ध धर्म का उसकी व्याकरण की सभी भारतीय आर्य भाषा जो पालिक रूप में संस्कृत थी का विस्तारपूर्वक विवेचन सन् १९५३ में प्रस्तुत किया था यद्यपि इसकी पाण्डुलिपि में प्रकाश्य सामग्री प्रकाशित हो चुकी है और उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से पर्याप्त काम हो चुका है परन्तु अन्तिम रूप में किसी प्रामाणिक अध्ययन की माँग बनना अभी भी शेष है ।[२८]

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन अभी विकास नहीं हुआ है । वस्तुतः उन भाषाओं के न आधुनिक विवरण नहीं मिलते । किन्तु विवरणों की अन्य कारणों से भी परमावश्यकता है । इसका आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के आधुनिक एवं वैज्ञानिक विवरण उपलब्ध नहीं मिलते कि इस कार्य के लिए समुचित कार्य-कर्ताओं का अभाव है । अंग्रेजी विद्वान और इस बात समय से भारतीय भाषा वैज्ञानिकों के सम्मिलित प्रयासों से सम्भवतः निकट भविष्य में इस क्षति की पूर्ति हो जाए । अब ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्य भाषाओं के श्रेष्ठ अध्ययन बहुत कम प्रस्तुत हो रहे हैं । इस सन्दर्भ में स्व० जूलिस ब्लाख (Jules Block) की रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें भारतीय आर्य भाषाओं का वैदिक भाषा से आधुनिक काल रूप तक के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन और मराठी भाषा का सर्वांगीण अध्ययन किया गया है । श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का बंगाली भाषा पर कार्य निश्चित ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के एक नए युग का सूत्रपात करता है । सर राल्फ टर्नर (Sir Ralph Turner) का नेपाली भाषा का व्युत्पत्यात्मक शब्द-कोश (Etymological Dictoinanary) भी एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है । जब तक किर प्रतीक्षित समग्र आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का व्युत्पत्यात्मक शब्द कोश तैयार नहीं होता तब तक यही एक ग्रन्थ है जिसका शब्द-व्युत्पत्ति आदि देखने के लिए सामान्यतः आधार लिया जाता है ।[२९]

स्व० सर जार्ज अब्राहम ग्रीयर्सन (Sir George Abrahm Grierson) का भारत का भाषा सर्वेक्षण निश्चित ही एक महान् प्रयास था ।[३] परन्तु मूलतः वह बोली भूगोल (dialect mapping) के क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रयोग ही था जिसे अंशतः सफल कहा जा सकता है । क्योंकि इस अध्ययन में मूलतः सामग्री सकलन की पद्धति ही सदोष थी ग्रीयर्सन ने एक प्रश्नावली प्रचारित की थी जिसे गाँव के पटवारी ने अपनी समझ बूझ के अनुसार भर भेजा था तथा प्रोडीगल सन (Prodigal son) की कहानी के स्थानीय बोली में अनुवाद के साथ और कुछ अन्य सामग्री भी सरकारी अधिकारियों ने सकलित की थी । निश्चित ही सामग्री सकलन की इस पद्धति का किसी वैज्ञानिक तुलनात्मक या विवरणात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि इस प्रकार सकलित सामग्री वैज्ञानिक अध्ययन की

दृष्टि मे विश्वसनीय नही समझी जा सकती। फिर भी इतनी सामग्री संकलित हो गई थी कि जिसके आधार पर भारतीय भाषिक यथार्थ की लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ स्पष्टत सामने आ जाती हैं और इस सर्वेक्षण को इसीलिए सफल भी कहा जा सकता है कि वह भारत के सभी भाषा रूपो या बोलियो की प्रादेशिक सीमाओ का स्पष्ट मानचित्र प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार अब तत्तत् प्रदेशो की भाषाओ या बोलियो का सविस्तार वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। ऐसी आशा की जा सकती है कि भारतीय बोलियो के अध्ययन तथा बोलियो की प्रामाणिक मानचित्रावली तैयार करने की भारतीय विद्वानो की योजनाए जो अभी नियोजन और चर्चा के स्तर तक पहुच चुकी है शीघ्र ही क्रियान्वित की जाएँगी।

भारतीय उपमहाद्वीप म प्राप्त अन्य भाषा परिवारो म से दो अन्य भाषा-परिवारो अर्थात् द्रविड और मुण्डा परिवारो की भाषाओ का विवेचन भी इस सर्वेक्षण मे प्राप्त होता है। द्रविड भाषा परिवार की भाषाओ के बोलने वालो की सख्या ६ करोड है, तथा वह ससार के भाषा परिवारो म पाचवा या छठवा सर्वाधिक बडा भाषा-परिवार है। यदि ससार के भाषा परिवारो मे अपने स्थान के अनुरूप द्रविड भाषा परिवार के प्रति ससार के भाषा वैज्ञानिको का ध्यान आकृष्ट हुआ होता तो प्रसन्नता की बात होती। परतु दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नही। और जब कि इस परिवार की चार भाषाओ की महान् प्राचीन साहित्यिक परपराएँ है। यह समझ म नही आता कि इस परिवार की भाषाओ का गम्भीरतापूर्वक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन क्यो नहीं हुआ? इस के कारणों का अध्ययन किया जा चुका है तथा इस उपेक्षा के परिणामो पर अमरीकी दार्शनिक सभा (American Philosophical Society) मे पठित एक दूसरे लेख म विचार किया जा चुका है[३१] अत इस विषय म यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नही है। परतु विशप काल्डवेल (Bishop Robert Caldwel) का द्रविड भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण (A Comparative Grammar of the Dravidian languages) निश्चित ही काफी पहले लिखा गया एक महत्वपूर्ण ग्रथ है जो सन् १८५८ म प्रकाशित हुआ था। यद्यपि इसे अब प्रकाशित हुए एक शताब्दी से भी अधिक समय हो गया है परन्तु इस बीच इस परिवार की भाषाओ के कुछ ही अच्छे विवरणात्मक या तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं। हाँ तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र म स्व० ल० व० रामस्वामी एयर के योगदान का उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विवरणात्मक अध्ययन, यद्यपि बीस से भी अधिक हो चुके हैं (देखिए पादटिप्पणी ३६) परन्तु उनमे से कुछ ही को आधुनिक या पाणिनीय स्तर से मान्य कहा जा सकता है।[३२] द्रविड भाषाओ के अब तक प्रकाशित विवरणो के गुणात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने के कारण इस परिवार की भाषाओ के अच्छे तुलनात्मक अध्ययन भी सभव नही हो सके हैं। सन् १९४६ म ज्यूल ब्लाक ने अपने द्रविड भाषाओं की व्याकरणिक सरचना पर Structure Grammaticale des langues Dravidiennes[३३] नामक ग्रथ मे द्रविड भाषाओ की मात्र रूपिम सरचना (Morphological Structure) को

तुलना स आग भी कुछ काय किया है। परन्तु ध्वनि व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण उन्होंने उसका प्रयास नहीं किया और इस बात के लिए खेद प्रकट किया है कि इस परिवार की भाषाओं का तुलनात्मक शब्द कोश (Vocabulaire Comparatif) अभी तक तयार नहीं हुआ है। हा इन भाषाओं का एक व्युत्पत्यात्मक शब्द-कोश (Etymological dictionary) के तैयार होने की सभावना है जिसका काय आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के टी० बरो (T Burrow) और मैंने प्रारभ कर लिया है। इस बीच मे द्रविड भाषा(ओ) से सस्कृत मे आए शब्दो का अच्छा अध्ययन हुआ है[३४] और सस्कृत के व्युत्पत्यात्मक शब्द कोशो म इसे सस्कृत शब्दो के एक स्रोत के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है। यह काय अभी कुछ ही समय स प्रारभ हुआ है तथा आशा है शीघ्र ही यह काय पूरा हो जाएगा और वह अब तक प्रयोग म लाए जा रहे अनुपयुक्त कोशो का स्थान ले लेगा।[३५]

यद्यपि भारत का भाषा सर्वेक्षण का चौथा खड पूर्णत द्रविड तथा मुण्डा भाषाओ पर है। परन्तु सर्वेक्षण का काय मद्रास हैदराबाद तथा मसूर राज्यो मे सभव नहीं हुआ था परिणामत द्रविड भाषा भाषी प्रदेश के एक विशाल भू भाग म प्रयुक्त बोलियो का मान चित्र तयार नहीं हो सका था। साथ ही इसकी सामग्री और उसके सकलन की प्रविधि ऐसी गडबड थी कि मध्यभारत की अनेक द्रविड भाषाएं बिल्कुल अज्ञात ही रह गई थी। ऐसी तीन भाषाओ जिनके नाम भी पहले अज्ञात थे का पता टी० बरो (T Burrow) तथा एस० भट्टाचाय न सन् १९५०-५१ म अपनी शोध यात्राओ के दौरान लगाया था और इसी सभावना है कि ऐसी ही दूसरी भाषाए अब भी प्रकाश मे आ सकती है।[३६]

मुण्डा परिवार की भाषाओ के अध्ययन के विषय म विशेष कुछ भी नही कहा जा सकता। क्योकि या तो सर्वेक्षण म उनका केवल नामोल्लेख है या उनका भ्रष्ट विवरण हुआ है। निश्चित ही सभी मुण्डा बोलियो की प्रान्तिक सीमाओ के निर्धारण मे सर्वेक्षण असफल रहा है। मुण्डा परिवार की भाषाओ का अब तक ऐसा कोई भी तुलनात्मक अध्ययन नहीं है जो किसी भी भली भाँति विवेचित भाषा परिवार की भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के विद्यार्थी को सतुष्ट कर सके। वसे भी मुण्डा भाषाओ का सबध वृहत्तर भारत अथवा दक्षिण पूव एशिया के आग्नेय भाषा परिवार (Austric family of languages) की किसी भाषा के साथ स्थापित करने के प्रयास तथा मलेशिया आदि म प्राप्त महान् आग्नेय भाषा परिवार (Austric family of languages) की भाषाओ के साथ उन्हे रखने का विचार अब तक मुझे मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होता है। यह अनुमान सतत सत्य भी सिद्ध हो सकता है। परन्तु यह तभी सभव है जब कि वज्ञानिक विवरणो के आधार पर पहले मूल मुण्डा भाषा की परिकल्पना कर ली जाए।[३७]

बुरुशास्की सामी उत्तरी पूर्वी सीमान्त की भोट-बर्मी भाषाए (Tibeto Burmes) पश्चिमी सीमान्त की ईरानी भाषाएँ और इसी अन्य भारतीय भाषाओ

के विषय मे मौन रहना ही अच्छा होगा। क्योंकि आधुनिक ग्रथ मे इन भाषाओ का भाषावैज्ञानिक विवरण हुआ ही नहीं है तथा कुछ ईरानी भाषाओ को छोडकर अन्य किसी भाषा का कोई तुलनात्मक अध्ययन भी नही हुआ है।[३८]

सम्प्रति भाषा वैज्ञानिको द्वारा इस प्रकार की योजनाएँ तैयार की जा रही है कि जिनमे भारतीय भाषाओ के वैज्ञानिक अध्ययन तथा भारतीय भाषा विज्ञान का विकास हो। आशा है इन प्रयासो के परिणामस्वरूप भारतीय भाषिक मानचित्र के रिक्त स्थानो की पूर्ति हो जाएगी।

भारतीय भाषा विज्ञान के अध्ययन की अनेक व्यापक समस्याएँ हैं, उन की ओर विद्वानो का ध्यान जाना चाहिए। जैसे मुण्डा सहित आग्नेय भाषा परिवार की कल्पना बहुत अधिक पुष्ट प्रमाणो पर आधारित न होने के कारण स्वीकार्य प्रतीत नही होती। फिर भी यही एक दिशा है जिस ओर समस्या के निदान के लिए देखा जा सकता है। विशेषकर इसलिए कि पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया के साथ भारत के विविध प्रकार के सम्बन्ध हजारो वर्ष प्राचीन हैं तथा इन सबधो के प्रभावचिह्न भारत की भाषाओ मे अवश्य मिलने चाहिएँ। इस दिशा मे विशेष शोध कार्य की आवश्यकता है। विस्तारभय के कारण इस विषय को यही छोडा जा सकता है।

अत मे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पाश्चात्य भाषा विज्ञान के प्रभात काल मे प्रकाश की प्रथम रश्मि भारत से आई थी तथा अब भारत मे भाषा वैज्ञानिक अध्ययनो मे विद्वानो की अभिरुचि के विस्तार एव विकास के परिणामस्वरूप पुन भारत से नवीन प्रकाश प्रपात के शुभागमन की आशा की जा सकती है।

पाद टिप्पणी सदर्भ

१ मूलत प्रस्तुत लेख कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, स० रा० अमरिका के संस्कृत एव भाषाविज्ञान के आचार्य प्रो० एम० बी० एमेन्यू के एक भाषण का प्रकाशित रूप है जो उन्होने तोरेंतो, कनडा मे २० अप्रैल १९५५ को एक सम्मेलन मे अध्यक्ष पद से दिया था। मूलत अंग्रेजी मे लिखित इस लेख का छायानुवाद कुछ सम्पादन के साथ यहाँ साभार प्रकाशित किया जा रहा है। हिंदीकार हैं डॉ० माणिक लाल गोविंद चतुर्वेदी।—सम्पादक।

२ इस समूचे लेख मे 'भारत' मे तात्पर्य भारतीय उपमहाद्वीप से है तथा भारतीय एव हिन्दू शब्द लगभग पर्यायवाची हैं तथा प्राचीन भारतीय या हिन्दू के वाची हैं। इस दृष्टि मे भारत और पाकिस्तान जैसी दो पृथक राजनैतिक इकाइयों मे कोई अन्तर नही है। विद्वान् मानते हैं कि पाणिनि का जन्म आज के पश्चिमी पाकिस्तान मे ही कही हुआ होगा।

३ इस के लिए तथा एतद्विषयक अन्य प्रमाणो के लिए द्रष्टव्य है M Winternitz A History of Indian Literature Vol 1 (1927) P 285 और पश्चिम परम्परा मे व्याकरणविषयक साहित्य के विषय में द्रष्टव्य। २८७ २८९।

४ सभवत पाणिनि का समय ईसा पूर्व छठवीं तथा चौथी शताब्दी के बीच ही हो सकता है। फ्रैंकलिन ऐडगटन का मत द्रष्टव्य है—Word Study Vol XXVII (1952) No 3 P 3)। कुछ विद्वान् इसे ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी ही मानते हैं। द्रष्टव्य है—M Winternitz, वही पृ० ४२ तथा अन्य कुछ विद्वानों ने उसी शताब्दी के मध्य भाग को पाणिनि का समय माना है। द्रष्टव्य है —V S Agrawala I dia—as known to Panini Uhiversity of Lucknow 1953 P 475

५ M Winternitz—वही पृ० ३८६।

6 Leonard Bloomfield, Language, Voi V (1929) PP 268 JAOS Vol XLVII (1927) P P 66 f

७ भारतीय नृत्य मुद्रा विषयक एक पुस्तक की समीक्षा मे मैंने इसे ही आंशिक रूप म कहा है। देखिए JAOS Vol LXII (1942 P 149)

८ तुलनीय है *W S Allen Phonetics in Ancient India* London Oriental Series Vol I Oxford University Press 1953) P 13 तथा पाद टिप्पणी ४, ग्रन्थ सूची समेत।

9 Charles F Hockett Two models of grammatical Description Word' Vol X (1954) PP 210 234

१० गार्ग्य शाकटायन के भिन्न अभिमतो की चर्चा यास्क के 'निरुक्त (१।१२) *मे प्राप्त होती है। वदिक निरुक्ताचार्य यास्क ने शाकटायन के मत के साथ* अपनी सहमति प्रदर्शित की है। सभवत पाणिनि सम्प्रदाय न भी इसीलिए यह बात स्वीकार कर ली होगी। यहा प्रयुक्त विवरणात्मक पद्धति को कुछ विद्वानो ने ऐतिहासिक व्युत्पत्ति के रूप मे समझा है जो ठीक नही है। इस प्रकार के कथना के लिए द्रष्टव्य है —Lakshman Sarup The Nighantu and Nirukta, Vol 2 (1921) P 13 पादटिप्पणी ६।

11 Leonard Bloomfield Language (1933) P 240 A B Nida Morphology The Descriptive Analysis of Words (2nd Ed 1949) P 60 f

१२ Asiatick Researches Vol I (1788) PP 422 f सन् १७८८ म अपने दीघ प्रवकाश क समय सर विलियम जोन्स ने सस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया था। *Lord Teignmouth* ने *The work of Sir William* Jones (13 Vols London 1807) Vol II P 29 fn म उनके एक हस्त लिखित कार्ड का उल्लेख किया है जिसम दीघ अवकाश के प्रात काल का समय सस्कृत अध्ययन क लिए लिखा हुआ है। १७ सितम्बर १७८५ का उन्होने चाल्स विल्किन्स को एक पत्र म लिखा था— मुझे एक वृद्ध वद्य मिल गया है जो व्याकरण के विषय म जो कुछ जानता है मुझे सिखाता है। (JAOS Vol X (1880) P 115) २६ जुलाई १७८५ क एक पत्र म उन्होने लिखा है जब कि अब तक उन्हें

संस्कृत बिल्कुल नहीं आती थी, तथा देवनागरी लिपि से भी वे परिचित नहीं थे (तुलनीय है वही, पृ० ११४)। अब तक प्रकाशित पत्रों के आधार पर निश्चय से नहीं बताया जा सकता कि जोन्स ने संस्कृत का अध्ययन कैसे किया। संभवत लार्ड आलथोर्प को लिखे तथा अब तक उन प्रकाशित पत्रों मे इस प्रकार की कुछ सूचना मिल सकती है जो अल स्पेंसर के सग्रह मे सुरक्षित हैं, तथा जिनका अध्ययन ए० जे० आरबेरी ने किया है। (BSOAS, Vol XI, 1643 46 P 673)। परन्तु इतना निश्चित है कि जोन्स् अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे थे (JAOS Vol LXVI 1946), P 236। प्रकाशित एवं उपलब्ध दस्तावेजों के आधार पर जोन्स के संस्कृत अध्ययन की प्रविधि तथा प्रगति के विषय म कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु २८ सितम्बर १७८७ को लिखे अपने एक पत्र म उन्होंने लिखा है कि अब वे हितोपदेश पढ रहे हैं तथा अपने पंडित के साथ निरंतर संस्कृत मे वार्तालाप करते हैं। जोन्स ने औपचारिक रूप से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया था, इसका प्रमाण मिलता है The work of Sir William Jones' के खंड XIII (पृ० ३९९ ४२६) मे। सर विलियम जोन्स तथा श्रीमती जोन्स द्वारा रायल सोसाइटी को प्रदत्त 'संस्कृत तथा अन्य प्राच्य हस्तलिखित ग्रंथो की सूची मे पृ० ४१२ पर ह० लि० ग्रंथ ४११ पर सिद्धान्त कौमुदी' (अपूर्ण) का उल्लेख है, जिस पर स्वयं जोन्स ने लिखा है इस व्याकरण का ध्यान पूर्वक अध्ययन मैंने १८ अगस्त, १७९२ म पूरा किया। अन्य जिन हस्तलिखित ग्रन्थो का उल्लेख है वे हैं दुर्गादास कृतमुग्धबोधटीका सरस्वती व्याकरण (अर्थात् सारस्वत प्रक्रिया) सारावली (संभवत नारायण बंदोपाध्याय कृत) अमर कोश मेदिनी कोश विश्व प्रकाश, तथा जोन्स् के लिए काशीनाथ शर्मा द्वारा संकलित शब्द सदर्भसिंधु। ये हस्तलिखित ग्रन्थ Theodor Aufrecht के Catalogus Catalogorum, Part I (Leipzig 1891) P 111 म उल्लिखित हैं तथा इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

१३ तुलनीय हैं Holger Pederson Linguistic Sciences in the Nineteenth Century (Tr spargo Cambridge mass 1931) साथ ही William Dwight Whitney 'Language and the study of language (1874 V Ed) P 227, AJP Vol v (1884) P 279

१४ तुलनीय Leonard Bloomfield Language P 12 तथा John Brough TPS 1951 P 27

१५ Hockett—पूर्वलिखित (पादटिप्पणी ६) पृ० २१० संस्कृत व्याकरण को शब्द तथा रूपावली' परक आदश के अनुरूप कहना हॉकेट की भूल है।

१६ इस प्रकार का कुछ विश्लेषण ह्विटनी ने किया है। देखिए Whitney, Language and the study of Language P 254

१७ Asiatick Researches vol I (1788) P 156। ६ मई १

मे सर जे० मक्फरसन को लिखे पत्र मे इस अध्ययन को प्रैस मे दिए जाने का उल्लस है।

१८ विशेष रूप से उल्लेखनीय है—J R Firth The English School of Phon tics TP^ 1946, PP 118 ff W S Allen Phonetics in Ancient India PP 3 4 देखिए पूर्वोक्त पादटिप्पणी ८। अंतिम पुस्तक ह्विटने द्वारा प्रकाशित 'अथर्ववेद प्रातिशाख्य" JAOS, Vol VII (1862) pp 333 616) तथा 'तैत्तरीय प्रातिशाख्य (JAOS Vol IX (1871) Pp 1 469) के सस्करण के मूल्याकन की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१९ Die Sprach der Jakutan (A Th von Middendorff Reise in den aussersten Norden Und Osten Siberiens Ed III St Petersburg Kais Ak d Wissen, 1851 71) बोतलिंक ने पाणिनि के व्याकरण का प्रथम सस्करण सन् १८३९-४० मे प्रकाशित किया था तथा दूसरा सन् १८८७ मे।

२० ब्लूमफील्ड सामान्यत यह कहा करते थे कि पाणिनि का व्याकरण उन की उन पुस्तको मे से थी जिन्हे वे विश्राम के क्षणो मे सदव पढा करते थे। इस विषय मे मैं विशेष रूप स और कुछ भी नही कह सकता। परन्तु पाणिनि की उनकी व्याख्या की दृष्टि से निम्नलिखित लेख देखा जा सकता है — On Some Rules of Panini, JAOS Vol XLVII (1927) pp 61 70

21 Viking Fund puplications in Anthropology 6, New York 1946 PP 85 122

२२ यह उल्लेखनीय है कि ऐलेन ने अपनी पुस्तक मे पाणिनि को आधुनिक स्वनिम वैज्ञानिको के साथ रखा है जिनसे इनका आशय मुख्यत अमरीकी स्वनिम वैज्ञानिक प्रतीत होता है।

२३ देखिए पाद टिप्पणी–९ और Floyd G Lounsbury Oneida *Verb Morphology (Yale Univesity puplications in Anthropology,* No 48 New Haven Conn 1953) PP 11 17

२४ इसी उद्देश्य से मैंने Sanskrit Sandhi and Exercises नामक पुस्तिका प्रकाशित की थी। (University of California Press 1953)। इस पुस्तिका के पूर्वाध के लिए मैंने लिओनार्ड ब्लूमफील्ड के योगदान को भूमिका मे स्वीकार किया है। (P 1–2) इसी दृष्टि स रेनो के पाणिनीय व्याकरण के अनुवाद पर लिखी मेरी समीक्षा भी द्रष्टव्य है। JAOS Vol LXXIII (1953), PP 188 90

25 W S Allen की पूर्वोक्त पुस्तक पाद टिप्पणी–८।

२६ प्रारम्भिक अध्ययन के लिए निम्नलिखित लेखो को लिया जा सकता है John Brough Audumbarayana s theory of Langua e ' BSOAS, Vol XIV (1952) P 73 77 Theories of general linguistics in Sanskrit Grammarians TPS 1951) PP 27-46

27 V.S Sukthankar Memoriel Edition, Vol II (1945), PP, 386-399 पर पुनमु द्रित ।

28 Simple Bibliography R Pischel Grammatik der Prakrit Sprachen (Grundiss der Indo Arischen Philologie and Altertums kunde I 8 Strassburg 1900), Corpus Inscriptionum Indicarum Vol I E Hultzsch Inscriptions of Asoka (Oxford, 2nd Ed 1925) Vol II Part I Stem Konow Kharoshthi Inscriptions (Oxford 1929) Franklin Edgerton 'Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary' 2 Vols (New Haven, Conn 1953)

29 Jules Bloc L Indo Aryan du Ved aux temps modernes, (Paris' 1934 Id La formation de la langue marathe (Bibliothe que I 'Ecole des hautes etudes p 215 Paris 1915) Suniti Kumar Chatterji The origin and Development of the Bengali Language, (Calcutta, 1926) (Sir) Ralph L lley Turner A Comparative and Etymological Dictionary of the Nepali Larguage (London, 1931)

30 11 Vo s in 20 Parts (Calcutta 1903 28

31 'Linguistic Prehistory of India PAPS, Vol XCVII (1954) PP 282 92

३२ असाहित्यिक भाषाओं के जो व्याकरण लिखे गए हैं, उनमें निम्नलिखित को आधुनिक दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जा सकता है।

—Sir Denys Bray The Brahui Language (Calcutta, 1909, Delhi 1934) —A Grignard, A Grammer of the Oraon Language, (Calcuta 1924) —W W Winfield A Grammer of the Kui language (Bibliotheca Indica No 245 Calcutta 1928)—M B Emeneau Kolami, A Dravidian Language (University of California publications in Linguistics Vol 12 Berkeley 1955)

33 Pubticalions du Musee Guimet Bibliotheque de tudes 56, Paris, 1946

३४ पाद टिप्पणी २१ में उल्लिखित लेख द्रष्टव्य है।

35 Manfred Mayrhofer, Kurzgefasstes etymologisches Worterbuch des Altindischen (Indogermenische Bibliothek, herausg V Hans Krahe Heidelberg 1953), C C Uhlenback, Kurzgefasstes etymologisches wortetbuch der altindischen sprache (Amsterdam, 1898/9)

36 T Burrow and S Bhattacharya, The Parji Language

(Hertford Stephen Austin 1953) P IX में [illegible], [illegible] और [illegible] भाषाओं का उल्लेख है।

३७ पाद टिप्पणी ३१ में उद्धृत [illegible] [illegible] है।

३८ यद्यपि बुरुशास्की भाषा को किसी अन्य भाषा के साथ जोड़ सकने के प्रयास सफल नहीं हुए हैं फिर भी [illegible] [illegible] में उसका [illegible] विवेचन मिलता है D L R Lorimer The Burushaski Language 3 Vols Oslo 1935 8)